सत्यं शिवं सुन्दरम्

द्वितीय भाग

जनवरी सन् १९५९ में
राजस्थान विश्वविद्यालय में
पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत
शोध-प्रबन्ध का द्वितीय भाग

सत्यं शिवं सुन्दरम्

[साहित्य का सांस्कृतिक विवेचन]

भाग २ : शिवम् तथा सुन्दरम्

लेखक—
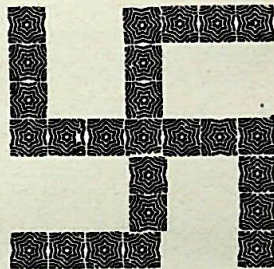
डा० रामानन्द तिवारी "भारतीनन्दन"

एम० ए०; डी० फिल्०; पी-एच० डी०; दर्शन-शास्त्री

महारानी श्री जया कॉलेज, भरतपुर (राजस्थान)

निवेदन

'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के इस द्वितीय भाग में 'शिवम् और सुन्दरम्' का विवेचन है। 'सत्यम्' के स्वरूप और काव्य के साथ उसके सम्बन्ध का विवेचन ग्रन्थ के प्रथम भाग में हो चुका है। इस द्वितीय भाग में 'शिवम् और सुन्दरम्' के अन्तर्गत श्रेय और सौन्दर्य के स्वरूप का विवेचन तथा काव्य के साथ इनके सम्बन्ध का विवरण है।

इस ग्रन्थ के प्रथम भाग की भूमिका में तथा सत्य के विवेचन के प्रसंग में संस्कृति, कला और काव्य के सम्बन्ध में कुछ नवीन सिद्धान्तों का प्रस्ताव किया गया है। इस द्वितीय भाग में श्रेय और सौन्दर्य के प्रसंग में उन सिद्धान्तों का अधिक विवरण किया गया है। हिन्दी आलोचना और अनुसंधान को सिद्धान्तों के विवेचन की ओर बहुत कम ध्यान दिया जा रहा है। अधिकांश आलोचना और अनुसन्धान काव्य के ऐतिहासिक विवेचन में संलग्न हैं। इस दृष्टि से मेरा यह प्रयास सराहनीय नहीं तो आदरणीय अवश्य है।

सत्य, श्रेय और सौन्दर्य के स्वरूप तथा काव्य के साथ इनके सम्बन्ध की जो कुछ नवीन धारणायें इस ग्रन्थ के दोनों भागों में प्रस्तुत की गई हैं, उनका प्रतिपादन मैंने यथासम्भव गम्भीरता एवं विचारशीलता के साथ करने का प्रयत्न किया है। आशा है हिन्दी के विद्वान् आचार्य, सजग अनुसंधान-कर्त्ता और जिज्ञासु छात्र इन धारणाओं पर गम्भीरता के साथ विचार करेंगे।

जो कागज, छपाई आदि के मूल्यों से अनभिज्ञ हैं, उन्हें इस ग्रन्थ का मूल्य अधिक प्रतीत होगा। जो उत्तम कोटि के कागज, छपाई, जिल्द आदि के मूल्य का अनुमान लगा सकेंगे उनकी पुस्तक के मूल्य के सम्बन्ध में भ्रान्ति सहज दूर हो सकेगी। पुस्तक-विक्रेताओं को कमीशन, पोस्टेज, पैकिंग आदि की जो छूट प्रकाशक की ओर से दी जाती है, उसे काटकर दोनों भागों के मूल्य में से लगभग आधा शेष रह जाता है। विद्वानों, पत्रिकाओं आदि के लिए भेंट दी जाने वाली और गणेशवाहनों द्वारा भेंट ली जाने वाली प्रतियों को निकालकर तथा वहन, रक्षण, विक्रय, वितरण, आदि का व्यय निकालकर दस-बीस वर्षों में बिकने वाले इस संस्करण में कितना लाभ शेष रह जाता है इसका अनुमान मूल्य को अधिक मानने वाले व्यावहारिक न्याय की ओर अभिमुख होकर ही लगा सकेंगे। स्वतन्त्र

भारत में ऐसे गम्भीर और विशाल सैद्धान्तिक ग्रन्थ को लिखने तथा उसको प्रकाशित करने में होने वाले अपार श्रम का कोई मूल्य नहीं है।

मैं किसी भी प्रकाशक अथवा पुस्तक-विक्रेता को लागत-मात्र मूल्य में सम्पूर्ण संस्करण देने को तैयार हूँ। लगभग बीस हजार रुपया लगाकर परीक्षार्थियों के लिए अनुपयुक्त और प्रकाशकों के लिए अनाकर्षक ऐसे विशाल और गम्भीर ग्रन्थ के प्रकाशन की मूर्खता हिन्दी की वर्तमान स्थिति में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का लेखक ही कर सकता है। मुझे सन्तोष है कि सहधर्मिणी के सत्परामर्श से मैंने ऐसे ही पाँच भागों में इस ग्रन्थ के परिवर्धित रूप के प्रकाशन की योजना को दो भागों में ग्रन्थ के शीघ्र प्रकाशन के प्रलोभन में आकर छोड़ दिया। यह योजना भविष्य में कार्यान्वित हो सकेगी अथवा नहीं इसका उत्तर केवल मुझे ही नहीं, हिन्दी जगत को भी देना है। अपनी वर्तमान स्थिति में इस योजना को कार्यान्वित करने पर जिनकी प्रेरणा से इस ग्रन्थ की रचना सम्भव हो सकी है, उनका जीवन कितना असुन्दर बन जाता इसकी कल्पना ही मुझे कम्पित कर देती है।

ग्रन्थ के द्वितीय भाग की पाण्डुलिपी के तैयार करने में मेरे सुयोग्य शिष्य श्री विष्णुदत्त शर्मा, एम० ए० का विशेष योग रहा है। जिस आत्मीयता और अनुराग के साथ श्री रमेशचन्द्र शर्मा ने इस विशाल ग्रन्थ का सुन्दर और सुरुचिपूर्ण मुद्रण किया है, उसके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। श्री रमेशचन्द्र शर्मा के कुशल मुद्रण का सत्य उनके सुयोग्य पुत्र श्री विशालभारत शर्मा तथा श्री प्रवीणभारत शर्मा के हार्दिक सहयोग से शिव और सुन्दर बन गया है।

पुष्पवाटिका छात्रावास
महारानी श्री जया कॉलेज, भरतपुर
दीपावली सं० २०२० विक्रमी।

विनीत——
रामानन्द तिवारी
'भारतीनन्दन'

सत्यं शिवं सुन्दरम्

भाग २

अनुक्रम

अध्याय पृष्ठ

शिवम्

सुन्दरम्

अध्याय | | पृष्ठ

शिवम्

1085
537
548

अध्याय २७

शिव और शिवम्

भारतीय धर्म और संस्कृति की परम्परा में शिव एक महान् देवता हैं। ऐतिहासिक खोजों से पता चला है कि कदाचित् वे सब से प्राचीन देवता हैं। पौराणिक और वैदिक देवताओं से वे कहीं अधिक प्राचीन हैं। उनकी पूजा और मान्यता भी अन्य देवताओं से अधिक है। भारतीय नगरों में शिव के मन्दिर भी अन्य देवताओं के मन्दिरों की अपेक्षा संख्या में अधिक हैं। भारतीय पंचाग में प्रत्येक पक्ष में शिव का व्रत होता है। इस प्रकार प्रति पक्ष किसी देवता का व्रत नहीं होता। अपनी प्राचीनता तथा महिमा और मान्यता के कारण ही शिव देवताओं में 'महादेव' कहलाये। संस्कृत भाषा के प्राचीन प्रयोग में 'ईश्वर' पद 'शिव' का पर्याय है। शिव ही भगवान के सबसे प्राचीन रूप हैं। कालिदास ने कई स्थानों पर शिव के अर्थ में 'ईश्वर' पद का प्रयोग किया है (पार्वती–परमेश्वरौ, भस्मांगरागा तनुरीश्वरस्य, सा पस्पृशे केवलमीश्वरेण)। अभिनव गुप्त की 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा' में भी 'ईश्वर' का प्रयोग 'शिव' के अर्थ में हुआ है। प्राचीनता और महिमा के अतिरिक्त 'शिव' का नाम भी सार्थक है। संस्कृत भाषा में 'शिव' का अर्थ 'मंगल अथवा कल्याण' है। 'शिव' पद की सार्थकता किसी अविदित व्युत्पत्ति अथवा अमान्य अनुरोध पर आश्रित नहीं है; वरन् वह संस्कृत भाषा के साधारण एवं परिचित प्रयोग का एक प्रसिद्ध तथ्य है। कालिदास ने शकुन्तला के विदा के अवसर पर आशीर्वाद में 'शिव' शब्द का प्रयोग 'मंगल अथवा कल्याण' के अभिधार्थ में किया है (शान्तानुकूलपवनश्च शिवौस्तु पन्थाः)। यहाँ 'शिव' का प्रयोग विशेषण के रूप में हुआ है। संज्ञा अथवा विशेषण के रूप में ऐसी प्रसिद्ध और परिचित सार्थकता किसी अन्य देवता के अभिधान में नहीं है। राम, कृष्ण, विष्णु आदि देवताओं के नाम व्यक्तिवाचक हैं। जातिवाचक अथवा विशेषण के रूप में उनका प्रयोग नहीं होता। 'काले' के अर्थ में 'कृष्ण' का प्रयोग 'शिव' पद के समान सार्थकता प्रमाणित नहीं करता। ऐसी ही सार्थकता शिव की सहयोगिनी 'शक्ति' के वाचक पद में भी है। अन्य देवताओं की अपेक्षा लक्ष्मी आदि देवियों के

नाम अधिक सार्थक हैं। यह संभवतः शैव परम्परा का ही फल है। भारतीय धर्म परम्परा में देवताओं की अपेक्षा देवियों की महिमा के अनुरूप है। देवियों की यह महिमा कदाचित् भारतवर्ष की सामाजिक और धार्मिक परम्परा में मातृ-तंत्र की प्राचीनता और महिमा का फल है।

'शिव' पद के देवता-वाचक होने के कारण तथा शिव के प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय देवता होने के कारण 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' के सांस्कृतिक सूत्र में 'शिवम्' पद का प्रयोग कुछ भ्रमात्मक हो जाता है। इस भ्रम की संभावना इसलिए बढ़ जाती है कि भाषा के प्रयोग में कल्याण वाचक पद के रूप में प्रचिलित होते हुए भी 'शिव' पद महादेव के अभिधान के रूप में अधिक प्रसिद्ध एवं विदित है। सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' का सांस्कृतिक सूत्र इस रूप में प्लेटों के सत्य, श्रेय और सौन्दर्य के वाचक ग्रीक पदों का संश्लिष्ट अनुवाद है। भाव के अर्थ में नपुंसक लिंग बन जाने के कारण अनुस्वार से युक्त होकर 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' का पद एक भारतीय सूत्र बन गया है। सत्यं के मौलिक नपुंसक रूप ने कदाचित् शिवं और सुन्दरम् को भी अनुस्वार से अलंकृत किया है। किन्तु पश्चिमी पदों का अनुवाद होने के कारण इस सूत्र के 'शिवं' का मौलिक आधार महादेव का वाचक 'शिव' पद नहीं हो सकता; फिर भी संस्कृत भाषा के प्राचीन और अर्वाचीन सभी प्रयोगों में महादेव का अभिधान होने के साथ-साथ 'शिव' पद श्रेय, मंगल, कल्याण आदि का भी वाचक है। अतः 'शिव' और 'शिवम्' के भाव साम्य का विचार करना आवश्यक है। 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' के सूत्र में इस सूत्र के इस रूप में पश्चिमी होने के कारण तथा 'शिवं' पद के नपुंसक लिंग होने के कारण 'शिवम्' पद महादेव का वाचक नहीं है। वह जीवन और संस्कृति के श्रेय अथवा कल्याण का वाचक एक सामान्य पद है, फिर भी भारतीय भाषा की परम्परा में 'शिव' पद श्रेय अथवा कल्याण का वाचक होने के साथ-साथ महादेव के अभिधान के रूप में भी प्रसिद्ध और प्रचिलित है। अतः कला और साहित्य के सिद्धान्त की दृष्टि से नहीं किन्तु संस्कृति की भारतीय परम्परा की दृष्टि से महादेव के वाचक शिव के साथ श्रेय अथवा कल्याण के वाचक शिवम् के व्यापक संबन्ध का विवेचन करना अपेक्षित है। इस संबन्ध के विवेचन का सत्र हमें शिव के स्वरूप और चरित में खोजना होगा। शिव के आध्यात्मिक स्वरूप के साथ-साथ शिव के पौराणिक रूप का भी इस प्रसंग में विचार करना होगा। यह निश्चित करना कठिन है कि शिव के आध्यात्मिक और

पौराणिक रूपों में कौनसा अधिक प्राचीन है। समाज-शास्त्र के दृष्टिकोण से पौराणिक कल्पनायें आध्यात्मिक धारणाओं की अपेक्षा अधिक प्राचीन मानी जा सकती हैं। पौराणिक कल्पनायें धार्मिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक धारणाओं के प्रतीकात्मक रूप हैं। मनुष्य के मानसिक विकास की दृष्टि से यह अधिक आदिम और प्राचीन हैं। इन प्रतीकों की ऐन्द्रिकता भी इसकी आदिमता का संकेत करती है। सूक्ष्म और बौद्धिक आध्यात्मिक धारणायें विकसित और अपेक्षाकृत अर्वाचीन चिन्तन का फल हैं। श्रेय अथवा कल्याण के अर्थ में 'शिव' पद का प्रयोग वेदों में भी मिलता है। उपनिषदों में ब्रह्म के विशेषण के रूप में 'शिवम्' का प्रयोग किया गया है (शान्तं शिवं अद्वैतं ब्रह्म)। इससे कल्याण के अर्थ में 'शिव' पद के प्रयोग की प्राचीनता विदित होती है। शिव का पौराणिक रूप कदाचित वेद से प्राचीनतर है। किन्तु शैव दर्शन में प्राप्त शिव का आध्यात्मिक रूप संभवतः वेदों की अपेक्षा उत्तरकालीन है और संभवतः उपनिषदों के वेदान्त के प्रभाव से निर्मित हुआ है। किन्तु यह श्रेय के आध्यात्मिक स्वरूप के संबन्ध में ही सत्य हो सकता है। श्रेय के सामाजिक और सांस्कृतिक तत्व महादेव शिव के प्राचीन और पौराणिक रूप में ही समाहित हैं। शिव के चरित में भी इनके संकेत मिलते हैं। शिव के पौराणिक रूप और चरित से ग्रहण करके ही श्रेय का भाव वेदान्त के ब्रह्म में अन्वित हुआ होगा। ज्ञान और आनन्द की तुलना में वेदान्त में शिवं के मांगलिक भाव की विरलता वेदान्त के ब्रह्म में इस मांगलिक भाव की अमौलिकता और अप्रधानता सूचित करती है। इस विरलता से यह भी संकेत मिलता है कि पद और भाव दोनों के प्राचीन शैव परम्परा से ग्रहीत होने के कारण वेदान्त-परम्परा में 'शिव' के पद और भाव की विपुलता के प्रति ऋषियों को संकोच रहा।

अस्तु, महादेव के वाचक शिव और शिव के वाचक शिवम् के साम्य का सूत्र सबसे पहले शिव के प्राचीन चरित और उनके पौराणिक रूप में ही खोजना उचित है। समाज संस्कृति से प्राचीनतर है। इस दृष्टि से चरित का सामाजिक आधार प्रतीकात्मक सांस्कृतिक रूपों की अपेक्षा प्राचीनतर होगा। शिव और पार्वती के चरित की पारिवारिक और व्यापक लोक प्रियता से यही संकेत मिलता है कि महादेव शिव की कथा केवल कल्पना नहीं है। संभवतः इस कथा का विस्तार प्राचीन समाज के किसी वास्तविक वृत्त से हुआ है। शिव-पार्वती के विवाह तथा

लोक-संस्कृति में उसके आदर्श की प्रतिष्ठा का रहस्य प्राचीन समाज में इस वृत्त की वास्तविकता में ही मिल सकेगा। 'दुर्गा सप्तशती' 'देवी भागवत' आदि देवी के चरितों में जिन युद्धों का वर्णन मिलता है वे कदाचित् प्राचीन मातृ-तंत्र के साथ पुरुष के तर्क से प्रेरित पुरुष-तंत्र के संघर्ष की घटनायें हैं। देवी ने जिन राक्षसों का वध किया वे कदाचित् प्राचीन बर्बर पुरुष ही थे। इन युद्धों के प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य है कि देवी की सेना भी स्त्रियों से निर्मित थी। उनकी सेना में कोई पुरुष न था। धार्मिक और पौराणिक परम्परा से यह भी विदित होता है कि चंड-मुंड के वध, रक्त-बीज के वध आदि की ये घटनायें हिमालय प्रदेश में घटित हुई थीं। हिमालय के तीर्थों में वे स्थान आज भी सुरक्षित हैं। हिमालय प्रदेश में मातृ-तंत्र के कुछ अवशेष आज भी मिलते हैं। मातृ-तंत्र के युग की नारी की प्रचण्डता की कल्पना पुरुष-तंत्र में लालित ललना को देखकर नहीं की जा सकती। जिन देवताओं के आनन के तेज से देवी के देह के निर्माण की कल्पना 'दुर्गा-सप्तशती' में की गई है, वे कदाचित् उस युग के सज्जन और शान्ति-प्रिय पुरुष रहे होंगे। वे भी वर्बर पुरुषों से प्रपीडित रहे होंगे। इसीलिए उन्होंने अपने अस्त्र देवी को अर्पित किये। रक्त-बीज के द्वारा महादेवी के साथ विवाह का प्रस्ताव मातृ-तंत्र और पुरुष-तंत्र की उस संधि का संकेत करता है जो शिव-कथा के प्रसंग में शिव-पार्वती के संबन्ध के रूप में प्रतिष्ठित हुई है और भारतीय समाज का पवित्र आदर्श बनी। इस युद्ध के प्रसंग में शिव ने देवी के दूत का कार्य भी किया था। कदाचित् 'शिव' सज्जनों के ऐसे प्रतिनिधि थे जिन्होंने तप और शान्ति के आदर्श को अपनाकर पुरुष के द्वारा नारी के दमन के स्थान पर नारी के द्वारा पुरुष के स्वतंत्र वरण की परम्परा का सूत्र-पात किया तथा उस प्राचीन संघर्ष को पवित्र प्रेम बन्धन का रूप दिया। देवी की पूजा में प्रयुक्त मांस, मदिरा आदि उन छलमय साधनों के सूचक हैं, जिनके द्वारा प्राचीन बर्बर पुरुषों ने प्रचण्ड नारी को विमोहित करने का प्रयत्न किया होगा। कुमारी-पूजा तथा षोडशी-पूजा की प्रथा से यह संकेत मिलता है कि ये प्रयत्न अज्ञात-यौवनाओं और नवोढाओं के साथ अधिक सरलता से किये गये होंगे। शिव के गण कदाचित् उनके सैनिक रहे होंगे। गणेश उनके नायक होंगे। पार्वती के प्रथम ऋतु-स्नान के समय द्वारपाल बने हुए गणेश का शिरश्छेद शिव ने किया था। इस घटना से विदित होता है कि शिव में भी प्राचीन वर्बर पुरुषों के अभ्यस्त अतिचार के अवशेष रह गये थे। गणों के

अतिरिक्त शिव की सेना में भूतनी, प्रेतनी के रूप में नारियाँ भी थीं। इसका अभिप्राय यह है कि उनको नारियों का सहयोग भी प्राप्त था। वे उस बर्बर युग के सज्जनों के ऐसे प्रतिनिधि थे जिन्होंने समाधि और प्रणय के द्वारा दोनों तंत्रों में सामंजस्य स्थापित किया। इसीलिए वे परमेश्वर के समान पूजित हुए। यह सामंजस्य ही समाज के कल्याण का मूल है। इसीलिए 'शिव' को यह नामकरण मिला। इस अद्भुत सफलता के कारण 'शिव' देवताओं में महादेव बने। महादेव की सहयोगिनी बनकर देवी को महादेवी का पद मिला। संधि और सामंजस्य के पूर्व देवी स्वतंत्र रूप से रक्तबीज आदि का वध कर चुकी थी। इसलिए 'शक्ति' के रूप में उनकी प्रतिष्ठा हुई। शिव की सद्भावनाओं को भी उनकी शक्ति से वल मिला होगा। इसीलिए शक्ति तंत्रों में 'शक्ति' की प्रधानता मानी जाती है और शक्ति के बिना 'शिव' को शव के समान माना जाता है। भारतीय संस्कृति की परम्परा में माता की महिमा तथा देव-दम्पत्तियों के नामों में स्त्री पद की प्राथमिकता (पार्वती-परमेश्वरौ, भवानी-शंकरौ, सीताराम, राधाकृष्ण आदि) है। मातृ-तंत्र के प्रभाव और शक्ति की इसी प्रधानता का प्रस्तार है।

अस्तु, मातृ-तंत्र और पुरुष-तंत्र के संघर्षकाल में योग और विवाह के द्वारा कल्याणमय सामंजस्य के सूत्रधार होने के नाते शिव महादेव बनकर सामाजिक मंगल के प्रतीक बने। इसी प्रसंग के संश्लेष से 'शिव' पद व्यापक कल्याण का वाचक बना। शिव के चरित में लोक-मंगल के अनेक तत्व मिलते हैं। राम और कृष्ण के चरित के समान शिव के चरित का कोई व्यवस्थित आरम्भ और विकास नहीं मिलता। शिव के जन्म अथवा उनकी उत्पत्ति का प्रसंग न मिलने से यही विदित होता है कि ऐतिहासिक और पौराणिक दोनों ही दृष्टियों से शिव अत्यन्त प्राचीन हैं। बाद की पौराणिक कल्पनाओं में देवताओं की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है। ऐतिहासिक अथवा पौराणिक किसी भी रूप में शिव के जन्म, उत्पत्ति अथवा वंश के संकेत नहीं मिलते। कुलीनता के तर्क की दृष्टि से इस प्रसंग को लेकर कवियों ने शिव के साथ व्यंग्य भी किए हैं। किन्तु शिव-चरित के इस आरम्भिक अभाव का ऐतिहासिक कारण यह हो सकता है कि मातृ-तंत्र के उस युग में किसी भी पुरुष के जन्म और वंश का विवरण पुरुष-तंत्र की भाषा में नहीं हो सकता। पार्वती की माता मेनका भी पितरों की कन्या थी और पार्वती के पिता हिमाचल थे, जिनको एक व्यक्ति मानना कठिन है। मातृ-तंत्र के युग में हिमाचल

प्रदेश की सभी कन्याओं को हिमाचल-कन्या माना जा सकता है। देवता के रूप में शिव की पौराणिक कल्पना में भी उनकी उत्पत्ति का प्रसंग उस मातृ-तंत्र के युग में अकल्पनीय था। परम्परा और इतिहास में मिलने वाली सारी धारणायें पुरुष तंत्र की वृत्तियों के अनुरूप हैं। मातृ-तंत्र की परम्पराओं के वे ही अवशेष बचे हैं जो पुरुष तंत्र को मान्य अथवा उसके लिए अनिवार्य रहे। उसमें माता की महिमा और दम्पत्ति के द्वन्द्व पदों में स्त्री के नाम की प्राथमिकता ही मुख्य दिखाई देते हैं। बालक के जन्म के प्रसंग और रहस्य मातृ-तंत्र के युग में पुरुषों के लिए पूर्णतः निषिद्ध और अविदित रहने के कारण सन्धिकाल तक की परम्परा में जन्म का प्रसंग नहीं मिल सकता। अयोनिजाओं और अप्सराओं के जन्म की अद्‌भुत कल्पनायें भी इसी परिस्थिति का फल है।

अस्तु, शिव के चरित में जन्म का प्रसंग नहीं है। सामान्यतः एक समाधिस्थ योगी के रूप में ही उनकी कल्पना की जाती है। कैलाश तो उनका निवास है। तप और योग की एकान्त साधना भारतीय धर्म और अध्यात्म का बीज-मंत्र है। यही साधना मनुष्य की पशु-प्रवृत्तियों के संयम और संस्कार का मार्ग है। इसी मार्ग से जीवन की गति कल्याण की ओर संभव हो सकती है। **शिव ने इस मार्ग का आरम्भिक निर्माण किया। इसीलिए वे धर्म, अध्यात्म, व्याकरण, कला, शास्त्र आदि के प्रवर्त्तक माने जाते हैं।** यही साधना समस्त विद्याओं तथा संस्कृत के अन्य कल्पतरुओं का अंकुर है। चरित की दृष्टि से विवाह के प्रसंग से ही शिव की कथा का आरम्भ किया जा सकता है। **भारतीय परिवारों में शिव-पार्वती का विवाह जिस रूप में प्रतिष्ठित और पूजित है उससे यही संकेत मिलता है कि कदाचित् शिव ने ही मातृ-तंत्र के स्वच्छन्द जीवन में विवाह की मर्यादा का सूत्रपात किया।** यह सूत्र-पात भी उन्होंने ऐसी उत्तम विधि से किया कि विवाह की प्रथा समाज में प्रतिष्ठित हुई और शिव-पार्वती वैवाहिक संबन्ध के आदर्श के रूप में पूजित हुये। मातृ-तंत्र की इस स्वच्छन्दता तथा सन्धिकाल की पुरुष के अतिचार से उत्पन्न उच्छृंखल अराजकता में शिव ने दोनों ओर जिस एकनिष्ठ भाव और संबन्ध की प्रतिष्ठा की वही सामाजिक जीवन के मंगल का मूल-सूत्र है। शिव के द्वारा प्रवर्तित इस वैवाहिक संस्कृति में सबसे अधिक महत्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य शिव का शान्त, गंभीर, सात्विक, अनतिचारी और उदार चरित्र है। कदाचित मांसाहार की तुलना में फलाहार को महत्व देकर जीवन में सात्विकता का सूत्र-पात

करने का श्रेय भी शिव को ही है। दाम्पत्य भाव की प्रतिष्ठा शिव ने जिस संयम और उदारता के साथ की वह शिव के चरित का सबसे अधिक मार्मिक तत्व है। उनके तप, तेज, संयम आदि से प्रभावित होकर स्वयं पार्वती ने उन्हें वर के रूप में प्राप्त करने की इच्छा की तथा उन्हें प्रसन्न करने के लिए उनकी सेवा की। शिव का काम-दहन इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने काम के अतिचार को नियंत्रित करने के लिए दाम्पत्य संवन्ध में काम के स्थान पर प्रेम तथा अतिचार के स्थान पर स्त्री के द्वारा स्वतंत्र वरण को प्रतिष्ठित किया। पार्वती के द्वारा शिव का यह वरण ही स्वयंवर की प्राचीन प्रथा का बीज है। ऐसी स्वयंवर की प्रथा कदाचित् संसार के किसी देश में नहीं थी। अतिचार के स्थान पर शिव ने स्वतंत्र वरण की कसौटी को भी तपस्विनी पार्वती की तपस्या के द्वारा अधिक कठोर किन्तु अधिक विश्वसनीय बना दिया। विवाह के बाद दाम्पत्य संबन्ध और भाव की जो घनिष्ठता शिव के चरित में मिलती है, वह भारतीय समाज का अभिप्सित आदर्श बन गई। अन्य देवताओं की कथाओं में वियोग के प्रसंग मिलते हैं, किन्तु समस्त पौराणिक कथाओं में शिव-पार्वती सदा साथ-साथ मिलते हैं। अनेक पौराणिक कथायें उनके संलाप के रूप में हैं। शिव-पार्वती के दाम्पत्य भाव की घनिष्ठता का कलात्मक अंकन हिमालय प्रदेश में मिलने वाली अखण्ड हर गौरी की मूर्तियों में तथा उसका प्रतीकात्मक चित्रण अर्धनारीश्वर की कल्पना में और उसका आध्यात्मिक निदर्शन शैव दर्शन के शिव-शक्ति अथवा प्रकाश-विमर्श के अभिन्न भाव में मिलता है। सती के प्रति शिव का मोह उनके प्रेम को और प्रगाढ़ बना देता है। कालिदास के शब्दों में पार्वती की सखियों ने शिव के इसी प्रगाढ़ प्रेम में पार्वती की साधना को सफल माना है (तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः)। पति के वरण में स्त्री की स्वतंत्रता और दम्पत्ति का एकनिष्ठ प्रेम उस अतिचार और उच्छृंखलता के पूर्णतः विपरीत है, जिसने मातृतंत्र के अवसान और पुरुष तंत्र के उदय के बीच स्त्री की स्थिति को बहुत संकटापन्न बना दिया होगा। ऐसे स्वतंत्र, सात्विक, संयत, उदार और एकनिष्ठ दाम्पत्य भाव के प्रवर्त्तक होने के कारण ही शिव भारतीय परिवारों में, विशेषतः स्त्रियों के द्वारा, एक मंगलमय आदर्श के रूप में पूजित हैं।

विवाह के अतिरिक्त शिव के चरित के अन्य अनेक प्रसंग मांगलिक भावों को सूचित करते हैं, तथा 'कल्याण' के पर्याय के रूप में 'शिव' के नाम को सार्थक बनाते हैं। भस्मासुर आदि राक्षसों को वरदान देने में उन्होंने जो उदारता दिखाई वह

भी समाज का एक मांगलिक तत्व है। इसी उदारता के कारण वे अवढरदानी कहलाये (अशुतोष तुम अवढरदानी)। उनका सरल, सात्विक और तपोमय जीवन समाज के मंगल की सही दिशा है। शिव ने अनेक शास्त्रों और विद्याओं का प्रवर्त्तन किया। इस दृष्टि से वे मनुष्य समाज के सांस्कृतिक मंगल के विधाता भी हैं। उन्होंने अनेक राक्षसों का संहार भी किया। राक्षस अनीति और अतिचार के मार्ग पर चलने वाले बर्बर पुरुष ही थे। त्रिपुरों की कथा भी प्रतीकात्मक रूप में उस सामंजस्य का ही निदर्शन करती है जिसको सभी क्षेत्रों में प्रतिष्ठित करके शिव ने मानव समाज को मंगल का मार्ग दिखाया। इसी सरलता और स्वतंत्रता के साथ शिवालयों में शिव की पूजा होती है। वह भी धर्म के क्षेत्र में मंगल का सूत्र तथा अनीति और अतिचार की अर्गला है। शिव के जीवन की सरलता एवं सात्विकता तथा राज्य एवं वैभव का अभाव उनकी ऐतिहासिक प्राचीनता के साथ-साथ लोक मंगल की दिशा का निर्देश भी करते हैं।

शिव के चरित के साथ-साथ उनका अद्भुत पौराणिक रूप भी अनेक मांगलिक रहस्यों से परिपूर्ण है। बाहरी दृष्टि से देखने पर उनका यह रूप बड़ा अद्भुत और विचित्र लगता है–शरीर पर चिता-भस्म, कटि में बाघंबर, हाथ में त्रिशूल और डमरू, गले में सर्प, मस्तक पर तृतीय नेत्र, जटा जूट पर चन्द्रमा की कला और उसके ऊपर गंगा की धारा। शिव के रूप के कुछ उपकरण उनकी प्राचीनता के द्योतक हैं; किन्तु अनेक उपकरण अद्भुत और विचित्र हैं। स्थूल रूप में न उनकी कोई संगति दिखाई देती है और न उनकी कोई सार्थकता प्रतीत होती है। वैदिक और वैष्णव परम्परा में प्रायः शिव के इस विचित्र रूप का उपहास करने का प्रयत्न किया गया है। 'कुमार संभव' में जब शिव ब्रह्मचारी के छद्मवेश में तपस्विनी पार्वती की परीक्षा करने के लिए गये थे तब उन्होंने शिव के सम्बन्ध में प्रचलित इन्हीं प्रवादों को अपने व्यग्यों का आधार बनाया था। किन्तु वस्तुतः शिव के इस पौराणिक और प्रतीकात्मक रूप के उपकरण गंभीर अर्थ से परिपूर्ण हैं और इस अर्थ में जीवन के अनेक मांगलिक तत्व समाहित हैं। शरीर पर चिता-भस्म का लेपन सभ्य समाज को एक वीभत्स कृत्य जान पड़ता है किन्तु प्राकृतिक दृष्टि से भस्म-धारण शीत से रक्षक है। इसीलिए नग्न रहने वाले नागा साधु आज भी भस्म धारण करते हैं। शिव का बाघंबर ऐतिहासिक दृष्टि से उनकी प्राचीनता का द्योतक है। किन्तु शिव का पौराणिक रूप प्रधानतः प्रतीकात्मक है। साधारण अर्थ में इस रूप के

सभी अद्भुत उपकरणों की व्याख्या नहीं की जा सकती। प्रतीकात्मक दृष्टि से चिता-भस्म का अभिप्राय यह हो सकता है कि हम जीवन की पार्थिवता को अंगीकार करते हैं और उसका आदर करते हैं। चिता-भस्म का विशेष उद्देश्य शरीर की पार्थिवता का आदर है। चिता-भस्म पार्थिव शरीर का अन्तिम अवशेष है। उसे धारण कर हम अन्तिम अवस्था तक शरीर और जीवन की पार्थिवता का आदर करते हैं। मस्तक पर उस रज को धारण कर हम उसे शिरोधार्य बनाते हैं। यह आदर की पराकाष्ठा है। शिव के द्वारा प्रचलित यह भस्म-धारण अन्य भारतीय सम्प्रदायों में भी पाया जाता है। वैदिक परम्परा में होलिका-दाह के बाद जो रजोधारण होता है, वह भी इस शृंखला में है। अनेक पर्वों के अवसर पर अग्नि खण्डों के द्वारा होने वाली देवी-पूजा के अवसर पर तथा देवी, हनुमान, शिव आदि के मन्दिरों में कर्पूर-रज अथवा अन्य प्रकार की रज का मस्तक पर तिलक लगाया जाता है। पार्थिव जीवन और पार्थिव उपकरणों का यह सत्कार वेदान्त के द्वारा प्रचलित जगत के मिथ्यात्व की तुलना में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पार्थिव जीवन का यह सत्कार एक मर्यादा के अन्तर्गत ऐसे समन्वय की सृष्टि करता है जो जीवन को एकांगी अध्यात्म की अपेक्षा अधिक सन्तुलित और पूर्ण बनाता है। इस मर्यादा का विधान स्वयं शिव के तपस्वी जीवन और उनके उस प्रेम-पूर्ण परिणय में मिलता हैं जो पार्वती की तपस्या और उनके स्वतंत्र संकल्प के द्वारा सम्पन्न हुआ था। पार्थिव जीवन की महिमा और अध्यात्म का समन्वय शिव के चरित के अतिरिक्त शैव दर्शन के शिव-शक्ति साम्य में भी मिलता है, जिसके अनुसार शिव की अभिन्न शक्ति अपने विमर्श से विश्व का विस्तार करती है तथा इस प्रकार पार्थिव जगत की सत्ता और लौकिक जीवन के व्यवहार को गौरव प्रदान करती है।

शिव का बाघंबर ऐतिहासिक दृष्टि से उनकी प्राचीनता का द्योतक है। शिव की कल्पना उस समय की है जब तक सभ्यता के विकास में बल्कल वस्त्र का भी आविष्कार नहीं हुआ था और पशुओं का चर्म ही शरीर का आच्छादन था। बाघंबर के स्थान पर शिव के प्रसंग में गजाजिन का भी वर्णन आता है। बाघ और गज दोनों ही बड़े भयंकर पशु हैं। उनका आखेट उस प्राचीन युग के पौरुष और पराक्रम का प्रमाण है। मुनियों का मृग-चर्म उस युग की तुलना में बहुत अर्वाचीन है। शिव के आच्छादन के रूप में बाघंबर का प्रयोग चाहे उस युग की सभ्यता की ऐतिहासिक स्थिति के कारण ही हुआ हो किन्तु अर्थ-ग्रहण की दृष्टि से हम शिव

के दिगम्बर वेश को सरलता का प्रतीक मान सकते हैं। भारतवर्ष जैसे उष्ण देश में अधिक वस्त्रों का उपयोग अपेक्षित नहीं है। शिष्टाचार की दृष्टि से अधोवस्त्र के धारण की ही प्रथा प्राचीन काल में भारतवर्ष में प्रचलित थी। ऋषि-मुनि, राजा-देवता आदि सभी केवल अधोवस्त्र धारण करते थे। उत्तरीय का धारण एक अलंकार माना जाता था। शिव का बाघम्बर भी अधोवस्त्र है। आधुनिक सभ्यता में वस्त्रों का बढ़ता हुआ वैभव सरलता के विपरीत होने के साथ-साथ एक आन्तरिक शून्यता की प्रतिक्रिया है। स्वास्थ्य और मन के वैभव की दीनता को सभ्यता भव्य वस्त्रों के आवरण से ढँकने का प्रयत्न कर रही है। वस्त्रों के सौन्दर्य में अपने आप में कोई दोष नहीं है। किन्तु आर्थिक अपव्यय का कारण और अन्य अभावों का आवरण बन जाने पर वस्त्रों का सौन्दर्य दूषित हो जाता है। वस्त्रों तथा अन्य उपकरणों की सरलता और अल्पता जीवन के आन्तरिक सौन्दर्य और आत्मिक आनन्द को बढ़ाने का निमित्त बन सकती है। आर्थिक दीनता के कारण नहीं वरन् आध्यात्मिक दृष्टिकोण के प्रभाव के कारण भारतीय जीवन में यह सरलता का आदर्श सर्वदा समादृत रहा है। शैव तंत्र और वेदान्त दर्शन दो प्रमुख भारतीय दर्शनों में यह आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रकट है। मुनियों का सरल जीवन भारतीय आदर्श रहा है। वस्त्र और उपकरण दोनों ही दृष्टियों से शिव का जीवन इस सरलता का प्राचीनतम आदर्श है।

बाघंबर के अतिरिक्त शिव के निवास, आहार आदि के उपकरण भी सरल एवं वन्य हैं। वन्य फल-फूल ही शिव के आहार और प्रसाद हैं। प्राचीनता के साथ-साथ यह सरलता के भी द्योतक हैं। उपकरणों की अल्पता जो प्रायः शिव के उपहास का निमित्त बनती रही है वह वस्तुतः जीवन के आन्तरिक सौन्दर्य और आत्मिक वैभव के प्रकाशन का आवश्यक साधन है। अपरिग्रह के रूप में इस सरलता को सभी भारतीय दर्शनों में महत्व दिया गया है। आधुनिक युग में बढ़ते हुए उपकरणों के वैभव में वेग से बढ़ती हुई मनुष्य की आन्तरिक दीनता को देखते हुए उपकरणों की अल्पता और सरलता ही मानव-कल्याण का उत्तम मार्ग प्रतीत होती है। अल्पतम साधन के रूप में ही उपकरण अपेक्षित है। जीवन का वास्त-विक सौन्दर्य आन्तरिक और आत्मिक है। उपकरण उसके साधन मात्र हैं। उपकरणों के साध्य बन जाने पर अन्तर का सौन्दर्य और आत्मा का आनन्द विलुप्त होने लगता है जैसा कि वर्त्तमान युग में हो रहा है। वर्त्तमान युग के बढ़ते हुए

वस्तुवाद और वस्त्रवाद में मनुष्य का मन दीन हो रहा है। वस्तुओं और वस्त्रों के भार से मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा क्षीण हो रहे हैं। साधनों की विपुलता में साध्य विलीन हो रहा है। उपकरणों की अल्पता और सरलता के साथ-साथ वैभव के अभाव में शान्ति और आनन्द का जीवन मंगल का सिद्ध मार्ग है, जिसे शिव ने प्रशस्त किया है। शिव का अल्हड़ भाव अल्प लोक और विपुल अध्यात्म की संधि का सूत्र है। सभ्यता का विकास-क्रम में भी शिव के इस आदर्श का अनुशीलन कल्याणकारक होगा।

शिव का त्रिशूल मनुष्य के आखेट-शस्त्र का प्राचीनतम रूप है। शृंगी उस आखेट का ही एक उपकरण है। योगीश्वर शिव के साथ त्रिशूल का संयोग कुछ अद्भुत-सा जान पड़ता है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह आदिम आखेट-जीवी समाज में शिव के द्वारा सात्विकता और आध्यात्मिकता के प्रवर्त्तन का द्योतक हो सकता है। शिव का फलाहार उस प्राचीन काल में जीवन के साथ अध्यात्म के समन्वय का सूत्र है। सांस्कृतिक अर्थ में शिव का त्रिशूल अनीति का आवश्यक उपचार है। जिस प्रकार शिव के अध्यात्म में जीवन के पार्थिव सत्य का समन्वय है, उसी प्रकार उनका [illegible] अध्यात्म एकांगी अहिंसा के दोषों से मुक्त है। सात्विकता और आध्यात्मिकता का पूर्ण आदर करते हुए भी अनीति और अतिचार के दमन के लिए शक्ति का उपयोग करना होगा; तभी संस्कृति की उन्नति और रक्षा सम्भव हो सकेगी। शिव ने असुरों के साथ युद्ध और उनका संहार भी किया है। यह उनके योग और अध्यात्म का दूसरा पक्ष है। त्रिदेवों की कल्पना में शिव को विनाश का देवता माना जाता है। उनका ताण्डव नृत्य प्रलय का ही उपक्रम है। यह योग और अध्यात्म में अनीति का अवरोध करने वाली सक्रिय शक्ति के समन्वय का संकेत करता है। शिव के भक्त के रूप में परशुराम ने तथा द्वापर में श्रीकृष्ण ने इसी समन्वित आदर्श की प्रतिष्ठा की थी, जो बुद्धि और गान्धी के एकांगी अहिंसावाद के विपरीत है। आगे चलकर शिव के साथ पिनाक नामक धनुष का संयोग और काव्य में उसकी टंकार (हिमालय पर पिनाकी का धनुष-टंकार बोला) के प्रसंग उक्त समन्वय को परिपुष्ट बनाते हैं। शिव का त्रिशूल असुर-निकन्दिनी दुर्गा का भी प्रमुख शस्त्र है। यह शिव और शक्ति के सामंजस्य का ही सूचक है।

शिव का डमरू भी प्रायः उनके संहारक रूप का सहयोगी माना जाता है। ताण्डव नृत्य में भी शिव के डमरू-नाद का योग रहता है; किन्तु नृत्य के और शब्द

के साथ डमरू का विशेष सम्बन्ध होने के कारण उसे कला का सहयोगी मानना ही अधिक उचित है। ताण्डव और लास्य दोनों में ही वे डमरू का उपयोग करते हैं। ताण्डव संहार का नृत्य है और लास्य शृंगार का नृत्य है। शिव पार्वती के साथ लास्य करते हैं। पार्वती शक्ति का रूप है। शक्ति सृष्टि की विधात्री है। शृंगार सृष्टि का मूल मन्त्र है। अतः लास्य में शक्ति-रूपा पार्वती का सहयोग उचित है। ताण्डव-नृत्य वे अकेले करते हैं। विधात्री शक्ति का संहरण उनके संहारक रूप में हो जाता है। नृत्य प्राचीनतम कला है। शिव के नृत्य को कला का प्रतीक मान सकते हैं। वे नटराज कहलाते हैं और नृत्य के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। व्याकरण आदि शब्दमय शास्त्रों का उद्गम भी शिव के डमरूनाद से ही माना जाता है। दर्शन और अध्यात्म के अन्य अनेक शास्त्र शिव के द्वारा ही प्रवर्तित माने जाते हैं। शैव-दर्शन का 'शिवसूत्र' तो उनका साक्षात् प्रसाद है। समस्त व्याकरण शास्त्र का विस्तार चौदह माहेश्वर सूत्रों से हुआ है। **कलाओं और शास्त्रों के आदि-प्रवर्तक के रूप में भी शिव लोक के सांस्कृतिक मंगल के प्रतीक हैं।** कला और शास्त्र का सांस्कृतिक जीवन में बड़ा महत्त्व है। आत्मिक समृद्धि का लोक में विस्तार इन्हीं रूपों में होता है। शैव-तंत्रों में शक्ति का नाम ही कला है। कला शक्ति का प्रथम स्फुरण है। प्रसिद्ध कलायें और शास्त्र शिव की सृजनात्मक शक्ति की सांस्कृतिक अभिव्यक्तियाँ हैं। **शिव का रूप जहाँ तप और योग से समन्वित अध्यात्म का प्रतीक है, वहाँ दूसरी ओर वह कला और शास्त्रों की सांस्कृतिक अभिवृद्धि का प्रेरक भी है। इस प्रकार शिव के रूप में पार्थिव आधार, सांस्कृतिक विकास और अध्यात्म का अद्भुत समन्वय मिलता है।**

शिव के कंठ के सर्प उनके रूप को अद्भुत बना देते हैं। हम विषधर सर्पों से दूर रहते हैं, क्योंकि उनसे हमें मृत्यु का भय रहता है। अनर्थकारी दुष्टों के लिए 'सर्प' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग होता है। दुष्टों से भी हम भयभीत और दूर रहते हैं। किन्तु उनसे केवल दूर रहने से समाज की समस्या का समाधान नहीं हो सकता। इस समस्या के समाधान के दो मार्ग हैं— एक मार्ग दुष्टों के दलन का है और दूसरा मार्ग उनके उन्नयन का है। इन दोनों मार्गों में विकल्प नहीं है। दुष्टों के स्वभाव-भेद के अनुसार दोनों ही मार्गों की आवश्यकता होगी। शिव के रूप में इन दोनों ही मार्गों के संकेत हैं। उनका त्रिशूल दुष्टों के दलन का शस्त्र है। दूसरी ओर विषधर सर्प उनके कंठहार बने हैं। स्नेह और आदर देने से

दुष्ट भी सुधर सकते हैं और समाज के शान्ति-प्रिय सदस्य बन सकते हैं, जिस प्रकार विषधर सर्प शिव के अलंकार बन गये। इसके लिए कुछ निर्भयता और सत्कार का भाव अपेक्षित है। दुष्टों की अनीति और उनके अतिचार की समस्या समाज की कठिन समस्या है। एकांगी अहिंसावाद से उसका उपचार नहीं हो सकता। शिव के रूप के द्वारा लक्षित दोनों मार्गों का समन्वय ही इस उपचार का एक मार्ग है। इस मार्ग से अनीति का उपचार करने पर ही लोक का मंगल पूर्ण, स्थिर और अभ्रान्त हो सकता है; अन्यथा अनीति के सम्बन्ध में भ्रम, आशंका, आतंक आदि का बना रहना निश्चित है। काम-दहन, साधना और स्वेच्छा से संस्कृत विवाह, दुष्टों का दलन, दुष्टों का उन्नयन आदि विविध रूपों में अनीति का समाधान समाहित कर शिव का रूप सामाजिक मंगल का एक समृद्ध आदर्श उपस्थित करता है।

अनीति के समाधान का एक अन्य गम्भीर मार्ग शिव के नील-कंठ रूप में मिलता है। समुद्र-मन्थन के समय समुद्र से चौदह रत्न निकले थे, जिनमें विष वारुणी आदि भी थे। अमृत के ग्राहक तो सभी देवता थे, किन्तु विष को स्वीकार करने वाला कोई न था। महादेव ने यहाँ भी अपनी महानता दिखायी। किसी अन्य देवता के स्वीकार न करने पर उन्होंने विष को स्वीकार किया और प्रसन्नता पूर्वक हलाहल का पान किया। कंठगत करके स्वयं शिव भी उस हलाहल को उदरस्थ न कर सके। उदरस्थ होने पर कोई भी पदार्थ शरीर में आत्मसात हो जाता है। शरीर में आत्मसात होने पर सभी विष घातक होते हैं; फिर उस घोर हलाहल की तो बात ही क्या है। सामाजिक व्यवस्था के मंगलमय (शिव रूप में) शरीर में आत्मसात होने पर संसार रूपी समुद्र का घोर हलाहल घातक बन सकता है। अतः शिव ने उसे कंठ में ही रोककर रखा। कंठ केवल एक मार्ग है, वह हृदय, उदर आदि की भाँति शरीर का केन्द्रीय यन्त्र नहीं है। शिव के द्वारा कंठ में हलाहल का धारण अनीति के समाधान के तीसरे मार्ग का संकेत करता है। जीवन के सागर की गहराइयों में छिपा हुआ दुष्टता का विष दुर्दमनीय है। उसका दलन कठिन है। प्रकट अनीति का दलन ही सम्भव है। स्नेह और सद्भाव से शिव के सर्पों की भाँति कुछ दुष्टों का उन्नयन सम्भव हो सकता है। किन्तु अनीति का कोई ऐसा रूप हो सकता है, जिसका समाधान दलन और उन्नयन दोनों में किसी के द्वारा नहीं हो सकता। ऐसी अनीति के प्रति कुछ सहिष्णुता का मार्ग

अपनाना होगा, जैसा कि शिव ने हलाहल के प्रति अपनाया। किन्तु इस अनीति को ऐसे क्षेत्र पर सीमित करना होगा, जहाँ वह सक्रिय न हो सके और जहाँ से वह समाज के मंगलमय शरीर में व्याप्त होकर उसका विघात न कर सके। कंठ ऐसे ही माध्यमिक क्षेत्र का प्रतीक है। इस क्षेत्र में भी अनीति का कुछ कलुषकारी प्रभाव अनिवार्य है। शिव का कंठ भी हलाहल से नीला हो गया। **किन्तु यह अनीति के पूर्ण उपचार की अन्तिम सीमा है, जो शिव के प्रतीक के व्यावहारिक और यथार्थवादी दृष्टिकोण को सूचित करती है।** अनीति के पूर्ण और सहज उच्छेदन की आदर्शवादी कल्पनायें अव्यावहारिक और अयथार्थवादी हैं। शिव के प्रतीक में समाहित अनीति के उपचार के तीनों मार्गों का समन्वय इस समाधान का एक सन्तुलित व्यावहारिक और यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। अनीति **के इन गम्भीर समाधानों को समाहित करके शिव के प्रतीक की मांगलिकता भी अधिक परिपूर्ण, अधिक समृद्ध और अधिक यथार्थवादी बन गई है।**

शिव के पौराणिक रूप के उपकरणों में सबसे अधिक अद्भुत उनके चूडालंकार हैं। बाघम्बर, त्रिशूल, सर्प, आदि ऐसे लौकिक उपकरण हैं, जिनकी संगति से हम साधारणतया परिचित हैं। शिव के अतिरिक्त अन्य लौकिक और सामान्य पुरुषों में भी ये उपकरण मिल सकते हैं। शिव के रूप के अंग वनकर ये उपकरण सांस्कृतिक और आध्यात्मिक अभिप्राय के वाहक वन गये हैं। किन्तु शिव के चूडालंकार अपने स्वरूप और संगति की दृष्टि से अलौकिक एवं अद्भुत हैं। शिव का तृतीय नेत्र तो पूर्णतः अलौकिक है। सामान्य पुरुष में उसकी संगति सम्भव नहीं है। उनके मस्तक की चन्द्रकला और जटा जूट से प्रवाहित गंगा ये दोनों हमारे परिचित उपकरण अवश्य हैं; किन्तु साधारण जनों में इनकी संगति की कल्पना नहीं की जा सकती है। **शिव के ये तीनों चूडालंकार संगति की दृष्टि से जितने विचित्र हैं, तात्पर्य की दृष्टि से वे उतने ही अर्थ-सम्पन्न हैं।**

शिव के तृतीय नयन का सम्बन्ध काम दहन से है। सामान्यतः शिव का रूप सर्वदा त्रिनयन है। किन्तु उनका तीसरा नेत्र सदा खुला नहीं रहता; वह सामान्यतः वंद रहता है। प्रलय के विनाश के समय ही वह खुलता है। एक बार कामदहन के समय भी वह खुला था। शिव का यह तृतीय नेत्र अग्नि-नेत्र है। इसने कामदेव को भस्म कर दिया था। प्रलय के समय खुलकर यह संसार को भस्म कर देता है। **शिव का यह तृतीय नेत्र तप और साधना के दिव्य तेज का प्रतीक है।**

शारीरिक होने की अपेक्षा यह तेज मानसिक और आत्मिक अधिक है। मस्तक में इस तृतीय नेत्र की स्थिति यही सूचित करती है। मस्तक मानसिक और आत्मिक शक्ति का पीठ है। सामान्यतः शक्ति मीलित रहती है। मूलाहार चक्र में कुंडलिनी के शयन का यही अभिप्राय है। **सामर्थ्य और सम्भावना की अवस्था का नाम ही शक्ति है; प्रकट और फलित होने से वह सृष्टि बन जाती है।** तप और साधना की आध्यात्मिक शक्ति तो प्रायः मीलित ही रहती है। शिव के तृतीय नेत्र के मालित रहने का यही रहस्य है। अवसर होने पर तप की वह शक्ति अपना कार्य करती है। इन कार्यों में विनाश और सृजन दोनों ही सम्मिलित हैं। सृजन मंगल का भावात्मक रूप है। जीवन का मंगल स्वरूप से सृजनात्मक है। बाधा के निवारण और भूमिका के रूप में इस सृजन के लिये विनाश भी अपेक्षित होता है। **शिव का तृतीय नेत्र शक्ति के विनाशक रूप का प्रतीक है और शिव के जटाजूट की चन्द्रकला शक्ति के सृजनात्मक रूप की प्रतीक है।** विनाश-विग्रह शिव के तृतीय नेत्र की अग्नि इसी उग्रता की सूचक है। सृजन सौम्य और सुन्दर है। चन्द्रकला की सौम्यता और सुन्दरता सर्व विदित है। **मांगलिक व्यवस्था के क्रम में सृजन श्रेष्ठतर है। इसीलिये शिव के पौराणिक रूप में चन्द्रकला का स्थान उनके तृतीय नेत्र से ऊपर है।** आवश्यक होते हुए भी विनाश विरूपता का कारण है। इसीलिये त्रिनेत्र शिव का नाम विरूपाक्ष है। तृतीय नेत्र से लक्षित तप और साधना का तेज मंगल का एक आवश्यक साधन है। प्रकृति के अनुशासन, अनीति के उपचार आदि के लिये वह अत्यन्त आवश्यक है। केवल शारीरिक शक्ति इसके लिये पर्याप्त नहीं है। विनाशक शक्ति के मानसिक रूप का संकेत करने के लिये ही शिव के तृतीय नेत्र को मस्तक में स्थान दिया गया है।

शिव के इस तृतीय नेत्र के चमत्कारों में कामदहन सबसे अधिक प्रसिद्ध है। काम मनुष्य की सबसे अधिक प्रबल वृत्ति है। सृजन और आनन्द के अतिरिक्त काम अनेक अतिचारों और अनर्थों का हेतु भी बनता है। अतः सांस्कृतिक मंगल के साथ समन्वय के लिये काम का नियंत्रण आवश्यक है। यह नियंत्रण आन्तरिक और आत्मिक शक्ति के द्वारा ही हो सकता है। शिव का कामदहन इसी नियंत्रण का सूचक है। कामदहन के प्रसंग में यह विदित है कि शिव ने काम की देह को भस्म किया था तभी से कामदेव को 'अनंग' की संज्ञा मिली। देह का रूप प्राकृतिक और स्थूल है। कामदहन का अभिप्राय यही है कि काम के स्थूल रूप का नियंत्रण

होना चाहिये। उसके सूक्ष्म रूप संस्कृति में अन्वित होकर आनन्द के स्रोत बन सकते हैं। कामदहन के बाद पार्वती के परिणय से यह प्रमाणित होता है कि शिव ने पूर्ण रूप से काम का विनाश नहीं किया। पूर्ण रूप से काम का विनाश सृष्टि और जीवन का विनाश है। पार्वती का परिणय यह संकेत करता है कि स्थूल और अतिचारी काम का दमन करके उसके सूक्ष्म और संस्कृत रूप का अन्वय मानव जीवन के लिये मंगलकारक है। शिव का कामदहन काम के इसी मांगलिक संस्कार का सूचक है। काम तथा अन्य अनीतियों का विनाशक होने के नाते शिव का तृतीय नेत्र जीवन के सांस्कृतिक मंगल का एक उच्च साधन है। शिव के पौराणिक रूप में उसका उच्च स्थान इस दृष्टि से उचित ही है।

शिव की चन्द्रकला उनके अलंकारों में सबसे अधिक विचित्र और सुन्दर है। कला और बिन्दु शैव तन्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। 'कला' शक्ति का पर्याय है। शिव की सृजनात्मिका शक्ति ही 'कला' कहलाती है। कला विकास का संकेत करती है। सृजन भी विकास है। चन्द्रकला सुन्दर होती है। सृजन भी स्वरूप से सुन्दर होता है। चन्द्रकला सृजनात्मक सौन्दर्य की सूचक है। सुन्दर होने के नाते चन्द्रमा सृजनात्मक ललितकलाओं को भी लक्षित करता है। 'शक्ति' सृजन सामर्थ्य है। तन्त्रों के मत में शक्ति शिव से अभिन्न है। एक ही सम्पूर्ण सत्य के अन्तर्मुख अनुभव रूप का नाम शिव है और उसकी वहिर्मुख अभिव्यक्ति की सामर्थ्य का नाम शक्ति है। दोनों एक दूसरे के बिना अपूर्ण हैं। अनुभव के आनन्द के बिना अभिव्यक्ति का सौन्दर्य शून्य है और अभिव्यक्ति के सौन्दर्य के बिना अनुभव शून्य एवं निष्प्राण है। इसीलिए शक्ति के बिना 'शिव' को 'शव' के समान माना जाता है। बिन्दु के दो अर्थ हैं। पाणिनि के अनुसार 'बिन्दु' का अर्थ 'वेत्ता' है (वेत्तीति विन्दुः) यह वेत्ता अनुभव और आत्मरूप शिव हैं। 'बिन्दु' का अर्थ 'शिव' हैं। शिव के लिंग इसी बिन्दु के स्थूल प्रतीक हैं। बीजमंत्रों में चन्द्र और बिन्दु शक्ति और शिव के ही प्रतीक हैं। बिन्दु का दूसरा अर्थ अवयव है। (बिदिरवयवे)। शक्ति के सृजन की परम्परा में जो इकाइयाँ उत्पन्न होती हैं उन्हें भी 'बिन्दु' कहते हैं। उनमें शिव रूप महारूप का अन्तर्भाव रहता है और सृजनात्मिका शक्ति की अभिव्यक्ति रहती है। यह बिन्दु एक परम्परा है। दो बिन्दुओं से विसर्ग (:)बनता है। एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु की उत्पत्ति यही विसर्ग अथवा सृष्टि का क्रम है। शिव स्वयं मूल अर्थ में बिन्दु रूप हैं। क्योंकि वे

आत्मस्वरूप अथवा अनुभव स्वरूप हैं। इसीलिए शिव के पौराणिक रूप में विन्दु के प्रतीक का स्थान नहीं है, किन्तु उनकी अभिन्न शक्ति शक्ति की सूचक चन्द्रकला उनका चूडालंकार है। शिव चन्द्रकला को शीश पर धारण करते हैं। तन्त्रों के मत में शक्ति शिव की ललिता प्रेयसी है। वे उसका इतना आदर करते हैं कि उसे सिर पर धारण करते हैं। कृष्ण काव्य का "देख्यौ पलोटत राधिका पाँयन" इसी का समानान्तर भाव है। शिरोधार्य होने के साथ साथ चन्द्रकला शिव का अलंकार भी है और उनके सौन्दर्य की वर्द्धक है। इस प्रकार शिव और चन्द्रकला (शक्ति) एक दूसरे का सम्भावन करते हैं। **यह परस्पर सम्भावन उस साम्य का व्यावहारिक रूप हैं।** शिव की चन्द्रकला शिव और शक्ति के अभिन्न भाव, उनके साम्य, सृजनात्मक शक्ति के सौन्दर्य और शक्ति की महिमा की प्रतीक है। व्यवहार में यह द्वितीया की बालकला मानी जाती है। किन्तु सिद्धान्ततः यह प्रतिपदा की कला है। प्रतिपदा प्रतिपत्ति का पर्याय है और 'प्रतिपत्ति' का अर्थ 'विमर्श से युक्त अनुभव का प्रकाश' है। प्रतिपदा की यह चन्द्रकला प्रकाश और विमर्श के रूप में शिव और शक्ति के साम्य की सूचक है। **चन्द्रकला की यह अर्थ-सम्पत्ति विश्वमंगल के अनेक तत्त्वों का उद्घाटन करती है और इस प्रकार शिव के मांगलिक नाम को सार्थक बनाती है।** इन तत्त्वों में शक्ति का सृजनात्मक सौन्दर्य, शिव और शक्ति का साम्य, उनका परस्पर सम्भावन आदि मुख्य हैं। ये लोक-मंगल के महिमामय और रहस्यमय सूत्र हैं। सैद्धान्तिक भाव के साथ साथ शिव-शक्ति अथवा शिव-पार्वती की उपमा से ये दाम्पत्य भाव में भी अन्वित हो सकते हैं और लोक के सामाजिक मंगल के पवित्र विधान बन सकते हैं।

शिव के विचित्र रूप के अलंकारों में उनके जटाजूट से प्रवाहित होने वाली गंगा की धारा सबसे ऊपर है। उसका स्थान शिव के जटाजूट में है और उसकी गति ऊर्ध्वमुखी है। गंगा हिमालय से निकलती है और कैलाश पर शिव का निवास है। इस प्रकार प्राकृतिक दृष्टि से भी गंगा का शिव के साथ संयोग है। पौराणिक कथा के अनुसार गंगा का अवतरण ब्रह्मा के कमंडल से भूमि पर हुआ है। कथा इस प्रकार है कि सूर्यवंशी राजा भागीरथ ने अपने पूर्वजों के उद्धार के निमित्त गंगा को भूमि पर लाने के लिए तपस्या की। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर गंगाजी भूमि पर आने को उद्यत हुई। किन्तु कठिनाई यह थी कि भूमि पर गंगाजी का ठहरना संभव न था। वे पृथ्वी को पार कर पाताल में चली जातीं। गंगाजी

के वेग को धारण करने वाली कोई भी शक्ति पृथ्वी पर नहीं थी। अतः भागीरथ ने शिव की आराधना की। शिव ही गंगाजी के वेग को जटाजूट में धारण कर सकते थे। शिव के जटाजूट से निकल कर गंगाजी की धारा भूमि पर प्रवाहित हुई है। गंगा के अवतरण का यह रूपक विपुल सांस्कृतिक और आध्यात्मिक अर्थं से परिपूर्ण है। तान्त्रिक अर्थं में गंगा का अवतरण शक्तिपात का प्रतीक है। गंगा का उज्ज्वल वेग "विद्युल्लाताकारा" कुंडलिनी के समान है। साधक की देह में कुंडलिनी की गति निस्सन्देह ऊर्ध्वमुखी होती है, किन्तु सिद्धान्ततः तन्त्र में शक्ति का पात्र ही मान्य है। 'शिव' शक्ति को धारण करते हैं तभी वे शिव बनते हैं। तन्त्र के अतिरिक्त सामान्य आध्यात्मिक अर्थं में गंगा की धारा आत्मिक रस के ऊर्ध्वगामी प्रवाह की प्रतीक है। आत्मा चेतन्य स्वरूप है। चेतना एक अविकारी और अविच्छिन्न प्रवाह है। जलधारा आत्मा की इसी ऊर्ध्वगामी अविच्छिन्नता की द्योतक है। आत्मा पवित्र है। गंगा जल भी पवित्र और अविकारी है। वर्षों तक एक पात्र में रखा रहने पर भी वह सड़ता नहीं है। यह गुण संसार के किसी भी जल में नहीं है। रस और आनन्द के समान स्निग्धता भी जल में होती है। जो गंगाजी का जल भर कर दूर ले जाते हैं और फिर अपने घर जाकर गंगाजली खोलते हैं उनकी ऐसी धारणा है कि उस गंगाजली में गंगाजल उमड़ता है। यह भ्रम हो अथवा उसका कोई वैज्ञानिक आधार हो; फिर भी यह आत्मा की समृद्धि-शील वृत्ति को गंगाजल के साथ प्राकृतिक अर्थं में भी संगत बनाता है। पवित्रता अविकार्यता आदि के कारण ही गंगा को ब्रह्मद्रव कहते हैं। गंगाजल के प्राकृतिक गुण ब्रह्म के आध्यात्मिक गुणों के समान हैं। शिव के जटाजूट में गंगा का स्थान विचित्र शोभाकारक होने के साथ साथ अत्यन्त उपयुक्त भी है। मस्तिक चेतना का पीठ है। रसमयी, पवित्र, मधुर और आनन्दमय चेतना का उदय भी मस्तिष्क में ही होता है। गंगा की उज्ज्वल और पवित्र धारा चेतना के इसी उदय की सूचक हैं। चेतना का यह उदय जीवन का सर्वोच्च सत्य है। इसीलिए शिव के अलंकारों में गंगा का सर्वोच्च स्थान है। चेतना का यह रूप सर्वोच्च सत्य होने के साथ साथ मानव के मंगल का परम सूत्र भी है। गंगा की धारा में शिव के मंगलमय रूप की परम परिणति होती है।

इस प्रकार शिव के चरित के साथ-साथ शिव के पौराणिक रूप के विविध उपकरण पृथक-पृथक और संयुक्त रूप से मानवीय मंगल के द्योतक हैं। उनके रूप

के ये उपकरण जिन तत्त्वों का संकेत करते हैं वे सभी तत्त्व मंगल के विधायक हैं। शिव के चरित में उनका शान्ति, साम्य और तप से युक्त दाम्पत्य लोक के सामाजिक मंगल का सबसे महत्वपूर्ण सूत्र है। शिव का कामदहन इस मंगल मंत्र का सिद्ध कवच है। इसके अतिरिक्त व्याकरण, संगीत, नृत्य आदि कलाओं के प्रवर्तक के रूप में भी शिव मानव-मंगल के विधायक हैं। शिव के पौराणिक रूप के उपकरण और अलंकार भी मांगलिक तत्वों का संकेत करते हैं। शिव का बाघम्बर और दिगम्बर वेष उनकी सरलता का द्योतक है। उनका आहार-विहार भी सरल और मर्यादित है। ये सरलता और मर्यादा सभ्यता की वहिर्मुखी गति में सांस्कृतिक मंगल और आध्यात्मिक आनन्द का मार्ग निर्दशित करती हैं।

उनका भस्म-धारण भौतिकता के महत्त्व तथा संस्कृति और अध्यात्म के साथ इसके सामंजस्य का सूचक है। उनका त्रिशूल अनीति के दलन का संदेश देता है तथा उनके सर्प दुष्टों के उद्धार के द्योतक हैं। शिव के रूप में शान्ति और दमन दोनों के द्वारा अनीति के उपचार का मार्ग मिलता है। शिव का विषपान अनीति के उपचार के तीसरे मार्ग का भी संकेत करता है। उनका तृतीय नेत्र तप की विनाशक शक्ति का द्योतक है। उनके मस्तक की चन्द्रकला सृजनात्मक शक्ति की प्रतीक है। गंगी की ऊर्ध्व मुखी धारा में शिव के रूप और संस्कृति के लक्ष्य की परम परिणति होती है। रसमयी, पवित्र और अविकार्य चेतना का अखंड और ऊर्ध्वगामी प्रवाह मानवीय मंगल का परम सूत्र है। **इस प्रकार शिव के चरित और पौराणिक रूप के विविध उपकरण लोक-मंगल के विविध पक्षों को साकार बनाते हैं तथा शिव के नाम को सार्थक बनाते हैं। सब प्रकार से शिव लोकमंगल के परिपूर्ण प्रतीक हैं।** यह परिपूर्णता अन्य किसी देवता में नहीं मिलती। इसीलिये शिव 'महादेव' कहलाते हैं। शिव का तान्त्रिक रूप भी मांगलिक रहस्य को समाहित करता है। तन्त्रों के अनुसार 'शिव' आत्मा का वाचक है। शिव सूत्र में शिव को आत्मा माना गया है। (शिव आत्मा) 'शिव' चिन्मय और आनन्द-मय है। यह प्रकाश स्वरूप है। शिव का यह आध्यात्मिक रूप वेदान्त के ब्रह्म के समान ही मंगलमय है। शैव दर्शन के अनुसार शक्ति के साथ शिव की अभिन्नता है। शक्ति सृजनात्मक है। सृजनात्मक शक्ति के साथ शिव का साम्य आध्यात्मिक निःश्रेयस और लौकिक मंगल के सामंजस्य का विधान करता है। यह सामंजस्य

शिव के वैवाहिक चरित में भी साकार हुआ है। इस प्रकार पौराणिक चरित, धार्मिक रूप, तान्त्रिक सिद्धान्त और आध्यात्मिक तत्व सभी रूपों में शिव का मांगलिक भाव प्रकाशित होता है। और 'शिव' के नाम को पूर्ण सार्थकता प्रदान करता है।

अध्याय २८

सत्य और शिवम्

शिवम् का सामान्य अर्थ कल्याण अथवा जीवन का मंगल है। यह कल्याण जीवन का एक व्यापक और जटिल भाव हैं। इसमें अनेक तत्त्वों का समाहार हो सकता है। महादेव शिव के साथ कल्याण के वाचक शिवम् का शाब्दिक साम्य दोनों के भाव की समानता का संकेत करता है। इस साम्य का संक्षेप में विवरण हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। महादेव शिव का पौराणिक चरित, धार्मिक रूप तथा तान्त्रिक और अध्यात्मिक स्वरूप मानवीय मंगल की एक समृद्ध धारणा को लक्षित करते हैं। इनमें सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के सनातन कल्याण के व्यापक और विविध तत्व समाहित हैं। यह समाधान शिव और शिवम् के शाब्दिक साम्य को सार्थक बनाता है। साहित्य की आलोचना में शिवम् का प्रयोग सामान्यतः कल्याण अथवा मंगल के अर्थ में ही होता है। आगे के अध्यायों में हमने भी शिवम् का प्रयोग प्रायः मंगल के अर्थ में ही किया है। महादेव शिव के पौराणिक, धार्मिक और आध्यात्मिक एवं तान्त्रिक रूप से विश्व-मंगल की यह कल्पना घनिष्ट रूप में सम्बद्ध होने के कारण साहित्य में शिवम् के विवेचन के क्रम में शिव और शक्ति के प्रसंग भी प्रायः इस ग्रन्थ में आये हैं। इन सभी प्रसंगों में शिव और शक्ति के मांगलिक भाव का अन्वय ध्यान में रखा गया है तथा मंगल के सामान्य भाव में अन्वित करके ही शिव और शक्ति के तान्त्रिक एवं आध्यात्मिक रूप की व्याख्या की गई है।

साहित्य अथवा काव्य में शिवम् अथवा श्रेय के स्थान का विस्तृत विवेचन करने के पूर्व एक ओर सत्य तथा दूसरी ओर सौन्दर्य के साथ श्रेय के सम्बन्ध का कुछ स्पष्टीकरण उचित होगा। इस अध्याय में हम सत्य और श्रेय के सम्बन्ध पर विचार करेंगे। पिछले अध्यायों में हम सत्य के दो रूपों का संकेत कर चुके हैं। सत्य का एक रूप व्यापक और दूसरा रूप सीमित है। व्यापक अर्थ में सत्य जीवन और जगत के यथार्थ के साथ साथ जीवन के अभीष्ट लक्ष्य आदर्श अथवा मूल्य का भी वाचक है। सत्य की इस व्यापक कल्पना में शिवम् और सुन्दरम् का भी

समाहार हो जाता है। शिवं और सुन्दरम् भी जीवन के अभीष्ट लक्ष्य और मूल्य हैं। इस प्रकार वे भी सत्य की व्यापक परिधि के अन्तर्गत आ जाते हैं। सत्य का यह व्यापक रूप सरल नहीं वरन् जटिल है। उसमें यथार्थ और उदासीन सत्ता अथवा वृत्ति के अतिरिक्त एक स्पृहणीयता का भाव भी समाहित है। यथार्थ सत्य के सभी रूप समान रूप से स्पृहणीय न हों, यह भी सम्भव हो सकता है। विष और अनर्थ के समान हानिकारक यथार्थ अवाञ्छनीय माना जाता है। इनकी भी उपयोगिता सिद्ध करने वाले अन्ततः इनमें भी श्रेय का तत्त्व खोज कर इन्हें वाञ्छनीय सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। **वस्तुतः सत्य का यथार्थ रूप केवल अनिवार्य सत्ता में सीमित है।** उसकी सत्ता असंदिग्ध और अनिवार्य है। हित और अहित अथवा वाञ्छनीय और अवाञ्छनीयता के भाव उस अनिवार्य सत्ता के सम्बन्ध में अप्रासंगिक हैं। सत्ता का यह यथार्थ और उदासीन रूप सत्य का सीमित रूप है। व्यापक अर्थ में जीवन के अभीष्ट आदर्श और मूल्य भी सत्य में समाहित हो जाते हैं। किन्तु सत्ता और स्पृहणीयता के आधार पर हमें सत्य के इन दो रूपों में भेद करना होगा। सत्य का यह आदर्श और स्पृहणीय रूप ही शिवम् अथवा श्रेय माना जाता है। सत्य के उदासीन और यथार्थ रूप से विवेक करने के लिये इसे 'श्रेय' की पृथक संज्ञा देना उचित होगा। सामान्य व्यवहार में सत्य के व्यापक और सीमित दोनों ही अर्थों में 'सत्य' शब्द का प्रयोग होता है। इसी कारण यथार्थ सत्य भाषण और ज्ञान रूप उदासीन सत्य को भी जीवन का स्पृहणीय लक्ष्य माना जाता है और इस प्रकार वे श्रेय के सन्निकट आ जाते हैं। ऐसे व्यवहार में सत्य का प्रयोग जीवन के अभीष्ट लक्ष्य में होता है तथा जीवन के वाञ्छनीय मूल्यों को परम सत्य कहा जाता है। "प्रेम ही जीवन का सत्य है।" ऐसे कथन सत्य का प्रयोग श्रेय के अर्थ में करते हैं। इन संकरित प्रयोगों में एक ओर श्रेय को सत्य के अन्तर्गत और दूसरी ओर सत्य को श्रेय के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है।

किन्तु सत्य और शिवम् के रूपों में समाहित होने वाले तत्त्वों में अधिक स्पष्ट विवेक करने के लिये सत्य को यथार्थ और उदासीन सत्ता के अर्थ में सीमित रखकर जीवन के अभीष्ट लक्ष्य एवं मूल्य को शिवम् अथवा श्रेय की संज्ञा देना अधिक उचित होगा। सत्य का यह रूप इस अर्थ में सीमित है कि वह यथार्थ और उदासीन सत्ता तक ही सीमित है और जीवन के स्पृहणीय लक्ष्य उसकी परिधि के बाहर रह जाते हैं। देश-काल की प्राकृतिक विमायें इस सत्य की मुख्य कोटियाँ हैं। इस सीमित

सत्य की अवगति अथवा कल्पना के लिये भी चेतना का अनुषंग आवश्यक है। तर्क की यही मर्यादा दर्शन के विज्ञानवादों का सबसे बड़ा बल है। इसी आधार पर वे यथार्थवादों का खंडन करते हैं। किन्तु शुद्ध विज्ञान वाद के अतिरिक्त अन्य विज्ञान वादी दर्शनों में भी जो किसी भी रूप में बाह्य सत्ता को स्वीकार करते हैं। यथार्थ की सत्ता और उसके स्वरूप को मूलतः स्वीकार किया जाता है। यदि कान्ट के समान निर्वचन के लिये ज्ञान के अनुषंग को अनिवार्य माना जाय तो फिर कान्ट के दर्शन के समान ही सत्य के व्यावहारिक और पारमार्थिक दो रूप हो जाते हैं। फिर भी यथार्थ सत्य की स्वतन्त्र सत्ता और उसके स्वरूप की एक अन्तर्निहित धारणा शेष रह जाती है। इस प्रकार जहाँ अध्यात्मवाद के अनुसार शुद्ध यथार्थवाद असम्भव है और किसी न किसी रूप में मानसिक तत्व का अनुषंग सत्य की कल्पना में अवश्य आ जाता है, उसी प्रकार अध्यात्मवाद का केवल एक ही रूप तर्कतः सम्भव है, जिसे शुद्ध विज्ञानवाद कहा जाता है। बौद्ध परम्परा का योगाचार सम्प्रदाय और बार्कले का विज्ञानवाद इसके उदाहरण हैं। इस शुद्ध विज्ञानवाद की भी अनेक तार्किक कठिनाइयाँ हैं। इनमें सबसे प्रमुख कठिनाई यह है कि इसका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। इसका प्रतिपादन करना वस्तुतः इसको खंडित करना है। केवल मौन मान्यता ही इसका एक संगत रूप है। मौन की स्थिति में भी व्यवहार और विचार में बाह्य सत्ता का आभास मौन भाव से इसका खंडन करता है। इस शुद्ध विज्ञानवाद के अतिरिक्त अध्यात्मवाद के अन्य सभी रूप उसी प्रकार अतर्कित रूप में यथार्थ सत्य का परिग्रह करते हैं जिस प्रकार यथार्थवाद का प्रतिपादन अध्यात्मवाद के क्षितिज का स्पर्श करता है। यथार्थवाद की कठिनाइयों का प्रचार अध्यात्मवादी सम्प्रदायों में बहुत किया गया है। यथार्थवाद की ओर से भी यथार्थवाद के प्रतिपादन और अध्यात्मवाद के खंडन के लिए अनेक तर्क दिये गये हैं। ज्ञात नहीं कि किसी यथार्थवादी ने अध्यात्मवाद के विरुद्ध यह तर्क दिया है अथवा नहीं, कि एक दुस्साध्य शुद्ध विज्ञानवाद के अतिरिक्त अध्यात्मवाद के अन्य सभी रूप मूलतः यथार्थवादी हैं क्योंकि वे ज्ञेय जगत के आधारभूत यथार्थ सत्य की स्वतन्त्र सत्ता सिद्धान्ततः स्वीकार करते हैं।

अस्तु यथार्थवाद और अध्यात्मवाद दोनों ही यथार्थ सत्ता के स्वतन्त्र रूप को स्वीकार करते हैं। स्वतन्त्र रूप में यह सत्ता इस अर्थ में उदासीन है कि मानवीय भावनाओं और अपेक्षाओं का आदर इसके स्वरूप का अंग नहीं है तथा इसकी

अवगति में भी भाव का संश्लेष आवश्यक नहीं है। अध्यात्मवाद के आग्रह के अनुसार यदि ज्ञान का मानसिक अनुषंग आवश्यक भी हो तो भी इसे भाव का अनुषंग नहीं कहा जा सकता। **'ज्ञान' चेतना की एकमुखी प्रक्रिया है।** एकमुखी होने के कारण वह उदासीन है। इसी लिए यथार्थ की अवगति उदासीन होती है। स्वरूप और अवगति दोनों ही दृष्टियों से यथार्थ उदासीन होता है। **'भाव' चेतना की उभयमुखी अर्थात् पारस्परिक वृत्ति है।** एक प्रकार से वह चेतनाओं का संवाद है जो यथार्थ के संबन्ध में कल्पनीय नहीं है। सम्पूर्ण यथार्थ जड़ न हो किन्तु यथार्थ का यह उदासीन रूप जड़ता के ही अनुरूप है। चेतना को भी हम यथार्थ मान सकते हैं किन्तु चेतना की ओर बढ़ते ही यथार्थ का निर्धारण कठिन हो जाता है। चेतन यथार्थ में भी भाव का संश्लेष आ जाता है। चेतन जगत के विवेचन की इन कठिनाइयों में यथार्थवाद और अध्यात्मवाद की कठोर सीमायें विलय होने लगती हैं। इसी स्थिति में सत्य और श्रेय की सीमायें भी विलीन होने लगती हैं। ऐसी स्थिति में ही वेदान्त का ब्रह्म एक ओर परम सत्य और दूसरी ओर परमनिःश्रेयस बना है। ब्रह्म की इस धारणा में परम यथार्थ और परम भाव दोनों मिलकर एक हो गये हैं किन्तु चेतना के अवर धरातलों पर सत्ता और भाव, अवगति और भाव यथार्थ और सत्य, सत्य और श्रेय आदि का विवेक करना होगा। भाव ही इस विवेक का मुख्य आधार है। **चेतनाओं के संवाद में प्रकट होने वाला भाव ही यथार्थ और उदासीन सत्य से श्रेय का विभाजक है।**

इस भाव का सामान्य रूप साम्य है, जिसे हम समानता, सामंजस्य, अविरोध, परस्पर सम्भावन आदि के अर्थ में समझ सकते हैं। इसी साम्य के आधार पर श्रेय के आधारभूत भाव को 'समात्मभाव' कहा जा सकता है। समात्मभाव को हमने सभी सांस्कृतिक मूल्यों का आधार माना है। यद्यपि सीमित अर्थ में सत्य उदासीन और तटस्थ अवगति का विषय होता है फिर भी सत्य के साधक के मन में सामाजिक समात्मभाव की अलक्षित प्रेरणा के बिना सत्य का अनुसंधान सम्भव नहीं है। समात्मभाव का पूर्ण स्वरूप तो चेतनाओं के साम्य से बनता है किन्तु आत्मदान इस साम्य का एक महत्वपूर्ण अंग है। **आत्मदान के बिना यह साम्य सम्भव नहीं हो सकता।** आत्मदान की स्पर्धा ही परस्पर सम्भावन के रूप में समात्मभाव के साम्य को दृढ़ और स्पष्ट बनाती है। कृष्ण काव्य के "दोऊ परैं पैयाँ" में यह आत्मदान ही सम्भावन बनकर समात्मभाव के साम्य का पोषक बना

है। यह आत्मदान अहंकार की अर्गला बन कर ही समात्मभाव के साम्य का विधान करता है। चेतनाओं के साम्य की स्थिति स्पष्ट न होने पर यह आत्मदान एक निर्वैयक्तिक भाव बन जाता है। सत्य के अनुसंधान में यह निर्वैयक्तिकता अधिक स्फुट होती है। यही सत्य के अनुसंधान को उदासीन और यथार्थ बनाती है। इस निर्वैयक्तिकता का कारण साधक के मन में अहंकार का विगलन और समाज की भाँति उसकी चेतना की विषय-लीनता है। सत्य-साधक के अहंकार का विलय वस्तुतः अन्य व्यक्तियों के प्रति नहीं वरन् अनुसंधेय विषय के प्रति होता है। सामाजिक व्यवहार में उसकी विनय इसी विलय की प्रतिच्छाया है। सत्य के अनुसंधान के विषय प्रायः जड़ और बाह्य होते हैं। सजीव विषय भी अनुसंधान के क्रम में निर्जीव हो जाते हैं। जड़ और निर्जीव विषय के साथ चेतना का साम्य सामान्यतः सम्भव नहीं है। भावना के प्रक्षेप के द्वारा कलात्मक जीवन तथा कलात्मक साधना में यह सम्भव हो सकता है। इस प्रक्षेप के अभाव में अचेतन विषयों के साथ भाव का संवाद सम्भव नहीं होता। भाव का यह प्रक्षेप सत्य के अनुसंधान की तटस्थता में बाधक होता है। अनुसंधान के विषय का विषयभाव सुरक्षित रहता है और विषय रूप में उसका अनुसंधान सम्भव होता है। भाव प्रक्षेप की आत्मीयता और निकटता अनुसंधान के अनुकूल न होकर अनुराग के अधिक अनुकूल होती है। सत्य के अनुसंधान के लिये अपेक्षित तटस्थता, दूरी, बहिर्भाव आदि के कारण अनुसंधान के विषय के साथ विषय-रूप में साधक का समात्मभाव सम्भव नहीं होता। केवल सामाजिक समात्मभाव की अलक्षित प्रेरणा सत्य के इस अनुसंधान की प्रेरक शक्ति है। इसके अतिरिक्त सत्य के साधक के आत्मदान और विनय की भूमिका में उसके मन में समात्मभाव के लिये अपेक्षित भूमिका वर्तमान रहती है, यद्यपि सत्य की साधना के विषयनिष्ठ होने के कारण यह भूमिका अहंकार-विहीन निर्वैयक्तिक विनय के रूप में ही स्थिर रहती है तथा प्रत्यक्ष सामाजिक सामात्मभाव के रूप में उसके प्रतिफलन की सम्भावना बहुत कम रहती है। सत्य के सम्बन्ध में साक्षात् समात्मभाव का अवसर सत्य के वितरण के प्रसंग में ही उपस्थित होता है।

अस्तु, सामाजिक समात्मभाव की अलक्षित प्रेरणा और वितरण में व्यक्त समात्मभाव की सम्भावना के अतिरिक्त सत्य का अनुसंधान तटस्थ और उदासीन होता है। **इसके विपरीत शिवम् अथवा श्रेय के प्रसंग में समात्मभाव साक्षात् रूप**

में प्रतिफलित होता है। समात्मभाव की दृष्टि से सत्य और श्रेय का यह अन्तर स्पष्ट और महत्वपूर्ण है। श्रेय मूलतः एक भाव है। **'भाव' संवेदना अथवा चेतना की आत्मगत स्थिति है।** विषय के प्रभाव के रूप में हम व्यक्ति के भाव की भी कल्पना नहीं कर सकते किन्तु वस्तुतः यह भाव सामाजिक होता है। व्यक्ति के एकान्त में ऐन्द्रिक संवेदना से अधिक नहीं हो सकता। चेतना की विवृति के रूप में यह भाव मूलतः सामाजिक होता है। **दूसरे शब्दों में 'भाव' मूलतः सामाजिक होता है। 'भाव' चेतनाओं का परस्पर संवाद है। इस संवाद में समात्मभाव साक्षात् रूप में फलित होता है।** श्रेय के श्रेष्ठतर रूप साक्षात् समात्मभाव और पारस्परिक भाव में ही प्रकट होते हैं। श्रेय के प्राकृतिक रूपों की कल्पना व्यक्ति के सम्बन्ध में तथा व्यक्ति के साथ विषयों के प्रसंग में भी की जा सकती है। किन्तु केवल प्राकृतिक श्रेय मनुष्य जीवन में कदाचित् ही मान्य होगा। पारस्परिक भाव के अभाव में प्राकृतिक श्रेय का भी कोई मूल्य न रहेगा और वह कदाचित् ही मनुष्य का आकांक्ष्य रहेगा। मन्द चेतना के कारण पशुओं में प्राकृतिक व्यवित-वाद और श्रेय की स्थिति स्वस्थ और सहज है। किन्तु मनुष्य की समृद्ध चेतना के कारण केवल प्राकृतिक श्रेय की स्थिति असाधारण, असह्य और उन्मादक बन जायेगी। **प्राकृतिक श्रेय की दृष्टि से भी श्रेय के अन्वय की दिशा सत्य के अन्वय की दिशा से भिन्न है।** सत्य के अन्वय की दिशा साधक की ओर से विषय की ओर है। सत्य के अनुसंधान में विषय ही प्रधान होता है। श्रेय के अन्वय की दिशा विषय से मनुष्य की ओर होती है। मनुष्य ही प्रधान होता है। किन्तु विषय का मनुष्य में अन्वय साक्षात् समात्मभाव की भूमिका के बिना सफल नहीं होता। मनुष्यों के परस्पर भाव संवाद की भूमिका में ही प्राकृतिक श्रेय का यह अन्वय भी सफल होता है। **अतः चेतना के भाव-संवाद के रूप में साक्षात् समात्मभाव श्रेय का मूल आधार है।** समात्मभाव के प्रसंग में सत्य और श्रेय का यह अन्तर ध्यान देने योग्य है।

सत्य को प्रायः 'तत्व' भी कहते हैं। तत्व का अर्थ 'वस्तु का यथार्थ स्वरूप' है। सत्य के अनुसंधान में इसी का निर्धारण प्रमुख होता है। अतः सत्य की दिशा वस्तुमुखी है। वस्तु की स्वतन्त्र और स्वरूपगत सत्ता ही सत्य का मूल मर्म है। मनुष्य उस सत्य की खोज करता है और मनुष्य के लिए उस सत्य का कुछ प्रयोजन भी हो सकता है। किन्तु इन दोनों रूपों में ही सत्य के साथ मनुष्य का संबन्ध बहिर्गत

और आगंतुक है। **दोनों ही रूपों में मनुष्य के साथ सत्य का यह सम्बन्ध सत्य के स्वरूप को प्रभावित, निर्धारित अथवा निर्मित नहीं करता।** सत्य के प्रयोजन को सत्य के स्वरूप का विधायक मान लेने पर सत्य की धारणा अपने सीमित अर्थ की परिधी को लाँघने लगती है और श्रेय के क्षितिजों की ओर बढ़ती है। **'प्रयोजन' का तात्पर्य सत्य का मनुष्य के जीवन में अन्वय है। यही अन्वय श्रेय का मूल सूत्र है।** प्राकृतिक उपयोग भी श्रेय के अन्तर्गत है और इस प्रयोजन का सरलतम रूप है। सिद्धान्त की दृष्टि से सत्य के प्राकृतिक प्रयोजन का अन्वय व्यक्ति के साथ सम्भव है। किन्तु वस्तुतः वह सामाजिक समात्मभाव की भूमिका में ही सार्थक होता है। श्रेय के श्रेष्ठतर रूपों में समात्मभाव का यह आधार अधिक स्पष्ट और दृढ़ होता जाता है। **समात्मभाव मूलतः श्रेय के स्वरूप का विधायक है। समात्मभाव के मूल से ही श्रेय की अन्य शाखायें पोषण प्राप्त करती हैं।** सिद्धान्ततः व्यक्तिगत प्रतीत होते हुए भी प्राकृतिक श्रेय भी समात्मभाव के आधार पर ही मनुष्य जीवन में फलित होता है। **सीमित अर्थ में सत्य का प्रयोग करने पर समात्मभाव सत्य के स्वरूप का 'विधायक' नहीं है। सत्य और श्रेय के स्वरूप में यह एक महत्वपूर्ण अन्तर है।**

श्रेय की परिकल्पना में अनेक उपकरणों, क्रियाओं, संबन्धों आदि का समाहार होता है। ये सब मिलकर श्रेय के रूप को सम्भव, सफल और सार्थक बनाते हैं। **किन्तु मूल रूप में श्रेय चेतना का एक भाव है।** प्रत्यक्ष रूप में व्यक्ति इस भाव का अधिष्ठान होता है। व्यक्ति की चेतना ही भाव के रूप में साकार होती है। **किन्तु वस्तुतः समात्मभाव के पारस्परिक संवाद में ही यह भाव पोषित होता है।** सम्बन्ध की दृष्टि से पारस्परिक सम्बन्ध में ही श्रेय का भाव साकार होता है। आन्तरिक रूप में इस भाव की अभिव्यक्ति चेतनाओं के उस पारस्परिक साम्य की स्थिति में होती है जिसे हमने 'समात्मभाव' का नाम दिया है। समात्मभाव के मूल से श्रेय के विशेष भावों की शाखाएँ पोषित होतीं हैं। **यह समात्मभाव ही जीवन के मंगल का मूल स्रोत है।** इसीलिये श्रेय के साकार विग्रह-रूप शिव की महाभाव के रूप में उपासना की जाती है। शैव तन्त्रों में शिव को शक्ति से अभिन्न मानते हैं। शक्ति शिव की सृजनात्मिका शक्ति है वह विश्व का विधान करती है। शिव और शक्ति की अभिन्नता को हम श्रेय और सत्य की अभिन्नता के रूप में समझ सकते हैं। अभिन्नता का अर्थ यही है कि दोनों एक दूसरे के बिना

एकाङ्गी और अपूर्ण हैं। एक से पृथक दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती और न एक के बिना दूसरा सफल एवं सार्थक हो सकता है। विवेचन के लिये हमने सत्य और श्रेय के स्वरूप का पृथक्-पृथक् निर्धारण किया है। सत्य के अर्थ को सीमित बनाकर ही यह संभव हो सका है। किन्तु इस प्रकार विवेचन में पृथक होते हुए भी यह व्यवहार में पृथक नहीं है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शक्ति और शिव पृथक नहीं होते। सत्य का तटस्थ और उदासीन अनुसंधान सम्भव और अपेक्षित है तथा प्रत्यक्ष रूप में श्रेय का उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु **समात्मभाव के अन्तर्गत आधार और उसकी मौलिक प्रेरणा के बिना यह अनुसंधान सम्भव नहीं है। समात्मभाव श्रेय का मूल स्रोत है। इस दृष्टि से सत्य के उदासीन अनुसंधान में भी श्रेय का अन्तर्भाव रहता है।** इसी प्रकार यद्यपि मौलिक रूप में श्रेय चेतनाओं का पारस्परिक भाव है किन्तु सत्य के विविध रूप उपकरण बनकर उसके साथ बँधे रहते हैं। इन उपकरणों के बिना श्रेय उसी प्रकार शून्य रहता है जिस प्रकार शक्ति के बिना शिव केवल स्थाणु अथवा शव रह जाते हैं। शिव और शक्ति की अभिन्नता की भाँति सत्य और श्रेय की अभिन्नता को मानकर उनके स्वरूप का अन्तर भाव और तत्व की गौणता एवं प्रधानता के आधार पर किया जा सकता है। **सत्य मूलतः तत्व का स्वरूप है।** समात्मभाव के स्वरूप में श्रेय का सूत्र सत्य में भी अन्तर्निहित है। किन्तु श्रेय के अन्य स्फुट रूपों और भावों के साथ सत्य का आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। सत्य इनका उपकरण बन सकता है किन्तु यह सम्बन्ध सत्य के स्वरूप का विधायक नहीं है। अतः इसे गौण मान सकते हैं। **इसी प्रकार श्रेय का मुख्य रूप 'भाव' है।** किन्तु यह भाव सत्य के उपकरणों में ही साकार होता है। श्रेय के स्वरूप में भाव को प्रधान और इन उपकरणों को गौण मान सकते हैं। फिर भी सत्य की उदासीनता के कारण इतना अन्तर है कि सत्य का स्वरूप श्रेय के भावों के बिना ही पूर्ण हो जाता है। सत्य के लिए यह भाव आवश्यक रूप से अपेक्षित नहीं है, क्योंकि सत्य का यह दृष्टिकोण वस्तुतः श्रेय का ही दृष्टिकोण है। किन्तु श्रेय के लिए सत्य के उपकरण आवश्यक हैं इनके बिना श्रेय साकार और सफल नहीं हो सकता, यद्यपि श्रेय का मुख्य और मूल स्वरूप भाव में ही निहित है।

सत्य और श्रेय में समात्मभाव की स्थिति और भाव के प्रसंग में उक्त भिन्नता होने के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण अन्तर भी हैं। मानवीय व्यापार होने के नाते

सत्य का अनुसंधान और श्रेय की साधना दोनों ही चेतना की क्रियाएँ हैं। **किन्तु सत्य का अनुसंधान करने वाली चेतना उदासीन होती है। इसके विपरीत श्रेय का साधन करने वाली चेतना भाव-प्रवण होती है।** उदासीन चेतना दर्पण की भाँति होती है जो विषय, सत्ता अथवा तत्व को यथार्थ रूप में ग्रहण अथवा प्रतिबिम्बित करती है। **सत्य के अनुसंधान अथवा ज्ञान की यह चेतना ग्रहणात्मक है, रचनात्मक नहीं जैसा कि कान्ट मानते हैं।** अध्यात्मवाद के तर्क के अनुसार सत्ता और सत्ता के रूप (काल, दिक् आदि) की कल्पना अनुभव के आधार से पृथक नहीं की जा सकती। फिर भी जिस प्रकार ऐसी स्थिति में भी सत्ता अनुभव की सृष्टि नहीं है, उसी प्रकार सत्ता के रूप भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। **वे चेतना की 'सृष्टि' नहीं हैं।** उनकी सापेक्षता भी उनकी स्वतन्त्र सत्ता का खंडन नहीं करती। सत्य के सभी रूपों के अनुसंधान में यथार्थता का आश्रय और विश्वास रहता है। यथार्थता के आश्रय के कारण सत्य के स्वरूप और विधान में एक अनिवार्यता होती है जो अनुसंधान-कर्ता के लिये विवशता का कारण बन जाती है। सत्य का अनुसंधान करने वाले अपने अहंकार को त्याग कर सत्य के प्रति अपने को समर्पित कर देते हैं। अतः वे इस विवशता का अनुभव विवशता के रूप में नहीं करते। सत्य के समक्ष उनकी स्थिति ऐसी ही होती है जैसी कि ईश्वर के समक्ष समर्पण करने वाले भक्तों की होती है। तटस्थ और उदासीन होते हुए भी यह सत्य अनुसंधान-कर्ताओं का भगवान ही है।

इसके विपरीत श्रेय की साधना करने वाली चेतना भाव-प्रवण होती है। भाव को हमने चेतनाओं का संवाद माना है जो साम्य से सुशोभित होता है। भाव की इस पारस्परिकता में चेतना की उदासीनता भंग हो जाती है और उसमें एक उल्लास उदित होता है। भागवत चेतना दर्पण के समान न होकर ज्वार की तरंगों के समान होती है जो चन्द्रमा के आलोक से प्रकाशित होने के साथ-साथ उल्लसित भी होती है। **समात्मभाव की दृष्टि से हमने सत्य और श्रेय में यह अन्तर किया है कि काल्पनिक समात्मभाव का आधार 'सत्य' के अनुसंधान को प्रेरित करता है, जबकि साक्षात् समात्मभाव 'भाव' के स्वरूप का विधायक है।** प्राकृतिक सत्य के उपकरण श्रेय के भावों के अवलम्ब बन सकते हैं। किसी सीमा तक इस अवलम्ब को आवश्यकता भी मान सकते हैं। **किन्तु भाव का स्वरूप चेतना से ही निर्मित होता है। चेतना भाव के स्वरूप का उपादान तत्व है।** इसके साथ-साथ

चेतना भाव की विधायक भी है। दर्शन की भाषा में यह कह सकते हैं कि जिस प्रकार वेदान्त का ब्रह्म जगत का उपादान कारण है तथा निमित्त कारण भी है, उसी प्रकार चेतना भी भाव का निमित्त एवं उपादान कारण दोनों ही है। सत्य के समान केवल उदासीन ग्रहण अथवा प्रतिबिम्बन से भाव का निर्माण नहीं होता। **भाव का प्रसव करने वाली चेतना रचनात्मक होती है।** सत्य के उपादानों के अवलम्ब से वह भाव के चिन्मयस्वरूप का सृजन करती है। साक्षात् समात्मभाव और पारस्परिकता के अन्तर के अतिरिक्त यह रचनात्मकता भी श्रेय की एक ऐसी विशेषता है जो उसे उदासीन सत्य से पृथक् करती है।

इस रचनात्मकता के मूल में भाव की विधात्री चेतना की स्वतन्त्रता रहती है। स्वतन्त्रता के आधार के बिना रचना सम्भव नहीं है। **स्वतन्त्रता रचना की शक्ति और उसका मूल रहस्य है।** सत्य की इस चेतना को भी हम ज्ञान के प्रकाशन के अर्थ में स्वतन्त्र मान सकते हैं किन्तु ज्ञान के विषय और रूप के सम्बन्ध में वह यथार्थ के पराधीन होती है। भावागत चेतना भाव के स्वरूप और उसकी सत्ता दोनों की रचना के सम्बन्ध में स्वतन्त्र होती है। साक्षात् समात्मभाव भाव का वैभव है। यह स्वतन्त्रता भाव का सबसे बड़ा गौरव है। **इस स्वतन्त्रता का बीज चेतना की संकल्प-शक्ति में रहता है।** मनोविज्ञान भी संकल्प के साथ भाव का सम्बन्ध मानता है। तन्त्रों और दर्शनों के अध्यात्म में भी संकल्प अथवा इच्छा की शक्ति को शिव-रूप भाव की प्राण-प्रेरणा मानते हैं। संकल्प वस्तुतः चेतना की स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति है। वह चेतना का व्यक्त और रचनात्मक रूप है इसीलिए तन्त्रों में इच्छा-शक्ति को विश्व की विधायिनी मानते हैं। संकल्प और चेतना की स्वतन्त्रता प्रकट और सक्रिय हो जाती है। **रचनात्मकता और संकल्प-मूलकता भाव की विशेष विभूतियाँ हैं। इन विभूतियों के द्वारा भाव-सौन्दर्य के अधिक अनुरूप बनता है।** इसी अनुरूपता के कारण तन्त्रों की इच्छा-शक्ति को 'सुन्दरी' की संज्ञा मिली है। कला का सौन्दर्य भी रचनात्मक है। **वह स्वतन्त्र चेतना के द्वारा रूप की रचना है। यह रचनात्मकता भाव और कला के साम्य का रहस्यमय सूत्र है।** इसी सूत्र के द्वारा श्रेय के भावों का कलात्मक सौन्दर्य के साथ ऐसा सामंजस्य सम्भव होता है जैसा कि सत्य का कला के साथ नहीं हो पाता। सत्य के अनुसंधान में भी संकल्प की प्रेरणा होती है। किन्तु वह समात्मभाव के आधार की भाँति अलक्ष्य और दूरगत होती है। जिस प्रकार साक्षात् समात्मभाव सत्य के

स्वरूप का विधायक नहीं है उसी प्रकार संकल्प भी सत्य के स्वरूप का विधायक नहीं है। **इसके विपरीत भाव का स्वरूप संकल्प की स्वतन्त्रता और चेतना की रचनात्मकता से साक्षात् समात्मभाव की भूमिका में निर्मित होता है। संकल्प, स्वतन्त्रता और रचनात्मकता 'भाव' के विधायक हैं।**

सत्य और श्रेय के उक्त विवेचन के आधार पर काव्य और कला के साथ इनके सम्बन्ध का निर्धारण किया जा सकता है। **अपने स्वरूप में कला सौन्दर्य की साधना है। सौन्दर्य रूप का अतिशय है, रूप में ही सौन्दर्य का स्वरूप निहित है।** वाद्य संगीत के समान केवल रूपात्मक कला भी सम्भव हो सकती है, जिसमें किसी प्रकार के अर्थ-तत्व का आधान नहीं रहता। चित्रकला की अल्पनाएँ तथा स्थापत्य कला की पच्चीकारी आदि में भी कला की यह रूपात्मकता साकार होती है। रूप को पूर्णतया तत्व से अलग करना कठिन है। इस दृष्टि से शुद्ध रूपात्मक कला की कल्पना कदाचित असंगत है। वाद्यसंगीत और अल्पनाओं में भी वायुमंडल वाद्य-यंत्र, चित्रफलक, पत्थर, आदि के रूप में तत्व का आधार खोजा जा सकता है। किन्तु वस्तुतः यह कला के नैमित्तिक उपादान मात्र हैं। आधार के रूप में ये उपादान आवश्यक अवश्य हैं। किन्तु कला के रूप में समाहित तत्व का स्थान इन्हें नहीं दिया जा सकता। **कला की सम्पूर्ण रचना में समाहित तत्व ही कला के रूप का प्रतियोगी होता है।** यह शब्द, आकाश, वायु, फलक, पत्थर आदि के समान कोई सामान्य उपादान नहीं होता वरन् वस्तु, अर्थ आदि के समान कोई विशेष उपादान होता है। यह विशेष उपादान एक विशेष रूप से युक्त होता है। कला रूप के अतिशय की रचना अवश्य है और वह प्रायः रूप के अतिशय में तत्व को अन्वित करती है। वाद्य-संगीत के समान कुछ शुद्ध कलायें ही इसका अपवाद हो सकती हैं। कला की इस रूप-रचना के प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य है कि कला में तत्व के रूप में जिन उपकरणों का ग्रहण होता है, उनमें, कला में समाहित होने के पूर्व, रूप अन्वित रहता है। ये उपकरण सामान्य तत्व नहीं वरन् विशेष पदार्थ होते हैं। रूप का अभिन्न अन्वय ही इन्हें यह विशेषता प्रदान करता है।

इस प्रकार यदि कलाओं के रूपों में सामान्यतः तत्व का अभिन्न अन्वय रहता है तो दूसरी ओर कला का तत्व बनने वाले उपकरणों में रूप का अभिन्न अन्वय रहता है। इस प्रकार रूप और तत्व प्रायः अभिन्न रहते हैं। शक्ति और शिव की भाँति रूप और तत्व का भी कला में अभिन्न भाव रहता है। वाद्यसंगीत आदि

कुछ कला के रूपों को छोड़कर सामान्यतः शुद्ध रूपात्मक कला सम्भव नहीं है। वस्तु, अर्थ आदि के रूप में तत्व का आदान करके ही कला का रूप साकार होता है। रूप और तत्व के सामंजस्य में ही कदाचित कला की सम्पूर्णता साकार होती है। फिर भी इतना मानना होगा कि कला का विशेष स्वरूप रूप में ही रहता है। रूप ही कला का सौन्दर्य है और रूप की रचना ही कला है। इसीलिए संस्कृत भाषा में 'रूप' शब्द 'सौन्दर्य' का पर्याय बन गया है; और तन्त्रों की सृजनात्मिका कलाशक्ति को सुन्दरी की संज्ञा प्रदान की गई है। कला की रचना में निस्संदेह तत्व को रूप से प्रथक नहीं किया जा सकता और सामान्यतः तत्व के बिना रूप की रचना सम्भव नहीं है। अतः वस्तु, अर्थ, आदि के रूप में तत्व का सन्निधान कला के रूप में अभिन्न भाव से रहता है। किन्तु कला में ग्रहित ये तत्व ऐसे नहीं होते जिनका ग्रहण केवल कला में ही किया जाता हो। कला से पृथक भी जीवन के कलाहीन अनुभवों तथा कलाहीन शास्त्रों एवं विज्ञानों में ये तत्व अधिक स्पष्टता एवं प्रमुखता से ग्रहण किये जाते हैं। प्रमुखता का अभिप्राय यह है कि रूप की तुलना में इन तत्वों की प्रधानता रहती है। उपयोगितावादी जीवन और तत्ववादी शास्त्रों एवं विज्ञानों में तत्व का ही प्रमुख महत्व होता है। रूप के सौन्दर्य का इनमें कोई विशेष महत्व नहीं रहता। तत्व का उपयोग अथवा उसकी अवगति ही इनका मुख्य उद्देश्य होता है। उपयोगिता के प्रसंग में तो फलों के भक्षण की भाँति प्रायः रूप को नष्ट किया जाता है। कला अथवा काव्य में जिन तत्वों को उपादान के रूप में ग्रहण किया जाता है उन तत्वों को रूप के सौन्दर्य से रहित जीवन के अनुभवों तथा शास्त्रों और विज्ञानों में प्राप्त कर हम इस स्थिति का अवगम कर सकते हैं कि विना कलात्मक रूप के भी उन तत्वों का निदर्शन सम्भव है। इस स्थिति में वे तत्व कलात्मक रूप से अलग हो जाते हैं। अस्तु, कला की सम्पूर्ण रचना में सामान्यतः रूप और तत्व अभिन्न रहते हैं किन्तु अन्य स्थितियों में वे ही तत्व कलात्मक रूप से अलग हो जाते हैं। अस्तु कला की सम्पूर्ण रचना में सामान्यतः रूप और तत्व अभिन्न रहते हैं, किन्तु अन्य स्थितियों में वे ही तत्व कलात्मक रूप से पृथक निदर्शित होते हैं। जीवन के उपयोगितावादी अनुभवों तथा शास्त्रों एवं विज्ञानों के अतिरिक्त साहित्य की आलोचनाओं में भी इन तत्वों का विवेचन मिलता है। प्रायः आलोचनाओं में कलात्मक रूप के सौन्दर्य से अलग करके विविक्त रूप में ही तत्वों का निरूपण किया जा सकता है। रामचरितमानस, कामायनी, आदि

महाकाव्यों के दार्शनिक विवेचनों में रूप के सौन्दर्य से विलग्न तत्व का निदर्शन विपुलता से मिलता है।

अस्तु, चाहे सामान्यतः तत्व से रहित कलात्मक रूप की कल्पना न की जा सकती हो किन्तु जीवन के अनुभवों तथा शास्त्रों एवं विज्ञानों में वही तत्व कलात्मक रूप से विरहित अवस्था में भी मिलता है। ऐसी अवस्था में वह तत्व कला का उपादान नहीं होता और न कला की रचना करता है। **इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि कला का स्वरूप और सौन्दर्य मूलतः एवं मुख्यतः उसके 'रूप' में ही निहित है, यद्यपि सामान्यतः 'तत्व' को ग्रहण करके ही यह रूप साकार होता है।** तत्व की दृष्टि से इस तत्व की कुछ विशेषता भी हो सकती है तथा यह तत्व कलात्मक रूप का उपकारक भी हो सकता है। **किन्तु कला का विशेष स्वरूप और सौन्दर्य उस रूप में ही निहित है, जिसमें यह तत्व आकार ग्रहण करता है और अभिव्यक्त होता है।** रूप और तत्व का अभिन्नभाव मानवीय अनुभव की एक सरल और अनिवार्य स्थिति मात्र है। किन्तु उनकी यह अभिन्नता कलात्मक रचना में रूप की विशेष महिमा को मन्द नहीं करती। यह अभिन्नता कला की एक सामान्य परिस्थिति मात्र है। **कला की रचनात्मकता विशेषतः रूप की रचना में प्रकट होती है। रूप के क्षेत्र में ही रचना का विशेष अवकाश भी है। तत्व की रचना सामान्यतः मनुष्य का अधिकार नहीं है।** अधिकांश तत्व प्रकृति अथवा ईश्वर की देन है। तत्व की रचना कुछ अवतारी पुरुष ही करते हैं। जिन्हें ईश्वर का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। यह तत्व प्राकृतिक नहीं वरन् सामाजिक एवं सांस्कृतिक होता है। प्राकृतिक तत्व तो निसर्ग की रचना है। सामाजिक और सांस्कृतिक तत्व की रचना करने वाले कवि एक प्रकार से अवतारी पुरुष ही हैं। जो तत्व जीवन की वास्तविकता का अनुवाद नहीं है वरन् किसी परिमाण में कलाकार की कल्पना अथवा रचना है उसे कलाकार की सृष्टि माना जा सकता है। **किन्तु यह तत्व भी उसकी कला का उपादान मात्र है। उसकी कला का स्वरूप और सौन्दर्य 'रूप' में ही निहित रहता है।** जीवन के उपयोगी अनुभवों तथा शास्त्रों एवं विज्ञानों में जहाँ कहीं तत्व कलात्मक सौन्दर्य के विरहित तात्विक प्रमुखता के साथ मिलता है वहाँ भी तर्क-दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वह तत्व रूप से रहित नहीं है। यह तर्क केवल तर्क नहीं है, वह एक यथार्थ स्थिति का निदर्शन है। शुद्ध रूपात्मक कलाओं में तत्व से रहित रूप के सौन्दर्य की कल्पना

की जा सकती है। किन्तु अनुभव की किसी भी स्थिति में रूप से रहित तत्व की उपलब्धि सम्भव नहीं है। जीवन के उपयोगी अनुभवों तथा शास्त्रों और विज्ञानों में ग्रहीत तत्व भी रूप से रहित नहीं होता। किन्तु यह रूप उस तत्व का सहज और अनिवार्य अनुषंग मात्र होता है। **वह रूप किसी की रचना नहीं होता और न उसमें किसी प्रकार का अतिशय होता है।** जहाँ हम इस सहज और अनिवार्य रूप में भी सौन्दर्य देखते हैं वहाँ उसमें हम दैवी रचना का आरोपण करते हैं अथवा निरुपयोगिता आदि की दृष्टि से उसमें रूप का अतिशय देखते हैं। सामान्यतः वह रूप एक सहज और अनिवार्य अनुषंग ही रहता है जो रचना और अतिशय से रहित होने के कारण कलात्मक सौन्दर्य का विधायक नहीं बनता। ऐसे रूप का अनुषंग रहते हुए भी जीवन के उपयोगी अनुभवों तथा शास्त्रों एवं विज्ञानों में तत्व ही प्रमुख रहता है। इसके विपरीत कला एवं काव्य में रचना और समृद्धि से अन्वित रूप का अतिशय ही प्रधान होता है। इसी रूप के अतिशय में कला और काव्य के कलात्मक स्वरूप का सौन्दर्य निहित रहता है।

यदि कला के स्वरूप का सौन्दर्य प्रधानतः रूप में ही निहित है तो यह एक विचारणीय प्रश्न है कि सत्य और श्रेय का कला एवं काव्य में क्या स्थान है? अपने मूल रूप में सत्य और श्रेय जीवन के तत्व ही हैं। सामान्यतः तत्व रूप से रहित नहीं होता इस दृष्टि से सत्य और श्रेय के तत्व में भी रूप का अनिवार्य अनुपंग रहता है। किन्तु इस रूप में रचनात्मकता और अतिशय की विशेषता नहीं होती। इसीलिए वह रूप सौन्दर्य का विधायक नहीं होता। कला और काव्य की रचना में सत्य और श्रेय का ग्रहण तत्व के रूप में ही होता है। **अतः कला के साथ और श्रेय के सम्बन्ध का प्रश्न सामान्यतः कला के रूप के साथ तत्व के सम्बन्ध का प्रश्न है।** तत्व की दृष्टि से भी सत्य और श्रेय के स्वरूप में कुछ अन्तर है। इस दृष्टि से सत्य और श्रेय दोनों का कलात्मक अन्वय समान विधि से न हो यह सम्भव है। सत्य और श्रेय के स्वरूप भेद के आधार पर कला के रूप सौन्दर्य के साथ उनके अन्वय में भी कुछ अन्तर हो सकता है।

सत्य और श्रेय के स्वरूप का अन्तर ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। मुख्यतः वह अन्तर सत्य की उदासीनता और श्रेय की भावक प्रवणता का अन्तर है। कला के रूप सौन्दर्य के साथ सत्य और श्रेय के सम्बन्ध के प्रसंग में सत्य की उदासीन सत्ता तथा श्रेय की भाव प्रवणता के प्रभाव का विशेषतः विचार करना होगा। काव्य

के विषय में यह अनेक बार स्पष्ट किया जा चुका है कि काव्य एक कला है और कला रूप का अतिशय है। कला का स्वरूप इस रूप के अतिशय में ही निहित है। इतना अवश्य है कि वाद्यसंगीत तथा अल्पनाओं के अतिरिक्त कदाचित ही कोई ऐसी कला हैं जो केवल रूपात्मक हों तथा जिनका तत्व के साथ अन्तरंग सम्बन्ध न हो। कला का सौन्दर्य रूप में ही निहित रहता है। फिर भी वह सौन्दर्य किसी न किसी तत्व को समाहित करके ही साकार होता है। यह रूप तत्व की ओर से उदासीन भी नहीं है। तत्व का स्वरूप अनेक प्रकार से इस रूप के सौन्दर्य को साकार बनाने में योग देता है। शिव और शक्ति के समान तत्व और रूप का साम्य कला की पूर्णता का निर्माण करता है। काव्य का माध्यम सार्थक शब्द होता है। अतः अर्थ का आदान काव्य के स्वरूप का आवश्यक लक्षण है। शब्द और अर्थ अथवा रूप और तत्व के साम्य से उत्तम काव्य की सृष्टि होती है, फिर भी परिभाषा और विवेक की दृष्टि से यह ध्यान रखना होगा कि काव्य का कलात्मक सौन्दर्य विशेषतः अभिव्यक्ति के रूप में ही निहित रहता है, चाहे तत्व का अपना स्वरूप अनुकूलता और सहयोग के द्वारा इस रूप के सौन्दर्य को सम्भव और सम्पन्न बनाता है। यह अनुकूलता और सहयोग की बात सभी तत्वों के साथ सही नहीं होती। जीवन और जगत के सभी तत्व स्वरूपतः रूप के सौन्दर्य से युक्त अथवा अनुकूल नहीं होते। जीवन के जिन तत्वों को हमने सत्य की सीमित परिधि में रखकर उन्हें उदासीन माना है उनमें रूप का स्फुट सौन्दर्य नहीं होता। ऐसे उदासीन तत्वों की ओर से काव्य के रूपगत सौन्दर्य को अधिक सहयोग नहीं मिलता। इसीलिये जिस काव्य में इस उदासीन सत्य का तत्व के रूप में ग्रहण होता है वह अधिक सुन्दर नहीं बन पाता। साम्य की मन्दता के कारण उसका सौन्दर्य सम्पन्न नहीं होता। प्रकृति-वर्णन और वृत्त-वर्णन के काव्य इसके उदाहरण हैं। इतिवृतात्मक काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से सबसे अधिक दीन माना जाता है। प्रकृति वर्णन का काव्य भी कलात्मक दृष्टि से इतना ही दीन होता है। प्रकृति के स्वतंत्र रूप में भी कवि सौन्दर्य देखता है। प्रकृति के रूप का यह सौन्दर्य काव्य के सौन्दर्य से मिलकर उसे द्विगुणित बना देता है, यद्यपि सभी प्रकृति-वर्णनों में सौन्दर्य के दोनों रूपों का समवाय नहीं होता। इसीलिए प्रकृति के वर्णन भी 'काव्य की दृष्टि से' बहुत कम सुन्दर होते हैं। कलात्मक सौन्दर्य से युक्त होने पर अथवा मानवीय भावों की भूमिका में समवेत होने पर वे निस्संदेह अधिक सुन्दर बन जाते हैं। मानवीय भावों के आरोपण से

प्राकृतिक सत्य की उदासीनता दूर हो जाती है और वह कलात्मक सौन्दर्य के अनुकूल बन जाता है। भाव के स्वरूप में रूप के अंकुर उदित होने लगते हैं और वे काव्य एवं कला में रूप तथा तत्व के साम्य को अधिक सहज बनाते हैं। **काव्य के साथ सत्य और श्रेय के स्वरूप का यह अन्तर अत्यन्त महत्वपूर्ण है।**

स्वरूप की दृष्टि से सत्य और श्रेय में अनेक अन्तर हैं। इनमें वे अन्तर अधिक विचारणीय हैं जो कला एवं काव्य के साथ श्रेय के सामंजस्य को प्रभावित करते हैं। सीमित अर्थ में सत्य के सभी रूप उदासीन होते हैं। भाव का योग इस उदासीन सत्य का स्वरूपगत लक्षण नहीं है। श्रेय के प्राकृतिक रूप व्यक्तिगत हित की दृष्टि से तो उदासीन नहीं हैं, किन्तु यदि 'भाव' को हम मनुष्यों के पारस्परिक भाव के अर्थ में ही समझें तो इस भाव की तुलना में प्राकृतिक श्रेय को भी उदासीन मानना होगा। **पारस्परिक भाव के अभाव में और अकेलेपन की स्थिति में प्राकृतिक श्रेय भी उदासीन हो जाते हैं, यह एक सामान्य अनुभव है।** इसीलिये सभ्यता के विकास में प्राकृतिक श्रेयों के साथ साथ सामाजिक भाव की भूमिका विकसित हुई है। आधुनिक युग में यह भूमिका क्रमशः क्षीण हो रही है। इसीलिये आधुनिक जीवन में उदासीनता बढ़ रही है। प्राकृतिक सत्य प्राकृतिक और सांस्कृतिक प्रेम में तथा प्राकृतिक श्रेय, सांस्कृतिक श्रेय में अन्वित होकर भाव पूर्ण बन जाते हैं। **तत्व की दृष्टि से प्राकृतिक सत्य और प्राकृतिक श्रेय दोनों उदासीन होने के कारण अभिधा के विषय हैं। अभिधा अभिव्यक्ति का न्यूनतम रूप है। उसमें रूप का सौन्दर्य इतना नहीं निखरता कि वह कला को आकार दे सके। तत्व की प्रधानता के कारण अभिधा विज्ञान और शास्त्र की रचना करती है।** पारस्परिक भाव में, जिसे हम सांस्कृतिक श्रेय कह सकते हैं, तत्व का ऐसा उल्लास हो सकता है जो सहज ही रूप के अतिशय की सृष्टि कर देता है। सांस्कृतिक भाव की अभिव्यक्ति सहज भाव से सौन्दर्य की ओर अभिमुख होती है। इसीलिये भावों की व्यञ्जना अनायास ही सुन्दर काव्य की रचना करती है। इस रचना में रूप का सौन्दर्य अधिक परिमाण में समाहित होने पर यह सहज सुन्दर भाव और अधिक सुन्दर बन जाता है। अनेक काव्यों में अधिक कलात्मक सौन्दर्य न होने पर भी भावों की यह अभिव्यक्ति सुन्दर प्रतीत होती है। कलात्मक रूप का सौन्दर्य अधिक होने पर कुछ श्रेष्ठ काव्यों में यह भाव और भी अधिक सुन्दर बन गये हैं। **भाव के सहज रूप में एक भंगिमा होती है जो काव्य अथवा कला की**

व्यंजना के अनुरूप होती है। यह भंगिमा भाव के तत्व में उल्लसित होने वाले रूप का सहज अतिशय है। इसी अतिशय से युक्त होने के कारण भाव सहज, सुन्दर एवं कलात्मक होता है। इसी कारण भाव साक्षात जीवन को कलात्मक एवं सुन्दर बनाता है। भाव की **व्यंजना से युक्त जीवन एक प्रकार का साक्षात् काव्य है। काव्य के 'रूप' में अन्वित होकर वह काव्य का काव्य बन जाता है।** प्रकृति-वर्णन और भाव निरूपण के प्रसंग में तत्व के रूप-गत सौन्दर्य तथा अभिव्यक्ति के रूप-गत सौन्दर्य का विवेक आवश्यक है। इसी विवेक के द्वारा कलात्मक सौन्दर्य के विभिन्न स्तरों का विवेचन हो सकता है। **इन स्तरों का संकेत इस प्रकार है।** प्रकृति का उदासीन सत्य रूप के सहज अतिशय से रहित होने के कारण कलात्मक सौन्दर्य में कठिनता से अन्वित होता है, यद्यपि इतना अवश्य है कि कोई भी तत्व पूर्णतः रूप-रहित नहीं होता, अतः कोई भी तत्व कला का उपादान बनने के अयोग्य नहीं है। प्रकृति के सौन्दर्य का 'रूप' उसे कला के अधिक अनुकूल बनाता है। प्राकृतिक श्रेयों में तत्व की प्रधानता ही रहती है, रूप का अधिक महत्व नहीं होता। तत्व का यह महत्व उपयोगिता के रूप में फलित होता है। रूपगत सौन्दर्य के अनुकूल न होने के कारण प्राकृतिक श्रेयों को कला एवं काव्य में कम स्थान मिलता है। जहाँ वे कला अथवा काव्य के उपादान बने हैं वहाँ भी वे प्राकृतिक सुख एवं रुचि के कारण अधिक आकर्षक बने हैं तथा उनके सम्बन्ध में कलात्मक सौन्दर्य का महत्व अधिक नहीं है। पारस्परिक भाव एवं अभिव्यक्ति के 'रूप' से अन्वित होकर ही वे कलात्मक सौन्दर्य के महत्व के साथ संगत बन सके हैं। **सांस्कृतिक श्रेय ही भाव के ऐसे रूप हैं जिनमें रूप के अतिशय की तरंगें उठती हैं। अभिव्यक्ति के रूप इन तरंगों पर किरणों के समान विलास करते हैं और दोनों के समन्वय से जीवन के पटल पर एक श्रेष्ठ कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि होती है।**

प्राकृतिक सत्य और प्राकृतिक श्रेय की उदासीनता का कारण समात्मभाव का अभाव है। इनके स्वरूप में समात्मभाव का आधार नहीं होता इसीलिये ये उदासीन होते हैं। **समात्मभाव का अभाव ही उदासीनता का कारण है।** कला और इसके सौन्दर्य के प्रसंग में हमने अनेक बार संकेत किया है कि समात्मभाव उसका मूल आधार है। समात्मभाव कला के स्वरूप और उसके रूपगत सौन्दर्य का निर्माण नहीं करता फिर भी यह असंदिग्ध है कि वह कला के रूप सौन्दर्य की

रचना का आधार अवश्य है। कला का सौन्दर्य तो रूप के अतिशय में ही स्फुटित होता है किन्तु समात्मभाव कला की सृजनात्मक प्रेरणा का स्रोत है। **समात्मभाव की भूमिका में ही कलात्मक सौन्दर्य की रचना सम्भव होती है।** प्राकृतिक सत्य और प्राकृतिक श्रेय के उदासीन रूपों में समात्मभाव का आधार नहीं रहता किन्तु समात्मभाव के आधार के बिना ये कला के उपादान नहीं बन सकते। समात्मभाव की भूमिका में उदासीन सत्य और उदासीन श्रेय में भी भाव के अंकुर फूटने लगते हैं तथा वे जिनके उदासीन तत्व को सौन्दर्य की ओर अभिमुख करते हैं। सांस्कृतिक भावों के श्रेय में समात्मभाव उनके स्वरूपगत तत्व की भाँति समवेत रहता है। समात्मभाव सौन्दर्य की आत्मा है। **यह आत्मा सांस्कृतिक श्रेय के भावों में व्याप्त रहती है। इसीलिए वे सहज सुन्दर होते हैं। इसीलिए सौन्दर्य की रचना करने वाले रूप के अतिशय में उनका समन्वय अधिक सफल होता है और श्रेष्ठतर कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि करता है।** उदासीन सत्य और प्राकृतिक श्रेय के साथ तुलना में सांस्कृतिक श्रेय का यह अन्तर महत्वपूर्ण है। सांस्कृतिक श्रेय के भावों में समवेत समात्मभाव जीवन का एक साक्षात् सत्य होता है। इसके साक्षात् सत्य की सजीवता ही सांस्कृतिक भावों को उदासीन सत्य और प्राकृतिक श्रेय की तुलना में अधिक सजीव बनाती है। कला की सौन्दर्य रचना में जिस समात्मभाव की प्रेरणा रहती है वह जीवन का साक्षात् सत्य नहीं होता; वह काल्पनिक अधिक होता है। उदासीन सत्य और प्राकृतिक श्रेय के तत्वों में किसी काल्पनिक समात्मभाव का अन्वय उन्हें कलात्मक सौन्दर्य का उपादान बनाता है। इनके उपादानों से निर्मित कला एवं काव्य में उदासीन तत्व काल्पनिक, समात्मभाव और रूप का अतिशय ये तीन विधायक अंग होते हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य में प्रकृति के उपकरणों में समवेत रूप का अतिशय और मिल जाता है। प्राकृतिक श्रेय जो प्राकृतिक सत्य पर अश्रित हैं, जब कला एवं काव्य के उपादान बनते हैं तो साक्षात् समात्मभाव की भाव-विभूति मिलने पर वे अधिक सम्पन्न सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। सांस्कृतिक श्रेयों के भाव सबसे अधिक सम्पन्न सौन्दर्य की रचना करते हैं। उनके तत्व में भी साक्षात् समात्मभाव और रूप के अतिशय का सहज समवाय रहता है। कला का आधारभूत काल्पनिक समात्मभाव और कलात्मक अभिव्यक्ति का सौन्दर्य (रूप का अतिशय) मिल कर इन्हें और अधिक सुन्दर बना देते हैं तथा श्रेष्ठतम सौन्दर्य की रचना करते हैं।

अध्याय २६

शिवम् के रूप

उदासीन सत्य की तुलना में शिवम् अथवा श्रेय एक रचनात्मक भाव है। सत्य अवगति का विषय है। ग्रहणात्मक चेतना तटस्थ और उदासीन रूप में उसका ग्रहण करती है। यह उदासीनता और तटस्थ दृष्टिकोण सत्य और उसके साधक के बीच एक आवश्यक भेद का कारण बनता है। सत्य के अनुसंधान के लिए इस भेद का अक्षुण्ण रहना आवश्यक है। साधक के सत्य में तन्मय होने पर अनुसंधान का प्रश्न समाप्त हो जाता है। **इसके विपरीत शिवम् अथवा श्रेय रचनात्मक चेतना का एक स्वतन्त्र भाव है। स्वतन्त्रता, संकल्पमूलकता और रचनात्मकता के अतिरिक्त श्रेय में एक आत्मीयता का भाव भी रहता है।** प्राकृतिक श्रेय तो सत्य की भाँति प्रधानतः ग्रहणात्मक ही होता है। केवल इतना अन्तर है कि जहाँ सत्य का ग्रहण उदासीन एवं तटस्थ होता है वहाँ प्राकृतिक श्रेय का ग्रहण आस्वादन के सुख से युक्त होता है। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक श्रेय का अन्वय भी मनुष्य के जीवन में होता है। इस अन्वय में प्राकृतिक श्रेय के उपादान मनुष्य के जीवन में आत्मसात अथवा तन्मय हो जाते हैं। इसे आध्यात्मिक अर्थ में आत्मीयता नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें साम्य नहीं होता। इस अन्वय को आहार कहना अधिक उचित है। यह एकपक्षीय होता है। इसमें श्रेय के उपादान जीवन में विलीन होकर अपना स्वरूप एवं अस्तित्व खो देते हैं। **इसके विपरीत सांस्कृतिक श्रेय में एक साम्य होता है।** सांस्कृतिक श्रेय मुख्यतः सामाजिक सम्बन्धों में साकार होता है। **इस साम्य का लक्षण चेतना के दो बिन्दुओं या अधिक बिन्दुओं के द्वारा एक दूसरे का सम्भावन है।** सत्य तथा प्राकृतिक श्रेय के उपादान सांस्कृतिक श्रेय के उपकरण बन सकते हैं किन्तु स्वरूप से चेतना का यह रचनात्मक भाव है।

श्रेय का यह भाव अनेक रूपों में साकार होता है। सत्य के विविध रूप तथा प्राकृतिक श्रेय के अनेक भेद और जीवन की अनेक परिस्थितियाँ श्रेय के इन अनेक रूपों का निर्माण करती हैं। सत्य के विभिन्न रूपों का विवेचन पिछले अध्यायों में हो चुका है। वहाँ उनका विवेचन सत्य की दृष्टि से ही हुआ है। श्रेय के उपकरणों

के रूप में यह विवेचन फिर करना होगा। शिवम् अथवा श्रेय के विविध रूपों का तथा काव्य के साथ उनके सम्बन्ध का विवेचन भी विस्तार पूर्वक अगले अध्यायों में किया जायगा। यहाँ हमें श्रेय के इन भेदों का केवल संक्षेप में निर्देश करना अभीष्ट है। इस निर्देश के पहले श्रेय के स्वरूप की कुछ सूक्ष्म मीमांसा उचित होगी। श्रेय के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ संकेत पिछले अध्याय में सत्य और श्रेय के विवेक के प्रसंग में किये जा चुके हैं। **सत्य की उदासीन अवगति की तुलना में श्रेय एक रचनात्मक भाव है। श्रेय का सृजन करने वाली चेतना अधिक स्वतन्त्र और संकल्प मूलक होती है। इसके अतिरिक्त श्रेय का भाव आत्मीयता की भूमिका में ही साकार होता है।** यह आत्मीयता वेदान्त के अद्वैतभाव के समान है। प्रकृति के विषयों में भिन्नता रहती है। अद्वैत आत्मा का ही भाव है। इसी अद्वैत में श्रेय का आत्मीय-भाव ही प्रकट होता है। यह भेद-मूलक विषयों और अहंकार से ऊपर रहने वाली आत्मा का भाव है। यह आत्मा चेतन और प्रकाश स्वरूप है, यद्यपि इसके कुछ लोक ऐसे भी हो सकते हैं जिन्हें सामान्य सविषय चेतना के अर्थ में सचेतन नहीं कहा जा सकता। किन्तु सविषय चेतना से अतीत होने के कारण आत्मा के ये लोक अनुभूति के प्रकाश एवं स्पंदन से रहित नहीं होते। **आत्मीयभाव के साम्य और सम्भावन में ही श्रेय का मर्म निहित है। इसी को हमने साक्षात् समात्मभाव कहा है और इसे हमने श्रेय के सभी रूपों का सामान्य आधार माना है।** एक दूरान्वित भाव के रूप में तो यह समात्मभाव सत्य के उदासीन अनुसंधान की भी अन्तर्गत प्रेरणा है। सौन्दर्य की रचनाओं में भी काल्पनिक समात्मभाव अथवा समात्मभाव की आकांक्षा का आवश्यक आधार रहता है। **सत्य और सौन्दर्य में कदाचित इतना अन्तर है कि सौन्दर्य की साधना के लिए साक्षात् समात्मभाव का कुछ सम्पुट आवश्यक है।** यह साक्षात् समात्मभाव सौन्दर्य की रचना की नींव है। इस नींव के ऊपर सौन्दर्य का प्रासाद बहुत कुछ काल्पनिक समात्मभाव से रचा जाता है। **श्रेय जीवन का साक्षात् रूप है। इसलिए वह साक्षात् समात्मभाव की भूमि में ही फलित होता है।** सत्य और सौन्दर्य भी जीवन के अंश अवश्य हैं किन्तु विशेष रूप में सत्य का अनुसंधान और सौन्दर्य की साधना जीवन के कुछ पृथक अंग बन जाते हैं तथा समग्र एवं साक्षात् जीवन से कुछ अलग हो जाते हैं। दर्शनों और कलाओं के जीवन से अलग हो जाने का यही कारण है। ये प्रायः जीवन को अपना विषय बनाते हैं। किन्तु इनका विषय बन जाने पर जीवन की साक्षात् सजीवता नष्ट हो जाती है।

विषय रूप में ग्रहीत जीवन सत्य का आधार और सौन्दर्य का उपकरण बन जाता है। किन्तु वह अपने साक्षात् एवं सजीव रूप में शेष नहीं रहता। सत्य के एकान्त अनुसंधान में यह सजीवता लौट करके भी नहीं आती। सौन्दर्य के सामाजिक आस्वादन में कुछ इसका प्रत्यावर्तन होता है। कला के सौन्दर्य का आस्वादन साक्षात् समात्मभाव की स्थिति में अधिक सजीवता के साथ होता है। यह सजीवता कलात्मक सौन्दर्य में विषय रूप में ग्रहीत जीवन को कुछ अधिक सजीव बना देती है।

किन्तु साक्षात् समात्मभाव की स्थिति में रचित होने के कारण श्रेय का स्वरूप प्रत्यक्षतः सजीव है। साक्षात् समात्मभाव का प्रसंग तो सांस्कृतिक श्रेयों में ही दिखाई देता है। किन्तु श्रेय के प्राकृतिक रूप भी व्यापक अर्थ में सजीव होते हैं। जीवन के प्राकृतिक धर्मों और क्रियाओं के साथ उनका घनिष्ठ अन्वय होता है। **अनुभूति और क्रिया ही जीवन का मर्म है।** सत्य में उदासीन तत्व के प्रमुख होने के कारण तथा सौन्दर्य में रूप के पृथक हो जाने के कारण जीवन की यह सजीवता आवश्यक और प्रकट नहीं रहती। **किन्तु श्रेय का जन्म ही इस सजीवता की स्थिति में होता है और इसके रहते ही वह इसके स्वरूप में सुरक्षित रहता है।** यह सजीवता तो प्राकृतिक श्रेय में भी रहती है, यद्यपि साक्षात् समात्मभाव का आधार प्राकृतिक श्रेय के कठोर प्राकृतिक रूप में आवश्यक नहीं है। **प्राकृतिक अर्थ में जीवन संवेदना मात्र है।** यह संवेदना पशुओं में भी होती है किन्तु मनुष्य जीवन की दृष्टि से आत्मा जीवन का मर्म है। आत्मा के भाव में संवेदना अथवा चेतना अधिक सूक्ष्म, अधिक गम्भीर, अधिक व्यापक और अधिक मार्मिक बन गई है। आत्मा के योग से संवेदना की सजीवता भी अधिक तीव्र हो जाती है। साक्षात् समात्मभाव की स्थिति में हमें इस तीव्रता का अनुभव होता है। समात्मभाव से युक्त होकर प्राकृतिक श्रेय भी श्रेयस्तर बन जाते हैं। सभ्यता और संस्कृति के क्रम में प्राकृतिक श्रेयों का ऐसा विकास हुआ है। अपने प्रधानतः प्राकृतिक रूप में भी वे साक्षात् समात्मभाव के पूर्वाधार तथा उसकी उत्तराकांक्षा की अपेक्षा करते हैं। इनके बिना पूर्णतः प्राकृतिक और कठोर व्यक्तिगत स्थिति में इन प्राकृतिक श्रेयों का आस्वादन भी नीरस हो जायेगा।

श्रेय के सांस्कृतिक रूपों में साक्षात् समात्मभाव की सजीवता रहती है। समात्मभाव की आत्मीयता सांस्कृतिक श्रेयों की महिमा को बढ़ाती है। व्यक्तियों

अथवा बिन्दुओं की दृष्टि से इस समात्मभाव का लक्षण साम्य है। परस्पर सम्भावन में यह साम्य चरितार्थ होता है। इस साम्य और सम्भावन के दो पक्ष हो सकते हैं, यद्यपि इनको पृथक् करना सम्भव नहीं है। ये दो पक्ष भाव के आदान और प्रदान के रूप में प्रकट होते हैं। आत्मीयता के प्रसंग में परभाव की स्थापना कठिन है फिर भी व्यावहारिक अर्थ में पर का सम्भावन 'प्रदान' कहलाता है। एक का प्रदान दूसरे के लिए आदान बन जाता है। सम्भावन का यह आदान वस्तुतः प्रदान का एक अनिवार्य फल है; किन्तु साम्य और सम्भावन की भावना में प्रदान ही प्रमुख होता है। दोनों ओर से प्रदान का अनुरोध आदान अवश्य बन जाता है। **इस प्रकार व्यवहार की दृष्टि से प्रदान ही समात्मभाव के साम्य और सम्भावन का मर्म है।** मूलतः यह प्रदान आत्मदान है। इस आत्मदान की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में होती है। आदर, आलोक, सृजन की प्रेरणा आदि इनमें मुख्य हैं। आदर में समात्मभाव और साम्य की मानवीयता चरितार्थ होती है। आलोक के बिना यह आदर अहंकार बन जाता है तथा समात्मभाव और साम्य को खंडित करता है। प्रदान का यह फल आत्मघाती है। कुपुत्र की तरह वह अपने वंश का नाश करता है। अतः आलोक से अंचित होने पर ही आदर श्रेय का संरक्षक बन सकता है। आलोक आत्मा का स्वरूप है। अतः वह आत्मदान के सभी रूपों में अन्तर्निहित एवं आभासित रहता है। आदर की प्रेरणा और आलोक के प्रकाश में जीवन की सृजनात्मक परम्परा आगे बढ़ती है। **यह सृजनात्मक परम्परा ही जीवन का मूल मर्म और जीवन की संरक्षक है। जीवन का तात्पर्य सृजन की परम्परा ही है।** इस परम्परा के नष्ट होने पर जीवन ही नष्ट हो जायेगा। अतः श्रेय का वास्तविक रूप इस सृजनात्मक परम्परा में ही चरितार्थ होता है। **परम्परा के अर्थ में यह सृजन सौन्दर्य के समान केवल सृष्टि नहीं है वरन् यह सृष्टाओं का सृजन है। केवल सृजन से नहीं वरन् सृष्टाओं के सृजन से ही यह परम्परा अक्षुण्ण रह सकती है।** अन्धविश्वास, तिरस्कार, अपमान, उपहास आदि आदर और आलोक के विपरीत होने के कारण श्रेय की सृजनात्मक परम्परा के घातक हैं। अनीति और अंधकार का निवारण इसके निषेधात्मक साधन हैं। जागरण और क्रान्ति इसके विधायक साधन हैं। शिव और शक्ति के साम्य की भाँति आत्मभाव और सृजन की परम्परा में यह श्रेय अमर होता है।

प्रसंग के अनुसार सत्य की भाँति श्रेय के भी कई भेद किये जा सकते हैं।

सत्य के भेद विषयों के प्रसंग के अनुसार किये जा सकते हैं। श्रेय के भेदों में भी विषय का अनुषंग और आधार रहता है, क्योंकि आत्मा का भाव होते हुए भी श्रेय प्राय: विषयों के उपकरणों में ही साकार होता है। इसके अतिरिक्त जीवन और संस्कृति के कुछ दृष्टिकोण भी श्रेय के विभाजन के आधार बनते हैं। केवल प्राकृतिक श्रेय की कठोर सम्भावना बहुत संदिग्ध है। **फिर भी व्यावहारिक सरलता की दृष्टि से प्राकृतिक श्रेय को श्रेय का सरलतम रूप माना जा सकता है।** श्रेय का यह रूप पशुओं में भी मिल सकता है, यद्यपि मनुष्य के जीवन में वह केवल प्राकृतिक नहीं रह गया है। आत्मा की विभूति से अंचित होकर प्राकृतिक श्रेय सांस्कृतिक श्रेय के क्षितिजों का स्पर्श करता रहा है। किन्तु दूसरी ओर प्रकृति के अनुरोध उसकी प्राकृतिकता को भी दृढ बनाते रहे हैं। जीवन और संस्कृति के क्षेत्र में एक प्रकार से आत्मा और प्रकृति का संघर्ष चलता रहा है। श्रेय का सरलतम और एक प्रकार से निम्नतम रूप प्राकृतिक श्रेय में मिलता है। प्राकृतिक श्रेय जीवन की नैसर्गिक आकांक्षाओं का अवलम्ब है। जड़ सत्ता में जब कभी जीवन का उदय हुआ होगा वहीं से प्राकृतिक श्रेय का आरम्भ हुआ होगा। **आहार और प्रजनन इस प्राकृतिक श्रेय के दो मूल रूप हैं।** सभ्यता के विकास में अनेक भौतिक उपकरण इनके अवलम्ब बन गये हैं। 'आहार' आहार्य के रूप और अस्तित्व का विनाश करके उसे आत्मसात करना है। इस प्रकार आहार अधिक स्वार्थमय है। इसके अतिरिक्त प्रजनन एक प्रकार का आत्म-विभाजन है। आहार में आदान अधिक है। प्रजनन में कुछ प्रदान का आभास मिलता है। केवल इतना अन्तर है कि प्राकृतिक सृजन का यह प्रदान सचेतन नहीं है। काम के प्रसंग में प्रजनन की प्रक्रिया में जो सचेतनता होती है वह भी एक स्वार्थमयी सम्वेदना है। पशुओं और मनुष्यों के जीवन में प्रजनन से अधिक इस संवेदना का महत्व रहता है। शारीरिक और मानसिक आकांक्षा की पूरक होने के नाते इस सम्वेदना को भी आहार कह सकते हैं। **इस प्रकार स्वार्थ में केन्द्रित रहना प्राकृतिक श्रेय का एक मौलिक लक्षण है।** इसके अतिरिक्त प्राकृतिक श्रेयों में एक विवशता और एक बाह्यता रहती है जो प्रकृति से अनुगत लक्षण है। सभ्यता के विकास में प्राकृतिक श्रेय के उपकरणों का अधिक विकास हुआ है। इसीलिए उसमें अहंकार, स्वार्थ, पराधीनता आदि की वृद्धि होती रही है। प्राकृतिक सत्य की भाँति प्राकृतिक श्रेय के उपकरण और धर्म भी कला और काव्य के उपादान बनते हैं। इनमें जीवन

की निम्नतम कृतार्थता प्रकट होती है। यह कृतार्थता भी श्रेय का एक सामान्य लक्षण है जो श्रेय के सभी रूपों में व्याप्त रहता है।

श्रेय का दूसरा रूप सामाजिक श्रेय है। एक प्रकार से सामाजिकता श्रेय का सामान्य लक्षण है। श्रेय की कल्पना मनुष्य जीवन और समाज के प्रसंग में ही की जा सकती है। एक प्राकृतिक श्रेय ही ऐसा है जिसकी सम्भावना व्यक्ति के एकान्त भाव में भी रहती है। अकेला होने पर भी मनुष्य को प्राकृतिक आकांक्षाएँ रहती हैं और उनकी पूर्ति में वह कृतार्थता मानता है। इस कृतार्थता के आधार पर प्राकृतिक श्रेय को भी श्रेय माना जा सकता है। मनुष्य जीवन के आदिम काल में जब मनुष्य पशु के समान रहा होगा उस समय प्राकृतिक श्रेय ही मनुष्य के जीवन का एक मात्र श्रेय रहा होगा। समाज और सभ्यता का विकास होने पर प्राकृतिक श्रेय में सामाजिक और सांस्कृतिक भावों का समन्वय हुआ है। किन्तु प्राकृतिक श्रेयों का मौलिक रूप सुरक्षित रहा है। **व्यक्ति की परिधि में सीमित रहना प्राकृतिक श्रेय का मौलिक गुण है।** यह उसका स्वरूप है। अतः वह बदल नहीं सकता। सामाजिक अनुषंग और सांस्कृतिक रूप इस मौलिक आधार में अक्षुण्ण रहने वाले प्राकृतिक श्रेय को अधिक सम्पन्न बनाते हैं। ऐसी स्थिति में मूलतः प्राकृतिक रहते हुए भी प्राकृतिक श्रेय केवल प्राकृतिक नहीं रहता। **फिर भी सामाजिकता प्राकृतिक श्रेय के स्वरूप का आवश्यक लक्षण नहीं है। प्राकृतिक श्रेय के हित का अन्वय अन्ततः व्यक्ति में ही होता है।** इसी आधार पर सामाजिक श्रेय को प्राकृतिक श्रेय से भिन्न किया जा सकता है।

सामाजिक श्रेय का स्वरूप भी सामाजिक है। सामाजिक सम्बन्धों में ही सामाजिक श्रेय सम्पन्न हो सकता है। जिस प्रकार सामाजिक अनुषंग प्राकृतिक श्रेय को सम्पन्न बनाते हैं उसी प्रकार सामाजिक श्रेयों में भी प्रायः प्राकृतिक आधार रहता है। ऐसी स्थिति में प्रायः श्रेय के दोनों रूपों का विवेक करना भी कठिन हो जाता है। प्राकृतिक अथवा सामाजिक भाव की प्रधानता के आधार पर यह विवेक किया जा सकता है। **मुख्य और विशेष रूप से सामाजिक भाव एवं सम्बन्ध से युक्त होने पर ही हम मानवीय श्रेय को सामाजिक कह सकते हैं।** सामाजिक श्रेय का सामाजिक होने का अभिप्राय यह नहीं कि वह व्यक्तिगत नहीं होता। प्रत्यक्ष रूप में समाज व्यक्तियों का समूह है, यद्यपि समूह मात्र से समाज का निर्माण नहीं होता। मनुष्यों के समूह में कुछ पारस्परिक और आन्तरिक

सम्बन्ध होने पर ही उसे समाज कहा जा सकता है। कुछ दार्शनिक तथा कुछ साम्यवादी मान्यताओं के अनुसार समाज को एक स्वतन्त्र इकाई मानकर उसे व्यक्ति से अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। इन मान्यताओं के अनुसार समाज की इस समग्रता के सामने व्यक्ति का मान तुच्छ हो जाता है। कुछ सामाजिक मान्यताएें व्यक्ति को अधिक महत्व देती हैं। व्यक्ति और समाज के सामंजस्य के प्रयत्न भी किये गये हैं। एक पक्षीय धारणाओं की अपेक्षा यह सामंजस्य अधिक श्रेष्ठ है। किन्तु वस्तुतः यह सामंजस्य व्यक्ति और समाज को दो पृथक इकाइयाँ मानकर सम्भव नहीं हो सकता। समाज कोई पृथक् इकाई नहीं है। कुछ सामाजिक व्यवस्थाएँ ऐसी अवश्य हो सकती हैं जिनमें किसी विशेष व्यक्ति का अधिकार न हो, किन्तु सामान्य रूप से अनेक व्यक्तियों का अधिकार हो। सामाजिक श्रेय के ये रूप भी अन्ततः व्यक्तियों में ही अन्वित होते हैं। **व्यक्ति ही सत्ता की मूल इकाई है।** समाज, सामाजिक व्यवस्थाऐं और सामाजिक श्रेय उससे पृथक् नहीं हैं, फिर भी सामाजिक भाव तथा सामाजिक व्यवस्थाओं के मूल आधार केवल व्यक्तिगत नहीं हैं। वे व्यक्ति की व्यक्तिमत्ता में सीमित नहीं हैं। व्यक्ति की जो आकांक्षाएँ व्यक्ति की इकाई में ही पूर्ण हो सकती हैं उन्हें तो पूर्णतः व्यक्तिगत ही माना जा सकता है किन्तु उसकी जो आकांक्षाएँ अन्य व्यक्तियों के साथ उसके सम्बन्ध पर निर्भर रहती हैं वे पूर्णतः व्यक्तिगत नहीं हैं। **वे स्वरूप से ही सामाजिक हैं।** व्यक्तियों के पारस्परिक भाव और साम्य में ही उन आकांक्षाओं का स्वरूप फलित होता है। मौलिक रूप में सामाजिक तो ऐसे ही भावों और व्यापारों को कहा जा सकता है, अन्यथा आधार और अनुषंग की दृष्टि से तो मनुष्य के वे प्राकृतिक धर्म और श्रेय भी सामाजिक हैं जो अपने स्वरूप में व्यक्तिगत हैं। सभ्यता के आदि में तो ये अधिक पूर्णतया व्यक्तिगत थे, सभ्यता के विकास के साथ-साथ इनमें मनुष्यों का पारस्परिक आश्रय और सामाजिक अनुषंग बढ़ता गया है। **किन्तु स्वरूप और हित के आस्वादन की दृष्टि से ये प्राकृतिक धर्म व्यक्तिगत ही रहते हैं।** व्यक्ति ही इनके अन्वय का केन्द्र रहता है। सामाजिक भाव मनुष्य के आनन्द का मौलिक स्रोत है। अतएव वह मनुष्य की आकांक्षा को निरन्तर प्रेरित करता रहा है। इसीलिये प्राकृतिक श्रेयों के व्यक्तिगत रूप सभ्यता के विकास में सामाजिक प्रसंग और परिवेश में सज्जित हुए हैं। इनके सामाजिक प्रसंग का मनुष्य के लिये इतना महत्त्व है कि प्राकृतिक हित की अपेक्षा सामाजिक भाव को प्रधान मानना सभ्यता का सूचक

समझा जाता है। प्रीतिभोज में भोजन से अधिक प्रीति का महत्त्व मानते हैं। यह सामाजिक भाव का अपने स्वरूप में आदर है।

इस प्रकार सामाजिक श्रेय की कई श्रेणियाँ हैं। इसका सबसे सरल और आरम्भिक रूप वह है जिसमें सभ्यता के आदिम काल में प्राकृतिक श्रेयों के प्रसंग में पारस्परिक सहयोग और आदान-प्रदान बढ़ा होगा। इस आरम्भिक स्रोत से सामाजिक श्रेय का विकास दो दिशाओं में हुआ है—एक तो प्राकृतिक प्रसंगों में विकसित होने वाला सामाजिक भाव प्रधान बनता गया। पारस्परिक होने के कारण यह सामाजिक भाव आनन्द का महान स्रोत है। भारतीय संस्कृति में इसका संवर्धन विपुलता के साथ हुआ है। दूसरी ओर सभ्यता की प्रगति में कुछ ऐसी सामाजिक व्यवस्थाओं एवं संस्थाओं का विकास हुआ है, जो अधिकार की दृष्टि से निर्वयक्तिक अथवा सामूहिक हैं तथा उपयोग की दृष्टि से व्यक्तिगत हैं। इसका अभिप्राय यह है कि उनका उपयोग व्यक्ति पृथक्-पृथक् रूप में करते हैं, पारस्परिक भाव इनके उपयोग का आवश्यक अंग नहीं है। इन व्यवस्थाओं को प्रायः नागरिक सुविधाओं में गिना जाता है। यातायात के साधन, उत्पादन, व्यवसाय आदि के उद्योग; पुस्तकालय, धर्मशाला आदि निर्वैयक्तिक सामाजिक श्रेय के उदाहरण हैं। **सुख और आनन्द सामाजिक श्रेय के इन रूपों के विभाजक माने जा सकते हैं। प्राकृतिक श्रेय और निर्वैयक्तिक सामाजिक श्रेय में एक समानता है। दोनों का उपयोग और अन्वय व्यक्ति में होता है।** पारस्परिक भाव इनके स्वरूप का आवश्यक अंग नहीं है। इनका अनुभव व्यक्तिगत आकांक्षा की पूर्ति और प्राकृतिक सुख के रूप में होता है। प्राकृतिक सुख प्रधानतः ऐन्द्रिक होता है। व्यक्तिगत होने के साथ साथ क्षणिकता उसका एक अन्य प्रमुख लक्षण है। आनन्द एक प्रकार से आत्मिक सुख है। आत्मिक होने के कारण वह अधिक स्थायी होता है। इसके अतिरिक्त वह व्यक्तिगत नहीं होता। पारस्परिक भाव जिसको हमने समात्मभाव कहा है, यह आनन्द का स्वरूपगत आधार है। **सुख अनुभव-काल में ही वर्तमान रहता है, वह स्मृति में स्थायी नहीं रहता।** अतः वह अनुभव में आवृत्ति की आकांक्षा जाग्रत करता है और भविष्य की आकांक्षा को प्रेरित करता है। नई नई उत्पत्ति और विनाश सुख का लक्षण है। **इसके विपरीत आनन्द स्मृति में स्थायी रहता है और समृद्ध होता है। अतृप्ति के स्थान पर वह तृप्ति का कारण होता है।** अतः भावी आकांक्षा को प्रेरित नहीं करता। व्यावहारिक रूप में उसे अतीत की विभूति

मान सकते हैं, यद्यपि अतीत होते हुए भी वह चिरंतन तथा कालातीत प्रतीत होता है। काल का लक्षण गति है, किन्तु प्राकृतिक विषयों पर उसका प्रभाव क्षय के रूप में होता है। क्षय के विपरीत वर्धमान होने के कारण आत्मिक आनन्द कलातीत प्रतीत होता है। यह आत्मिक आनन्द हमारे मत में समात्मभाव से प्रेरित पारस्परिक भाव का आनन्द है और उस आध्यात्मिक आनन्द से भिन्न है, जिसे प्राय: व्यक्तिगत साधना का लक्ष्य और स्वरूप से निर्वैयक्तिक माना जाता है। निर्वैयक्तिक श्रेयों में विद्या के समान कुछ बौद्धिक श्रेयों को अनुभव में व्यक्तिगत होते हुए भी स्थायी आनन्द का स्रोत माना जा सकता है। वस्तुतः विद्या का आनन्द आत्मिक आनन्द के उतना ही निकट है जितना कि दर्शनों के अनुसार बुद्धि को आत्मा के निकट माना जाता है। पारस्परिक भाव आवश्यक न होते हुए भी विद्या का बौद्धिक आनन्द स्वरूप से व्यक्तिगत नहीं है। कदाचित् बौद्धिक आनन्द अहंकार-मूलक व्यक्तिगत सुख तथा पारस्परिक अथवा निर्वैयक्तिक आत्मिक आनन्द के अन्तराल की वस्तु है।

श्रेय का तीसरा रूप सांस्कृतिक है। संस्कृति का विकास भी जीवन की सामाजिक भूमिका में होता है। मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध और भाव के बिना संस्कृति की कल्पना नहीं की जा सकती। अनुभव और अन्वय में तो जीवन की सभी बातें व्यक्तिगत होती हैं, किन्तु संस्कृति के रूप और भाव स्वरूप से इस अर्थ में सामाजिक होते हैं कि वे पारस्परिक सम्बन्ध और भाव में ही चरितार्थ होते हैं। सांस्कृतिक श्रेय को भी हम एक प्रकार से सामाजिक श्रेय मान सकते हैं। सामाजिक श्रेय के वे रूप, जो स्वरूप से सामाजिक हैं और पारस्परिक भाव में सम्पन्न होते हैं, सांस्कृतिक श्रेय के अत्यन्त निकट हैं। पारस्परिक भाव में ही आनन्द का उद्रेक होता है। यह आनन्द ही पारस्परिक भाव का लक्षण है। स्वरूप से सामाजिक श्रेय तथा सांस्कृतिक श्रेय दोनों में ही यह लक्षण मिलता है। **सांस्कृतिक श्रेय की एक विशेषता कलात्मक रूप का सौन्दर्य है, जो सामाजिक श्रेय के अन्य रूपों का आवश्यक लक्षण नहीं है।** विदेशी विद्वानों तथा संस्कृति की आधुनिक व्याख्याओं के अनुसार मनुष्य के सामाजिक विकास में प्रकट होने वाले समस्त क्रिया-कलाप संस्कृति की परिधि के अन्तर्गत हैं। इन क्रिया-कलापों में धर्म, दर्शन, कला, साहित्य आदि आध्यात्मिक एवं रचनात्मक व्यापारों के साथ साथ उद्योग, व्यवसाय, इतिहास, शासन आदि प्रकृति-प्रधान प्रवृत्तियों की भी गणना की जाती है। इस प्रकार

आधुनिक परिभाषा के अनुसार अध्यात्मिक और प्राकृतिक दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियों से प्रभावित क्रिया-कलापों को संस्कृति की परिभाषा के अन्तर्गत माना जाता हैं। **अंग्रेजी में 'कल्चर' शब्द की व्युत्पत्ति में कोई ऐसा विशेषण नहीं है जो मनुष्य के अन्य व्यापारों से संस्कृति का विभाजक बन सके।** कृषि के वाचक 'कल्टस' के लैटिन मूल से निर्मित 'कल्चर' शब्द व्यापक अर्थ में 'कृति' का पर्याय है। मनुष्य की सभी कृतियाँ इसके अन्तर्गत आजाती हैं। इसी अधार पर स्वतन्त्रता और रचनात्मकता से विभूषित आध्यात्मिक एवं कलात्मक कृतियाँ तथा पराधीनता से प्रभावित, प्रकृति से प्रेरित एवं रचनात्मकता से रहित कृतियाँ––ये दोनों समान रूप से संस्कृति की व्याख्याओं में स्थान पाती हैं।

संस्कृति की यह पश्चिमी धारणा पश्चिमी जीवन की विशेषताओं के अनुकूल है। संस्कृति का वाचक 'कल्चर' जीवन के इसी विकास को मुखरित करता है। **पश्चिमी जीवन के विकास में प्रकृति का अनुरोध अधिक है।** अधिकार, वैभव, साम्राज्य, शासन आदि के प्राकृतिक आकर्षण से प्रेरित होकर ही पश्चिमी जीवन का उन दिशाओं में विस्तार हुआ है जो इतिहास में विदित हैं। भारतीय जीवन की आस्थाएँ आध्यात्मिक अधिक हैं। अतः उसका विकास पश्चिम से भिन्न दिशाओं में हुआ है। **प्रकृति के अनुरोध की अपेक्षा इस विकास में स्वतंत्रता और रचनात्मकता का प्रभाव अधिक है।** स्वतंत्रता का व्यक्तिगत भाव व्यक्ति के क्रिया कलापों में पराधीनता का अभाव एवं आत्मतन्त्रता की प्रधानता है, दूसरी ओर उसका सामाजिक भाव दूसरों की स्वतंत्रता का आदर है। स्वतंत्रता के अभिमानी आधुनिक विद्वान और विचारक प्रायः स्वतंत्रता के इन महत्वपूर्ण पक्षों को भूल जाते हैं और केवल पराधीनता के अभाव के निषेधात्मक पक्ष को ही स्वतंत्रता का सर्वस्व मानते हैं। रचनात्मकता में स्वतंत्रता अन्तर्निहित रहती है; वह विशेष रूप से रूप और भाव की रचना में अभिव्यक्त होती है। **भारतीय जीवन के विकास में अध्यात्मिकता के प्रभाव के कारण स्वतंत्रता और रचनात्मकता की अभिव्यक्ति बहुत अधिक परिमाण में हुई है।** धर्म और अध्यात्म के कलात्मक एवं उदार रूपों में, जो दूसरों की स्वतंत्रता का पूर्णतः आदर करते हैं, सामाजिक जीवन के अनेक पर्वों तथा पारिवारिक जीवन के विविध संस्कारों में यह अभिव्यक्ति साकार होती है। इस अभिव्यक्ति में अध्यात्म और कला का परिपूर्ण समन्वय साक्षात् जीवन के साथ हुआ है। **भारतीय धारणा के अनुसार यही संस्कृति का सजीव एवं सर्वोत्तम रूप है।** मनुष्य का कृतित्व इसमें सबसे अधिक महिमा के साथ व्यक्त होता है। संस्कृति के 'सम्'

उपसर्ग से लक्षित साम्य का भाव भी कृतित्व के इस रूप में सबसे ग्रधिक परिमाण में प्रकट होता है। कृतित्व का यही रूप 'संस्कृति' शब्द को सबसे ग्रधिक सार्थक बनाता है। संस्कृति का दूसरा रूप कला, साहित्य, दर्शन ग्रादि की कृतियों में मिलता है। इनमें भी स्वतंत्रता ग्रौर रचनात्मकता की ग्रभिव्यक्ति होती है किन्तु ये कृतियाँ जीवन का साक्षात् रूप नहीं हैं; इन्हें जीवन का ग्रंग माना जा सकता है किन्तु ग्रधिक व्यापक रूप में ये कृतियाँ जीवन को विषय बनाती हैं। इन कृतियों में जीवन का विषय के रूप में ग्रहण एवं चित्रण होता है। जीवन का साक्षात् एवं सजीव रूप न होते हुए भी ये कृतियाँ रचनात्मक हैं तथा संस्कृति की परिधि के ग्रन्तर्गत मानी जा सकती हैं। साक्षात् जीवन को साकार करने वाली तथा जीवन को विषय रूप में ग्रहण करने वाली, इन दोनों ही प्रकार की कृतियों में संस्कृति का मौलिक भाव सुरक्षित रहता है। इनके ग्रतिरिक्त प्रकृति की विवशता से प्रभावित एवं प्रेरित कृतियों को भारतीय परिभाषा के ग्रनुसार संस्कृति के ग्रन्तर्गत सम्मिलित नहीं किया जा सकता। भारतीय ग्रर्थ में 'संस्कृति' पद 'कृति' मात्र का पर्याय नहीं है। संस्कृति की पश्चिमी परिभाषा से प्रभावित एवं शासित भारतीय विद्वान 'संस्कृति' के पद ग्रौर भाव की ग्रोर समुचित ध्यान नहीं दे सके हैं। उनका यह प्रमाद भारतीय संस्कृति के प्रति महान ग्रपराध है।

इस प्रकार भारतीय धारणा के ग्रनुसार संस्कृति के उक्त दोनों रूपों में ग्राध्यात्मिक भाव से प्रेरित स्वतंत्रता एवं रचनात्मकता की ग्रभिव्यक्ति होती है। भौतिक माध्यम की कृतियों में रचनात्मकता की ग्रभिव्यवित प्रधानतः रूप की रचना में ही होती है। मौलिक सृजन के ग्रर्थ में मनुष्य भौतिक तत्व का सृजन नहीं कर सकता किन्तु मानसिक, बौद्धिक एवं ग्रात्मिक तत्व की रचना में उसका ग्रधिकार है। धर्म, दर्शन, विज्ञान ग्रादि इस ग्रधिकार की ग्रभिव्यक्तियाँ हैं। इनमें तत्व की ही प्राधानता होती है; यद्यपि भारतीय धर्म ग्रौर दर्शन में धर्म के साथ दर्शन के तथा साक्षात् जीवन के साथ धर्म के समवाय के कारण इनमें रूप का कालात्मक सौन्दर्य भी समाहित हुग्रा है। सांस्कृतिक कृतियों के ग्रन्तर्गत रूप का कलात्मक सौन्दर्य प्रमुखतः साहित्य ग्रौर कला तथा संस्कृति के उन साक्षात् रूपों में मिलता है जिनका संकेत ऊपर किया गया है। यह सौन्दर्य के साथ संस्कृति के सम्बन्ध का निर्देश है। इसी प्रकार श्रेय का समवाय भी संस्कृति के इन रूपों में समान प्रकार से नहीं होता। विज्ञानों ग्रौर दर्शनों में तो प्रमुखतः सत्य का ही ग्रनुसंधान होता है।

दर्शन के कुछ आध्यात्मिक रूप श्रेय का स्पर्श अवश्य करने लगते हैं, फिर भी दर्शन प्रधानतः एक बौद्धिक प्रयास है और सत्य ही उसका लक्ष्य है। **जहाँ दर्शन आध्यात्मिक बन जाता है वहाँ सत्य और श्रेय की परिधियाँ मिलने लगती हैं। संस्कृति के जिन रूपों में आध्यात्मिक तत्व की रचना होती है उनमें श्रेय का सन्निधान सबसे अधिक सम्भव है। इस दृष्टि से धर्म श्रेय का साधक है। धर्म के जिन रूपों ने जिस परिमाण में श्रेय का खंडन किया है वे उसी सीमा में अधर्म बन गये हैं।** संस्कृति के जो साक्षात् रूप भारतीय जीवन में सबसे अधिक विकसित हुए हैं उनमें श्रेय और सौन्दर्य का समान रूप से सामंजस्य है। जीवन के श्रेय को वे कलात्मक और सुन्दर रूप में साकार बनाते हैं। इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति के साक्षात् रूप सबसे अधिक सुन्दर और मंगलमय हैं। रचनात्मकता के समवाय के कारण भारतीय धर्म और अध्यात्म के रूप भी कलात्मक एवं सुन्दर बन गये हैं। **संस्कृति का ऐसा सम्पन्न रूप कदाचित ही कहीं मिल सकेगा।** धर्म और अध्यात्म का ऐसा कलात्मक रूप भी अन्यत्र दुर्लभ है। श्रेय के साक्षात् समवाय की दृष्टि से तो धर्म और अध्यात्म तथा संस्कृति के इन साक्षात् रूपों को ही श्रेय से सम्पन्न माना जा सकता है। विज्ञान, दर्शन, कला, साहित्य, आदि दूरान्वय की दृष्टि से श्रेय के साधक माने जा सकते हैं किन्तु श्रेय के साथ इनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। आध्यात्मिक स्वतंत्रता से प्रेरित होने के कारण ये सभी श्रेय के अनुकूल हैं। प्राकृतिक और सामाजिक श्रेयों का भी संस्कृति के सभी रूपों में सामंजस्य हो सकता है **किन्तु साहित्य और कला का साक्षात् लक्ष्य श्रेय नहीं है। विज्ञान का लक्ष्य सत्य है। साहित्य और कला का लक्ष्य सौन्दर्य है।** स्वतंत्रता और रचनात्मकता से प्रेरित होने के कारण इनके स्वरूप में श्रेय का अन्तर्भाव रहता है। साहित्य और कला का स्वरूप श्रेय के अनुरूप है। किन्तु तत्व रूप में श्रेय का ग्रहण इनके लिए आवश्यक नहीं है। जीवन के जो रूप मंगलमय नहीं माने जाते उनका भी ग्रहण और चित्रण साहित्य तथा कला में होता है। साहित्य एवं कला के साथ तथा इस प्रकार सौन्दर्य के साथ श्रेय का सम्बन्ध एक विवाद का विषय है।

श्रेय का चौथा रूप आध्यात्मिक है। यह श्रेय का वह रूप है जिसका आश्रय आत्मा है। आत्मा का विवेचन भारतीय दर्शन में बहुत मिलता है फिर भी दर्शनों ने उसको अन्ततः अनिर्वचनीय माना है। वह विषयों, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, आदि के परे कोई ऐसा तत्व है जिसका विवरण करना कठिन है। चैतन्य-स्वरूप होने के

कारण आत्मा हमारे समस्त अनुभवों का आधार है। अतः वह आत्मा के अनुभव का भी आधार है। अनुभव में ही उसका आभास मिल सकता है। अन्य किसी भी प्रकार से उसका वर्णन करना सम्भव नहीं है। आत्मा के अनुभव को दर्शनों में जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना जाता है। आत्मा की प्राप्ति को निःश्रेयस कहते हैं। वह जीवन के श्रेयों में सर्वोत्तम है।

आत्मा का स्वरूप अनिर्वचनीय होने के कारण आध्यात्मिक श्रेय के सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है। जिस प्रकार अनिर्वचनीय होते हुए भी अरुन्धती न्याय से दर्शनों में आत्मा का निदर्शन किया गया है उसी प्रकार आध्यात्मिक श्रेय का भी कुछ संकेत किया जा सकता है। जिस प्रकार आत्मा समस्त मानसिक और भौतिक विषयों से परे है उसी प्रकार आध्यात्मिक श्रेय भी श्रेय के अन्य रूपों से भिन्न है। प्राकृतिक श्रेय से उसकी भिन्नता सबसे अधिक स्पष्ट है। प्राकृतिक श्रेय बाह्य विषयों पर अवलम्बित हैं। वे इन बाह्य विषयों के आस्वादन के सुख हैं। प्रकृति की समस्त गति के समान वे काल से प्रभावित हैं। अंतः प्राकृतिक श्रेय अल्पस्थायी होते हैं। **प्राकृतिक सुख तो प्रायः क्षणिक होते हैं। इसके विपरीत आत्मिक अनुभव का आनन्द अनन्त और अक्षय होता है।** आत्मिक श्रेय आन्तरिक है। वह बाह्य विषयों के प्राकृतिक सुख की भांति व्यक्ति-निष्ठ नहीं है। यद्यपि आध्यात्म के व्यावहारिक विवरणों में व्यक्ति को ही साधना और मोक्ष का अधिष्ठान माना गया है फिर भी वस्तुतः आत्मा और मोक्ष स्वरूप अहंकार एवं व्यक्तित्व से अतीत है। व्यक्तित्व सत्ता का परिच्छेद है तथा अहंकार उस परिच्छिन्नता का अनुभव है। आत्मा समस्त परिच्छेदों से परे और अनन्त है। व्यक्तित्व से अतीत होने के कारण उसे निर्वैयक्तिक कहा जा सकता है। **यह निर्वैयक्तिकता आध्यात्मिक श्रेय को अन्य तीनों प्रकार के श्रेयों से भिन्न बनाती है।** प्राकृतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक श्रेय व्यक्तित्व से अतीत नहीं हैं। प्राकृतिक श्रेय तो मुख्यतः व्यक्ति के अधिष्ठान में ही सम्पन्न होता है। व्यक्तियों के पारस्परिक भाव में अनुष्ठित होते हुए भी प्राकृतिक श्रेय का अधिष्ठान मुख्यतः व्यक्ति ही रहता है। सामाजिक और सांस्कृतिक श्रेय व्यक्ति की इकाई में ही सीमित नहीं रहते। व्यक्ति के अधिष्ठान में आश्रित होते हुए भी वे व्यक्तियों के पारस्परिक भाव में सम्पन्न होते हैं। जहाँ प्राकृतिक श्रेय में व्यक्तित्व की प्रधानता होती है वहाँ सामाजिक और सांस्कृतिक श्रेय में पारस्परिक भाव मुख्य होता है।

किन्तु ग्राध्यात्मिक श्रेय में व्यक्तित्व का संश्लेष किसी भी रूप में नहीं रहता। पारस्परिक भाव में व्यक्तियों के ऊपर एक ग्राध्यात्मिक ग्रतिशय ग्रवश्य उत्पन्न होता है। यह ग्राध्यात्मिक ग्रतिशय प्राकृतिक व्यक्तित्व की पृथिवी को ग्राच्छादित कर उसे ग्रनेक प्रकार से सरस ग्रौर ग्रलंकृत बनाता है। किन्तु ग्राध्यात्मिक ग्रतिशय का यह ग्राकाश सदा प्रकृति ग्रौर व्यक्तित्व की पृथ्वी के क्षितिजों का स्पर्श करता रहता है। **सामाजिक ग्रौर सांस्कृतिक श्रेय ग्रध्यात्म ग्रौर प्रकृति के धावा-पृथिवी का एक ग्रद्भुत सम्मिलन है।** इनके सम्मिलन का चमत्कार ही लौकिक जीवन की मर्यादा ग्रौर महिमा है। इसके विपरीत प्राकृतिक श्रेय विषय ग्रौर व्यक्तित्व की पृथिवी पर ही सीमित रहता है तथा ग्राध्यात्मिक श्रेय ग्रात्मा का शून्य ग्रौर ग्रनन्त ग्राकाश है। सभी सम्पर्कों से रहित होने के कारण इसे 'कैवल्य' भी कहा जाता है। ग्राध्यात्मिक कैवल्य के इस ग्रनन्त ग्राकाश में ग्रज्ञात जीवन की कितनी नक्षत्र-मालाएँ ग्रौर कितनी नीहारिकाएँ ग्रन्तर्निहित हैं, इनका ग्रनुसंधान ग्राध्यात्म के ग्राकाश के साहसिक ग्रन्तरिक्ष यात्री वास्तविक ग्रनुभव के द्वारा ही कर सकते हैं। बौद्धिक विज्ञान के दूर दर्शक यंत्रों के द्वारा इनका ग्राभास ही प्राप्त किया जा सकता है। दर्शनों में ग्रध्यात्म-लोक के इस ग्राभास का ही विवरण मिलता है। **इस विवरण में ग्राध्यात्मिक श्रेय की ग्रलौकिकता, ग्रक्षयता ग्रौर ग्रानन्दमयता को महत्व दिया गया है।** ग्रध्यात्म का यह ग्रानन्द स्वयं ग्रनिर्वचनीय है ग्रौर ग्रात्मिक ग्रनुभव के द्वारा ही समझा जा सकता है। वस्तुतः यह विषयों के समान समझने की वस्तु नहीं है। यह ग्रनुभव में ही ग्रास्वाद्य है। इसका ग्रास्वा-दन, साधक को विभोर बना देता है। वह उसके ग्रालोक ग्रौर उल्लास में निमग्न हो जाता है। सांस्कृतिक श्रेय में ग्रध्यात्म का प्रभाव कुछ ग्रधिक रहता है। ग्रतः सांस्कृतिक श्रेय के कुछ श्रेष्ठ रूपों में ग्राध्यात्मिक श्रेय के ग्राभास् मिलते हैं। **फिर भी ग्रपने पूर्ण रूप में ग्राध्यात्मिक श्रेय सांस्कृतिक श्रेय से भिन्न हैं। सांस्कृतिक श्रेय में ग्राध्यात्मिक भाव की विपुलता होते हुए भी प्राकृतिक विषय ग्रौर व्यक्तित्व का जो संश्लेष बना रहता है वह ग्राध्यात्मिक श्रेय में पूर्णतः विलीन हो जाता है। इस दृष्टि से ग्राध्यात्मिक श्रेय पूर्णतः ग्रलौकिक है।**

कला ग्रौर काव्य के साथ श्रेय के इन रूपों का क्या सम्बन्ध है, यह एक जटिल प्रश्न है। **इस प्रश्न का मर्म कला में रूप ग्रौर तत्व का स्थान है। कला सौन्दर्य की साधना है। सौन्दर्य 'रूप का ग्रतिशय' है। 'रूप' में ही कला का**

सौन्दर्य पूर्ण है। परिभाषा की दृष्टि से तत्व का संयोग कला के लिए आवश्यक नहीं है। वाद्य-संगीत और चित्रकला की अल्पनाओं की भाँति कला के ऐसे उदारहण भी मिल सकते हैं जिनमें सौन्दर्य का स्वरूप केवल 'रूप' में ही परिपूर्ण हो जाता है। यदि कला के सौन्दर्य को केवल 'रूप' में ही परिपूर्ण मानें तो किसी भी प्रकार के तत्व का संयोग सौन्दर्य के लिये अवान्तर है। **इस दृष्टि से सत्य और श्रेय दोनों ही 'तत्व' होने के कारण कला के अन्तःपुर में सहज प्रवेश के अधिकारी नहीं हैं।** कला के रूप में तत्व का संयोग सौन्दर्य का अनुग्रह है और उसकी साकार अभिव्यक्ति का व्यावहारिक माध्यम है। कला के व्यावहारिक रूपों में प्रायः सौन्दर्य के रूप के साथ सत्य और श्रेय के तत्वों का समन्वय मिलता है। अधिकांश कलाएँ इसी समन्वय में चरितार्थ होती हैं। सत्य के साथ सौन्दर्य का क्या सम्बन्ध है और इनके समन्वय की क्या कठिनाइयाँ हैं, इसका विवेचन 'सत्यम्' के प्रसंग में विस्तार-पूर्वक किया जा चुका है। यहाँ सौन्दर्य के साथ श्रेय के सम्बंध में कुछ संकेत करना हमें अभीष्ट है। **यह स्पष्ट है कि सौन्दर्य के रूप की तुलना में सत्य के समान श्रेय भी तत्व ही है।** अतः सौन्दर्य के साथ श्रेय के सामंजस्य की कठिनाइयाँ रूप और तत्व के समन्वय की सामान्य कठिनाइयाँ हैं। फिर भी सभी तत्व समान नहीं हैं। उनके रूपों में भिन्नता होने के कारण सौन्दर्य के साथ इनके समन्वय स्थितियाँ भी भिन्न बन गई हैं। प्राकृतिक सत्य की भाँति प्राकृतिक श्रेय भी एक प्रकार से उदासीन होता है। यह उदासीनता सौन्दर्य के साथ उनके समन्वय की स्थितियाँ भी भिन्न वन गई हैं। प्राकृतिक सत्य की भाँति प्राकृतिक श्रेय भी एक प्रकार से उदासीन होता है। यह उदासीनता सौन्दर्य के साथ इनके सामंजस्य की एक मौलिक कठिनाई है। **प्राकृतिक सत्य में प्रायः एक सहज रूप का सौन्दर्य होता है जो कला के रूप के साथ सत्य के सामंजस्य को सुगम बनाता है।** प्राकृतिक सत्य के रूप का यह सौन्दर्य प्रायः कला के रूप-सौन्दर्य की कमी को पूरा करता है। इसी कारण प्रकृति के वर्णन कला की दृष्टि से अधिक सुन्दर न होते हुए भी प्रायः प्रकृति के रूप-सौन्दर्य के कारण सुन्दर बन जाते हैं। **प्राकृतिक श्रेय में सहज रूप का सौन्दर्य नहीं होता।** प्राकृतिक श्रेय प्रकृति के उपादानों का उपभोग है। इस उपभोग में प्रकृति के उपादानों का रूप नष्ट होता है। फल-फूलों के भक्षण में उनका सौन्दर्य विनष्ट हो जाता है। **अतः एक प्रकार से प्राकृतिक श्रेय सौन्दर्य का विघातक है।** दूसरी ओर प्राकृतिक श्रेय सुखकर

होता है। साक्षात् अनुभव के अतिरिक्त कल्पना में भी वह सुख देता है। प्राकृतिक श्रेय के वर्णन कल्पना का सुख उत्पन्न करते हैं। इसीलिये इनको विषय बनाने वाली कृतियाँ लोक-प्रिय बन जाती हैं। **प्राकृतिक श्रेय के तत्व से निर्मित काव्य के सम्बन्ध में तत्व की कल्पना से प्रसूत सुख और अभिव्यक्ति के सौन्दर्य में विवेक करना आवश्यक है।** साहित्य के अनुरागियों और आलोचकों को प्रायः इस सम्बन्ध में भ्रम रहता है। यह भ्रम इस विवेक के महत्व को बढ़ाता है।

सामाजिक और सांस्कृतिक श्रेय में प्राकृतिक सुख के अतिरिक्त एक 'भाव' रहता है। चेतनाओं का पारस्परिक संवाद होने के कारण यह भाव **सौन्दर्य के स्वरूप के अधिक अनुकूल है।** अतः श्रेय के इन रूपों का सौन्दर्य के साथ सामंजस्य अधिक सुकर और सफल हो सकता है।

प्राकृतिक और सामाजिक श्रेय को विपुलता के साथ काव्य का विषय बनाया गया है। प्राकृतिक दृश्यों और मनुष्य के प्राकृतिक भावों के वर्णन काव्य में बहुत मिलते हैं। इनमें बहुत से वर्णन सुन्दर हैं। प्रकृति के वर्णनों में प्रकृति के रूप का सौन्दर्य साधारण वर्णनों को भी सुन्दर बनाता है। कालिदास और पंत के प्रकृति वर्णनों की भाँति जहाँ प्रकृति के रूप-सौन्दर्य के साथ अभिव्यक्ति का सौन्दर्य भी पर्याप्त है वहाँ प्रकृति के वर्णन चतुर्गुण सुन्दर बन गये हैं। प्राकृतिक भावों के वर्णनों में जीवन के अध्ययन और अनुभवों का एक सहज प्रभाव होता है। इसके साथ साथ जहाँ रामचरितमानस की भाँति अभिव्यक्ति पर्याप्त है वहाँ ये भावों के चित्रण प्रभावशाली होने के साथ साथ सुन्दर भी बन गये हैं। रामचरित मानस, कामायनी, कुरुक्षेत्र, पार्वती, उर्वशी, आदि काव्यों में गम्भीर सामाजिक तत्वों का समावेश हुआ है। इनमें 'पार्वती' का सामाजिक तत्व परिमाण में सबसे अधिक प्रचुर है, किन्तु कामायनी और उर्वशी में सौन्दर्य का समन्वय सबसे अधिक हुआ है। 'पार्वती' में सामाजिक श्रेय को प्रत्यक्ष और गम्भीर रूप में काव्य का विषय बनाया गया है। सांस्कृतिक श्रेय के प्रथक् रूप को विचारकों ने प्रायः कम महत्व दिया है। साहित्य और कला स्वयं संस्कृति का रूप हैं। उसमें साहित्य और कला के स्थान का प्रश्न ही एक प्रकार से असंगत है। कुछ सामाजिक और नैतिक आदर्शों को ही संस्कृति में प्रमुख समझा जाता है और साहित्य के सांस्कृतिक अध्ययनों में उनकी खोज की जाती है। ये आदर्श भी संस्कृति के तत्व हैं, किन्तु संस्कृति के सजीव रूप में ये तत्व विशेष 'रूपों' में साकार होते हैं। **तत्व और रूप का समन्वय संस्कृति को**

पूर्ण बनाता है। भारतीय परम्परा में पर्व, संस्कार, उत्सव, आदि के रूपों में संस्कृति के ये सजीव और साक्षात् रूप इतनी विपुलता के साथ मिलता है कि जितनी विपुलता के साथ अन्य किसी देश में मिलना कठिन है। फिर भी काव्य में सांस्कृतिक श्रेय के इन रूपों को बहुत कम स्थान दिया गया है। तुलसीदास के 'रामचरित-मानस' और कालिदास के काव्यों के अतिरिक्त संस्कृति के इन सजीव रूपों का प्रसंग काव्य में बहुत कम मिलता है। इस दृष्टि से कदाचित् कालिदास भारतवर्ष के सबसे अधिक सांस्कृतिक कवि हैं और रामचरित-मानस हिन्दी का सबसे अधिक सांस्कृतिक काव्य है।

आध्यात्मिक श्रेय एक अलौकिक और रहस्यमय तत्व है। उसकी अभिव्यक्ति कठिन है, क्योंकि वह स्वरूप से अनिर्वचनीय है। फिर भी शब्द में कुछ ऐसी अद्भुत शक्ति है कि वह अलौकिक और अनिर्वचनीय तत्व की भी अलक्षित रूप से व्यंजना करने में समर्थ है। फिर भी बहुत कम भाषाओं में आध्यात्मिक श्रेय को काव्य में स्थान दिया गया है। पश्चिमी भाषाओं के अधिकांश काव्य लौकिक विषय से ही सम्बन्ध रखते हैं। पश्चिमी देशों में अध्यात्म की साधना को भी अधिक महत्व नहीं दिया गया है। भारतवर्ष में अध्यात्म की साधना बहुत गम्भीरता के साथ हुई है। अतः भारतीय संस्कृति में भी अध्यात्म को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। 'सत्यम्' के प्रसंग में हमने जिसे आध्यात्मिक सत्य कहा है वह आध्यात्मिक श्रेय से भिन्न नहीं है। दार्शनिक विवेचन का विषय बनकर अध्यात्म 'सत्य' बन जाता है। वही हमारी साधना का लक्ष्य बनकर 'श्रेय' कहलाता है। भारतवर्ष में अध्यात्म का विवेचन और साधन बहुत हुआ है, किन्तु इसके साथ २ काव्य में इसकी अभिव्यक्ति भी बहुत हुई है। अध्यात्म का जितना काव्य भारतवर्ष में मिलता है उतना अन्यत्र मिलना कठिन है। संस्कृत भाषा में अध्यात्म का काव्य अधिक विपुल है। इसके साथ साथ वह बहुत सुन्दर भी है। शैव-तन्त्र और वेदान्त की परम्परा में यह काव्य अधिक मिलता है। भक्ति का काव्य भी संस्कृत में बहुत है। हिन्दी में अध्यात्म का काव्य तो अधिक नहीं मिलता, किन्तु भक्ति का काव्य प्रचुरता से मिलता है। आधुनिक हिन्दी के रहस्यवादी काव्य में अध्यात्म का पुट अधिक है। महादेवी वर्मा के गीतों में अध्यात्म की अत्यन्त सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। रवीन्द्रनाथ का आध्यात्मिक काव्य हिन्दी के इस काव्य की प्रेरणा है। अध्यात्म के भाव में एक अद्भुत मार्मिकता होती है। अध्यात्म की कोटि पर पहुँच कर भाव इतना तीव्र

श्रौर प्रबल बन जाता है कि उसकी व्यंजना एक सहज सुन्दर रूप में होती है। सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई, रवीन्द्रनाथ श्रौर महादेवी के गींतों में इस अध्यात्म का सौन्दर्य अवलोकनीय है। एक ओर अध्यात्म के भाव अनिर्वचनीय होते हैं किन्तु दूसरी ओर अध्यात्म का भाव शिव के समान शक्ति के साथ अभिन्न होने लगता है। उसका मर्म अनिर्वचनीय रहते हुए भी वह उसी प्रकार सहज रूप में व्यक्त होता है जिस प्रकार शिव का तत्व शक्ति के द्वारा विश्व में विवृत होता है। प्राकृतिक श्रौर सामाजिक तत्वों को रूप के साथ भाव का यह तादात्म्य इतना सुलभ नहीं है। एक प्रकार से श्रेय के सभी रूप किसी न किसी परिमाण में अध्यात्म के भाव श्रौर रूप के इसी तादात्म्य को प्राप्त कर अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से अलंकृत होते हैं। केवल इतना अन्तर है कि आध्यात्मिक काव्य में वह तादात्म्य काव्य के स्वरूप में समाहित हो जाता है, वहाँ प्राकृतिक श्रौर सामाजिक श्रेयों के प्रसंग में वह तादात्म्य काव्य के स्वरूप में समाहित नहीं होता वरन् वह केवल कवि का अन्तर्भाव रहता है। काव्य में समाहित होने पर वह तादात्म्य प्राकृतिक श्रौर सामाजिक श्रेय को भी 'भाव से' सांस्कृतिक बना देता है। यद्यपि इसमें संस्कृति के रूप का अनुष्ठान नहीं होता तथा संस्कृति श्रौर कलात्मक अभिव्यक्ति दोनों के सौन्दर्य के समागम से वह चतुर्गुण सुन्दर बनता है।

अध्याय ३०

काव्य और शिवम्

सत्य के जिस व्यापक और पूर्ण अर्थ का पिछले अध्यायों में निर्देश किया गया है तथा जिसकी कल्पना कुछ तत्व दर्शनों में अन्तिम सत्य के रूप में की गई है, वह केवल जिज्ञासा का समाधान करने वाला उदासीन सत्य नहीं है वरन् वह जीवन के तत्व और लक्ष्य का ऐसा समग्र रूप है जिसमें जीवन की पूर्णता और मनुष्य की समस्त आकांक्षाओं की परितृप्ति होती है। **यह स्पष्ट है कि बौद्धिक सत्य के अतिरिक्त जीवन का श्रेय और सौन्दर्य भी सत्य की इस व्यापक कल्पना में समाहित है।** जिन दर्शनों में सत्य के इस पूर्ण रूप का प्रस्ताव किया गया है, वे उसे पूर्ण निरपेक्ष सत्य अतः बुद्धि, कर्म और कल्पना की सापेक्ष कोटियों से परे मानते हैं। सत्य होते हुए भी यह बौद्धिक सत्य से भिन्न है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय के भेद के लिए स्थान नहीं है। इसी प्रकार इसमें श्रेय का समाहार होते हुए भी यह शुभ और अशुभ असिद्ध और साध्य, स्व और पर आदि की सापेक्ष कोटियों से अतीत है। सुन्दरम् के साथ इसके सम्बन्ध के विषय में अधिक विवेचन नहीं है, फिर भी यह स्पष्ट है कि सुन्दर और असुन्दर, द्रष्टा और दृश्य आदि के सापेक्ष भेदों से वह परे है। ऐसा पूर्ण और निरपेक्ष सत्य वेदान्त के ब्रह्म के समान एक और अनन्त ही हो सकता है। व्यवहार में उसकी चर्चा भी उपचार मात्र है। ऐसे पूर्ण सत्य के समग्र रूप में सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् के स्वरूप का विविक्त निरूपण सम्भव नहीं है, वह एक साथ सत्य, शिव और सुन्दर है। उसमें सत्य, शिव और सुन्दर एक रूप हो जाते हैं। वेदान्त का ब्रह्म सत्य की ऐसी ही कल्पना है।

किन्तु दर्शन, साहित्य और व्यवहार में सत्य, शिव और सुन्दर का प्रयोग भिन्न अर्थों में किया जाता है। वे एक नहीं हैं। ऐसे प्रयोग में सत्य का अभिप्राय तथ्य और सिद्धान्त के उन अनेक रूपों से है जिनका अनुसंधान मनुष्य की जिज्ञासा तटस्थ भाव से करती है और जिनकी अवगति से उसे प्रकाश और प्रसाद मिलता है। **शिवम् और सुन्दरम् केवल अवगति के विषय नहीं हैं। उनमें हमारी चेतना की भावनामय आकांक्षा अपना आनन्द खोजती है। यद्यपि शिवम् और**

सुन्दरम् दोनों की कल्पना कुछ विद्वानों ने व्यक्तिगत भावों के रूप में की है, किन्तु वस्तुतः उनका स्वरूप व्यक्तित्व में सीमित नहीं है। व्यक्तित्वों में केन्द्रित चेतनाओं के सम्पर्क, सम्प्रेषण और संवाद में ही शिवम् और सुन्दरम् के भाव साकार होते हैं। समात्मभाव को हम दोनों का सामान्य स्वरूप कह सकते हैं। जब दो या अधिक चेतनाएें एक दूसरे की भावविभूति में परस्पर भाग लेती हैं, तो शिवम् और सुन्दरम् का उदय होता है। एक चेतना का दूसरी चेतना के सृजनात्मक विकास और निर्माण में आत्मीय भाव से योग विशेष रूप से 'शिवम्' कहा जा सकता है। अपनी भाव-सम्पत्ति की दूसरे के प्रति अभिव्यक्ति 'सुन्दरम्' का विशेष स्वरूप है। यह अभिव्यक्ति अर्थ का अवबोधन नहीं (वह सत्य की सीमा के अन्तर्गत है), वरन् आकृति की व्यंजना है। इस आकृति की व्यंजना के रूप में अभिव्यक्त होने पर ही समात्मभाव विशेष रूप से सुन्दरम् का रूप ग्रहण करता है।

सुन्दरम् में अपनी अनुभूति और आनन्द का दूसरों को भोगी बनाने की प्रेरणा होती है। इस प्रेरणा से अहंकार और स्वार्थ का परार्थ और पारस्परिकता में विस्तार होता है। फिर भी अनुभूति के मर्म में अहंकार का केन्द्र बना रहता है। अभिव्यक्ति के रूपों में यह अहंकार का केन्द्र कला और काव्य के उद्गम के रूप में रहता है। सुन्दरम् की स्थिति में व्यक्तित्व के मूल को त्यागने की आकांक्षा नहीं होती। यदि प्रकृति के दिव्य सौन्दर्य अथवा ईश्वर के अलौकिक सौन्दर्य में यह सुन्दरम् उदात्त बन जाता है तो विस्मय और भय का उदय होने पर अहंकार के केन्द्र का विलय सम्भव होता है। उदात्त के प्रति श्रद्धा, भय, विस्मय, आकर्षण आदि में अहंकार का समर्पण सुन्दरम् की सीमा लांघ कर एक दूसरे क्षेत्र में आजाता है। उदात्त के प्रति यह समर्पण की भावना शिवम् के प्रति हमारी भावना के इस अर्थ में समान है कि दोनों में ही हम अहंकार के केन्द्र से बाहर आकर अहंकारातीत तत्वों के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं। किन्तु इन तत्वों के स्वरूप और इनके साथ हमारे सम्बन्ध में अन्तर है। उदात्त के प्रति हमारा सम्बन्ध समर्पण का सम्बन्ध है और उसमें हमारी श्रद्धा के साथ-साथ उस तत्व के भय एवं विस्मयकारी रूप का भी प्रभाव है। अतः हमारी श्रद्धा के साथ-साथ हमारी विवशता और उस तत्व के चमत्कार का भी प्रमाण है। इसीलिए यह भावना धार्मिक सम्प्रदायों में ही अधिक पाई जाती है। जहाँ वह काव्य में मिलती है वहाँ उस काव्य का रूप धार्मिक भावना के ही अधिक निकट है। इसीलिए कवियों में प्रायः यह भावना

अन्तिम वय में पाई जाती है। अस्तु एक प्रकार से उदात्त के प्रति समर्पण का भाव वृद्धत्व का लक्षण है। रामचरित मानस, विनय पत्रिका, गीतांजलि, सूर के विनय के पद तथा आधुनिक रहस्यवादी कवियों के कुछ समर्पण शील गीत तथा संस्कृत के आचार्यों और भक्तों के स्तोत्र आदि रचनाएें इसी कोटि के अन्तर्गत हैं।

इसके विपरीत **शिवम् में दूसरों की अनुभूति तथा उनके सुख-दुख और आनन्द में भागी बन कर उन्हें सहयोग का रस और ओज देने की भावना होती है। सुन्दरम् में रसानुभूति का वितरण और प्रदान प्राप्ति का साधन बनता है। शिवम् में परानुभूति की प्राप्ति प्रदान का साधन बनती है।** परानुभूति के भागी बनने की प्रेरणा हमें अहंकार के केन्द्र से बाहर लेजाती है। शिवं के भाव की यह गति आत्मतंत्र है परतंत्र नहीं। अहंकार का अतिक्रमण कर और दूसरों के साथ समात्मभाव हमारी स्वच्छन्द चेतना के स्वतंत्र विस्तार का फल है। इसमें भक्ति का भय विस्मय और आकर्षण कारण नहीं है वरन् प्रेम और सौहार्द की कोमल करुणा कारण है। **धर्म की उपासना और शिव-भाव की मंगल साधना में यही अन्तर है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार अवगति सत्यम् का स्वरूप है, उसी प्रकार अभिव्यक्ति सुन्दरम् का तथा रचनात्मक आत्मदान शिवम् का स्वरूप है।** अभिव्यक्ति को भी हम मानसिक भाव-सृष्टि कह सकते हैं, किन्तु वह पूर्णतः आत्मगत रचना है। इसीलिए चेतना के स्वरूप को मूलतः रचनात्मक मानते हुए भी प्रसिद्ध इटैलियन दार्शनिक क्रोचे का कला-सिद्धान्त अभिव्यंजनावाद कहलाता है। जिस भाव-सृष्टि को क्रोचे चेतना का स्वरूप मानते हैं वह चेतना की आन्तरिक और आत्मगत अभिव्यक्ति ही है। **इसके विपरीत शिव की सृष्टि न केवल भावगत है और न केवल आत्मगत। सृजन का मूल और सर्वोत्तम रूप तो स्रष्टाओं का सृजन है।** शिव-पार्वती की पुण्य कथा में कुमार-सम्भव का यही रहस्य है। विष्णु और उनके अवतारों में शिवत्व के इस तत्व का अभाव है। स्रष्टाओं का स्रष्टा होने के कारण ही परमात्मा 'कवि पुराण' कहलाता है। स्रष्टाओं का सृजन केवल प्राकृतिक धर्म नहीं वरन् एक पूर्ण सांस्कृतिक धर्म है। सम्भूत कुमारों तथा अन्य व्यक्तियों के मन और जीवन में एक प्रेरणामयी भाव सृष्टि के बिना यह सृजन का प्राकृत धर्म पूर्ण नहीं हो सकता। कौषीतकी उपनिषद् में पुत्र को आत्मा मानने का यही आशय है। ब्रह्मा के द्वारा प्रजापतियों की मानसी सृष्टि का भी यही रहस्य है।

प्राकृत सृष्टि भाव सृष्टि का एक प्राकृत आधार है। इस भाव सृष्टि के वैभव से ही प्राकृत सृष्टि सार्थक होती है। इसी की प्रेरणा से सामाजिक सम्बन्धों और व्यवहारों के भाव-प्रवण रूपों में सृजन का धर्म समृद्ध और पूर्ण होता है। स्रष्टाओं का सृजन भाव-कोटि तक न आ सकने के कारण प्रकृति का सृजन-धर्म सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में ही सीमित रह गया। इसीलिए प्रकृति के विकास-क्रम को भाव-सृष्टि में पूर्ण बनाने के लिए प्रकृति को मनुष्य की समृद्ध चेतना की अपेक्षा हुई।

सृजन के इन त्रिविध रूपों में ही शिव की कल्पना पूर्ण होती है। इनमें स्रष्टाओं की प्राकृत सृष्टि मंगल-परम्परा का प्राकृत आधार है। सामाजिक सम्बन्धों और आर्थिक व्यवस्थाओं की रचना जीवन और जगत में उसका उपयोगी और अनुरूप आकार है। **किन्तु शिवत्व का मर्म भाव-सृष्टि ही है। इस भाव-सृष्टि का स्वरूप दूसरों के भाव में अपने भाव का योग देकर उसे समर्थ और सम्पन्न बनाना है।** इसे केवल अभिव्यक्ति नहीं कह सकते। मूलतः यह अहंकार से अतीत एक व्यापक भाव-लोक की रचना है। यदि इसे हम अभिव्यक्ति भी मानें तो इसका तात्पर्य शिवम् में सुन्दरम् का समन्वय ही होगा। यदि सत्य की अवगति के अभिव्यक्ति और प्राप्ति के दोनों पक्षों का समाहार भी भाव-सृष्टि के आलोक के रूप में कर लिया जाए तो शिवम् के इस रूप में सत्यम् और सुन्दरम् दोनों का समन्वय हो जाता है। **किन्तु जीवन और संस्कृति की इस कल्पना में शिवभाव ही प्रमुख है।** सत्य उसका आधार और सुन्दरम् उसका सौन्दर्य है। सृष्टि-विधान की पौराणिक कल्पना में क्षीर-सागर में शेष-शय्या पर विष्णु के आसन, उनके नाभि कमल पर ब्रह्मा की स्थिति तथा शेष फणों पर स्थित पृथ्वी के कैलाश शिखर पर शिव के सर्वोच्च आसन का यही रहस्य है। क्षीर सागर सृजन की मातृ शक्ति का अनन्त प्रतीक है। इसी रहस्य को भुलाकर भारतीय संस्कृति पथभ्रष्ट हुई तथा भारतीय समाज पराजित हुआ। दोनों की इस अधोगति से प्रभावित साहित्य भी जीवन और संस्कृति की इस पूर्ण और मंगलमयी कल्पना का कोई महत्व पूर्ण प्रतिष्ठान हमें न दे सका। 'कुमारसम्भव' और 'किरातार्जुनीय' की कुछ आंशिक कल्पनाओं को छोड़कर हिन्दी और संस्कृत के समस्त काव्य में शिव-कथा पर आश्रित कृतियों का अभाव इस धारणा का प्रमाण है।

सामान्यतः आत्मदान ही शिवम् का वास्तविक स्वरूप है। किन्तु उपदेश,

अनुग्रह, उपकार, आदि अनेक रूपों में आत्मदान का व्यवहार होता है। शरीर और व्यक्ति के प्राकृतिक और सीमित हित भी श्रेय के अन्तर्गत गिने जाते हैं। दर्शन-काव्य और जीवन सभी में इस व्यापक और इन विविध अर्थों में शिवम् का प्रयोग हुआ है। अतः शिवम् के इन विभिन्न रूपों की शिवम् के सामान्य रूप में स्थिति और काव्य में उनके स्थान का विवेचन आवश्यक है। **आत्मदान की सृजनात्मक प्रेरणा के द्वारा लोक-मंगल की परम्पराओं को दृढ़ बनाना ही सांस्कृतिक साधना है।** व्यक्ति अथवा कर्त्ता की दृष्टि से प्रकृति की मर्यादा और चिन्मय भावना का उत्कर्ष ही इस साधना का लक्षण है। किन्तु जीवन की चेतना व्यक्ति में सीमित नहीं है, अतः चिन्मय भावना का उत्कर्ष पारिवारिक और सामाजिक जीवन में उसका विस्तार है। वस्तुतः यह विस्तार चेतना का स्वरूप और धर्म है। सत्य की दृष्टि से यह अवगति के आलोक का विस्तार है। सत्य की अवगति के बाह्य तथा निरपेक्ष उपादानों का ग्रहण करके चिन्मय भावों का आन्तरिक निर्माण चेतना का आत्मगत धर्म है। क्रोचे की कलात्मक अभिव्यक्ति का यही रूप है। इसमें सुन्दरम् की आत्म-गत अभिव्यक्ति होती है। इस आत्मगत अभिव्यक्ति में एक अपूर्व आह्लाद का उदय होता है। इस आह्लाद में एक आमन्त्रण है। यही आन्तरिक आह्लाद दूसरों को कलाकार के अनुभव में भाव लेने के लिये आमन्त्रित करता है। यही आमन्त्रण सामाजिक सुन्दरम् का सिद्धान्त है। परार्थ का प्रसंग होने के कारण इस अभिव्यक्ति और आमन्त्रण में भी शिवं का बीज है। किन्तु शिवं का स्वरूप आत्म-दान है। सृष्टाओं के सृजन की जो परम्परा लोक-मंगल की सरणि है उसका सिद्धान्त आत्मदान ही है। व्यक्ति की साधना में चिन्मय भावना का उत्कर्ष इसी आत्मदान में पूर्ण और कृतार्थ होता है। साधना का शिवत्व इसी में सार्थक होता है। यह आत्मदान कर्त्ता की दृष्टि से आत्मा का विस्तार है किन्तु ग्राहक की दृष्टि से उसकी चेतना के स्फुरण, जागरण, उत्कर्ष और भाव सम्पन्नता आदि में कर्त्ता की चेतना का स्वतंत्र, सरल तथा स्नेह और सद्भाव पूर्ण योग है। **भाव की सृष्टि ही अभिव्यक्ति में सुन्दरम् और आत्मदान में शिवम् बन जाती है।** सुन्दरम् की अभि-व्यक्ति का स्वरूपगत पर्यवसान कर्त्ता और ग्रहीता का आह्लाद है। सामान्यतः कला का अनुराग हमें कला का सृष्टा नहीं बनाता किन्तु कोई भी मांगलिक आदर्श हमें व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में निर्माण की प्रेरणा देता है। सुन्दरम् की अभिव्यक्ति भी सुन्दरम् के नवीन सृजन की प्रेरणा बन

सकती है, किन्तु तब सुन्दरम् में शिवत्व की स्फूर्ति का आरम्भ हो जाता है। सृजन की प्रेरणा शिवं का स्वरूप है। आत्मदान इस सृजनात्मक प्रेरणा का ही सिद्धान्त है। इसी के द्वारा सांस्कृतिक सृजन की परम्परा का विकास होता है। प्राकृतिक सृजन में भी शुक्र-बीज आत्मदान के द्वारा ही सृष्टि के सौन्दर्य की सृजनात्मक परम्परा का पोषण करते हैं। **सुन्दरम् की सृष्टि में शिवं का ही बीज है।** अहंकार और व्यक्तित्व का आत्म विस्तार तथा दूसरे की चेतना के उत्कर्ष में सहयोग ही आत्मदान का मर्म है। उसमें अभिव्यक्ति का आह्लाद एक सामाजिक आनन्द बन जाता है।

कर्त्ता की दृष्टि से आत्मदान शिवं का स्वरूप है। किन्तु ग्राहक की दृष्टि से शिवं का तात्पर्य उसके व्यक्तित्व और भावों का सम्मान तथा स्वतन्त्रता है। वस्तुतः इस आत्मदान में इतना एकात्मभाव रहता है कि 'स्व' और 'पर' का भेद इसमें कृत्रिम और भ्रान्तिकारक है। इन सीमाओं को भंग करके ही आत्मदान का आरम्भ होता है और एक असीम एकात्मभाव में वह फलित होता है। यही भाव उपनिषदों का 'भूमा' है। यही आध्यात्मिक आनन्द का अक्षय स्रोत है। हम इसे समात्मभाव कह सकते हैं।

किन्तु व्यवहार के लिए हमें शिवं के तत्व-विवेचन में 'स्व' और पर का भेद करना पड़ता है। अहंकार और व्यक्तित्व की जो सीमाएँ हमारे विचार और व्यवहार में रूढ़ होगई हैं उनको ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक है। हमारे सामान्य व्यवहार और विचार में स्व और पर का सम्बन्ध प्रायः रहता है। इतना अवश्य है कि निश्चत रूप में यह 'स्व' और 'पर' विचार के प्रत्याहार हैं। इनके समानार्थक कोई निश्चित और सीमित तत्व हमारे व्यक्तित्व में नहीं होते। केवल प्राकृतिक और शारीरिक श्रेत्र में इनका निश्चित अर्थ है। इसका कारण यह है कि देश और काल की सीमा में परिच्छिन्न होने के कारण शरीर और भौतिक वस्तुओं के क्षेत्र में तादात्म्य नहीं होता। तादात्म्य का आरम्भ होते ही 'स्व' और 'पर' की निश्चित सीमाएँ विलय होने लगती हैं। यह भाव-क्षेत्र की बात है। 'भाव' देश-काल के प्राकृतिक विधानों का दास नहीं है। प्राकृतिक तत्वों के विपरीत भाव-क्षेत्र में यौगपद्य, विस्तार और वृद्धि सम्भव है। संभव ही नहीं, ये भाव के स्वभाव हैं। भाव की इस शक्ति में 'स्व' और 'पर' केवल अवगम के मर्यादा-बिन्दुओं के रूप में शेष रह जाते हैं। वे औपचारिक हैं, वास्तविक नहीं। इन्हीं

विन्दुओं को संकेत करके सुन्दरम् को अभिव्यक्ति और शिवं को आत्मदान कहा गया है।

'भाव' आत्मगत चेतना में अनुभूति की सजग और सजीव वृत्ति का उद्भावन है। प्राकृतिक वृत्तियों का संवेदनात्मक भाव एक विशेष स्थान रखता है। काव्य में भी सम्वेदना के सूचक शब्द कल्पना में इसका उद्भावन करते हैं। किन्तु भाषा में ऐसे शब्दों की भी प्रचुरता है जो संवेदना में रूढ़ नहीं हैं। इसके अतिरिक्त वाक्य और पद में एक शब्दातीत व्यंजना रहती है। जिसके अर्थ का स्फोट अतीन्द्रिय चेतना में ही होता है। **भाव का यह अतीन्द्रिय क्षेत्र ही कला और संस्कृति का मुख्य विषय है।** अतीन्द्रिय होने के कारण यह प्रकृति के नियमों से परे है। व्यक्ति के केन्द्र में इन अतीन्द्रिय भावों का उदय आरम्भ से ही इन नियमों का अतिक्रमण है। भाव की आत्मगत अनुभूति में भी इतना विस्तार और इतनी तन्मयता होती है कि इस स्वगत भाव में भी देश, काल और अहंकार की सीमाओं का विस्मरण हो जाता है। यह विस्तार स्वप्रकाश चेतना के जाग्रत भाव का सहज स्वभाव है। **सुन्दरम् और शिवं हमारे भाव-लोक की इसी भूमि में उदित होते हैं। जहाँ हम अपने इस भाव-लोक की विभूति में भाग लेने के लिए दूसरों का आमंत्रण करते हैं वहाँ सुन्दरम् की अभिव्यक्ति होती है और जहाँ हम दूसरों के भाव-लोक में अपनी आत्मा की विभूति का योग देते हैं वहाँ शिवं की सृष्टि होती है।** स्नेह, सहानुभूति, सेवा आदि शिवं के अनेक रूप हैं, किन्तु इन सभी रूपों में आत्मदान का भाव समान रूप से व्याप्त है। अभिव्यक्ति के आमंत्रण में भी दूसरे का सम्मान है फिर भी अभिव्यक्ति के मूल में आत्म गौरव की भावना भी छिपी रहती है। यह अहंकार का सरल और सुन्दर रूप है। समस्त कला कृतियों में कृतित्व का अभिमान इसका प्रमाण है कि अहंकार का यह रूप सुन्दरम् के स्वरूप का अंग है। प्राचीन भारत की कुछ कला, काव्य, धर्म, दर्शन आदि की कृतियां ऐसी हैं जिनमें अहंकार के इस श्लेष का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। महान् कृतियों में प्रक्षेप करने वाले तथा महान् आचार्यों के नाम से अपने ग्रन्थ छोड़ने वालों में तो इस सरल अहंकार का और भी तीव्र मोह छिपा हुआ था। ऐसी अनाम रचनाएँ कला और काव्य के क्षेत्र में कम मिलती हैं, धर्म और दर्शन के क्षेत्र में अधिक। इसका कारण यह है कि कला में सुन्दरम् की अभिव्यक्ति का इस सरल और मृदुल अहंकार से कोई विरोध नहीं है। वेद के मंत्रों में भी ऋषिकुलों के

कृतित्व का भाव कुल परम्पराओं में व्यापक बन गया। कुल परम्परा एक स्मरण मात्र है, अहंकृतित्व के रूप में नहीं। लोक-गीतों और लोक-साहित्य में ही इसका पूर्ण अभाव मिलता है। **इसका कारण यह है कि लोक-साहित्य में अभिव्यक्ति और आत्मदान, सुन्दरम् और शिवम् एकाकार हो जाते हैं।** महाभारत, पुराण आदि भी लोक-साहित्य के ऐसे महासागर हैं जिनमें अहंकार के अगणित बिन्दु विलय हो जाते हैं।

आत्मदान का आरम्भ इस अहंकार की बिन्दु के विलय से ही होता है। इस विलय की भूमिका में कर्त्ता का आत्मगत भाव दूसरे के भाव लोक में एकात्मक होने के लिए आकुल हो उठता है। यदि व्यक्तियों के सम्बन्ध की दृष्टि से इसका औपचारिक विवेचन करें तो यह स्पष्ट है कि जहाँ अभिव्यक्ति के आमंत्रण में दूसरे के प्रति सम्मान का सहज भाव है वहाँ उसमें आत्म गौरव के अहंकार का एक सूक्ष्म अनुरोध भी है। इसके विपरीत आत्मदान में दूसरे का सम्मान समानता से भी अधिक है। जहाँ यह भाव-योग, शिक्षा, उपदेश, आग्रह, आरोपण आदि के रूप में होता है वहाँ शिवं का वास्तविक स्वरूप उद्घाटित नहीं होता। यह आत्मदान की अपेक्षा आरोपण अधिक है। आत्मदान का यह रूप सभ्यता के इतिहास में अमंगल का कारण ही अधिक बना है। धर्म और राजनीति के इतिहास इसके प्रमाण हैं। **शिवं के आत्मदान का वास्तविक रूप शिक्षा, उपदेश, आग्रह, आरोपण आदि से रहित भाव-योग है। व्यावहारिक दृष्टि से हम इसे सहयोग कह सकते हैं। स्नेह इसका अन्तर्भाव है। स्वतंत्रता इसकी नीति है। यह स्वतंत्रता एक उभयपदी वृत्ति है।** कर्त्ता की ओर से प्रकृति की प्रेरणा अथवा आकांक्षा से रहित होकर चेतना के सहज भाव का स्वतंत्र विस्तार होने पर तथा ग्राहक की दृष्टि से उसके स्वातंत्र्य में भंग न करने पर ही यह भाव-योग वास्तविक आत्मदान बनता है। इसे आत्मा का भाव-सहयोग कहें तो अधिक उचित होगा। साधना इस भाव-योग की व्यक्तिगत भूमिका है। सामाजिक जीवन में यह साधना आत्म-दान की प्रणाली बन जाती है। प्रेम इसका स्वरूप है। तादात्म्य अथवा एकान्त इसका चिन्मय भाव है। सहानुभूति, समानुभूति आदि से पृथक करने के लिए हम इसे समात्मभाव की सम्भूति कह सकते हैं। शिव के जीवन में ये साधना और प्रेम पूर्णतः चरितार्थ हुए हैं। इसीलिए शिव साकार मंगल हैं।

सत्य काव्य का आधार अवश्य है किन्तु वह उसका सर्वस्व नहीं है। सत्य

का अनुसंधान विज्ञान और दर्शन का विषय है। सत्य के आधार काव्य के उपादान बन सकते हैं। किन्तु केवल सत्य से काव्य के स्वरूप का निर्माण नहीं होता। सत्य के अतिरिक्त शिव और सुन्दर का भी काव्य में समवाय होता है। कुछ कलावादी सम्प्रदाय केवल सौन्दर्य को कला का लक्ष्य मानते हैं। उनकी दृष्टि में कला और कविता का कोई अन्य प्रयोजन नहीं है। केवल सुन्दर अभिव्यक्ति में कला और काव्य की कृतार्थता है। कला कला के लिए है, किसी अन्य प्रयोजन के लिए नहीं। किन्तु विश्व के सभी महान् कवियों की कृतियाँ इस बात के उदाहरण हैं और यही काव्य की प्राचीन परम्परा है कि **उत्तम काव्य सत्य पर आश्रित होता है और जीवन का श्रेय उसका लक्ष्य है।** काव्य-प्रकाशकार ने निःश्रेयस को काव्य का अन्तिम लक्ष्य माना है। उसे उन्होंने 'पर-निर्वृति' की संज्ञा दी है। समस्त भारतीय परम्परा में काव्य में शिव तत्व को महत्व दिया गया है। लोक-मंगल और निःश्रेयस दोनों का समवाय काव्य के प्रयोजन में माना गया है। वाल्मीकि के आदि काव्य से लेकर संस्कृत के सभी काव्यों में किसी न किसी रूप में मंगल का समावेश है। कविता केवल वाणी का विलास नहीं है। कालिदास के काव्य में सौन्दर्य के वाणी विलास के साथ जीवन के मांगलिक तत्वों का भी सन्निवेश है। विश्व के सभी महान् कवियों की कृतियाँ मांगलिक लक्षण से परिपूर्ण हैं। हिन्दी में 'रामचरित मानस', 'कामायनी' आदि महान् कृतियों में जीवन के मंगल की प्रधानता है। 'रामचरितमानस' में भक्ति के रूप में इस मंगल की प्रतिष्ठा की गई है। 'कामायनी' में एक मनोवैज्ञानिक विकास की भूमिका में जीवन की आनन्दमयी परिणति का चित्रण किया गया है। 'पार्वती' महाकाव्य में एक विराट सामाजिक भूमिका में लोक-मंगल और आध्यात्मिक श्रेय की समन्वित प्रतिष्ठा की गई है।

सत्य की भाँति शिव के भी अनेक रूप हैं। शरीर और इन्द्रियों के सुख से लेकर सामाजिक शान्ति और आध्यात्मिक आनन्द तक जीवन के अनेक लक्ष्यों के रूप में कल्याण की कल्पना की गई है। इन सभी में जीवन का कुछ न कुछ हित निहित है। यदि काव्य जीवन की व्यापक अभिव्यक्ति है तो यह स्पष्ट है कि इन सभी का काव्य में स्थान है। जीवन-दर्शन और काव्य दोनों में मूल प्रश्न यही है कि जीवन की मंगलमयी व्यवस्था में इनका क्या स्थान और महत्व है। जीवन की एक प्रगतिशील परम्परा में इनका क्रमागत सहयोग क्या है? इन विभिन्न लक्षणों की

क्या मर्यादा है ? जीवन के अन्तिम लक्ष्य का रूप क्या है और उस लक्ष्य में अन्य सभी लक्ष्यों का अन्वय किस प्रकार हो सकता है ? संक्षेप में जीवन के लक्ष्यों की एक मंगलमयी और समन्वित व्यवस्था का रूप क्या है ? अन्तिम प्रश्न यह है कि शिव तत्व का कविता से क्या सम्बन्ध है ? काव्य के स्वरूप में अन्वित होकर किस प्रकार शिव उसका उपादान बनता है ? **'शिवम्' काव्य का अंग अथवा उपादान ही है या 'शिव काव्य' का कोई अपना स्वतंत्र स्वरूप भी है।** इन सब प्रश्नों का उत्तर भी कविता के स्वरूप, शिव की परिभाषा और जीवन के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। कविता की कोई भी सर्वमान्य परिभाषा करना कठिन है। किन्तु उसके उद्गम के सम्बन्ध में सभी एकमत हैं। हृदय की मर्ममयी अनुभूति में कविता का उद्रेक होता है। अनुभूति की ऊष्मा से द्रवित होकर कवि का हृदय-हिमाचल सहस्र धाराओं में फूट पड़ता है। कविता इसी भाव-प्रवाहिनी का प्राण संगीत है। इन्हीं सहस्र धाराओं के सम्मिलन से निर्मित और कवि की भागीरथी साधना से भाषा की भूमि पर अवतरित पुण्य-प्रवाहा भागीरथी कविता की अमृत परम्परा है। सभी महान् कवियों की कविता का आरम्भ और उसकी प्रगति इसी भागीरथी के अनुकूल है। विश्व का काव्य ऐसी अनेक धाराओं के संगम का महातीर्थ है।

आदि कवि वाल्मीकि की वाणी इसी करुणामयी अनुभूति से सहसा द्रवित होकर फूट पड़ी थी। रामायण नहीं वरन् क्रौंच-मिथुन की सम्वेदना से प्रसूत वाल्मीकि का प्रसिद्ध श्लोक वास्तविक आदिकाव्य है। जैसा की ध्वन्यालोककार ने कहा है "शोकः श्लोकत्व मागतः"। कवि की शोक-मयी करुणानुभूति श्लोक के रूप में मूर्त होकर मुखरित हो उठी थी। वही आदि कविता थी पत्नी की भर्त्सना से विचलित होकर तुलसी की मर्म-वेदना राम-चरित के रूप में मुखरित हुई। कवि प्रसाद की घनीभूत पीड़ा आँसू बनकर बरस पड़ी। उन्हीं आँसुओं का संचय कामायनी में प्रवाहित हुआ। कवि पन्त के वियोगी कवि की आह ही गान बन कर गुंजित हो उठी। 'युगान्त' के बाद 'स्वर्ण धूलि' और 'स्वर्ण किरण' में भी उस गुंजन की प्रतिध्वनि है। 'निराला' के काव्य में उनके जीवन की महती वेदना ही सहस्र धाराओं में फूट पड़ी है। महादेवी के गीतों में मीरा की अन्तर्वेदना मुखरित हो उठी है। विदेशी कवियों में भी कविता का उद्गम प्रायः इसी मर्म भावना में मिलेगा। बीएट्रिस के वियोग की मर्म

वेदना ने दांते के महाकाव्य (डिवाइन कौमेडी) का रूप लिया। गेटे और शेक्स-पियर के काव्य में भी एक व्यापक और गम्भीर अनुभूति का विस्तार है।

व्यक्तिगत होते हुए भी कवि की अनुभूति व्यापक होती है। कवि की वेदना समवेदना बनकर कविता को समाज की विभूति बनाती है। इसीलिए मूलतः 'स्वान्तः सुखाय' होते हुए भी कविता को पूर्णतः व्यक्तिगत नहीं माना जा सकता। अपनी अनुभूति से उदित होकर कविता की धारा जीवन की भाव-भूमि पर प्रवाहित होती है। कवि की वेदना के स्रोत में लोक जीवन की अनेक अनुभूतियाँ संवेदना के स्रोत बन कर मिल जाती हैं और इन सबके संगम से ही काव्य की लोक-मंगला भागीरथी का प्रवाह बनता है। अतः अनुभूति कविता का उद्गम है, संवेदना उसका विकास है, लोक जीवन उसकी भाव-भूमि है जिस पर कविता की व्यापक धारा प्रवाहित होती है। **यह अनुभूति वस्तुतः कवि के एकान्त और अहंकार में सीमित अनुभूति नहीं, वरन् समात्मभाव की सम्भूति है।** प्रश्न यह है कि कविता की इस प्रवाहिनी की दिशा क्या है और उसका लक्ष्य क्या है? तुलसीदासजी की भाँति कविता को 'स्वान्तः सुखाय' मानना कवि के विनम्र भाव का द्योतक है। केवल रमणीयता या मनोरंजन भी कविता का उद्देश्य नहीं है। रसवादियों का रस-निष्पादन भी कविता के पूर्ण स्वरूप की व्याख्या नहीं करता। रस की व्यक्ति-निष्ठता कविता के सामाजिक प्रयोजन की उपेक्षा करती है। प्राचीन काव्य-शास्त्र की रस-योजना और उसके रस-विभाजन में जीवन और काव्य के अनेक उपादानों का समावेश नहीं हो पाता। **शिवं से कविता की दिशा और काव्य के लक्ष्य का संकेत किया जा सकता है।** किन्तु शिवं के व्यापक स्वरूप और लोक की मंगल मुखी व्यवस्था के विविध अंगों का स्पष्ट निरूपण ही काव्य के इस लक्ष्य की समुचित व्याख्या कर सकता है। जीवन के उपादान, साधन, धर्म और साधना के किन २ रूपों की किस प्रकार की व्यवस्था को मंगलमयी कहा जा सकता है और काव्य में उसकी प्रतिष्ठा किस रूप में अभीष्ट है, इसका उत्तर ही शिव के साथ कविता के सम्बन्ध का निर्धारण कर सकता है।

सत्य मनुष्य की जिज्ञासा का लक्ष्य है। विचार का अनुसंधान जिसे प्राप्त कर कृतार्थ होता है, वही सत्य है। एक दृष्टि से यह सत्य एक परम्परा है और अनुसंधान की गति में इसका क्रमिक उद्घाटन होता है। दर्शन का यह अनुरोध है कि सत्य का एक चरम रूप भी है। इस अन्तिम और पूर्ण सत्य को प्राप्त कर

हमारी जिज्ञासा पूर्णतः समाहित हो जाती है। इस सत्य की प्राप्ति हमारी जिज्ञासा का ही पूर्ण समाधान नहीं वरन् हमारी समस्त आन्तरिक आकांक्षाओं की परितृप्ति है। वेदान्त का ब्रह्म ऐसा ही सत्य है। ऐसे सत्य को प्राप्त कर और कुछ भी प्राप्य शेष नहीं रह जाता। हमारी समस्त कामनाएँ इस सत्य में कृतार्थ हो जाती हैं। इसीलिए माण्डूक्य उपनिषद् में इस परब्रह्म को 'शिवम्' भी कहा गया है। **तात्पर्य यह है कि यह चरम सत्य सत्य होने के साथ-साथ जीवन के मंगल का भी परम रूप है।**

ब्रह्म के समान जीवन और जगत के अन्य सत्यों के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि वे पूर्णतः जीवन-निरपेक्ष नहीं हैं। विज्ञानों और दर्शनों में उनका अनुसंधान और अध्ययन निस्संदेह एक निरपेक्ष भाव से होता है। किन्तु यह निरपेक्ष दृष्टिकोण अनुसंधान और अध्ययन के बौद्धिक क्षेत्र तक ही सीमित है। इसके अतिरिक्त इन निरपेक्ष तथ्यों और सिद्धान्तों का जीवन से सम्बन्ध होता है। जीवन पर इनके प्रभाव को हम शिव अथवा अशिव मानते हैं। यह सब जीवन के एक प्रयोजन को सामने रख कर ही होता है। जीवन की मंगल-भावना निश्चित रूप से प्रयोजन-मुखी है। जीवन में यह भावना इतनी प्रबल होती है कि निर्जीव और निरपेक्ष प्राकृतिक तथ्यों में भी हम मंगल अथवा अमंगल का आरोप करते हैं। कविता और लोक व्यवहार दोनों में ही यह दृष्टिकोण प्रायः देखने को मिलता है। प्रकृति में संवेदना अथवा भावना का आरोप इसी का सूचक है। प्रकृति का हँसना, रोना आदि मनुष्य के ही हर्ष और शोक का प्रतिविम्ब है।

इसी प्रकार विज्ञान के तथ्यों और सिद्धान्तों को भी विज्ञान के बाहर हम जीवन के मंगल की दृष्टि से ही देखते हैं। आधुनिक मूल्यवादी विचारकों की तो यह धारणा है कि सत्य भी जीवन का एक मौलिक मूल्य है। असत्य की अपेक्षा हम सत्य को अधिक महत्व देते हैं। सत्य की साधना में हम जीवन का गौरव मानते हैं। इस दृष्टि से सत्य जीवन से पूर्णतः निरपेक्ष नहीं है। जीवन का मूल्य होने के नाते हम उसे 'शिवम्' भी कह सकते हैं। **वस्तुतः जीवन और साहित्य का सत्य वही है जो शिवम् भी है अथवा 'शिवम्' ही जीवन का सत्य है।** काव्य और साहित्य में सत्य का निरपेक्ष चित्रण नहीं होता। कविता का उद्गम अनुभूति है। राग अथवा भावना से अनुप्राणित अनुभूति में सिक्त होकर ही सत्य कविता का विषय बनता है। जीवन और भावना से सम्बन्ध होते ही सत्य में शिव या अशिव का भाव

आजाता है। प्राकृतिक तथ्यों और सिद्धान्तों की अपेक्षा मन और जीवन के तथ्यों तथा सिद्धान्तों के विषय में यह और भी अधिक सत्य है। जीवन से प्रसूत होने के कारण उनका जीवन से आन्तरिक सम्बन्ध है। अतः वे पूर्णतः निरपेक्ष नहीं हैं।

'शिवम्' भी सत्य के समान जीवन की एक व्यापक कल्पना है। जिस प्रकार सत्य में अवगति के अनेक रूप सम्मिलित हैं उसी प्रकार शिव में भी अनेक रूप श्रेयों का सन्निधान हैं। जीवन के लिए (उसकी रक्षा और उसके गौरव के लिए) जो कुछ भी हितकर है वह सब शिवम् के अन्तर्गत है। जीवन की प्राकृतिक आवश्यकताएँ भी इसके वहिर्गत नहीं हैं। अशिवता प्रकृति के अतिचार से पैदा होती है। प्रकृति स्वतः अशिव नहीं है। इस अतिचार के लिए मनुष्य स्वयं उत्तरदायी है। पशुओं में प्रकृति की यह नैसर्गिक मर्यादा है। मनुष्यों में यह मर्यादा चेतना के सजग अनुशासन के रूप में ही आ सकती है। चेतना के अनुशासन से मर्यादित होकर प्रकृति मानवीय संस्कृति का आधार बन जाती है। प्रकृति का संस्कार उसे सांस्कृतिक श्रेयों के साथ समन्वय के योग्य बनाता है। सांस्कृतिक श्रेयों का रूप भाव-मय है। प्रकृति का वस्तु-तत्व उसका उपादान और माध्यम बन जाता है। प्राकृतिक हित अपने प्राकृतिक अर्थ में स्वार्थमय है। **इस स्वार्थमय हित को 'प्रेय' कहना अधिक उचित है।** इसमें एक स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक सुख है। इस सुख के कारण ही प्रेय प्रिय और प्राणिमात्र का अभीप्सित बनता है।

सांस्कृतिक श्रेयों की आकांक्षा के बीज भी मनुष्य की आन्तरिक चेतना में निहित हैं। इस अर्थ में हम श्रेय को भी स्वार्थ कह सकते हैं। किन्तु यह स्वार्थ प्राकृतिक स्वार्थ की अपेक्षा अधिक व्यापक है। प्रकृति देश और काल से नियमित है। अतः देश काल में अन्वित होने के कारण प्राकृतिक स्वार्थ एक कठोर सीमा में संकुचित हो जाता है। देश की दृष्टि से पृथकत्व और काल की दृष्टि से अयौगपद्य प्रकृति के रूपों का लक्षण है। जो एक स्थान पर है वह दूसरे स्थान पर नहीं हो सकता, जो एक काल में है वह दूसरे काल में नहीं हो सकता। देश काल के साथ-साथ व्यक्तित्व भी प्राकृतिक हित की एक सीमा है। एक व्यक्ति का प्राकृतिक स्वार्थ स्वरूपतः दूसरे का प्राकृतिक स्वार्थ नहीं बन सकता।

सांस्कृतिक श्रेयों के प्राकृतिक उपादानों पर प्रकृति के ये सभी नियम लागू होते हैं। **किन्तु सांस्कृतिक श्रेयों का रूप चिन्मय भाव है।** चेतना स्वरूपतः देश, काल, व्यक्तित्व आदि की सीमाओं से अतीत है। ये चेतना के विषय हैं, अतः

इनमें व्याप्त होते हुए भी चेतना पूर्णतः इनमें परिच्छिन्न नहीं हो सकती। प्रकृति के उपादानों का ग्रहण और प्रकृति के नियमों का निर्वाह करते हुए भी चेतना के भाव इन नियमों के अतीत हो कर ही कृतार्थ होते हैं। उनके स्वरूप की सार्थकता और पूर्णता इस अति-प्राकृतिकता और अतीन्द्रियता में ही है। **प्राकृतिक उपादानों के तथा प्रेयों के स्वार्थमय संकोच के विपरीत निरन्तर आत्म-विस्तार सांस्कृतिक श्रेयों का स्वरूप है।** इस विस्तार के विभाजन, आत्मदान और तादात्म्य में प्रकृति और स्वार्थ के सब नियम खंडित हो जाते हैं। विभाजन से क्षीण होने के स्थान पर सांस्कृतिक श्रेय और समृद्ध होते हैं। वस्तुतः विभाजन ही उनकी समृद्धि का साधन है। स्वार्थ के संकोच और सीमा से वे और क्षीण होते हैं।

प्राकृतिक श्रेय (प्रेय) जीवन के साधन हैं और सांस्कृतिक श्रेय उसके साध्य अथवा लक्ष्य हैं। साधन और साध्य के रूप में जीवन की भाँति कला और काव्य में भी प्राकृतिक हित और सांस्कृतिक श्रेय दोनों का ग्रहण किया जाता है। दोनों जीवन के मंगल के साधक हैं। अतः इन दोनों रूपों में व्यक्त होने वाले शिवम् का काव्य में स्थान है। **किन्तु जिस प्रकार सत्य को उपादान के रूप में ग्रहण करने से सत्य काव्य का सामान्य विशेषण नहीं बन जाता उसी प्रकार उपादान के रूप में शिवम् का ग्रहण करने से 'शिव काव्य' की सृष्टि नहीं होती। उपादान काव्य का जीवन-तत्व है। सामान्य विशेषण उसका कला-रूप है।** इस कला रूप के आकार में उपादान का समन्वय काव्य की सृष्टि करता है। जिस प्रकार जहाँ भी सत्य है वहाँ काव्य का होना आवश्यक नहीं है। काव्य का स्वरूप तो सुन्दरम् है। उस स्वरूप से एकात्मक होकर ही सत्यम् और शिवम् काव्य के सामान्य विशेषण बन सकते हैं। **उपादान और आकार की एकात्मता ही काव्य का विधान है। सत्य की भाँति काव्य में शिवं के भी उभय-विध उपादानों का ग्रहण हुआ है, किन्तु विरले ही काव्य 'शिव काव्य' बनने में सफल हुए हैं। इस सफलता के लिए तीन प्रकार का समन्वय अपेक्षित है।** एक तो प्राकृतिक हितों का सांस्कृतिक श्रेयों से दूसरा सांस्कृतिक श्रेयों का शिवम् के सामान्य स्वरूप से और तीसरा इन सबका काव्य के स्वरूप अथवा सौन्दर्य से। एक और भी चौथा समन्वय अपेक्षित हो सकता है वह जीवन के सिद्धान्त-तत्व-रूप सत्य से शिवम् और सुन्दरम् दोनों का। वस्तुतः सत्य के इस रूप का शिवम् से भेद करना कठिन है। भारतीय दर्शनों तथा ग्रीक दर्शनों में सत्य और ज्ञान की प्रधानता का कारण

सत्यम् और शिवम् की अभिन्नता ही है। प्रमुख भारतीय दर्शन निःश्रेयस को ज्ञान-रूप ही मानते हैं। ग्रीक दर्शन में भी सौक्रेटीज़ श्रेय को ज्ञान-रूप ही मानते थे। सत्य और सांस्कृतिक श्रेय में उसी प्रकार समानता है जिस प्रकार तथ्य और प्राकृतिक श्रेय में है। सिद्धान्त-सत्य और सांस्कृतिक श्रेय दोनों चेतना के भाव हैं। प्राकृतिक तथ्य ही जीवन के साधन बन कर प्राकृतिक श्रेय बन जाते हैं। इसी प्रकार जीवन के व्यापक सिद्धान्त जो सत्य कहलाते हैं साधनाओं में अन्वित होकर सांस्कृतिक श्रेय बन जाते हैं। वही सिद्धान्त जो अवगति का विषय बन कर सत्य कहलाते हैं, जीवन के निर्माण, विकास और आनन्द की प्रेरणा बन कर 'शिवम्' बन जाते हैं। अन्ततः सत्य ही शिव है और शिव ही सत्य है। एक के पूर्ण रूप में दूसरे का समाहार है। सत्य और शिव की इस अन्तिम एकात्मता के कारण काव्य के विधान में दोनों का समन्वय अपेक्षित है।

इसके अतिरिक्त प्राकृतिक हितों का सांस्कृतिक श्रेयों में तथा दोनों का शिवम् के सामान्य स्वरूप में तथा इन सबके काव्य के स्वरूप (सुन्दरम्) में समन्वय द्वारा ही 'शिव-काव्य' का विधान पूर्ण होता है। सुन्दरम् का स्वरूप अभिव्यक्ति है तथा शिवम् का स्वरूप आत्मदान है। जीवन के सामान्य सिद्धान्त-तत्व अभिव्यक्ति में सुन्दरम् और आत्मदान में शिवम् बनते हैं। किन्हीं भी सिद्धान्तों और तथ्यों की सफल अभिव्यक्ति सत्य काव्य की विधायक होती है, किन्तु चरम और पूर्ण सत्य ही शिवम् के साथ एक रूप होता है। उसी की अभिव्यक्ति 'शिव काव्य' की सृष्टि करती है। तथ्यों की अभिव्यक्ति से जिस प्रकार इतिवृत्त का काव्य बनता है उसी प्रकार प्राकृतिक हितों की अभिव्यक्ति से 'प्रेय काव्य' बनता है। प्रेय काव्य को हम एक संकुचित अर्थ में ही 'शिव काव्य' कह सकते हैं। **वास्तविक 'शिव काव्य' वही है जिसमें सांस्कृतिक श्रेयों की सुन्दर अभिव्यक्ति हो।** सांस्कृतिक श्रेय चेतना के भाव हैं। चेतना में इनका आविर्भाव वस्तुतः अभिव्यक्ति के रूप में ही होता है। अतः मूलतः शिवम् स्वरूप से ही सुन्दर है। इसीलिए चेतना में इन मंगल-तत्वों का उदय होने पर आनन्द का अभ्युदय होता है। आनन्द सृजन और अभिव्यक्ति का फल है।

इन सांस्कृतिक श्रेयों में शिवम् का सामान्य स्वरूप व्याप्त है। शिवम् का सामान्य स्वरूप आत्मदान है। सांस्कृतिक श्रेय की अभिव्यक्ति आत्मदान के रूप में होती है। आत्मदान दूसरे के भाव के साथ अपने चिन्मय भाव का योग और

तादात्म्य है। अपनी भाव-सम्पत्ति के समर्पण से दूसरे की भाव-सम्पत्ति का संवर्धन और साथ ही अपने भाव की समृद्धि शिवम् का सामान्य स्वरूप है। इस आत्मदान में अभिव्यक्ति अनुस्यूत है। अतः शिवम् के स्वरूप में सुन्दरम् का सहज अन्वय है। शिव तथा अन्य मंगलमय देवताओं के सुन्दर स्वरूप का यही रहस्य है। दूसरे की चेतना में अपने चिन्मय भाव का योग आत्मदान होने के साथ-साथ अभिव्यक्ति भी है। अभिव्यक्ति चेतना के भाव का प्रकाश है। यह प्रकाश चेतना का स्वरूप धर्म है। चेतना प्रकाश-स्वरूप और प्रकाशमय ही है। साथ ही उसका स्वरूप सृजनात्मक भी है। जहाँ तक वह तथ्यों और सिद्धान्तों को निरपेक्ष और स्वतन्त्र मानती है वहीं तक सत्य और अवगति की सीमा है। सत्य के साथ चेतना की समान-धर्मिता का उद्घाटन होते ही सत्य चेतना की सृष्टि ही प्रतीत होने लगता है। इसी प्रतीति में सत्य में सुन्दरम् का आविर्भाव होता है। चेतना की सृष्टि के रूप में सत्य की अवगति अभिव्यक्ति बन कर सुन्दर हो जाती हैं। इसी प्रकार आत्मदान में चिन्मय भाव की सृष्टि और दूसरे की चेतना में उसका योग अभिव्यक्ति बन कर शिवम् को सुन्दरम् बना देते हैं।

इस प्रकार जीवन में तो शिवम् और सुन्दरम् एक दूसरे के स्वरूप में अन्तर्निहित हैं। आत्मीयता का भाव दोनों का मूल स्वरूप है। यही आत्म-भाव आत्मदान में शिवम् और अभिव्यक्ति में सुन्दरम् है। आत्मदान में समात्म-भाव के रूप में अनायास अभिव्यक्ति का उदय होता है। अभिव्यक्ति भी केवल रूपात्मक योजना में कृतार्थ नहीं होती, वह भी समात्मभाव में ही सुन्दर बनती है। किन्तु काव्य में शिवम् और सुन्दरम् का आधान सदा जीवन के अनुरूप नहीं होता। भाषा के प्रयोग और विचार के संयोग के कारण काव्य में दोनों का प्रत्याहार के रूप में भी ग्रहण होता है। जिन काव्यों में रूपात्मक योजना की अभिव्यक्ति प्रधान होती है, वे प्रधानतः सुन्दर हैं। उनमें शिवम् का तत्व के रूप में आधान आवश्यक नहीं। इसी प्रकार जिन काव्यों में आत्मदान का तत्व प्रधान है वे प्रधा-नतः शिव काव्य हैं, किन्तु अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से रहित होने के कारण इन काव्यों में आत्मदान उपदेश और शिक्षा बन गया है। अतः इन्हें काव्य कहना उपचार मात्र है। इनके श्रेय तत्व में सुन्दरम् का समन्वय न हो सकने के कारण इनमें काव्य का स्वरूप प्रस्फुटित नहीं हुआ है। अनेक नीति ग्रन्थ तथा रामायण के समान महाकाव्यों में मिलने वाले श्रेय तत्व इसी प्रकार कवित्व से हीन हैं।

श्रेय के अभिधान की अपेक्षा आकृति की व्यंजना में उसका अन्तर्निधान 'शिव-काव्य' के विधान के अधिक अनुरूप है।

अस्तु, सत्य के समान 'शिवम्' से भी काव्य का दोहरा सम्बन्ध है। सत्य के समान शिवम् का भी अपना स्वरूप है। काव्य के उपादान के रूप में गृहीत होकर वह काव्य का अंग बनता है। उपादान के रूप में शिवम् के इस ग्रहण को 'काव्य में शिवम्' कहा जा सकता है, किन्तु इससे 'शिव-काव्य' की रचना नहीं होती। उपादान काव्य का तत्व है, किन्तु सर्वस्व नहीं। काव्य का एक अपना स्वरूप है। उस स्वरूप में अन्वित होकर ही काव्य का तत्व काव्य के स्वरूप से एकाकार होता है। **काव्य के स्वरूप से एकाकार होकर ही शिवम् काव्य के स्वरूप का विशेषण बनता है और 'शिव काव्य' की सृष्टि होती है।** विशेषण एक व्यापक धर्म है जो समस्त विशेष्य में व्याप्त होकर उससे एकाकार हो जाता है। यह एकाकारता एक सहज सामंजस्य है, आयास से आरोपित ऐक्य नहीं। वस्तुतः यह सहज सामंजस्य ही ऐक्य का वास्तविक स्वरूप है। यह ऐक्य एक आन्तरिक स्वरूप है, जिसमें शिवं और काव्य का एक रूप में समवाय होता है। शास्त्रों और नीति काव्यों में शिवं का तत्व काव्य के स्वरूप से समन्वित न हो सका, अतः 'शिव काव्य' की सृष्टि न हो सकी। दूसरी ओर अनेक सुन्दर काव्य हैं, जिनमें काव्य के रूप सौन्दर्य की विवृत्ति हुई है; किन्तु उनमें जीवन के शिवं का समाहार नहीं हो सका है। कला और अभिव्यक्ति की प्रधानता की दृष्टि से लिखे गये सभी काव्य इसी कोटि में हैं। जिस प्रकार सत्य की अपेक्षा शिवम् से जीवन का अधिक गम्भीर और आन्तरिक सम्बन्ध है उसी प्रकार काव्य के साथ शिवं का सत्य की अपेक्षा घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिवम् का सामान्य स्वरूप आत्मदान है। आत्मदान अथवा समात्मभाव की सम्भूति इसका लक्षण है। सत्य का विविक्त रूप एक उदासीन और स्वतन्त्र सत्ता है। जीवन और काव्य में उपादान के रूप में उसका ग्रहण किया जाता है। सत्य के कुछ रूपों का जीवन और चेतना से सम्बन्ध अवश्य है, किन्तु सत्य के रूप में उनका विवेचन भी तटस्थ भाव से होता है। **शिवम् के साथ यह तटस्थ भाव सम्भव नहीं है। शिवम् का उदय मानव चेतना के सामाजिक भाव में होता है।** जीवन के प्राकृतिक प्रेय केवल उसके अस्तित्व के आधार हैं। सत्ता का संकट होने पर तो उनका मोह सर्वाधिक होता है। किन्तु जीवन की पूर्णता की व्यवस्था में उनका रूप इतना स्वार्थमय

नहीं रहता। वे शिवम् के आत्मभाव का संस्कार प्राप्त कर सामाजिक जीवन के श्रेय में अन्वित होते हैं। इस समात्मभाव में ही काव्य के सौन्दर्य और रस का उदय होता है।

सत्य की अपेक्षा शिवम् के स्वरूप के साथ काव्य के स्वरूप का अधिक साम्य और अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। कला के साथ काव्य का समान रूप अभिव्यक्ति का सुन्दरम् है। उसमें शिवम् का पूर्ण समन्वय होने पर 'शिव काव्य' की सृष्टि होती है। इस समन्वय का रूप यह है कि शिवम् के मुख्य लक्षण अभिव्यक्ति के सुन्दरम् में अनुस्यूत होकर एकाकार हो जाते हैं। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार फलों अथवा पुष्पों के रूप में रस सौन्दर्य से एकाकार हो गया है। वस्तुतः शिवं रस स्वरूप ही है। रस आनन्दमय है। वेदान्त में ब्रह्म और शैव दर्शन में शिव रस-स्वरूप तथा आनन्दमय ही हैं। अध्यात्म के अनुसार यही जीवन का चरम सत्य और साधना का लक्ष्य है। विश्व इसी सत्य की सृजनात्मक अभिव्यक्ति है। व्यवहार की सापेक्ष दृष्टि से जो आत्मदान शिवम् का सामान्य लक्षण है वह भी सृजनात्मक प्रेरणा में ही सार्थक होता है। कला की सृजनात्मक शक्ति भी शिवं की विवृति है। किन्तु जीवन का सृजनात्मक धर्म अधिक व्यापक है। उस व्यापक सृजनात्मक धर्म को अपना विषय बनाकर ही कला और काव्य शिवम् को साकार कर सकते हैं। आत्मदान शिवम् की सामाजिक प्रेरणा का ही धर्म है। सृजन का आधार शक्ति है। इसीलिए शक्ति शिव से अभिन्न है। शक्ति का रूप तेजोमय है। **सृजन की पूर्णता स्रष्टाओं की परम्परा में है। ईश्वर की सृष्टि इसीलिए कला और काव्य का पूर्ण रूप है।** आत्मदान के भाव द्वारा जीवन और संस्कृति की सृजनात्मक परम्पराओं को प्रेरणा देने वाला काव्य ही शिव काव्य है। आत्मदान और सृजन को केवल उपादान के रूप में ग्रहण करने से शिव काव्य की सृष्टि नहीं हो सकती। इसे 'काव्य में शिवम्' का उदाहरण कह सकते हैं। शिव का पूर्ण रूप सुन्दरम् भी है। शिव की अभिन्न शक्ति का नाम 'सुन्दरी' है। **उपादान के रूप में ग्रहीत शिवम् के तत्वों का अभिव्यक्ति के सौन्दर्य में पूर्ण समन्वय होने पर ही शिवम् काव्य का रूप और विशेषण बनता है। इसके लिए सृजनात्मक प्रेरणा और परम्परा के विषय रूप में ग्रहीत होने के अतिरिक्त सृजन के तेज और सत्य के आलोक का काव्य के सौन्दर्य में एक रस होना आवश्यक है।** शिव सत्य भी है। अतः अभिव्यक्ति के सौन्दर्य में प्रकाश

की उज्ज्वलता अपेक्षित है। किन्तु साथ ही उसमें तेज की शक्ति भी चाहिए। मधुर काव्य रमणीय तथा प्रेय हो सकता है, किन्तु श्रेय बनने के लिए माधुर्य को ओज की प्रसन्नता का वरदान बनना होगा। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शिव का लास्य और प्रणय उनके तेज का ही अनुग्रह है। रीति की भाषा में ओज शिव काव्य की सहज वृत्ति है। **आत्मदान और सृजन में शिवम् के अन्य तत्वों के समन्वय के समान ओज में प्रसाद और माधुर्य का अन्वय शिव काव्य की रीति है।**

काव्य के साथ शिवम् के सम्बन्ध के प्रसंग में एक बात और विचारणीय है। सुन्दरम् एक चरम और मौलिक मूल्य है। काव्य और कला स्वयं अपने साध्य हैं, वे किसी के साधन नहीं हैं। इसी आधार पर कुछ कवियों, कलाकारों और विद्वानों ने 'कला कला के लिए है', सिद्धान्त का प्रतिपादन और समर्थन किया है। तात्पर्य यह है कि काव्य को किसी अन्य प्रयोजन का साधन नहीं बनाया जा सकता। चाहे **'कला कला के लिए है' का केवल रूपात्मक सिद्धान्त कितना ही आपत्तिजनक हो, किन्तु यह निश्चित है कि काव्य और कला साधन नहीं हैं। वे स्वयं अपने साध्य हैं।** उनका मूल्य अपने आप में है। काव्य और सुन्दरम् के मूल्य की मौलिकता और चरमता के कारण ही ग्रीक विचारकों तथा रस्किन के द्वारा कला को नैतिकता का साधन मानने पर सौन्दर्य शास्त्र के इतिहास में अनेक आपत्तियां हुई तथा जिन विचारकों ने सौन्दर्य शास्त्र को नीतिशास्त्र से पृथक किया उन्हें इसके लिए श्रेय दिया गया। ऐसी स्थिति में काव्य का शिवम् के साथ सम्बन्ध और काव्य में शिवं का समवेश किस रूप में हो सकता है ?

इस समस्या के मूल में जटिलता के कारण तीन हैं। एक तो नीतिशास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र दोनों में श्रेय और सौन्दर्य की कल्पना में व्यक्ति-मूलकता का आग्रह अधिक रहा है। श्रेय के सामाजिक रूप को कुछ महत्व भी दिया गया किन्तु सौन्दर्य को प्रायः व्यक्तिगत भाव के रूप में ही माना गया है। दूसरे सौन्दर्य की रूपात्मक कल्पना प्रधान रही है। जहाँ सौन्दर्य को चिन्मय भाव के रूप में माना गया है वहाँ भी उसका रूप व्यक्तिगत है। तीसरे शिवम् और सुन्दरम् दोनों के चिन्मय भाव होते हुए भी उनके स्वरूप के सामान्य लक्षण की भूमिका में उनके विशेष रूपों को समझने का प्रयत्न नहीं हुआ। **हमारे मत में समात्मभाव शिवम् और सुन्दरम् का सामान्य लक्षण है। समान लक्षण होने के कारण हमारे मत में शिवम् और सुन्दरम् का काव्य में समन्वय सहज सम्भव है।** सामान्य चिन्मय भाव

में दोनों के समन्वय का आधार उनके सहज स्वरूप में निहित है। शिवम् का वास्तविक स्वरूप इस समन्वय के सर्वथा अनुकूल है। काव्य में नैतिकता के जिस स्वरूप के सन्निवेश तथा जिस रूप के प्रतिपादन के लिए काव्य के उपयोग को आपत्ति की दृष्टि से देखा जाता है वह वस्तुतः शिवम् का खण्डित रूप है। उसमें समात्मभाव की अपेक्षा भेद, उपदेश, अनुग्रह, शिक्षा आदि का भाव अधिक आ जाता है। समात्मभाव के खण्डित होने पर शिवम् और सुन्दरम् के समन्वय का सूत्र भी विच्छिन्न हो जाता है। शिवम् के ये खण्डित रूप चेतनाओं के उस आन्तरिक सामंजस्य को भंग कर देते हैं जिसमें समात्मभाव के आधार में आकृति की व्यंजना का सौन्दर्य स्फुटित होता है।

एक दूसरे प्रकार से शिवम् और सुन्दरम् का समन्वय तत्व और रूप का समन्वय है। अन्य कलाओं में रूप की प्रधानता होती है किन्तु काव्य के स्वरूप में रूप और तत्व दोनों का सहज समन्वय है। इस समन्वय का मूल शब्द की सार्थकता है। 'अर्थ' शब्द में निहित चिन्मव भाव है। शब्द-दर्शन में शब्द को चिद्रूप मानमर शब्द और अर्थ के इस समन्वय को एकत्व की सीमा तक पहुँचा दिया है। जो 'कला को कला के लिए' मानते हैं, वे भी तत्व से रहित काव्य की कल्पना नहीं कर सकते। तत्व को गौण और रूप को प्रधान मानने पर प्रयोगवाद जैसे रूपात्मक काव्य की रचना होती है। **किन्तु काव्य का सफल और पूर्ण रूप तत्व और रूप के समन्वय से ही निर्मित होता है।** यह तत्व शिव-रूप ही है। मंगल ही जीवन का तत्व है। उसे चिन्मय मानने पर भी वह समात्मभाव की सृजनात्मक प्रेरणा है। यह समात्मभाव शिवं का ही नहीं सुन्दरम् का भी मूल स्वरूप है। **समात्मभाव के आधार पर सुन्दरम् की आकूतिमय अभिव्यक्ति जीवन के सुन्दर और मंगलमय रूपों की सृजनात्मक प्रेरणा बनकर शिवम् और सुन्दरम् के सहज समन्वय में चरितार्थ होती है।** इस समन्वय में शिवम् और सुन्दरम् यमुना और गंगा की भाँति मिलकर एक हो जाते हैं, फिर भी परम्पराओं में वे गंगा की भाँति काव्य के नाम से ही प्रसिद्ध होते हैं। काव्य में भी शिवम् का तत्व सुन्दरम् के रूप के साथ एकाकार होकर 'शिव काव्य' की सृष्टि करता है।

अध्याय ३१

प्रेय और श्रेय

शिवम् का सामान्य अर्थ जीवन का हित अथवा कल्याण है। इस कल्याण की कल्पना बहुत व्यापक है। व्यापक दृष्टि से इसमें जीवन के सभी मूल्यों का समाहार हो सकता है। जीवन की जितनी आकांक्षाएँ और अभीप्साएँ हैं, उन सभी की पूर्ति जीवन के हित की पूर्णता के लिए आवश्यक है। अतः जीवन के अनेक लक्ष्य कल्याण की व्यापक कल्पना में सम्मिलित हैं। **इन सभी लक्ष्यों अथवा हितों को दो मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है।** एक भाग के अन्तर्गत प्राकृतिक हित है जो मुख्यतः शारीरिक और व्यक्तिगत हैं। इन हितों की प्राप्ति सुखकर होती है। अतः ये स्वभावतः प्रिय होते हैं। प्रिय होने के कारण इनको 'प्रेय' कहा जाता है। इनके अतिरिक्त जीवन के जो अन्य मानसिक, आध्यात्मिक अथवा सामाजिक लक्ष्य हैं, उन्हें प्राकृतिक हितों से भेद करने के लिए हम सांस्कृतिक हित कह सकते हैं। इन सांस्कृतिक हितों को ही मुख्यतः श्रेय माना जाता है। यद्यपि मनुष्य जीवन के समस्त व्यवहार का निमित्त और माध्यम व्यक्ति ही है, किन्तु सांस्कृतिक श्रेयों की विभूति पूर्णतः व्यक्तित्व की परिधि में सीमित नहीं है। इन श्रेयों में प्रायः सभी लक्ष्य ऐसे हैं जिनका महत्व अपने आप में है और जिनकी साधना व्यक्तित्व से ऊपर उठकर की जाती है। यह ठीक है कि इन श्रेयों का फल भी व्यक्ति के लिए ही होता है, किन्तु इन फलों के लाभ में व्यक्तित्व अपनी संकीर्ण सीमाओं में नहीं रहते। इन श्रेयों के स्वरूप और फल में व्यक्तित्व पारस्परिकता और परार्थ भाव में विस्तीर्ण हो जाते हैं। इन सांस्कृतिक श्रेयों का मनुष्य जीवन में इतना महत्व है कि प्राकृतिक प्रेय भी पूर्णतः शरीर व्यक्तित्व और स्वार्थ की सीमा में संकुचित नहीं रह गए हैं। यद्यपि प्राकृतिक होने के कारण उनके फल व्यक्तिगत और स्वार्थमय ही हैं, (यह प्रकृति के नियम की ही मर्यादा है) फिर भी सभ्यता के रूपों में ये सांस्कृतिक भावों के विस्तार के निमित्त बन गए हैं। उनमें बहुत कुछ सीमा तक सांस्कृतिक श्रेयों का समन्वय भी हुआ है। यही समन्वय संस्कृति की समृद्धि की दिशा है। इस समन्वय में प्राकृतिक प्रेय सामाजिक अनर्थों की सम्भावनाओं

से ऊपर उठकर स्वार्थ में अन्वित होते हुए भी समाज के सामान्य हित में समन्वित होते हैं तथा सांस्कृतिक समृद्धि की प्राकृतिक भूमि का निर्माण करते हैं। प्राकृतिक हितों का स्वार्थमय फल शारीरिक और व्यक्तिगत अर्थ में सुख है। सांस्कृतिक सुख का स्वरूप आनन्द है। सुख और आनन्द शब्दों के प्रयोग में सर्वदा उचित विवेक नहीं हुआ है, किन्तु सुख की अनुभूति के दो रूपों में स्पष्टतः भेद है। सुख व्यक्तिगत और शारीरिक संवेदना है जो प्रकृति के नियमों के अनुकूल होने के कारण प्राकृतिक प्रेय कही जा सकती है। व्यक्तिगत काल और दिक् प्रकृति के नियम की मर्यादाएँ हैं। सुख स्वार्थमय है, एक व्यक्ति का सुख दूसरे को प्राप्त नहीं हो सकता, एक वस्तु का सुख तद्‌रूप में ही दूसरे को नहीं मिल सकता। देश और काल के अयौगपद्य का नियम भी सुख के सम्बन्ध में कठोर है। सुख वर्तमान की संवेदना है, जो देश काल से नियमित होती है। **आनन्द में सुख की ये प्राकृतिक मर्यादाएँ अतिक्रान्त हो जाती हैं।** हम एक दूसरे के आनन्द में भाग ले सकते हैं। विभाजन से सुख की क्षति होती है, किन्तु आनन्द की वृद्धि होती है। एक ही काल में एक ही विषय अनेक व्यक्तियों के आनन्द का कारण बन सकता है। यह आनन्द मन और आत्मा का भाव है। सुख शरीर का धर्म है। उपनिषदों में इस आनन्द को आध्यात्मिक माना गया है। कहीं-कहीं इसके लिए सुख शब्द का भी प्रयोग किया गया है, (यो वै भूमा तदेव सुखम्)[२२] किन्तु यहाँ अभिप्राय शारीरिक सुख से नहीं, अनन्त आध्यात्मिक आनन्द से है। समृद्धिशील मानने पर आनन्द को अनन्त मानना होगा।

कठ उपनिषद् में जीवन के इन दो लक्ष्यों का संकेत किया गया है तथा उन्हें प्रेय और श्रेय की संज्ञा दी गई है। उपनिषद् का वचन है कि जीवन में प्रेय और श्रेय मिले झुले रहते हैं, अतः उनका विवेक करना कठिन है। सम्यक् परीक्षण करके कोई धीर पुरुष ही उनमें विवेक करता है।[२३] **सामान्यतः मनुष्यों की प्रवृत्ति प्रेय की ओर होती है, यह स्वाभाविक है।** प्रेय प्रधानतः इन्द्रियों और मन के विषय हैं। इन्द्रियों की गति बहिर्मुखी है और वह स्वभाव से ही विषयों की अनुकूल-वेदनीयता में ही अपना सुख खोजती हैं। **'श्रेय' आत्मिक अध्यवसाय और साधना के विषय हैं, अतः उनकी ओर मनुष्य की गति स्वाभाविक नहीं होती। सांस्कृतिक सुख और आनन्द के अभिलाषी संकल्प द्वारा श्रेय के मार्ग पर चलते हैं।** आध्यात्मिक उद्योग का यह मार्ग कठिन ही है। ज्ञात नहीं कि कठ उपनिषद् में

श्रेय और प्रेय के मिश्रित रहने का तात्पर्य क्या है। कई प्रकार से इनका मिश्रण सम्भव है। इसका एक रूप तो भ्रान्ति है, जिसमें हम प्रेय को ही श्रेय समझ लेते हैं। दूसरा रूप प्रेय में श्रेय का समन्वय और सांस्कृतिक भावना का सन्निधान है। तीसरा रूप श्रेय में प्रेय की भावना का उदय है। पिछले दो रूपों के फलस्वरूप जीवन में प्रेय के श्रेय में पूर्णतः समन्वित होने पर एक मंगलमयी सांस्कृतिक व्यवस्था बनती है, जिसे हम सामाजिक निःश्रेयस् कह सकते हैं। सम्भवतः उपनिषद् का तात्पर्य प्रेय और श्रेय के मिश्रण के पहले ही रूप से है। शेष दो रूप श्रेय की साधना के अनुकूल होने के कारण स्पृहणीय हैं। वस्तुतः प्रेय और श्रेय स्वरूप से इतने भिन्न हैं कि उनका संकर नहीं हो सकता। अध्यासभाष्य के शब्दों में हम इन्हें अन्धकार और प्रकाश के समान विरुद्ध स्वभाव कह सकते हैं किन्तु फिर भी इनका परस्पर अध्यारोप होता है। मुख्यतः यह अध्यास श्रेय पर प्रेय का अध्यारोप है। चाहे हम प्रेय को ही श्रेय समझने लगें अथवा चाहे हम श्रेय पर प्रेय को आरोपित करदें, दोनों ही रूपों में श्रेय के प्रभाव की ही प्रधानता है। संक्षेप में भ्रम और अविवेक का कारण प्रेय का ही सहज आकर्षण है। उपनिषद् वचन का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि जीवन और जगत के पदार्थों में से कौनसा प्रेय और कौनसा श्रेय है, यह विवेक करना कठिन है। इसका परिणाम यही होगा कि हम प्रेय को ही श्रेय समझने लगते हैं। यह भ्रान्ति का वही पहला रूप है, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। सहज प्रियता के कारण प्रेय में ही मनुष्य की रुचि अधिक होती है। धर्म और अध्यात्म के श्रेयमय क्षेत्र में भी प्रेय प्रवेश कर गया है। बहुत से लोग प्रेय में ही उलझ कर और उसे ही श्रेय मानकर वास्तविक श्रेय से वंचित रह जाते हैं। यह प्रेय को ही श्रेय समझ लेने वाली पहली भ्रान्ति है। अधिकांश धर्म-सम्प्रदायों का पतन इसी भ्रान्ति के कारण हुआ। व्यक्तिगत साधनाओं में भी प्रायः यह भ्रान्ति रह जाती है। इससे बचना बहुत कठिन है। **अहंकार प्रेय का अन्तिम और अत्यन्त दुर्जेय रूप है।**

उपनिषद् का यह स्पष्ट अभिप्राय है कि श्रेय ही जीवन का श्रेष्ठ लक्ष्य है और उसकी साधना करनी चाहिए। इस साधना के लिए धैर्य और विवेक का सम्बल अपेक्षित है। उपनिषद् श्रेय को आध्यात्मिक मानती है। इसका तात्पर्य यही है कि वह प्राकृतिक, स्वाभाविक और शारीरिक प्रेय से भिन्न है। अध्यात्म दर्शनों में प्रायः इस श्रेय को व्यक्तिगत माना जाता है। यह सत्य है कि आध्यात्मिक श्रेय की

साधना भी व्यक्ति के केन्द्र में शरीर के माध्यम से होती है। किन्तु इस साधना में व्यक्तित्व के केन्द्र का विस्तार अध्यात्म के विशाल क्षितिजों में होता है और शरीर के प्राकृतिक धर्म भी साधना के संस्कार से उन्नत और श्रेयोभिमुख हो जाते हैं। **वस्तुतः आध्यात्मिक साधना का आधार व्यक्ति होते हुए भी वह प्रेयकामी व्यक्ति से भिन्न है।** प्रेय सीमित और स्वार्थमय होता है, अध्यात्म स्वरूप से ही अनन्त है। जीवन और व्यवहार में वह व्यक्तित्वों के समात्मभाव में फलित होता है। इस दृष्टि से उसे सामाजिक श्रेय भी कह सकते हैं। **श्रेय और संस्कृति बहुत कुछ एक दूसरे के पर्याय हैं।** अतः इसे सांस्कृतिक श्रेय कहना एक प्रकार की पुनरुक्ति है। जहाँ श्रेय के व्यापक प्रयोग में अथवा अविवेक की भ्रान्ति में प्राकृतिक प्रेय को भी श्रेय के अन्तर्गत मान लिया जाता है, वहाँ इससे पृथक करने के लिए आध्यात्मिक श्रेय को सांस्कृतिक श्रेय कहना उचित है। वेदान्त के उत्तरकालीन सम्प्रदायों में आध्यात्मिक श्रेय की सामाजिकता का स्पष्ट संकेत नहीं है, किन्तु सभी वेदान्तों का यह सरल सत्य है कि आत्मा व्यक्तिगत और परिछिन्न नहीं है। उपनिषदों में अनेक प्रसंगों में सामाजिक स्नेह और सद्‌भाव में आध्यात्मिक श्रेय की अभिव्यक्ति के स्पष्ट संकेत मिलते हैं।[२४] सर्वात्मभाव में भाव की व्यापक समष्टि है।

अस्तु श्रेय का वास्तविक रूप आध्यात्मिक और सामाजिक है। वह विशेषतः आत्मा का भाव है, जो चेतनाओं के सामंजस्य और समात्मभाव में साकार होता है। प्रेय के भौतिक उपकरण और शारीरिक सुख सहयोगी बन सकते हैं; उनमें कोई आवश्यक विरोध नहीं है। इतना अवश्य है कि श्रेय में समन्वित होने के लिए प्रेय को अपनी प्रकृत उच्छृंखलता छोड़कर एक मर्यादा का अनुशीलन करना होगा। पशुओं के जीवन में तो प्रेय की एक नैसर्गिक मर्यादा है। अतः उसमें अतिचार कम होता है। **बुद्धि, कल्पना, वैभव, संगठन, आदि की समृद्धि के कारण मनुष्य जीवन में अतिचार की सम्भावनाएँ अधिक बढ़ गई हैं।** प्रेय के इस अतिचार से कर्त्ता के व्यक्तिगत हित की भी हानि होती है, साथ ही दूसरों की भी मांगलिक सुविधाओं में बाधा होती है। प्रायः यह अतिचार सामाजिक अत्याचार बन जाता है। इन अत्याचारों की अनेक परम्पराएँ प्रकट और प्रच्छन्न रूप में मनुष्य के इतिहास और समाज में प्रचलित हैं। हमारे सामाजिक जीवन साहित्य और कला में भी प्रेय की बहुत कुछ अतिरंजना रही है। इसका कारण यह है कि प्रेय में एक सहज सुख और आकर्षण है। मनुष्य अनायास प्रेरणा से उसमें अनुरक्त होता है। प्रेय के

अतिचार में भी मनुष्य को तत्काल में अधिक सुख की प्रतीति होती है। अतिचार के अहित विलम्बित परिणामों में ही स्पष्ट होते हैं। उनकी पूर्व कल्पनाओं के लिए बुद्धि का अध्यवसाय अपेक्षित है। किन्तु केवल बुद्धि के अध्यवसाय से प्रेय के अतिचार का निरोध सम्भव नहीं है। **बुद्धि में दृष्टि है, प्रेरणा नहीं है। अतः बुद्धि की धारणाएँ भावना में समन्वित होकर ही जीवन के अनुशासन की प्रेरणा बनती हैं। इस अनुशासन का नाम ही साधना है। संयम इस साधना का तंत्र है। संयम और साधना से मर्यादित होकर प्रेय के प्राकृतिक उपकरण संस्कृति के आधार बनते हैं।** प्रेय की यह मर्यादा उसके अतिचार का निरोध ही नहीं करती वरन् सांस्कृतिक धरातलों पर उसका उन्नयन भी है। निरोध एक निषेधात्मक क्रिया है। यह उन्नयन ही साधना और संयम का भावात्मक फल है। प्राकृतिक दृष्टि से अपने मौलिक धरातल पर रहते हुए भी संस्कृति में अन्वित प्रेय श्रेष्ठ भावों के निमित्त बनते हैं। साधना और संयम का अर्थ प्रेय के स्वाभाविक स्वरूप का हनन अथवा उनके धर्म का खण्डन नहीं है। इस हनन और खण्डन का परिणाम संस्कृति नहीं, विकृति होगी। अतः साधना और संयम का सांस्कृतिक उद्देश्य प्रेय की प्रवृत्ति में स्वस्थ तृप्ति के संतोष का समाधान है। इस समाधान के द्वारा अपने स्वस्थ रूप और धर्म में प्रतिष्ठित प्रेय भावात्मक रूप से सांस्कृतिक उन्नयन और साधना का सक्रिय सहयोगी बनता है। प्रेय के प्राकृतिक धर्मों में सांस्कृतिक भावों का भी अन्वय सम्भव है। इस प्रकार प्रेय के क्षेत्र में सांस्कृतिक भावों का विस्तार और सांस्कृतिक भावों में प्रेय का अन्वय व्यापक सांस्कृतिक समन्वय का मूल सूत्र है। यह समन्वय ही संस्कृति का पूर्ण और स्वस्थ रूप है। यही स्वस्थ कला और काव्य की प्रेरणा तथा उनका लक्ष्य है। इस समन्वय में प्रेय का रूप श्रेय से एकाकार हो जाता है और वह व्यक्तिगत तथा सामाजिक मंगल का माध्यम और साधन बन जाता है।

श्रेय से समन्वित प्रेय की प्रियता अक्षुण्ण रहते हुए भी श्रेय के संस्कार में उसे एक मर्यादा मिल जाती है और वह आनन्द के अनुकूल हो जाता है। शरीर और इन्द्रियों का प्राकृतिक सुख अनर्गल अतिचार से विमुख होकर अपनी सीमाओं में ही मन और आत्मा के आनन्द का सहयोगी बनता है। इस समन्वय में प्रकृति और संस्कृति, प्रेय और श्रेय का भेद नहीं मिट जाता, किन्तु दोनों में सामंजस्य स्थापित हो जाता है। प्रकृति और श्रेय सांस्कृतिक श्रेय के उपकरण बन जाते हैं।

प्राकृतिक पदार्थों और प्रेयों के माध्यम में ही श्रेयों के रूप साकार होते हैं। यद्यपि श्रेय का स्वरूप मन और आत्मा के भाव हैं, किन्तु प्रेय के समन्वित होने पर वे चिन्मय भाव प्राकृतिक पदार्थों और प्रेयों के माध्यम में ही रूप ग्रहण करते हैं। यह श्रेय शिवम् का समानार्थक है। प्रेय के स्वार्थ और सम्भव अनर्थ के विपरीत परार्थ इसका लक्षण है। प्रेय के परिग्रह के विपरीत आत्मदान इस श्रेय अथवा शिवम् का सामान्य स्वरूप है। **आत्मदान दूसरे की विकासशील चेतना में अपनी चेतना की विभूति का भावयोग है।** दूसरे के व्यक्तित्व का गौरव और उसकी स्वतंत्रता का आदर इसका मुख्य लक्षण है। यह आत्म गौरव और आत्म स्वतंत्रता के साथ पूर्णतः संगत है। श्रेय और संस्कृति के क्षेत्र में एक का गौरव दूसरे के गौरव का बाधक नहीं है। श्रेय का आत्मदान एक गौरव-पूर्ण आत्मा का स्वतंत्र धर्म है। इस दृष्टि से स्वतंत्रता के साथ-साथ समानता को भी आत्म-गौरव कह सकते हैं। **श्रेय का आत्मदान एक सृजनात्मक धर्म है।** यह सृजन मुख्यतः सांस्कृतिक श्रेय के चिन्मय भावों की रचना और स्थापना है। यद्यपि यह रचना प्राकृतिक प्रेयों के माध्यम में ही साकार और यह स्थापना जीवन की प्राकृतिक भूमि पर ही होती है। संस्कृति का यह सृजनात्मक रूप एक परम्परा में ही सफल होता है। इस परम्परा के निर्वाह के लिए सृष्टाओं का सृजन अपेक्षित है। आत्मदान का भाव-योग केवल स्वरूप अथवा धर्म से ही सृजनात्मक नहीं है, वरन् वह सृष्टाओं के आत्मनिर्माण की प्रेरणा भी बनता है। **आत्मदान के भाव योग से सृष्टाओं के निर्माण में ही संस्कृति की परम्परा अमर और अक्षुण्ण रहती है।**

दूसरों का गौरव, उनकी स्वतंत्रता का आदर और समानता का भाव आत्म-दान के शिवम् के सृजनात्मक धर्म के भावात्मक लक्षण हैं। किन्तु इनके विपरीत व्यक्ति और समाज कला और साहित्य की ऐसी अनेक निषेधात्मक प्रवृत्तियाँ हैं, जो श्रेय की भावात्मक साधना में अनेक प्रकार से बाधक बनती रही हैं। ये बाधाएँ समाज की श्रेय-साधना में अहितकर हैं। इन बाधाओं के निराकरण के लिए कला, काव्य, साहित्य और सामाजिक व्यवस्था में शिवम् की भावात्मक साधना के तत्वों का सन्निधान अपेक्षित है। **इनमें सबसे प्रथम और महत्वपूर्ण तत्व आलोक-दान है।** आत्मा चिन्मय है, वह स्वप्रकाश और आलोकमय है। अतः आलोकदान एक प्रकार से आत्मदान का ही रूप है। प्रसाद और ऋजुता आलोक के गुण हैं। प्रकाश किरणों की वक्रता उनकी गति की ऋजुता में अन्तर्हित हो जाती है, उसी

प्रकार प्रसाद की ऋजुता में अन्तर्हित आलोक की व्यंजना श्रेयोमय कला और काव्य का मुख्य गुण है। वाल्मीकि, कालिदास और तुलसीदास के काव्य में आलोक और प्रसाद की उज्ज्वल विभूति अवलोकनीय है। आलोक और प्रसाद के उज्ज्वल अवकाश में अपने और दूसरे के जीवन का सांस्कृतिक सत्य प्रकाशित होता है। इस सत्य का प्रकाशन समस्त सांस्कृतिक विकास की आवश्यक भूमिका है। अतः शिवम् की साधना में सबसे अधिक बाधक वे रचनाएँ हैं, जो किसी भी रूप में इस आलोक और प्रसाद के प्रसार में बाधक हैं अथवा उसके अनुकूल नहीं हैं। धर्म और सत्य के सम्बन्ध में स्वतंत्रता और अनारोपण आलोक के विस्तार का मूल स्रोत है। आग्रह और आरोपण इस स्रोत का अवरोध कर सकते हैं। खेद की बात है कि शैली की दृष्टि से जो रामचरित मानस अत्यन्त प्रसन्न और उज्ज्वल है, धार्मिक आरोपण की दृष्टि से वह आलोक के प्रसार में सबसे अधिक बाधक है। रामचरित-मानस में राम को परब्रह्म मानकर उनकी परब्रह्मता की स्थापना बड़े आग्रह के साथ की गई है। यद्यपि यह कहा जाता है कि तुलसीदास ने वैष्णव धर्म और शैव धर्म के सामंजस्य का प्रयत्न किया है। इस प्रसंग में 'शिव-द्रोही मम दास कहावा' आदि के उद्धरण दिये जाते हैं। किन्तु इस सामंजस्य में तुलसीदास का राम के प्रति स्वाभाविक पक्षपात रहा है। उन्होंने राम की भक्ति के लिए शिव के द्रोह को बाधक अवश्य माना है। किन्तु राम के अतिरिक्त अन्य किसी देवता तथा पात्र को समुचित गौरव नहीं दिया है। शिव को राम का भक्त बना कर उन्होंने स्वयं शिव को राम की तुलना में हीन बनाने का प्रयत्न किया है। शिव के विवाह आदि का उपहास-पूर्ण वर्णन करके उन्होंने पाठकों की दृष्टि में शिव के लिए गौरव का कोई अवसर नहीं रखा है। बालि और रावण जैसे राम के प्रतापी शत्रुओं को भी राम का भक्त बनाकर उन्होंने राम कथा के संतुलन को एक-पक्षीय बना दिया। बार-बार राम की महिमा के वर्णन और राम के गुण-गान से राम-चरितमानस का आकाश छाया हुआ है। ऐसे वातावरण में अन्य देवताओं और पात्रों के प्रति उचित आदर का दृष्टिकोण रखना पाठकों के लिये सम्भव नहीं है। राम के महत्व और भक्ति की अतिरंजना अन्य पात्रों के गौरव और अन्य भावों के लिए कोई स्थान शेष नहीं रह गया।

भक्ति के समान शृंगार की अतिरंजना मनोहर होते हुए भी एक ऐसे मोह की सृष्टि करती हैं जिसमें चेतना का स्वतंत्र आलोक मंद हो जाता है। शृंगार,

भक्ति, वैराग्य आदि किसी की भी अतिरंजना और किसी का भी आग्रह आलोक-दान के तथा सांस्कृतिक श्रेय के विकास के अनुकूल नहीं है। अतिशयोक्ति और अलौकिकता भी भ्रम का उत्पादन करने के कारण तथा किसी विश्वास का प्रचार आग्रह के कारण शिवम् की साधना के विपरीत हैं। पर-मत का तिरस्कार, व्यक्ति का अपमान तथा उपहास आदि आलोकदान में ही बाधक नहीं, शिवम् की साधना के लिये अपेक्षित स्वतंत्रता और समानता के भी विपरीत हैं। इन बाधाओं और भ्रान्तियों के विपरीत आलोक और ओज के उज्ज्वल प्रकाश तथा तेजोमयी प्रेरणा से समन्वित होकर शिवम् का आत्मदान सांस्कृतिक श्रेय के विकास की स्फूर्ति बनता है तथा स्रष्टाओं के सृजन की प्रेरणा बनकर सांस्कृतिक श्रेय की समृद्धिशील परम्परा को अमर बनाता है। शैली और तत्व दोनों ही दृष्टि से उक्त बाधा और भ्रान्तियों से मुक्त तथा प्रकाश और प्रेरणा से युक्त काव्य ही वास्तविक शिव-काव्य है।

आलोकदान के अतिरिक्त सृजनात्मक प्रेरणा श्रेय का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व है। सृजन की प्रेरणा जीवन की गतिशील वृत्ति है। गति के लिए दिशा का बोध और मार्ग का प्रकाश अपेक्षित है। अतः सृजनात्मक प्रेरणा भी आलोक के द्वारा ही सफल हो सकती है। **आलोक आत्मा का विस्तार है। प्रेरणा आत्मा की स्फूर्ति है। वस्तुतः आलोक और प्रेरणा आत्मदान के बीज के दो दल हैं।** इन्हीं दो दलों के पोषण से आत्मदान सृजनात्मक परम्परा में सफल होता है। प्रेय में एक सहज आकर्षण होता है। अतः प्रेय पर आश्रित परम्परा का निर्माण और निर्वाह अधिक सरलता से किया जा सकता है। प्रेय की परम्परा कला, साहित्य आदि के सहयोग के बिना व्यावहारिक जीवन में जीवन की अपेक्षाओं के आधार पर भी चल सकती है। वस्तुतः यह इसी रूप में अधिक चलती है। साहित्य और कला में प्रतिष्ठित प्रेय इस परम्परा को दृढ़ बनाने में सहायक हो सकता है। फिर भी साहित्य में प्रेय का ग्रहण समाज में उसकी परम्परा को दृढ़ बनाने के लिये बहुत कम किया जाता है। कुछ धार्मिक और राजनीतिक तंत्रों को छोड़ कर स्वयं साहित्य के क्षेत्र में यह बहुत कम हुआ है। साहित्य के निर्माताओं ने जो प्रेय का ग्रहण साहित्य के उपादान के रूप में किया है वह प्रेय के प्रति सहज आकर्षण से प्रेरित होकर ही किया है। साहित्य में श्रेय का ग्रहण सहज आकर्षण के द्वारा सम्भव नहीं है। श्रेय भी किसी स्थिति में आकर्षक बन सकता है किन्तु यह व्यक्ति और समाज के संस्कारों के आधार पर ही सम्भव हो

सकता है। **संस्कार और संकल्प के आधार पर ही कवि और कलाकार अपनी रचनाओं में श्रेय का ग्रहण करते हैं।** प्रेय के सहज आकर्षण की तुलना में संस्कार और संकल्प दुर्लभ है। इसीलिये कला और काव्य में श्रेय का ग्रहण कम हुआ है। अधिकांश कला और काव्य प्रेय के उपदान में सौन्दर्य की सृष्टि है। जहाँ श्रेय का ग्रहण हुआ है, वहाँ उसमें सौन्दर्य का समन्वय प्रायः कम हो सका है। इसका कारण यह है कि श्रेय का स्वरूप स्पष्ट रखने के लिये अभिधा का आधार आवश्यक होता है। सौन्दर्य की व्यंजना के रंगीन आवरण में श्रेय तिरोहित हो सकता है। श्रेय में एक प्रेरणा अवश्य होती है। **उसमें आलोक और प्रेरणा का संगम होता है।** किन्तु प्रायः श्रेय की प्रेरणा अनुकरणात्मक होती है। सृजनात्मक परम्परा की प्रेरणा के लिये प्रजनन के प्राकृतिक धर्म से लेकर आत्मदान की प्रेरणा तक अनेक भूमियों का जीवन संस्कृति और साहित्य में सन्निधान अपेक्षित है। विस्तृत होने के साथ-साथ यह जटिल ओर कठिन है। अतः कदाचित ही किसी काव्य में यह सम्भव हो सका है। **सबसे बड़ी कठिनाई सौन्दर्य के स्थिर रूप और श्रेय की सृजनात्मक परम्परा के गतिशील रूप के विरोध के कारण उत्पन्न होती है।** सौन्दर्य का सम्मोहन स्थिरता का कारक है। अतः श्रेय की सृजनात्मक परम्परा का काव्य के स्वरूप में समन्वय करना कठिन है। उपादान के रूप में भी इस परम्परा को कदाचित ही किसी काव्य में ग्रहण किया गया है। उपादान के रूप में इसका ग्रहण करके भी सौन्दर्य के स्थिर सम्मोहन के साथ इसका सामंजस्य कठिन है।

प्रेय और श्रेय का विवेचन प्रायः दोनों को एक दूसरे के विरुद्ध मानकर किया जाता है। विरोधी होने पर दोनों एक दूसरे के बाधक बन जाते हैं। कठ उपनिषद् में प्रेय और श्रेय के विरोध का संकेत तो नहीं है, किन्तु उन दोनों को स्पष्ट रूप से भिन्न माना गया है। उपनिषदों की सामान्य धारणा में प्रेय और श्रेय का विरोध स्पष्ट रूप से मिलता है। उपनिषदों का दृष्टिकोण आध्यात्मिक है। श्रेय से उनका अभिप्राय आध्यात्मिक श्रेय से ही है। वेदान्त के मत में लौकिक प्रेय इस आध्यात्मिक श्रेय में बाधक है। इसलिये उपनिषदों और वेदान्त में संन्यास को अधिक महत्व दिया गया है। संसार को मिथ्या मानकर वेदान्त में हेय बताया गया है। वेदान्त का यह मत नितान्त असमीचीन नहीं है। लौकिक प्रेय का मोह सामान्यतः इतना प्रवल होता है कि वह आध्यात्मिक ज्ञान और

आध्यात्मिक श्रेय को तिरोहित कर देता है। लौकिक प्रेय की प्रवृत्ति अध्यात्म के आवरण की ओर है। प्रेय की तनिक भी अतिरंजना होने पर यह आवरण और भी सघन होजाता है। प्रेय में एक स्वाभाविक आकर्षण होता है। अतः उसमें अतिरंजना और अतिचार की सम्भावना भी स्वाभाविक ही होती है। प्रेय की इसी प्रवृत्ति के कारण अपने स्वरूप में निर्दोष होते हुए भी वह समाज के इतिहास में अतिचारों का दोषी बना है। इसी कारण अध्यात्मवादी उसे श्रेय का विरोधी मानते रहे हैं। दो विरोधी तत्वों की संगति अथवा उनका सामंजस्य सम्भव नहीं है। इसीलिये कठ उपनिषद् में उनमें से एक को चुनने की बात कही गई है और धीर पुरुष को उनमें विवेक करने का गौरव दिया गया है। विरोध के साथ-साथ उपनिषदों में इन दोनों के बीच प्रायः होने वाली भ्रान्ति को भी जोर दिया गया है। इसी भ्रान्ति के कारण दोनों के बीच विवेक का महत्व भी माना गया है।

किन्तु उपनिषदों के इस एकांगी दृष्टिकोण से भिन्न एक दूसरा दृष्टिकोण भी सम्भव है। जिसके अनुसार प्रेय और श्रेय का सामंजस्य हो सकता है। यह दृष्टिकोण भी एक प्रकार से आध्यात्मिक ही होगा किन्तु इसके अनुसार प्राकृतिक और लौकिक प्रेय का विरोध आवश्यक एवं अनिवार्य नहीं है। लौकिक प्रेय की अपेक्षा करने के स्थान पर यह दृष्टिकोण उसका उचित आदर करेगा। **फिर भी प्रेय के साथ श्रेय का सामंजस्य अध्यात्म के द्वारा प्राकृतिक प्रेय के संस्कार एवं उन्नयन के द्वारा ही हो सकेगा।** इस दृष्टि से यह सामंजस्य का दृष्टिकोण भी आध्यात्मिक ही रहेगा। क्योंकि प्राकृतिक प्रेय को आदर देते हुए भी इसमें अध्यात्म का प्रभाव ही प्रधान होगा। शैव-तंत्र के दृष्टिकोण में प्रेय और श्रेय का यह सामंजस्य सबसे अधिक संतुलित रूप में मिलता है। शिव और शक्ति का साम्य इस संतुलन का सूत्र है। शैव-दर्शन के शिव वेदान्त के ब्रह्म के समान ज्ञान-स्वरूप है। शक्ति सृष्टि की विधात्री है। शिव और शक्ति के अभिन्न होने के कारण यह सृष्टि मिथ्या नहीं है। सत्य और महत्व की दृष्टि से शिव और शक्ति अथवा आत्मा और प्रकृति का पद समान है। यह समानता ही शैव दर्शन के साम्य का मर्म है। वेदान्त के एकांगी अध्यात्म में आत्मा की अधिक महिमा रही है तथा प्रकृति की भर्त्सना होती रही है। प्रकृति और प्रेय के प्रति इस अन्याय से बचने के लिए शैव-दर्शन ने समानता और साम्य को मानते हुए भी शक्ति को अधिक मान दिया है। शक्ति के

विना शिव को स्थाणु और शव माना जाता है। शक्ति का शिव इतना आदर करते हैं कि वे उसे अपने शीष पर स्थान देते हैं। शिव के मस्तक की चन्द्रकला इसी शक्ति की प्रतीक है। शिव के जटाजूट की गंगा भी शक्ति का ही प्रवाह है। 'कला' सामान्य रूप से सृजनात्मक है। चन्द्रकला के प्रतीक में आलोक, शांति, वृद्धि और आह्लाद का संकेत अधिक है। गंगा की धारा में सृजनात्मक प्रवाह की निरंतरता का विशेष संकेत है। **शक्ति को अधिक मान देकर शैव-दर्शन ने वेदान्त के एकांगी अध्यात्मवाद के अन्याय का परिमार्जन किया है।** किन्तु वस्तुतः उनका सिद्धान्त शक्ति के प्रति पक्षपात नहीं वरन् शिव और शक्ति दोनों का साम्य है। साम्य का मूल अभिप्राय समानता और सामंजस्य ही है। एक को अधिक मान देने से वह साम्य भंग हो जाता है। किन्तु इस साम्य के प्रसंग में सबसे अधिक आशंका दूसरे की हीनता की रहती है। इसी हीनता की आशंका से बचने के लिये परस्पर सम्भावन को साम्य की सुरक्षा का सूत्र माना है। व्रज-परम्परा के 'दोऊ परें पैयाँ' में इस परस्पर सम्भावन का एक उत्तम उदाहरण मिलता है। परस्पर सम्भावन का अभिप्राय एक दूसरे को आदर देना है। इसका तात्पर्य यही है कि प्रकृति और अध्यात्म अथवा प्रेय और श्रेय एक दूसरे के उत्कर्ष में सहायक हों। इनके साम्य और सामंजस्य का यह रूप वेदान्त में प्रतिपादित इनके विरोध के विपरीत है। इस परस्पर-संभावन से युक्त सामंजस्य में ही शैव-दर्शन का साम्य सफल होता है।

उपनिषदों के आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अनुरूप प्रेय प्राकृतिक है और श्रेय आध्यात्मिक है। प्रेय का अभिप्राय उस वस्तु से है जो प्रिय है अथवा प्रिय बनने योग्य है। प्रिय वस्तु वह है जिसे कि हम चाहते हैं। श्रेय का अभिप्राय उस वस्तु से है जो कल्याणकारी है तथा जिससे हमें कृतार्थता प्राप्त होती है। एक दृष्टिकोण से प्राकृतिक वस्तुओं को भी कल्याणकर माना जा सकता है तथा आध्यात्मिक वस्तु को भी प्रिय माना जा सकता है। प्रिय वही है जिसे हम चाहते हैं और जिसके सम्पर्क में हम सुख का अनुभव करते हैं। आत्मा भी हमारी आकांक्षा का लक्ष्य बन सकती है और उसे भी हम चाह सकते हैं। किन्तु वस्तुतः वह हमारे स्वरूप से भिन्न नहीं है, वह हमारा ही आन्तरिक स्वरूप है। अतः आत्मा को चाहना अन्य सुखकारी बाह्य वस्तुओं को चाहने के समान नहीं है। आत्मा का सुख और आकर्षण भी प्राकृतिक वस्तुओं के सुख से भिन्न है। वह एक प्रकार का आलौकिक आनंद है। **अतः सामान्य अर्थ में आत्मा को 'प्रेय' कहना उचित नहीं है।** इसी

प्रकार प्राकृतिक पदार्थों को भी एक अर्थ में कल्याणकारी माना जा सकता है। वे भी किसी सीमा तक हमारे हितकारी हैं। उन्हें प्राप्त कर कुछ कृतार्थता का अनुभव भी हो सकता है। फिर भी उनमें प्रियता का आकर्षण ही मुख्य होता है। **प्रियता और कृतार्थता के भावों को प्रधान मानकर प्रेय और श्रेय में विवेक करना ही उचित है।** कठ उपनिषद् में इनके बीच इसी विवेक को महत्व दिया गया है। चाहे हम प्राकृतिक अथवा आध्यात्मिक पदार्थों में किसी को भी प्रेय अथवा श्रेय दोनों ही मानें किन्तु एक ही पदार्थ के प्रसंग में भी प्रेय और श्रेय के भाव भिन्न हैं। इन भावों की भिन्नता को स्वीकार करने पर एक ही पदार्थ के प्रति हमारे दो भिन्न दृष्टिकोण हो जाते हैं। जब हम प्राकृतिक पदार्थ को प्रेय मानते हैं तो उसके प्रति प्रियता के कारण हमारा मोह और आकर्षण होता है। जब हम उसी प्राकृतिक पदार्थ को श्रेय मानते हैं तो प्रियता के आकर्षण की अपेक्षा हमारा दृष्टिकोण हित और कृतार्थता का होता है। **प्रेय में एक आकांक्षा, अतृप्ति और आकुलता होती है। इसके विपरीत श्रेय शान्ति और तृप्ति प्रदान करता है।** अध्यात्म के श्रेय को सुरक्षित रखने के लिये योगियों ने उसे प्रेय की छाया से बचाया है। योग-दर्शन में अंतिम समाधि को आनंद से ऊपर बताया गया है। वेदान्त के आचार्यों ने समाधि के रसास्वादन को भी बाधक माना है। इस प्रकार प्रेय को आवश्यक रूप से प्राकृतिक तथा श्रेय को आवश्यक रूप से आध्यात्मिक न मानते हुए भी प्रेय और श्रेय के भावों में विवेक करना आवश्यक है।

प्रेय और श्रेय को प्रकृति और अध्यात्म का पर्याय मान कर भी इनमें सामंजस्य की कल्पना की जा सकती है। इस सामंजस्य को समझने और प्राप्त करने के लिये प्रकृति के स्वरूप तथा अध्यात्म के साथ उसके सामंजस्य और विरोध की सम्भावनाओं को गम्भीरता के साथ समझना आवश्यक है। **प्रकृति और प्रेय बहुत कुछ एक दूसरे के पर्याय हैं। प्रकृति का अनुकूल पक्ष सम्वेदना में प्रेय बन जाता है।** अपने स्वरूप में प्रकृति को उदासीन मान सकते हैं। उदासीनता के साथ हित और अहित का प्रश्न नहीं उठता। जब मानवीय जीवन पर प्रकृति के प्रभावों का अंकन किया जाता है तभी हित और अहित के प्रश्न उठते हैं। इन प्रभावों की दृष्टि से प्रेय का बहुत कुछ अंश हित का सूचक सिद्ध होता है। प्रकृति और प्रेय की हितकर सम्भावनाओं के आधार पर ही जीवन का निर्वाह और सभ्यता का विकास संभव हो सका है। **सभ्य जीवन प्रेय और श्रेय का समन्वय ही है।**

किन्तु प्रकृति के श्रेय रूप की कुछ मर्यादाएँ हैं। इन मर्यादाओं के अनुकूल ही प्रेय को श्रेय का गौरव प्राप्त होता है। इन मर्यादाओं का अतिक्रमण करने पर प्रेय श्रेय का विरोधी बन जाता है। जहाँ तक प्रेय हितकर होता है वहाँ तक उसमें श्रेय का भी अन्तर्भाव होता है। इसी प्रकार श्रेय में प्रेय भी सम्मिलित हो सकता है। श्रेय के स्वरूप और उसकी व्यवस्था में जो अनुकूल प्राकृतिक आधार समाहित रहते हैं, वे श्रेय में सम्मिलित प्रेय ही हैं। मर्यादाओं का अतिक्रमण जब श्रेय का खंडन करता है तो उसके साथ-साथ श्रेय में समाहित प्रेय का भी विरोध होता है। इस प्रकार प्रेय की उच्छृंखलता आत्मघाती बन जाती है। इस आत्मघात के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। अधिक भोजन पाचन क्रिया को दुर्बल करके भोजन के आनंद को ही नष्ट कर देता है। काम का अतिचार काम के सुख को नष्ट कर देता है। जीवन को सुखी बनाने के लिये संचित धन चोरों का आकर्षण बनकर जीवन को ही संकटापन्न बना देता है।

प्रेय की उक्त मर्यादाएँ दो प्रकार की हैं। एक मर्यादा प्राकृतिक है। इसे प्रकृति का सहज भाव कह सकते हैं। अपने सहज भाव में प्रकृति बहुत सीमित और सुखकर है। वस्तुतः प्रकृति के सहज भाव में ही उसका प्रेय रूप खिलता है। इस सहज रूप में प्रकृति तीव्र और तृप्तिकर होती है। यही उसकी प्रेयता का लक्षण है। सभ्यता की कृत्रिमताओं और विवशताओं से प्रकृति के प्रेय का यह सहज भाव मंद होता गया है। उसे तीव्र बनाने के लिए सभ्यता में प्रेय की अति-रंजनाएँ हुई हैं। इन अतिरंजनाओं ने प्रेय और श्रेय दोनों का विघात किया है। **प्रेय की दूसरी मर्यादा आध्यात्मिक है।** अध्यात्म मनुष्यों के एक आन्तरिक साम्य का भाव है। प्रकृति के स्वार्थ के विपरीत उसे परार्थ के द्वारा परखा जा सकता है। अध्यात्म का प्रकृति से कोई आवश्यक विरोध नहीं है। अपनी सहज मर्यादा में प्राकृतिक प्रेय अध्यात्म के अनुकूल भी हो सकता है। किन्तु विरोध न होते हुए भी प्राकृतिक प्रेय और अध्यात्म का श्रेय स्वरूप से एक दूसरे के भिन्न है। कठ उपनिषद् में उनके इसी भेद का संकेत किया गया है। अपने सहज भाव में सीमित रहने पर तथा अध्यात्म के परार्थभाव का खंडन न करने पर प्रकृति का प्रेय अध्यात्म के श्रेय के अनुकूल बन जाता है। भारतवर्ष की जैसी धार्मिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं में इस अनुकूलता से भी अधिक प्रेय का श्रेय में समन्वय सम्भव हो सकता है। इस समन्वय में प्रेय का आधार और सहज सुख अक्षुण्ण

रहते हुए भी उसमें अध्यात्म के भाव की प्रधानता होती है। संस्कृति के रूपों में सौन्दर्य इस भाव को अलंकृत करता है। **संस्कृति के ये रूप प्रेय के सत्य, अध्यात्म के श्रेय और कला के सौन्दर्य के संगम हैं।** अपने सहज रूप में सीमित रहने पर 'प्राकृतिक प्रेय' श्रेय के प्राकृतिक और आध्यात्मिक किसी भी रूप का खंडन नहीं करते। ऐसी स्थिति में स्वरूप से भिन्न होते हुए भी प्रेय और श्रेय में विरोध नहीं रहता। प्रेय और श्रेय के विरोध की जो बात कही जाती है, वह तभी कही जाती है, जबकि प्रेय, अतिरंजना के द्वारा अध्यात्म की मर्यादाओं का उल्लंघन करता है। मनुष्य के मोह के कारण यह अतिरंजना प्रायः होती है। प्रेय के इन परिणामों को ध्यान में रखकर प्रेय और श्रेय को प्रायः विरोधी बताया गया है। भारवी के 'हितंमनोहारि च दुर्लभंवचः' में इसी विरोध का संकेत है। प्रेय में सहज आकर्षण होता है। श्रेय संकल्प-साद्य होता है। अतः वह प्रायः प्रिय नहीं होता। उसकी बात भी हमें प्रिय नहीं लगती। भारवि की उक्ति का यही अभिप्राय है।

अस्तु, प्रेय के कई रूप हो सकते हैं। उसका एक रूप शुद्ध और सहज प्राकृतिक प्रेय है। इसी को हम प्राकृतिक श्रेय भी मान सकते हैं। प्रेय का दूसरा रूप अतिरंजित और आत्मघाती प्रेय है। अध्यात्म और संस्कृति के अनुकूल होने पर तथा उनमें अन्वित होने पर प्राकृतिक प्रेय के अन्य रूप बन सकते हैं, जिन्हें श्रेय की प्रधानता के कारण धार्मिक अथवा सांस्कृतिक श्रेय कहना होगा। आध्यात्मिक श्रेय के अतिरिक्त श्रेय का अन्य कोई ऐसा रूप नहीं है जो अपने कैवल्य में स्थित रह सके। अध्यात्म का कैवल्य एक अनिर्वचनीय तत्व है। साधना के द्वारा ही उसका आभास मिल सकता है। उसका अधिक विवेचन सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त श्रेय के सभी रूप प्राकृतिक प्रेयों के उपादानों में साकार होते हैं। ये उनसे भिन्न नहीं हैं, जिन्हें हमने ऊपर धार्मिक और सांस्कृतिक श्रेय का नाम दिया है।

प्रेय और श्रेय के इन सभी रूपों को कला और काव्य में स्थान मिला है। इतना अवश्य कहना होगा कि कला और काव्य में प्रेय की ही प्रधानता है। कुछ काव्य में प्रेय के सहज रूप का वर्णन भी मिलता है। किन्तु जिस प्रकार सभ्यता में प्रेय का यह सहज रूप भंग होता गया, उसी प्रकार साहित्य में भी उसका स्थान कम होता गया। प्रेय के अतिरंजित रूप काव्य और कला के ही उपादान बने हैं। किसी सीमा तक कला और काव्य ने इस अतिरंजना में योग भी दिया है। श्रेय

का शुद्ध आध्यात्मिक रूप अनिर्वचनीय है। साहित्य और कला में उसका निरूपण कठिन है। पश्चिमी चिंतन में इस आध्यात्मिक श्रेय की गवेषणा और साधना भी अधिक नहीं हुई है। अध्यात्म की साधना भारतीय परम्परा की एक महती विशेषता है। उसी के अनुरूप अध्यात्म का काव्य भारतीय साहित्य का विशेष गौरव है। भक्ति के काव्य में भी अध्यात्म के भाव की विपुलता है। अध्यात्म और भक्ति का इतना विपुल काव्य किसी भी अन्य देश में दुर्लभ है। जिसे हमने धार्मिक और सांस्कृतिक श्रेय कहा है, उसकी ओर कवियों का ध्यान कम गया है। अध्यात्म में प्रेय के अन्वय की प्रणाली को कवि और कलाकार अधिक ध्यान नहीं दे सके। इसका कारण यही है कि अध्यात्म के साधक संत कवियों के अतिरिक्त अन्य अधिकांश कवि अपनी भावना में प्रेय से ही अधिक प्रभावित रहे और उस सामंजस्य को अधिक ध्यान न दे सके जो श्रेय के उक्त रूपों का आधार है। संसार की भाषाओं में धार्मिक काव्य कम हैं। जो कुछ मिलता है उसमें मर्यादित प्रेय का पर्याप्त सामंजस्य नहीं है। हिन्दी का भक्ति काव्य भी इसका अपवाद नहीं है। प्राय: धर्म, भक्ति और अध्यात्म का काव्य अपने स्वरूप में सीमित रहा है। अनेक बार प्रमाद वश उसने प्रेय और श्रेय दोनों का खंडन भी किया है। सांस्कृतिक श्रेय की कल्पना में प्रेय, श्रेय और सौन्दर्य का जो सामंजस्य अपेक्षित है उसकी ओर कवियों का ध्यान कम गया है। आधुनिक युग में कामायनी और उर्वशी में इस सामंजस्य का प्रयास अधिक स्फुट रूप में दिखाई देता है। किन्तु दोनों में ही प्रेय की प्रबलता है। इनमें अध्यात्म के साथ प्रेय अथवा काम का ऐसा सामंजस्य सफल नहीं हो सका है, जैसा कि कवियों को अभीष्ट रहा है। इसका कारण यह है कि कवियों की धारणा में इस सामंजस्य के सूत्र और सिद्धान्त स्पष्ट नहीं हैं। पार्वती में कदाचित ये सूत्र अधिक स्पष्ट और दृढ़ हैं।

अध्याय ३२

संस्कृति और काव्य में प्रेय

प्रेय का अनुराग सहज और स्वाभाविक है। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि साहित्य के इतिहास में प्रेय काव्य ही अधिक है और वही अधिक लोकप्रिय है। जिन कवियों कि प्रतिभा ज्ञान के आलोक से प्रकाशित और सामाजिक श्रेय से प्रेरित होती है, उन्होंने अपनी कृतियों में श्रेय के तत्वों का भी ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। वाल्मीकि, कालिदास, सूर, तुलसी, रवीन्द्र, प्रसाद आदि महान कवियों के प्रयत्न इसी ओर रहे हैं। प्रकृति का परित्याग न तो सम्भव है और न हितकर। अतः प्रकृति और प्रेय का काव्य में ग्रहण स्वाभाविक और उचित है। यदि कोई विचारणीय प्रश्न हो सकता है तो यही कि इन कृतियों में प्रेय का ग्रहण किस रूप और मात्रा में तथा किस मर्यादा के साथ हुआ है। प्रेय के केवल प्रेय के रूप में ग्रहण करने से तो प्रेय काव्य की सृष्टि ही हो सकती है। शिवकाव्य का उपादान बनने के लिए प्रेय को मर्यादा का संस्कार अपेक्षित है। भक्ति काव्य को छोड़कर शेष संस्कृत और हिन्दी के काव्य के विषय में यदि यह कहा जाए कि उसमें प्रेय की ही प्रधानता है तो अनुचित न होगा। काव्य के इस प्रेय उपादान को शिवं का संस्कार भी बहुत कम प्राप्त है। इस सबका कारण प्रकृति की प्रबलता और उसकी प्रभविष्णुता ही है। कवि भी मनुष्य है। प्रतिभा होते हुए भी प्रकृति की प्रेरणाएँ उसके मन में भी दूसरों के समान होती हैं। सामान्यतः प्रतिभा केवल एक प्रकाश है। वह सत्य को आलोकित करती है। सत्य स्वरूपतः निरपेक्ष है। इसीलिए वह विज्ञान और तत्व-शास्त्र का विषय है। सत्य का निरपेक्ष रूप अनिवार्यतः शिव नहीं है। आत्मदान की भावना और साधना के संयोग से वह शिव बन सकता है। साधना के समन्वय के अभाव के कारण ही विज्ञान, धर्म और तत्व-शास्त्र के अनेक तत्व मंगलमय बनने में असमर्थ रहे। **साधना प्रकृति अथवा स्वभाव नहीं है, वह एक आत्मिक अध्यवसाय है जिसे सजग चेतना के द्वारा ही प्रेरित किया जा सकता है।** इसके लिए भी साधना और शिवं के स्वरूप का प्रतिभा में आलोकित होना आवश्यक है। इसलिए प्रतिभा और सत्य का स्वरूप शिवं के

विना अपूर्ण रहता है। ऐसी पूर्ण प्रतिभा दुर्लभ है। अतः हम बुद्धि के चमत्कार के रूप में ही उसे मानते आए हैं। इस अपूर्ण प्रतिभा के द्वारा सत्यं और सुन्दरम् के अद्भुत रूपों का उद्घाटन हुआ है, किन्तु शिवं के पूर्ण रूप की प्रतिष्ठा काव्य में कम हो सकी। जीवन के समान साहित्य में भी शिवं की प्रतिष्ठा के लिए साधना अपेक्षित है। इसीलिए प्राचीन ऋषियों के काव्य में ही वह अधिक मिलता है। उनका जीवन भी साधनामय था। वाल्मीकि के समान साधनामय जीवन वाले कवि दुर्लभ हैं। इसीलिए वाल्मीकि रामायण के समान शिव काव्य भी विरले ही हैं। मनुष्य के सहज स्वभाव के कारण अधिकांश कवियों के जीवन में प्रकृति और प्रेय का प्रभुत्व ही अधिक रहा है। सत्य के उद्घाटन में प्रेय का प्रभाव प्रतिभा का वन्धन नहीं बनता, इसीलिए संसार में शिव-काव्य की सृष्टि करने वाले कवियों की अपेक्षा महान वैज्ञानिक और तत्वदर्शी दार्शनिक अधिक संख्या में हुए हैं। सुन्दरम् की अभिव्यक्ति में भी प्रतिभा का कौशल प्रेय के प्रभाव से मन्द नहीं होता। इसके विपरीत यदि प्रेय ही कला और काव्य का विषय हो तो प्रेय का अनुराग प्रतिभा को और अधिक स्फूर्ति देता है। **इसीलिए कला और काव्य के क्षेत्र में जहाँ शिवं दुर्लभ है वहाँ सुन्दरम् की प्रचुरता है।** सुन्दरम् प्रतिभा का चमत्कार है। शिवं साधना का फल है जो प्रेय के अतिरंजित अनुराग से बाधा पाता है। प्रेय के संस्कार और मर्यादा की भूमि पर उसकी साधना संभव और सफल हो सकती है।

साधना का इतना सम्बल वहुत कम कवियों के जीवन में प्राप्त हो सका। कवि भी मनुष्य है। उसकी प्रतिभा के चरण भी प्रकृति की भूमि पर रहते हैं। किन्तु कवियों की दृष्टि भी वैज्ञानिकों की अपेक्षा इस प्रकृति पर अधिक रही है। **वैज्ञानिक जहाँ प्रकृति को तटस्थ दृष्टि से देखता है, वहाँ कवि की दृष्टि में वासना का रस रहता है।** अपनी प्रकृति के प्रभाव के साथ-साथ प्रकृति का एक सामाजिक प्रभाव भी कवि को वाध्य करता है। दूसरों से प्रशंसा और अनुमोदन की आकांशा स्वाभाविक होती है। यह व्यक्ति की प्रकृति का सामाजिक पक्ष है। **मृत्यु के भय के समान यह यश की कामना भी बालकों से लेकर बड़े-बड़े सन्त महन्तों तक की दुर्बलता है।** समाज में अपने को अन्य सब कसौटियों से हीन पाने वाले कवि के लिए इससे प्रभावित होना अत्यन्त स्वाभाविक है। **केवल रचना को अपने कृतित्व का अन्तिम लक्ष्य मानकर संतोष कर लेना बहुत कठिन है।** भवभूति

जैसे आत्मविश्वासी और प्रतिभाशाली कवि को भी समाज की उपेक्षा से क्षोभ हुआ था। काव्य प्रकाश के कर्त्ता वाग्देवतावतार श्री मम्मटाचार्य ने भी जहाँ निःश्रेयस को काव्य का अन्तिम लक्ष्य माना है वहाँ यश को उसका प्रथम प्रयोजन कहा है। जीवन में मंगलमयी साधना की स्वल्पता और प्रकृति के सहज अनुराग के साथ-साथ यश की कामना से प्रेरित होकर ही अधिकांश कवि ऐसे काव्य की रचना में प्रवृत्त हुए हैं जो प्रेय की प्रधानता के कारण आत्म संतोष के साथ-साथ उनकी सामाजिक कीर्ति का भी साधन बना। यह स्पष्ट है कि काव्य के ये रूप पूर्ण अर्थ में कवि के अन्तिम लक्ष्य नहीं बन सके। **प्रकृति के अनुराग तथा अर्थ और यश की कामना से प्रेरित काव्य सुन्दर तो हो सकता है किन्तु उसका शिव होना अत्यन्त संदिग्ध है।** साधारण पाठक-समाज में भी प्रकृति और प्रेय का अनुराग ही अधिक होता है, अतः उनकी रुचि के अनुरूप उपादानों को काव्य का विषय बनाने वाले कवि ही अधिक लोकप्रिक और यश के भागी बनते हैं। शृंगार और भक्ति के काव्य की लोकप्रियता का यही रहस्य है।

अस्तु कवियों के जीवन में साधना की कभी और प्रेय के प्रति सहज अनुराग होने के कारण काव्य में प्रेय का ग्रहण ही अधिक हुआ है। यश की कामना और पाठकों के प्रेय का अनुरंजन करके उसकी प्राप्ति के मोह ने काव्य में प्रेय के प्रश्रय को और भी अधिक दृढ़ किया है। जहां तक यह प्रेय काव्य प्रकृति का ही पोषण करता है वहाँ तक उसे प्रकृति काव्य ही कहा जायगा। सांस्कृतिक काव्य उसी को कहा जा सकता है जिसमें प्रेय और प्रकृति का ग्रहण करते हुए भी उनमें श्रेय के संस्कार का समवाय हो। **प्रेय और प्रकृति के विभिन्न रूपों का श्रेय के विविध रूपों से समन्वय होने पर ही काव्य शिव और संस्कृत बनता है।** श्रेय के ये विविध रूप शिवं के सामान्य स्वरूप में समवेत रहते हैं। शिवं का स्वरूप आत्मदान ही है। यह आत्मदान दूसरों की चित्त-सम्पत्ति में अपनी चित्त-सम्पत्ति का भाव-योग है। यह भावयोग मूलतः एक आत्मिक व्यापार है, किन्तु जिस प्रकार प्रकृति की सत्ता और उसके धर्म से आत्मा का कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार आत्मा के भाव-योग से प्रकृति के उपकरणों और व्यापारों का कोई विरोध नहीं है। जीवन की निसर्ग व्यवस्था में प्रकृति आत्मा का माध्यम है। जीवन में आत्मा और प्रकृति के साथ-साथ प्रकृति के संस्कार की शक्ति भी उद्भूत हुई है। अतः प्रकृति के उपकरणों और व्यापारों के माध्यम से आत्म-दान के भावयोग की मंगलमयी विधि सम्भव ही

नहीं वरन् जीवन की कृतार्थता का समीचीन मार्ग है। अतः यद्यपि आत्मदान का स्वरूप एक स्वतंत्र और आत्मिक व्यापार है किन्तु लोक व्यवहार में प्रकृति के उपकरणों और व्यापारों के माध्यम से इसका स्थूल और लौकिक रूप निर्मित होता है। आत्मदान का यह स्थूल और लौकिक रूप पूर्णतः प्राकृतिक नहीं है। आत्मा के भाव-योग का संस्कार प्राप्त करके यह जीवन का एक स्वतंत्र और सांस्कृतिक धर्म बन जाता है। **प्रकृति के पदार्थों और धर्मों का जो व्यापार पूर्णतः प्राकृतिक नहीं है उसे आत्मा के अन्तर्भाव की विभूति प्राप्त है। इस प्रकार जीवन में आत्मा का भावानुयोग प्राप्त कर प्रकृति के उपकरण और व्यापार संस्कृति की विभूति बनते हैं।** संस्कृति की यथार्थता और प्रकृति की कृतार्थता का यही मार्ग है। भक्ति में भावना के महत्व, आतिथ्य में प्रेम के महत्व तथा सभी सामाजिक सम्बन्धों में वस्तु की अपेक्षा आत्मा के भाव के महत्व का यही कारण है। गीता के पत्रं-पुष्पं, शबरी के बेर, विदुर की भाजी, द्रोपदी की रसोई और सुदामा के तन्दुल इस आत्मविभूति से ही अमर गौरव को प्राप्त हुए।

जीवन और संस्कृति में प्रकृति के समायोजन और संस्कार का जो मार्ग है वही मार्ग उसके लिए काव्य में भी अनुसरणीय है। जीवन की भांति काव्य में भी प्रकृति के उपकरणों और धर्मों का ग्रहण स्वाभाविक तथा समीचीन है। **किन्तु काव्य को शिव और संस्कृत रूप देने के लिए उनमें आत्मा के अनुयोग की भावना देना भी आवश्यक है। इसी भावना से प्रकृति के प्रेय जीवन के श्रेय और संस्कृति के रस बनते हैं।** प्रकृति के प्रेयों का ग्रहण तो स्वाभाविक होने के कारण प्रायः सभी काव्यों में होता है, किन्तु उनमें आत्मा के भाव-संस्कार का अनुयोग बहुत कम को प्राप्त हुआ है। जिनकी यह धारणा है कि प्रकृति के अतिरंजित चित्र दुष्परिणामों के प्रभाव से वैराग्य में सहायक होते हैं वे भ्रम में हैं। भागवत धर्म की श्रृंगारमयी परम्परा के साहित्य और धार्मिक जीवन में जो विकृत परिणाम हुए हैं, उनसे इसकी पुष्टि होती है। मंदिरों की कथा और भक्ति तथा श्रृंगार के साहित्य में श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध की लीलाओं का ही प्राधान्य होना यही सूचित करता है कि धर्म की छाया में जीवन और काव्य दोनों में प्रकृति का ही पोषण होता रहा। यह स्वाभाविक था क्योंकि धर्म और काव्य के इस रूप में आत्मा के संस्कार का स्पष्ट योग नहीं था। प्रतीकवाद के अनुसार इस श्रृंगारमय भक्ति-काव्य की आध्यात्मिक व्याख्या की जा सकती है। **किन्तु जब तक इन प्रतीकों में**

आध्यात्मिक अन्वय का असंदिग्ध सूत्र अन्तर्निहित नहीं होता तब तक इनका प्रयोजन सफल नहीं हो सकता। प्रतीकों की प्राकृतिक रमणीयता उसके लौकिक अर्थ के ग्रहण की ओर ही मन को प्रवृत्त करती है। भागवत धर्म और भक्ति-काव्य में इस शृंगारिक प्रतीकवाद का परिणाम भी यही हुआ कि ये प्रतीक अपने प्रयोजन में निष्फल रहे हैं। रम्भा-शुक सम्वाद के स्पष्ट उपदेश, भागवत के भ्रान्त प्रतीक, रघुवंश के अन्तिम सर्ग के वैराग्यमय परिणाम, इन काव्यों में संस्कार के साधक नहीं बन सके, क्योंकि इनमें चित्रित प्रकृति के प्रेयों की रमणीयता रमण की वृत्ति को ही पाठक के मन में पोषित करती है। वाल्मीकि रामायण और रामचरित-मानस दो ही ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं जिनमें प्रकृति के उन्नयन के संस्कार अभीष्ट रूप में सन्निहित हैं। कालिदास के काव्यों और प्रसाद की कामायनी में प्रेय और शृंगार के स्थल अधिक रमणीय बने हैं और पाठकों की रुचि भी उन्हीं में अधिक रही है। पाठ्य-क्रमों में मेघदूत और कामायनी के आरम्भिक सर्गों का प्रचलन इस तथ्य का समर्थन करता है। अश्वघोष के सौन्दरनन्द काव्य का उद्दिष्ट नन्द का वैराग्य ही है। किन्तु विद्यार्थियों और पाठकों में उसके आरम्भिक शृंगारमय सर्ग ही अधिक प्रचलित हैं। हिन्दी के रीतिकालीन और छायावादी काव्य में तो क्रमशः व्यक्त और अव्यक्त रूप में शृंगार की ही प्रधानता है।

अस्तु अधिकांश काव्य में प्राकृतिक प्रेयों का ही ग्रहण अधिक हुआ है। यह स्वाभाविक है। प्रकृति के उपकरणों के समान प्राकृतिक प्रेयों में भी एक सहज आकर्षण और आमंत्रण है। वे सहज सुन्दर हैं। इसी कारण काव्य के सहज उपादान बने हैं। **प्राकृतिक प्रेय स्वतः अशिव नहीं है।** ये प्राकृतिक प्रेय भी काव्य में चेतना के भाव बनकर ही व्यक्त होते हैं। अतः एक रूप में इन्हें शिव का भाव भी सहज प्राप्त हो जाता है। किन्तु इनके मूल स्वरूप में प्रकृति के स्वार्थ की सीमाएँ सन्निहित होने के कारण ये शिवं के सामान्य स्वरूप में कठिनता से ही अन्वित हो पाते हैं। प्रकृति और स्वार्थ में रूढ़ होने के कारण ये मनोहर होते हैं। इसीलिए प्रेय काव्य इतना लोकप्रिय है। प्रेय भावों में प्रकृति की सहज अभिव्यक्ति हुई है अतः वे निसर्गतः सुन्दर हैं। **प्राकृतिक मर्यादा के सहज रूप में इन प्रेयों का मनुष्य और समाज के मंगल से कोई विरोध नहीं है। किसी सीमा तक यह भी सत्य है कि वे सांस्कृतिक मंगल के आधार और साधन हैं। प्राकृतिक प्रेयों को सांस्कृतिक श्रेयों की सुन्दर भूमिका मान सकते हैं।** सांस्कृतिक व्यवस्था में उनका यही उचित स्थान है।

उनकी यह मर्यादा ही संस्कृति के साथ उनके अन्वय का सूत्र है। **प्रकृति की मर्यादा संस्कृति का आरम्भ है। इस मर्यादा के सूत्र के द्वारा ही संस्कृति के भावों में अन्वित होकर प्रकृति कल्याणी बनती है।** शिव और संस्कृत काव्य में भी प्रकृति के संस्कार की यही प्रणाली है। मनुष्य जीवन में प्राकृतिक प्रेयों के श्रेय में अन्वय का कोई नैसर्गिक विधान नहीं है। पक्षुओं के जीवन में एक प्राकृतिक मर्यादा है। किन्तु मनुष्य के जीवन में मन की उच्छृंखल गति के कारण इस मर्यादा के अतिचार की सम्भावनाएँ ही अधिक रहती हैं। अतः मनुष्य जीवन में यह मर्यादा सचेतन अनुशासन और सजग साधना के रूप में ही प्रतिष्ठित हो सकती है। इसी मर्यादा की साधना के लिए मनुष्य के इतिहास में नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक अनुशासनों के दर्शन विकसित हुए।

निसर्ग प्रकृति की प्रेरणा और प्रक्रिया इतनी प्रबल है कि प्रकृति के अनुशासन के समस्त विधान प्रायः असफल होते रहे हैं। मनुष्य के जीवन और इतिहास की भाँति उसके कला और काव्य में भी प्रकृति की यह विवशता और मर्यादा की असफलता प्रकट होती रही है। जीवन की भाँति ही काव्य में भी प्राकृतिक प्रेयों का ग्रहण प्रचुरता से हुआ है। ये प्रेय-काव्य प्रकृति का रंजन करने के कारण लोकप्रिय और रमणीय बने। यह साहित्य के निम्न लोक की बात है किन्तु यह सत्य है कि प्राकृतिक प्रेयों का जितना उच्छृंखल और अमर्यादित रूप साहित्य में होता है, वह उतना ही अधिक लोकप्रिय होता है। माया, जासूस आदि पत्रों की लोकप्रियता का यही रहस्य है। सिनेमा के आधुनिक प्रचार का कारण भी यही है। लोक-संस्कृति के रूपों में भी उसके कुछ आभास मिल सकते हैं। सामाजिक शील का शिष्टाचार उसकी सहज मर्यादा बन गया है। अन्यथा इनमें प्रेय का मनोहर रूप प्रचुरता से व्याप्त है। प्रेम और तिलिस्म की कहानियाँ तथा सिनेमा में प्रेय के अतिरंजित और अमर्यादित रूप का कारण व्यापार का मोह है। कला और काव्य की कृतियाँ इन दोनों सीमाओं के बीच में है। उन्हें एक ओर सामाजिक शील का अनुशासन प्राप्त नहीं है किन्तु दूसरी ओर व्यापार का मोह भी उनकी अतिरंजना का कारण नहीं बन सकता। प्रणेता और सीमित पाठक वर्ग की मनोभावनाएँ इस प्रेय के स्रोत और उसकी सीमा हैं। किन्तु अधिकांश काव्य को प्रेममय बनाने के लिए ये दो ही उपकरण पर्याप्त हैं। वाल्मीकि रामायण, रामचरित-मानस, भक्ति-काव्य आदि को छोड़कर संस्कृत और हिन्दी के साहित्य में प्रेय काव्य की

प्रचुरता है। **वस्तुतः भारतीय काव्य-शास्त्र का आधार भूत रस सिद्धान्त इसकी मूल प्रेरणा है। शान्त के अतिरिक्त सभी रसों के स्थायी भाव इस प्रेय प्रकृति के ही आन्तरिक रूप हैं। विभाव अनुभाव आदि उसके बाह्य उपकरण हैं। यद्यपि काव्य-शास्त्र के प्रणेताओं ने निःश्रेयस को काव्य का अन्तिम लक्ष्य माना है, किन्तु वस्तुतः इस निःश्रेयस के साधक बहुत कम काव्य हैं।** रघुवंश के अन्तिम सर्ग की भाँति शृंगार विलास के दुष्परिणामों की ओर संकेत कर देने से साहित्य और संस्कृति को निःश्रेयस का मार्ग नहीं मिलता। 'रम्भा-शुक सम्वाद' जैसी उपदेशात्मक कृतियों में भी रम्भा के वचनों के समान प्रकृति के उत्तेजक भावों का ही अधिक प्रभाव पड़ता है। श्रीमद्भागवत, गीत गोविन्द आदि के तथा-कथित अध्यात्म की असफलता का भी यही रहस्य है। हिन्दी का रीतिकालीन काव्य और कृष्ण सम्प्रदाय के पीठों की गति इस असफलता के प्रमाण हैं। **काव्य-शास्त्र ने स्वयं शृंगार को रसराज मानकर प्रकृति के इस रंजन का बीज साहित्य के स्थायीभाव के रूप में आरोपित किया है।** हमारे अधिकांश काव्य ग्रन्थ इसी बीज से निकले हुए साहित्य वृक्ष के पल्लव, पुष्प और फल हैं। व्यक्ति की रचनाओं पर सामाजिक शिष्टाचार का अनुशासन भी नहीं रह सकता। इसीलिए इन काव्यों को लोक-गीतों की भाँति समाज की मर्यादा का सहज संस्कार भी प्राप्त नहीं है।

प्रेय को रमणीय रूप में प्रस्तुत करके जीवन में केवल प्रेय का अनुराग पोषित करने वाले काव्य शिव और संस्कृत काव्य नहीं कहे जा सकते। **प्रकृति और प्रेय जीवन के आवश्यक साधन हैं। उनमें स्वरूपतः कोई दोष नहीं है किन्तु जीवन और काव्य में उनको मनुष्य का साध्य बना देना मूल्यों के सांस्कृतिक सम्बन्धों का विपर्यय है।** आधुनिक युग में वंचितों और दलितों के प्राकृतिक अधिकारों को काव्य का विषय बनाने वाले कवि प्रेय को पोषित करने वाले कवियों की अपेक्षा सत्य और श्रेय के अधिक निकट हैं। किन्तु हिन्दी और संस्कृत का अधिकांश शृंगार काव्य (और दोनों में शृंगार की ही प्रचुरता है), प्रायः इस विपर्यय का दोषी है। उसमें प्रेय और शृंगार को साध्य के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। दोनों का ऐसा अतिरंजित रूप किसी भी सर्वजन हितकारी व्यवस्था में स्थान नहीं पा सकता। इनकी यह अतिरंजना आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टि से ही दोषपूर्ण नहीं है, वरन् सामाजिक दृष्टि से भी मनुष्य के गौरव और उसकी स्वतंत्रता के अनुकूल नहीं है। शृंगार और विलास की अतिरंजना नारी के गौरव और स्वातंत्र्य के प्रतिकूल है।

साथ ही इस अतिरंजित विलास की आर्थिक भूमिका भी राजसी और पूंजीवादी अर्थतंत्र में ही संभव हो सकती है। प्रगतिवादी आलोचकों का यह आरोप कि यह अधिकांश काव्य पूंजीवादी और सामन्तवादी परम्परा का काव्य है, नितान्त निर्मूल नहीं है। प्रेय और प्रकृति काव्य के उपादान हो सकते हैं। **प्रेय काव्य भी शिव काव्य हो सकता है।** कम से कम प्रेय काव्य का अशिव होना आवश्यक नहीं है। किन्तु जो प्रेय काव्य आर्थिक अथवा सामाजिक किसी भी रूप में मनुष्य के गौरव, उसकी स्वतंत्रता आदि जीवन के मंगल-विधानों का अति-क्रमण करता है वह असंदिग्ध रूप से अशिव है। यह अत्यन्त खेद की बात है कि हमारा अधिकांश काव्य इस अशिवता के दोष से दूषित है।

प्रकृति और प्रेय का एक ऐसा सहज और निसर्ग रूप भी हो सकता है, जो जहाँ एक ओर सचेतन संस्कारों के अभाव के कारण अधिक संस्कृत भी नहीं कहा जा सकता तथा दूसरी ओर बुद्धि के अतिरंजित विलास से रहित होने के कारण विकृतियों से भी मुक्त होता है। बनवासी मुनियों और वन्य जातियों के जीवन में इस सरल प्राकृतिक जीवन का रूप देखा जा सकता है। ये बनवासी न प्रकृति से अनभिज्ञ होते थे और न प्राकृतिक धर्मों से विमुख होते थे। प्रकृति 'जीवन' का एक सहज भाव है। उसके धर्म पशुओं के जीवन में भी नैसर्गिक नियमों से संचा-लित होते हैं। जहाँ यह प्राकृतिक धर्म चेतना के संस्कारों से परिष्कृत नहीं हुए हैं तथा बुद्धि के विलास से विकृत नहीं हुए हैं वहाँ मनुष्यों के जीवन में भी पशुओं के समान निसर्ग नियमों के अनुकूल वे संचालित होते हैं। **वस्तुतः इस नैसर्गिक भाव में ही प्रकृति स्वस्थ रहती है। स्वस्थ प्रकृति निसर्गतः शिव है।** पशुओं की भाँति उसमें एक प्राकृतिक मर्यादा है। वह मर्यादा एक सचेतन विधान न होते हुए भी शिवं के सिद्धान्तों के अनुकूल है। मनुष्य के गौरव और उसकी स्वतंत्रता की हानि प्रकृति के नैसर्गिक धर्मों से नहीं होती वरन् मन और बुद्धि के सहयोग से प्रकृति के अतिचार द्वारा होती है। **मनुष्य जीवन में मन और बुद्धि के विकास से जहाँ एक ओर सभ्यता और संस्कृति के विकास की प्रेरणायें मिली हैं वहाँ दूसरी ओर अतिचार और विकृति की सम्भावनाएँ भी पैदा हुई हैं।** संस्कृति में प्रकृति के समन्वय के लिए प्रकृति के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। स्वस्थ और निसर्ग प्रकृति संस्कृति का दृढ़ आधार है। संस्कृति इस आधार पर कुछ प्राकृतिक उप-करणों से तथा कुछ आत्मिक उपादानों से आत्मभाव का विस्तार है। यह आत्म-

भाव ही शिवं है। इसीलिए शिवं को संस्कृति का महत्वपूर्ण तथ्य माना जाता है। **स्वस्थ प्रकृति के आधार, उसके आत्मभावना-युक्त विस्तार और स्वतंत्र आत्मभाव को हम संस्कृति के तीन लोक कह सकते हैं।** मंगलमय जीवन और संस्कृति में इन तीनों की एक संगतिपूर्ण व्यवस्था थी। वैदिक और उपनिषद् काल का जीवन इसका प्रमाण है। नागरिक सभ्यता के विकास के बाद भी मुनियों के आश्रमों और वन्य जातियों में यह जीवन सुरक्षित था। अभिज्ञान शाकुन्तल की सरल प्रकृति साहित्य में इसका एक श्रेष्ठ उदाहरण है।

नागरिक सभ्यता की कृत्रिमताओं ने मंगलमयी संस्कृति के तीन लोकों की संगति भ्रष्ट कर दी है। प्रेय पर आश्रित होने के कारण नागरिक सभ्यता में सुख और सुविधाओं के विधान ही बढ़ते गये। बुद्धि की अतिरंजनाओं से इनका विकास विलास की ओर होता गया। नागरिक जीवन के इतिहास में सभ्यता की यह विलासमुखी गति देखी जा सकती है। अधिकांश काव्य इसी गति का कलापूर्ण लेखा है। **नागरिक सभ्यता की इस विडम्बना के दो कारण हैं।** एक तो यह है कि उपनिषद् काल के बाद विकसित होने वाले एकांगी अध्यात्मवाद ने जहाँ शिक्षित जीवन को आत्मभाव से अनुप्राणित करने का प्रयत्न किया वहाँ दूसरी ओर स्वस्थ प्रकृति के आधार को सुरक्षित रखने की चेष्टा नहीं की। वस्तुतः अध्यात्मवाद के आचार्य नागरिक जीवन की विकृति और अतिरंजित प्रकृति को अध्यात्म में बाधक मानने के कारण उसकी भर्त्सना को दर्शन की आवश्यक भूमिका मानने लगे। **इस विक्षोभ में वे अध्यातम और संस्कृति दोनों के लिए स्वस्थ प्रकृति के महत्व को भूल गये।** परिणाम यह हुआ कि एकांगी होने के कारण वह अध्यात्म असफल रहा। दूसरा कारण नागरिक जीवन की सुविधाओं और विलास का आकर्षण था। इस आकर्षण ने न तो स्वस्थ प्रकृति के आधार को सुरक्षित रहने दिया और न अध्यात्म के आत्म-भाव को ही सफल होने दिया। आधार और लक्ष्य के विशृंखल हो जाने पर उनका संयोजक सेतु व्यर्थ हो जाता है। इसी कारण भारतीय काव्य में आत्मभाव से अनुप्राणित स्वस्थ प्रकृति का चित्रण वाल्मीकि रामायण और शाकुन्तल के अति-रिक्त बहुत कम है। शाकुन्तल में भी राजा दुष्यन्त के अतिचार से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि उस प्राचीन काल में भी नागरिक सभ्यता की उच्छृंखलता वन्य जीवन की स्वस्थ प्रकृति को विकृत बनाने लगी थी।

मंगलमयी संस्कृति के तीनों लोकों की संगति के विच्छिन्न हो जाने के कारण

काव्य में तीनों लोकों में से एक की भी समुचित प्रतिष्ठा नहीं हो सकी। उसके स्थान पर अतिरंजित प्रकृति का बौद्धिक विलास ही अधिक मिलता है। प्राचीन जीवन व्यवस्था में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और गृहप्रवास के रूप में इन्हीं तीन लोकों की संगति को समाज में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया था। नागरिक सभ्यता के प्रभाव से जब इन तीन लोकों की संगति विच्छिन्न होने लगी तभी से यह आश्रम व्यवस्था भी शिथिल हो गई। नागरिक निवासों के सुख, सुविधा और विलासों को छोड़कर युवकों को विद्या के लिए तथा वृद्धों को अध्यात्मसाधना के लिए वनों में जाना दुष्कर हो गया। मुसलमानी आतंक के कारण प्रचलित बाल-विवाह तीनों लोकों की विच्छृंखलता का एक ऐतिहासिक कारण बन गया। स्वस्थ प्रकृति की भूमिका क्षीण होजाने के कारण भारतीय समाज और साहित्य दोनों का ही पतन हुआ। मंगलमयी संस्कृति के स्वस्थ निर्माण की प्रेरणाएँ शिथिल और सम्भावनाएँ सीमित हो जाने के कारण जीवन और काव्य दोनों में अतिरंजित मनोविलास ही एक आनन्द का मार्ग रह गया। एकांगी अध्यात्म और भक्ति भी कुछ श्रद्धालुओं के संतोष और आत्मवंचना का साधन बन सके। नागरिक सभ्यता की विलास-मुखी वृत्तियों से भक्ति और अध्यात्म भी कलुषित होते रहे हैं। यह कलुष प्रायः उनकी असफलता का कारण बना।

स्वस्थ और मंगलमय संस्कृति तथा काव्य के स्वरूप को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि उसकी रचना तीनों लोकों की संगति पर ही आश्रित हो सकती है। यह संगति इन तीनों लोकों का ऐसा समन्वय है जिसमें प्रकृति और आत्मा दोनों का स्वतंत्र रूप सुरक्षित रहता है तथा साथ ही मध्यलोक के व्यवहार में प्रकृति को आत्मा का संस्कार और आत्मा को प्रकृति का आधार प्राप्त होता है। मंगलमयी संस्कृति के लिए जहाँ एक ओर प्रकृति का शिवत्व के सिद्धान्तों में अन्वय तथा उनके द्वारा प्रकृति का संस्कार अपेक्षित है, वहाँ दूसरी ओर प्रकृति की अपने स्वरूप में स्वस्थ स्थिति भी आवश्यक है। यदि देह जीवन और संस्कृति का अनिवार्य आधार है, तो प्रकृति की स्वस्थता का परित्याग कर इनका विकास सम्भव नहीं है। नागरिक सभ्यता के विकास में ज्यों-ज्यों यह स्वस्थ प्रकृति का आधार उच्छिन्न होता गया है त्यों-त्यों विकृति और विलास बढ़ते गये हैं। आधुनिक साहित्य, सभ्यता और जीवन में इसकी वर्तमान पराकाष्ठा देखी जा सकती है।

स्वस्थ प्रकृति का अभिप्राय आवश्यक रूप से वन्य जीवन और वन्य आचार से नहीं। प्रकृति का धर्म अपनी प्रवृत्तियों में पूर्ण है। उन प्रवृत्तियों में तीव्र आकांक्षा और परितृप्ति स्वस्थ प्रकृति के सहज भाव हैं। आन्तरिक और बाह्य उद्दीपनों का अल्पतम प्रयोग प्रकृति के स्वाथ्य का लक्षण है। पशुओं में प्रकृति का स्वस्थ रूप अपनी निसर्ग नग्नता और सरलता में मिलता है। उसमें न सभ्यता का आवरण है और न बुद्धि की विकृति है। भोजन और काम प्रकृति की दो मुख्य वृत्तियाँ हैं। पशुओं के जीवन में दोनों की आकांशा अपनी नैसर्गिक और आन्तरिक आकांशा की तीव्रता में सुरक्षित है। पशुओं की भोजन वृत्ति तो आन्तरिक बुभुक्षा की तीव्रता से ही प्रेरित होती है। भोजन प्राप्ति का प्रयत्न उसकी शारीरिक तीव्रता और मानसिक रुचि को और भी बढ़ा देता है। पशुओं की काम-वृत्ति में भोजन की अपेक्षा उद्दीपन का विधान प्रकृति ने अधिक किया है, फिर भी वह इतना अधिक नहीं है जो उसकी स्वाभाविक आकांशा की कृत्रिम उत्तेजना बन कर उनके स्वास्थ्य और आनन्द के लिए अहितकर हो। उद्दीपन का एक रूप प्रकृति के वातावरण में मिलता है, जो पशुओं के ऋतु, काल के अनुसार होता है। उद्दीपन का दूसरा रूप पशुओं के नरों के रूप, सज्जा, वाणी आदि शारीरिक गुणों में है। उद्दीपन का विधान नर की रूप सज्जा में होने के कारण पशुओं के काम की एक पारस्परिक मर्यादा है। उसमें नर की ओर से अनावश्यक अतिचार की आशंकाएँ कम हैं। प्रकृति के उद्दीपन ऋतुकाल के अनुसार काम की स्वाभाविक आकांक्षा का सम्वर्धन करने वाले उपकरण मात्र हैं; वे कृत्रिम आकांक्षा की उत्तेजना के साधन नहीं है। स्वाभाविक और आन्तरिक आकांक्षा की तीव्रता के कारण पशुओं की प्रवृत्तियां पूर्ण आनन्द और पूर्ण तृप्ति प्रदान करती हैं। तृप्ति की पूर्णता भी आकांक्षाओं की अनावश्यक उत्तेजना में बाधक है। अस्तु, स्वाभाविक और आन्तरिक आकांक्षा की यथाकाल तीव्रता और परितृप्ति की पूर्णता स्वस्थ प्रकृति के दो मुख्य लक्षण हैं जो पशुओं के जीवन में सरल रूप में मिलते हैं।

मनुष्य के जीवन में बुद्धि और सभ्यता के विकास ने स्वाभाविक आकांक्षाओं को कृत्रिम बना दिया है। बुद्धि ने सुविधा और विलास की योजनाएँ बनाकर उनकी स्वाभाविक तीव्रता को मन्द कर दिया है। आकांक्षाओं की इस मन्दता में तीव्रता का उत्तेजन करने के लिए मनुष्य ने अनेक कृत्रिम विधानों का आविष्कार किया है। भोजन की नियमित व्यवस्था और नर-नारी का स्थायी सम्बन्ध दोनों

प्राकृतिक वृत्तियों की नैसर्गिक तीव्रता में मन्दता के कारण है। अतः इनकी उत्तेजना के लिए सभ्यता ने अनेक कृत्रिम साधनों का अवलम्ब लिया है। जिनको भरपेट भोजन नहीं मिलता उनकी बात तो जाने दीजिए किन्तु जिनके लिए पेटभर मिलने की नियमित व्यवस्था है उनमें ऐसे कितने हैं जिन्हें स्वाभाविक और तीव्र भूख का अनुभव होता है तथा भूख की तीव्रता के कारण जो तृप्ति की पूर्णता का अनुभव करते हैं? अधिकांश लोग समय के नियम और अभ्यास के आधार पर भोजन करते हैं। नियम के अभ्यास से कुछ मन्द और कृत्रिम भूख भी जग ही जाती है किन्तु स्वाभाविक और तीव्र भूख न होने के कारण तृप्ति का पूर्ण और स्वाभाविक आनन्द प्राप्त नहीं होता। इस अभाव की पूर्ति के लिए मनुष्य ने भोजन के रूप, रंग, शैली आदि में उद्दीपन और आनन्द के कृत्रिम उपकरणों का सन्निधान किया है। स्वाभाविक बुभुक्षा की तृप्ति के सरल साधन मनुष्य की सभ्यता में षट्रस-व्यंजन बन गए हैं। इन व्यंजनों में रुचि के उद्दीपन के कृत्रिम साधन हैं। षट्रस भी अपने पृथक् और कृत्रिम रूपों में स्वाद का सम्बर्धन करके रुचि के उद्दीपक बनते हैं। पारिवारिक और सामूहिक भोजन की प्रणाली भोजन के आनन्द का एक सामाजिक उद्दीपन है। भोजन एक पूर्णतः शारीरिक प्रवृत्ति है, इसलिए सभ्यता के ये कृत्रिम उपकरण प्रकृति के स्वास्थ्य के लिए सर्वदा हितकर नहीं है। एक ओर रस की व्यंजना भोजन के मानसिक आनन्द को बढ़ाती है वहाँ अन्य व्यवस्थाएँ दूसरी ओर भूख की स्वाभाविक तीव्रता को मन्द करती हैं। इससे भोजन के आनन्द में तो कमी हुई ही है किन्तु इससे भी बढ़कर मनुष्य के स्वास्थ्य की क्षति हो रही है। इस क्षति के कारण प्रकृति के प्रश्रय में स्वस्थ, स्वतंत्र और आनन्दमय जीवन व्यतीत करने वाला मनुष्य औषधि, डाक्टर और अस्पताल के दैनिक अवलम्ब से जी रहा है।

भोजन का रस और आनन्द उसके बाह्य उपकरणों की अपेक्षा भूख की स्वाभाविक तीव्रता में अधिक है। तीव्र भूख में रूखा-सूखा भोजन करके तथा मन्द भूख में नाना-विध व्यंजनों से अपने को अर्चित करके इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। यह अनुभव प्रायः हमें होता रहता है और प्रतिबार वह यही प्रमाणित करता है कि हमारी सभ्यता में बढ़ती हुई कृत्रिमता मनुष्य जीवन के नैसर्गिक स्वास्थ्य और सहज आनन्द के स्रोतों का शोषण कर रही है। अपनी प्रियतमा के साथ एक रोटी लेकर वृक्ष के नीचे प्रेम के गीत गाते हुए उमर ख़य्याम

ने यह कल्पना की थी कि ऐसी स्थिति में वह सुनसान वन ही स्वर्ग है। यह कल्पना जीवन का अन्तर्तम सत्य है। इस सत्य का भाव यही है कि एक ओर स्वाभाविक बुभुक्षा और दूसरी ओर प्रीति की मानसिक प्रसन्नता भोजन में रस का स्रोत है। शबरी के बेर, विदुर की भाजी, द्रोपदी की रसोई और सुदामा के तन्दुल को भगवान ने जो अपार महत्व दिया उसका रहस्य भक्ति की महिमा के साथ-साथ यह भी है कि इस भाव से अनुप्राणित होने पर सरलतम भोजन भी उत्तम आनन्द का साधन वन जाता है। वन या बाग में फल तोड़-तोड़ कर खाने वाले बालकों का आनन्द भगवान के द्वारा उद्घाटित इस रहस्य का प्रतिदिन समर्थन करता है। **भूख और भाव की महिमा ही भोजन के आनन्द का रहस्य है, इस रहस्य को भूल कर ही सभ्यता में अनेक व्याधियां उत्पन्न हो रही हैं।**

भोजन की भाँति काम पूर्णतः शारीरिक वृत्ति नहीं है। भारतीय परम्परा में काम को 'मनसिज' की संज्ञा दी गई है। इसका अभिप्राय यही है कि शारीरिक प्रवृत्ति होने के साथ-साथ काम एक मानसिक वृत्ति भी है। शरीर और मन दोनों की आकांक्षा के संयोग से काम का आनन्द भोजन की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ गया है। किन्तु साथ ही कल्पना और बुद्धि के सहयोग से काम के अतिचार की सम्भावनाएँ भी मनुष्य के जीवन में बहुत बढ़ गई हैं। इस अतिचार की सम्भावना से नैतिक अनर्थ उत्पन्न हुए हैं। यह भी एक महत्वपूर्ण किन्तु सांस्कृतिक प्रश्न है। प्राकृतिक दृष्टि से यह अधिक विचारणीय है कि इस अतिचार की सम्भावना तथा उसमें बुद्धि और कल्पना के सहयोग से सन्निहित उद्दीपनों की कृत्रिमता से काम की स्वाभाविक आकांक्षा की तीव्रता और उसकी तृप्ति के आनन्द में क्या वृद्धि अथवा क्षति हुई है? इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखने योग्य है कि यद्यपि भोजन और काम दोनों प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ हैं, फिर भी दोनों के विधान, वृत्ति, व्यापार और फल में वहुत अन्तर है। भोजन मुख्यतः जीवन का आधार और साधन है उसमें रसना का स्वाद मात्र एक क्षणिक और अल्प आनन्द है। पूर्णतः शारीरिक और प्राकृतिक होने के कारण भोजन, देश, काल, व्यक्तित्व आदि के प्राकृतिक नियमों से सीमित है। सामाजिक वनकर भोजन भी पारस्परिक और सांस्कृतिक आनन्द का निमित्त बन गया है। किन्तु फिर भी भोजन के धर्म का प्राकृतिक रूप अपनी प्राकृतिक सीमाओं से ऊपर नहीं उठ सका है। भोजन का पदार्थ उसी शरीर के लिए हितकारक है जो उसे ग्रहण करता है। दूसरे के हित की कामना उसमें सभ्यता का एक उपचार

मात्र है। किन्तु काम का प्राकृतिक विधान ही प्रकृति के स्वार्थ की सीमा का ग्रतिक्रमण कर गया है। **मिथुन धर्म होने के कारण उसका प्राकृतिक विधान ही एक पारस्परिक ग्रानन्द का स्रोत है।** प्राकृतिक ग्राकांक्षा होते हुए भी काम में भोजन की ग्रपेक्षा इस पारस्परिकता के ग्रतिरिक्त एक ग्रौर विशेषता है। वह यह कि काम की प्राकृतिक मर्यादा इतनी निश्चित नहीं है जितनी कि भोजन की है। भोजन में भी हम ग्रतिचार करते हैं। इस ग्रतिचार को ब्राह्मणों ने तो विद्या से भी बढ़कर ग्रपना धर्म बना लिया है। किन्तु इस ग्रतिचार की एक संकीर्ण सीमा है। भोजन बाह्य पदार्थ का ग्रादान है ग्रौर उदर के ग्राकार की सीमा उसकी मर्यादा है। इस ग्राकार के विस्तार की सम्भावना ग्रत्यन्त सीमित है। इसके ग्रतिरिक्त भोजन में वर्तमान ग्रतिचार भावी ग्राकांक्षा को विलम्बित ग्रौर मन्द करता है। यह प्रतिवन्ध भी भोजन की एक ग्रन्य प्राकृतिक मर्यादा है। इसके ग्रतिरिक्त भोजन में ग्रतिचार ग्रजीर्ण ग्रादि रोग उत्पन्न करके भी भोजन की स्वाभाविक ग्राकांक्षा को मन्द ग्रौर तृप्ति के ग्रानन्द को ग्रल्प वनाता है।

किन्तु काम का विधान भोजन से बहुत भिन्न है। शारीरिक ग्रौर प्राकृतिक वृत्ति होते हुए भी वह प्रकृति के नियमों के वन्धनों से भोजन की ग्रपेक्षा ग्रधिक मुक्त है। प्राकृतिक दृष्टि से भी भोजन ग्रौर काम के स्वरूप तथा धर्म में ग्रन्तर है। भोजन वाह्य पदार्थ का ग्रादान है। उसका ऐन्द्रिक रस ग्रागन्तुक ग्रौर क्षणिक है। उसकी रुचि ग्रौर ग्रानन्द इस रस पर निर्भर नहीं है। ग्रतः ग्रशन का ऐन्द्रिक व्यापार उसका साधन मात्र है, उसके स्वरूप का ग्रावश्यक ग्रंग नहीं। भोजन का मुख्य स्वरूप ग्रौर धर्म उदर में पदार्थ का ग्रादान है। यह धर्म ग्रौर फल ही उसका मुख्य प्राकृतिक स्वरूप है। किन्तु इसके विपरीत काम एक परस्पर ऐन्द्रिक व्यापार है। भोजन की ग्रपेक्षा उसमें मानसिक संकल्प की प्रेरणा ग्रधिक है। मानसिक संकल्प ग्रौर बाह्य प्रेरणाग्रों से उसके उद्दीपन की संभावनाएँ भोजन की ग्रपेक्षा कहीं ग्रधिक हैं। इस संभावना ग्रौर पारस्परिकता के कारण काम का मानसिक ग्रौर सामाजिक रूप ग्रधिक महत्वपूर्ण वन गया है।

भोजन की तुलना में ऐन्द्रिक व्यापार का यौगपद्य ग्रौर ग्रानन्द की पारस्परिकता काम के प्राकृतिक धर्म की विशेषता है। इसके ग्रतिरिक्त मानसिक वृत्ति होने के कारण उद्दीपन का ग्रतिरेक तथा क्रिया का ग्रतिचार दो काम की विशेष सम्भावनाएँ हैं। भोजन के सम्बन्ध में इन दोनों ग्रतियों की जितनी संकीर्ण सीमा है उतना

ही काम के सम्बन्ध में उनके लिए मुक्त और विस्तृत क्षेत्र है। सभ्यता, संस्कृति, कला और काव्य के रूप तथा योग और आयुर्वेद के उपचार उद्दीपनों की अतिरंजना के उदाहरण हैं। काम के अतिचारों से भी मनुष्य का धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक इतिहास भरा हुआ है। ये अतिरेक और अतिचार प्रकट होने के साथ-साथ प्रच्छन्न रूप में भी मिलते हैं। डा० फ्रायड ने मनोविश्लेषण के सिद्धान्त के द्वारा काम के इन प्रच्छन्न प्रभावों का उद्‌घाटन किया है। सामाजिक जीवन से लेकर कला की वृत्ति और धार्मिक भावना तक अनेक भ्रान्तियों को उन्होंने अनावृत किया है। कला और काव्य में शृंगार का प्रभुत्व इसका प्रमाण है। अनन्त-यौवना अप्सराओं का स्वर्ग काम की अतिरंजित कामना की पराकाष्ठा है।

बुद्धि और कल्पना की मानसिक शक्ति से काम का संयोग इस अतिरंजना का मूल कारण है। पशुओं की मादा के विपरीत नारी के रूप में सौन्दर्य का उत्कर्ष उद्दीपन का एक स्थायी साधन बन गया है। इन दोनों ने मिलकर अतिचार के प्रकट और प्रच्छन्न मार्गों का समाज में अनुसंधान और स्थापन किया है। इस अतिरेक और अतिचार में पुरुष अपनी अतिरंजित कामना की तृप्ति का आनन्द खोजता रहा है। किन्तु उसकी यह खोज कहाँ तक सफल हो सकी यह संदिग्ध है। इस खोज में भोजन की तुलना में काम की वृत्ति की विपरीतता और बढती गई। भोजन से भूख शान्त होती है किन्तु इसके विपरीत भोग से काम की वासना और बढती है। धर्म और नीति के शास्त्रों ने काम को अग्नि की उपमा देकर भोग को घृत के समान उसका वर्धक बताया है।[२५] धर्म नीति के सिद्धान्त में एक सत्य भी है कि जहाँ एक ओर भोग से काम की तृप्ति होती है वहाँ दूसरी ओर उसकी वासना का विजृम्भण भी होता है। इस द्विविध फल के कारण काम मानव जीवन की एक विचित्र पहेली बन गया है। बिहारी के मृग की भाँति जितना काम की माया के जाल से अपने को मुक्त करने का मनुष्य ने प्रयत्न किया है उतना ही वह उसमें अधिक उलझता गया है।

इन प्रयत्नों में एक ओर संतों की भर्त्सना है और दूसरी ओर विलासियों की अतिरंजित कामनाएँ हैं। भोजन के समान भोग से काम की भूख की ऐसी सहज शान्ति नहीं होती। तृप्ति के साथ अतृप्ति भी बढ़ती है। सन्तों की भर्त्सना से भी उसका समाधान नहीं होता। धर्म, दर्शन और नीति सब जीवन के संस्कार के बौद्धिक प्रयास हैं। **बुद्धि सत्य का प्रकाशन कर सकती है किन्तु भावना के संयोग**

के बिना साधना की प्रेरणा नहीं बन सकती । 'काम' देह की प्रवृत्ति और मन की वासना है, अतः बुद्धि का उस पर अधिक अधिकार नहीं । इसी कारण धर्म और नीति के प्रयास साधारण जनता ही के लिए नहीं स्वयं धर्म और नीति के विधाताओं के लिए भी सफल नहीं हो सके हैं । विश्वामित्र, शातकर्णि आदि के समान कितने ऋषि और मुनि काम की उत्तेजनाओं के समक्ष अपने दीर्घ तप से स्खलित हुए हैं । महाभारत और पुराणों के प्रणेता वेद-व्यास, मत्स्यकन्या सत्यवती के साथ महामुनि परासर के अतिचार के अवतार थे । **इसका निष्कर्ष यही है कि काम का समाधान न भर्त्सना से हो सकता है और न अतिरंजित भोग से । संस्कृति में काम के समुचित समन्वय के लिए हमें उसके प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाना होगा ।** इस स्वस्थ दृष्टिकोण के लिए हमें काम के स्वरूप, उसकी स्वस्थ तृप्ति के साधन और उसकी मर्यादाओं को समझना होगा ।

काम के स्वरूप के कई पक्ष हैं । वह एक शारीरिक और प्राकृतिक प्रवृति है, किन्तु साथ ही साथ एक मानसिक वासना भी है । शरीर की आकांक्षा के साथ-साथ मन की भावना के साथ भी उसका गहरा सम्बन्ध है । इस कारण उसमें भोजन के समान प्राकृतिक मर्यादा का विधान नहीं है । नारी के रूप में सौन्दर्य का उत्कर्ष उद्दीपन की एक स्थायी व्यवस्था वन गया है अतः उसमें पशु जगत की सहज मर्यादा भी नहीं है । भोग के वासना-वर्धक फल और कल्पना की अतिरंजना के कारण स्वयं मनुष्य पर इस मर्यादा के विधान और व्यवहार का उत्तरदायित्व आ पड़ा है । एक प्रकार से मनुष्य समाज के सभी उत्तरदायित्व नर-नारी के समान अधिकार हैं, किन्तु काम के क्षेत्र में अतिचार का अपराधी पुरुष अधिक है । अतः इस मर्यादा के विधान और अनुशीलन का प्रमुख उत्तरदायित्व पुरुष पर ही है । शिव-पार्वती की कथा में शिव के काम दहन का पुरुष के लिए यही मौलिक और सनातन संदेश है । सांस्कृतिक मर्यादा की इस दिशा में पुरुष का नेतृत्व ही अधिक आवश्यक है । काम की मर्यादा का अभिप्राय काम का दमन अथवा उसकी उपेक्षा नहीं है, वरन् केवल उसका संस्कार और उन्नयन है । शिव के द्वारा पार्वती का वरण मानवीय सम्वन्ध में मर्यादामय काम की भावमय प्रतिष्ठा का उदाहरण है ।

काम के स्वस्थ रूप के अधिगम और मर्यादामय रूप की प्रतिष्ठा के लिए यह समझना आवश्यक है कि काम का मानसिक और सामाजिक अनुषंग भोजन

की अपेक्षा अधिक है। भोजन मनुष्य के साथ वस्तु के सम्बन्ध का धर्म है। इसके विपरीत काम मनुष्य के साथ मनुष्य के सम्बन्ध का व्यापार है। इसके अतिरिक्त भोजन भोक्ता के शरीर की रक्षा का साधन मात्र है किन्तु काम जाति की परम्परा के सृजन का साधन है। भोजन की कृतार्थता रक्षण में ही है किन्तु सृजन काम के स्वरूप और कृतित्व का महत्वपूर्ण अंग है। भोजन का फल (उसके लाभ, हानि) प्राकृतिक और व्यक्तिगत है, किन्तु काम का फल मानवीय और सामाजिक है। सृजन के अभाव में काम का केवल व्यापार भी सामाजिक है। उसकी मर्यादा भोजन के समान व्यक्तिगत और प्राकृतिक नहीं हो सकती। इसी कारण साहित्य और शास्त्र में उसकी सांस्कृतिक और सामाजिक मर्यादा के ही प्रयास किये गये हैं। **यह सांस्कृतिक मर्यादा शिवं के सिद्धान्त के आधार पर ही हो सकती है। इसीलिए वह शिव की कथा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। शिवं का मूल सिद्धान्त आत्मदान है। वह आत्मभाव से दूसरे की भाव सम्पत्ति में अपनी भाव-सम्पत्ति का स्वतंत्र अनुयोग है।** दूसरे के व्यक्तित्व का गौरव और उसकी स्वतंत्रता का सम्मान उसके दो मुख्य आधार हैं। इन आधारों पर ही काम के संस्कार की मर्यादा प्रतिष्ठित हो सकती है। इस मर्यादा में उद्दीपनों की अतिरंजनाएँ और काम के अतिचार दोनों ही सहज मर्यादित हो जाते हैं। यह मर्यादा ही काम का संस्कार है और यही उसका स्वस्थ स्वरूप है।

काम के इस संस्कृत और स्वस्थ रूप में काम का दमन साधन नहीं है। इसका साधन शिवत्व का प्रेम और उसकी उदारता है। संस्कृति में काम के समन्वय का अर्थ काम को उसके प्रकृत आधार से उच्छिन्न करना नहीं। यह एक आश्चर्य की वात है किन्तु यह सत्य है कि उद्दीपनों के अतिरिक्त और विलास के अतिरिक्त कृत्रिम रूपों में काम की उत्तेजनाएँ उसकी प्रकृति को अतिरंजित करके विकृत बनाती हैं। 'विकृति' प्रकृति और संस्कृति के बीच की खाई है। संस्कार और मर्यादा प्रकृति को संस्कृति से संयोजित करने वाले सेतु हैं। यह असंदिग्ध है कि स्वस्थ मानवीय संस्कृति जहाँ एक ओर भोग का अतिचार भी नहीं है वहाँ दूसरी ओर वैराग्य का दमन भी नहीं है। संस्कृति के पूर्ण और स्वस्थ विकास के लिए प्रकृति के स्वस्थ और अविकृत रूप की रक्षा आवश्यक है। यह प्रकृति और स्वस्थ रूप वही है, जिसमें प्रकृति की वृत्तियाँ अपने सहज रूप में तीव्र आकां-

क्षाओं के साथ सुरक्षित है और इन तीव्र आकांक्षाओं की तृप्ति के आनन्द में फलित होने की सम्भावना भी अखंडित है।

जिस प्रकार भोजन के क्षेत्र में कृत्रिमताओं के विस्तार ने भूख की निसर्ग तीव्रता और भोजन की तृप्ति के आनन्द को मन्द कर दिया है, उसी प्रकार काम के क्षेत्र में भी उद्दीपनों और अतिचारों ने काम की स्वस्थ और तीव्र आकांक्षा के प्राकृतिक स्रोतों को मन्द कर दिया है। मनोविलास में लीन रहने के कारण तथा मन्दाग्नि की सहज सीमा के कारण स्वास्थ्य, यौवन और काम के इस नैसर्गिक किन्तु निगूढ रहस्य को समझने में हम आज अधिक समर्थ नहीं हैं। काम-शास्त्रों और काव्य-शास्त्रों की प्राचीन कृतियों में काम के स्वस्थ और समर्थ रूप के जो वर्णन मिलते हैं उनसे हम इस सम्वन्ध में अपनी भ्रान्ति और असमर्थता का अनुमान लगा सकते हैं। मन्दाग्नि के कारण दाल-भात खाने वाला तथा अग्नि उद्दीपन पाचन और रेचन के उपचारों द्वारा उदर-धर्म का निर्वाह करने वाला दाल-बाटी आदि के जैसे सात्विक अथवा अन्य पाकों और मिष्टानों से युक्त राजसी किन्तु दोनों ही रूपों में भारी भोजन का स्वाद और महत्व नहीं समझ सकता, उसी प्रकार कृत्रिम उद्दीपनों और मानसिक उत्तेजनाओं के सहारे दुर्बल काम का मन्द लालन करने वाले आधुनिक सभ्य नागरिक स्वस्थ प्रकृत काम के समर्थ रूप और प्रवल आनन्द की कल्पना नहीं कर सकते।

अध्याय ३३

नारी, काम और काव्य

जीवन सप्रयोजन है। हमारी प्राकृतिक प्रवृत्तियों की गति भी लक्ष्यमुखी है। ये प्रवृत्तियाँ अनेक हैं और विविध लक्ष्यों में अपनी तृप्ति खोजती हैं। प्राकृतिक प्रवृत्तियों के अतिरिक्त मनुष्य में कुछ अन्य आन्तरिक आकांक्षाएँ भी हैं। जिनकी ओर मनुष्य ने अधिक ध्यान नहीं दिया है। दर्शनों में इन्हें आध्यात्मिक आकांक्षाओं के अन्तर्गत माना जाता है। ये सभी प्रवृत्तियां और आकांक्षाएँ अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर तृप्त होती हैं। इस तृप्ति में हम सुख, संतोष, हर्ष और आनन्द का अनुभव करते हैं। कभी इसी अनुभव को और कभी उन लक्ष्यों को जिनसे ये अनुभव प्राप्त होते हैं 'शिव' कहा जाता है। विचार और संस्कृति के इतिहास में दृष्टि-भेद से विविध अनुभूतियों अथवा उनके आधारभूत लक्ष्यों को मंगलमय माना गया है।

इस क्रम में सबसे पहले इन्द्रियों का प्राकृतिक सुख और भोग आता है। इन्द्रियों के व्यापार में और उनकी प्रवृत्तियों की तृप्ति में जो सुख होता है वह स्पष्ट है। हमारा साधारण जीवन बहुत कुछ इन्द्रियों के विषयों की ही साधना है। हमारा भोजन, भोग आदि इसी सुख की साधना के कर्म हैं। इन्द्रियों की ये प्रवृत्तियाँ इतनी वेगवति होती हैं कि उनका निरोध अत्यन्त कठिन है। असंख्य सन्तों, ज्ञानियों और दार्शनिकों की निरन्तर भर्त्सना के बाद भी समस्त लोक का अधिकांश जीवन इन्द्रियों के सुख की साधना में ही व्यतीत होता है। सन्तों और ज्ञानियों में भी ऐसे लोग अपवाद रूप ही होंगे जिन्होंने ऐन्द्रिक सुख की भावना से पूर्णतः मुक्ति पा ली हो। किसी न किसी रूप में शरीर और इन्द्रियों के सुख का राग सन्तों में भी देखने को आता है।

शरीर और इन्द्रियों के सुख को जीवन का लक्ष्य मानने वाले पश्चिमी दर्शन में सुखवादी कहलाते हैं। भारतीय चार्वाक सम्प्रदाय इसी वर्ग के अन्तर्गत है। ग्रीस में एपीक्यूरस का सम्प्रदाय भी सुखवादी था। यूरोपीय विचार के आधुनिक युग में इङ्गलैण्ड का उपयोगितावादी सम्प्रदाय मूलतः सुखवादी ही था। यूरोपीय

दर्शन और संस्कृति के लौकिक-वादी होने के कारण वहाँ सुखवादी विचारधारा को पर्याप्त महत्व और मान मिला। उसमें उत्तरोत्तर परिष्कार होता गया यह दूसरी बात है। यूरोपीय दर्शन और संस्कृति त्याग और संन्यास को महत्व नहीं देती है। इसलिए यूरोप में सुखवाद का जीवन-दर्शन में एक आदर युक्त स्थान है। जहाँ उसके दोषों का संकेत किया जाता है वहाँ जीवन में सुख के महत्व का पर्याप्त महत्व भी माना गया है।

किन्तु भारतीय दर्शन की सामान्य गति इसके विपरीत है। भारतीय दर्शन में अध्यात्म का इतना आग्रह रहा है कि प्रायः सभी सम्प्रदायों में इन्द्रियों के सुख की भर्त्सना की गई है। कठोपनिषद् में लौकिक सुख को सामान्यतः 'प्रेय' कह कर उसे श्रेय से पृथक माना गया है।[२६] कठोपनिषद् में ही नचिकेता ने यम के समस्त प्रलोभनों को ठुकराकर मृत्यु का रहस्य जानने का अनुरोध किया है।[२७] अन्यत्र इन्द्रियों के भोग को खेद-कारक और जीवन की शक्ति का शोषक कहा गया है।[२८] दर्शन के अतिरिक्त हमारे भक्ति काव्य, नीति काव्य और सन्त साहित्य में लौकिक सुख की भर्त्सना कम नहीं है।

किन्तु लौकिक काव्य का दृष्टिकोण इतना विरक्तिमय नहीं रहा है। संस्कृत और हिन्दी दोनों की भाषाओं के काव्यों में लौकिक सुख का पर्याप्त स्थान है। कालिदास, श्री हर्ष, देव, विहारी आदि अनेक कवियों के काव्य में शृंगार की प्रचुरता है। आधुनिक काव्य में भी शैली की नवीनता अवश्य है किन्तु लौकिक सुख और शृंगार का प्रभुत्व प्राचीन काव्य से कम नहीं है। इसका कारण यही है कि मनुष्य की प्रकृति की स्वाभाविक गति सुख और शृंगार की ओर है। मनोविज्ञान यहाँ तक कहने का दुःसाहस करेगा कि सन्तों और ज्ञानियों की भर्त्सना भी सुख और शृंगार के प्रति उनकी अध्यात्म भावना की स्वस्थ प्रतिक्रिया नहीं है। **आसक्ति और भर्त्सना दोनों ही विषयों के प्रति हमारे बन्धन के सूचक हैं।** अतः भर्त्सना करने वाले सन्त और ज्ञानी भी उन विषयों के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं। इनके प्रति उनकी भावना पूर्णतः वीत-राग और सम नहीं है। अतः साहित्य और संस्कृति के सम्बन्ध में यह प्रश्न विचारणीय है कि स्वस्थ काव्य और स्वस्थ सांस्कृतिक व्यवस्था में सुख और शृंगार का संतुलित दृष्टिकोण क्या है?

ऐन्द्रिक सुख के उतने ही रूप हैं जितने इन्द्रियों के भेद हैं। दर्शन, श्रवण, स्पर्श, स्वाद आदि सभी में सुख मिलता है। ऐन्द्रिक सुख के ये अनेक रूप परम्परागत

काव्य में शृंगार के अन्तर्गत समाहित होगये हैं। शृंगार की व्यापक कल्पना में सभी ऐन्द्रिक सुख संचारी आदि विभावों के तथा अनुभावों के अन्तर्गत समाविष्ट मिलते हैं। 'शृंगार' स्त्री और पुरुष का रागात्मक भाव है। उनका प्राकृतिक सम्बन्ध इस रांग और भाव का आधार है। स्त्री और पुरुष विश्व के व्यापक सत्य के दो प्रमुख रूप हैं। उपनिषदों में ऐसे आख्यान मिलते हैं जिनमें यह संकेत किया गया है कि सृष्टि के आदि में मूल सत्ता ने मिथुन रूप ग्रहण कर विश्व का विस्तार किया। **जहाँ सन्तों और ज्ञानियों की शृंगार, काम और नारी की भर्त्सनाएँ पूर्णतः निस्सार नहीं हैं वहाँ यह भी सत्य है कि नर और नारी का भेद, सम्बन्ध, आकर्षण, अनुराग और सम्मिलन सृष्टि की परम्परा के लिए ही आवश्यक नहीं वरन् जीवन की पूर्णता का एक आन्तरिक रहस्य है।** आध्यात्मिक सत्य के अनुरागी भी अपने आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए शृंगार के प्रतीकों का आश्रय लेते रहे हैं। वृहदा-रण्यक उपनिषद् में आत्मा और परमात्मा के सम्मिलन को दम्पति के आलिंगन के समान रस और तन्मयता पूर्ण बताया है।[२६] तुलसीदासजी ने राम के प्रति ऐसे ही प्रेम की अर्थना की है जैसा कामी को नारी के प्रति होता है। नर और नारी के आन्तरिक अनुराग और सम्बन्ध का मर्म इतना सरल नहीं है कि दार्शनिक भर्त्सना द्वारा उसे उन्मूलित किया जा सके। सन्तों और दार्शनिकों की असफलता इस सत्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है। किसी सीमा तक प्राकृतिक मोह और आकर्षण मनुष्य की इस विवशता का कारण माना जा सकता है किन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है। नर-नारी का सम्बन्ध शृंगार और काम की अपेक्षा अधिक व्यापक है। शृंगार और काम का भी जीवन और संस्कृति में एक अखण्डनीय स्थान है। नर-नारी के व्यापक सम्बन्ध का काव्य और संस्कृति में क्या अभीष्ट रूप और स्थान है, यह एक मौलिक और महत्वपूर्ण प्रश्न है।

भारतीय संस्कृति में नारी की प्रतिष्ठा एक व्यापक सम्बन्ध की भूमिका में की गई है। नर और नारी विश्व जीवन की धारा के दो अभिन्न कूल हैं। एक ही जीवन-धारा की लहरें दोनों को आन्दोलित करती हैं। एक ही धारा के भ्रमर दोनों को भ्रान्त करते हैं। शान्ति और पूर्णता का एक ही महासागर दोनों का लक्ष्य है। जीवन की धारा के सरल, सुन्दर, विषम, बीहड़ सभी प्रकार के मार्ग में दोनों सहगामी हैं। इस प्रकार जीवन में दोनों का समान स्थान है। फिर भी जीवन की धारा का रूप दोनों कूलों की ओर एक सा नहीं है। उनके मोड़, कगार

आदि आदि में भेद है। सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों की समानता मानते हुए भी नर और नारी के शारीरिक निर्माण और प्राकृतिक धर्मों में एक स्पष्ट भेद है। इस भेद के कारण दोनों एक दूसरे के पूरक बन गये हैं। सामाजिक समानता की दृष्टि से दोनों का स्वतंत्र सहयोग उनके संयुक्त जीवन को सफल और सार्थक बनाता है।

किन्तु पुरुष-तंत्र समाज की संस्कृति और उसका साहित्य इस स्वतंत्रता और समानता का अधिक मान न कर सका। इसका मूल कारण यह है कि नर और नारी के सम्बन्ध के मूल आधार 'काम' का मनुष्य संस्कृति में समुचित समायोजन न हो सका। 'काम' जीवन की परम्परा का आधार है। शरीर का धर्म होने के साथ-साथ वह मन का भी आनन्द है। पशु जीवन में काम की एक प्राकृतिक मर्यादा है। शरीर और इन्द्रियों का धर्म होने के कारण ऐन्द्रिक आकांक्षा तथा शारीरिक श्रान्ति और शान्ति उसकी सहज सीमाएँ हैं। इन्द्रियों का सीमित सुख और सृजन पशु-जगत में काम के प्रयोजन हैं। पशुओं में कल्पना का विकास न होने के कारण उसका मानसिक विजृम्भण नहीं है। पशुओं की मादा के लिए तो काम का ऐन्द्रिक सुख अत्यन्त सीमित है। उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण उसका मातृत्व है। पशुओं के नरों में वात्सल्य बहुत कम पाया जाता है। उनमें पितृत्व प्रस्फुटित नहीं हुआ है। अतः ऐन्द्रिक सुख ही उनके लिए काम का सर्वस्व है।

किन्तु ऐसा होते हुए भी पशुओं में काम की एक सहज मर्यादा है। इस मर्यादा का एक आधार तो काम का केवल शरीर और इन्द्रियों तक सीमित होना तथा मनो-विजृम्भण का अभाव है। एकेन्द्रिय सन्निकर्ष होने के कारण पशुओं में काम का शारीरिक सुख भी सीमित है। इस मर्यादा का एक दूसरा आधार पशुओं की मादा में सौन्दर्य और आकर्षण का अभाव है। रूप, रंग, वाणी आदि का वैभव प्रकृति ने पशु जगत में नर को अधिक दिया है। मादा में कोई आकर्षण न होने के कारण नर के लिए उसकी ओर से उद्दीपन का कोई अवसर नहीं है। अतः पशुओं में नर का काम प्रायः उसकी आन्तरिक आकांक्षा पर ही निर्भर रहता है। इसी कारण वह अतिचार का रूप भी नहीं ले पाता। मनुष्य-समाज के समान अतिचार के आर्थिक यंत्रों, संगठित तंत्रों, सामाजिक षड्यन्त्रों और सांस्कृतिक छलों का अवकाश भी वहाँ नहीं है।

मनुष्य जगत् में यह समस्त व्यवस्था विपरीत हो गई है। नारी के अंग-

विन्यास और रूप-लावण्य में सौन्दर्य का इतना अपूर्व उत्कर्ष हुआ है कि कवियों ने उसे विधाता की सौन्दर्य-रचना की सीमा माना है।[३०] मनुष्य देह में विशेषतः नारी के अंगों में निर्लोम सम्वेदन की व्यापक सम्भावना का विकास होने के कारण तथा मेरुदण्ड और मुक्त हाथों के कारण काम का सुख एकेन्द्रिय सन्निकर्ष के स्थान पर सर्वांग-रमण का आनन्द बन गया है। नारी के रूप लावण्य में आकर्षण का विकास नर के लिए उद्दीपन का एक अनन्त स्रोत बन गया है। नारी का यह रूप पुरुष के अतिचार का कारण बना। दूसरे मनुष्य में स्मृति और कल्पना का विकास होने के कारण काम एक शारीरिक आकांक्षा मात्र न रह कर एक मानसिक वासना के रूप में उदित हुआ। इसीलिए काम की 'मनोज' संज्ञा है। मन की कोई मर्यादा नहीं है। अतः मनुष्य का काम मानसिक बन कर एक अनन्त वासना बन गया। इसी वासना ने मातृत्व की विवशताओं से पीड़ित नारी को एक पराधीन अर्थतंत्र तथा एक आतंकमय सामाजिक व्यवस्था के शासन में बांध कर अपनी वासना का आखेट बनाया।

गृहस्थाश्रम की सुविधाओं के कारण परिवार के बन्धनों को मान लेने पर भी पुरुष उसके कई उत्तरदायित्वों की उपेक्षा करता रहा है। अपनी सुविधा के लिए नारी को अर्थभार से मुक्त करके अर्थतंत्र को तो वह अपना एकाधिकार मानता रहा है। किन्तु परिवार के अन्य कार्यों का भार उसने एक मात्र नारी पर छोड़ दिया है। पशुओं के नर की भाँति मनुष्य के नर में भी वात्सल्य का अधिक विकास न हो सका। शिशु के पालन और विकास में पुरुष का सहयोग बहुत कम रहा है। **यह कल्पना बड़ी विचित्र मालूम होगी किन्तु नितान्त असंगत नहीं है कि पुरुष का यह असहयोग ही हमारी सभ्यता की अनेक आधुनिक विडम्बनाओं का मूल कारण है।** पारिवारिक जीवन में पुरुष का उचित सहयोग न होने के कारण पुरुष के जीवन में एक संतुलित सांस्कृतिक दृष्टिकोण का विकास न हो सका। नारी के साथ समानता और सहयोग का भाव न रहने के कारण पुरुष अपनी सभ्यता तथा सामाजिक व्यवस्था में नारी के यथोचित रूप की प्रतिष्ठा न कर सका। इसी कारण पुरुष का विकास भी एकांगी और असन्तुलित रहा। उसका बाह्य जीवन अर्थ तंत्र के अनन्त जाल में उलझ गया और उसका आन्तरिक जीवन काम की वासना के अनन्त विजृम्भण में लीन हो गया। अर्थतंत्र का एकाधिकार और उसकी समृद्धि बहुत कुछ उसके काम का ही साधन बनी। अर्थ एक बाह्य तत्व है। उसका

शारीरिक भोग सीमित है। ऐश्वर्य अहंकार का पोषण करता है। फिर भी काम की आन्तरिक तृप्ति उसमें नहीं है। अतः काम का वासनामय जीवन ही पुरुष के सुख का प्रमुख साधन बना।

मनुष्य के जीवन में भी काम की एक प्राकृतिक सीमा है। इस प्राकृतिक सीमा को भी उसने बहु-विवाह, व्यभिचार, वेश्याचार, वाजीकरण आदि के द्वारा यथा-सम्भव बढ़ाने का प्रयत्न किया है। किन्तु इन प्रयत्नों की सीमा है। अतः मन की निस्सीम कल्पना ने अनन्त यौवन और अनन्त-यौवना अप्सराओं के स्वर्ग की रचना की। धर्म, कला, साहित्य, काव्य और संस्कृति की सीमा में प्रकट और प्रच्छन्न रूपों में पुरुष की वासना का यह स्वर्ग सदा पलता रहा है। वैष्णव धर्म में भागवती भक्ति, राधा कृष्ण के प्रेम और गोपियों के रास की लोकप्रियता का यही रहस्य है। इन लौकिक प्रतीकों की वासनामय प्रेरणा के ज्वार में श्रीमद्भागवत और गीत-गोविन्द का आध्यात्मिक तत्व तिरोहित होगया। महलों, मन्दिरों आदि में भी कला के नाम से इसी स्वर्ग का चित्रण पृथ्वी पर होता रहा है। काव्य में इस वासना का विस्तार धर्म और कला से कम नहीं हुआ है। मध्यकाल और आधुनिक काल के हिन्दी कवियों में शृंगार की विपुलता है। काम-सूत्र के प्रभाव से काव्य शास्त्र में काम का ही प्रभुत्व रहा है। वीर रस के काव्य इने गिने ही हैं। करुणा, हास्य आदि के अवसर काव्यों में कुछ स्थलों पर ही दिखाई देते हैं। हिन्दी के सूर, तुलसी के अतिरिक्त वात्सल्य का महत्व न प्राचीन संस्कृत कवियों में दिखाई देता है और न मध्य युग तथा आधुनिक काल के हिन्दी कवियों में। संस्कृत काव्य शास्त्र की मौलिक रस व्यवस्था में तो कदाचित वात्सल्य के लिए स्थान ही नहीं है। इसका मुख्य कारण यही है कि पुरुष की वासना नारी के मातृत्व को पर्याप्त मान न दे सकी और न अपने पितृत्व के गौरव को समझ सकी।

नारी के साथ काम और वासना के एक दिक् सम्बन्ध को ही प्रमुख मानने के कारण पुरुष के काव्य में शृंगार का ही साम्राज्य है। भारतीय संस्कृति में नारी के जिस चतुर्विध रूप की प्रतिष्ठा दिखाई देती है उसका समुचित निर्वाह साहित्य तथा काव्य में नहीं हो सका। **हमारी लोक-संस्कृति में माता, भगिनी और पुत्री के रूप में नारी का जितना अधिक मान है, काव्य में इन रूपों की उतनी ही उपेक्षा है।** कालिदास ने अपनी कृतियों में नारी के मातृत्व का भी गौरवमय वर्णन किया

है। किन्तु अन्य संस्कृत तथा हिन्दी कवियों में प्राय: इसका अभाव है। पुत्री भाव का जो मार्मिक प्रसंग अभिज्ञान शाकुन्तल में मिलता है वह एक प्रकार से अपवाद सा ही है। कन्या और बहिन के रूप में नारी के गौरव का चित्रण काव्यों में बहुत कम मिलता है। सबसे अधिक नारी का प्रेयसी रूप ही कवियों को आकर्षित करता रहा है। प्रेयसी पत्नी का सर्वस्व नहीं है। प्रेयसी केवल रति और शृंगार का ही अवलम्बन है तथा पत्नी इसके अतिरिक्त जीवन के अन्य धर्मों की भी संगिनी है। प्रेयसी की आसक्ति में भूले हुए कवि पत्नी के व्यापक सम्बन्ध की प्रतिष्ठा भी काव्य में नहीं कर सके। रघुवंश और कुमार सम्भव के अतिरिक्त इसका संकेत भी बहुत कम मिलता है। हिन्दी में केवल "रामचरितमानस" में एक उत्कृष्ट रूप में इसका चित्रण है।

अस्तु नारी के एकांगी रूप से ही अपनी वासना का अतिरंजित सम्बन्ध मानने के कारण पुरुष के काव्य में शृंगार और विलास की प्रचुरता है। यह स्पष्ट है कि यह जीवन का अत्यन्त संकुचित और एकांगी दृष्टिकोण है। कदाचित् यह काम का भी स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं है। देवताओं की निरन्तर पराजय और रघुवंश के अन्तिम राजा अग्निवर्ण का क्षय काम के अतिचार के परिणाम का संकेत करते हैं। **काम के स्वस्थ दृष्टिकोण का संकेत हमें शिव के काम-दहन में मिलता है। क्षुब्ध वैराग्य और तन्मय आसक्ति दोनों एकांगी और अस्वस्थ दृष्टिकोण हैं। विकृति और विलास दोनों में ही दोष है। काम के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण तप संयम और योग से उसका संस्कार तथा संस्कृत जीवन में उसका समन्वय है। भोग की मर्यादा मातृत्व का मान, सृजन का गौरव तथा नारी के साथ समानता का सहयोग काम के सांस्कृतिक समन्वय के सिद्धान्त हैं। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर एक स्वस्थ, संतुलित और प्रगतिशील संस्कृति की परम्परा का निर्माण हो सकता है।**

यह भारतीय संस्कृति और साहित्य का दुर्भाग्य है कि 'शिवकथा' के इस सांस्कृतिक रहस्य को कवियों ने उचित सम्मान नहीं दिया। कुमारसम्भव में शिव-कथा के सांस्कृतिक रहस्य के उद्घाटन की अपेक्षा काव्य के परम्परागत शृंगार का विलास ही अधिक है। संस्कृत के कवि रत्नाकर का 'हरविजय' बौद्धिक चमत्कार और वर्णनों से परिपूर्ण है। मध्य युग में वैष्णव धर्म के वैभव और आकर्षण तथा कृष्णचरित की लोकप्रियता के कारण हिन्दी के कवि तो शिव को एकदम भूल गये। 'रामचरितमानस' की भूमिका के उपहासपूर्ण प्रसंग तथा 'पार्वतीमंगल'

के ग्रतिरिक्त हिन्दी में शिव काव्य नाम के लिए भी नहीं है। **कदाचित 'पार्वती' भारतीय साहित्य का प्रथम महाकाव्य है जिसमें शिवकथा का रहस्य तथा शिव-पार्वती के जीवन के ग्राधार पर नर नारी के व्यापक ग्रौर स्वस्थ सांस्कृतिक सम्बन्ध की प्रतिष्ठा की गई है।** एक ग्रपूर्व दृष्टिकोण होने के कारण ही परम्परा की सीमाग्रों से प्रभावित समाज में उसका उचित स्वागत नहीं हो सका।

ऐन्द्रिक सुखों में काम ही मुख्यत: काव्य का विषय बना। ग्रन्य ऐन्द्रिक विषय स्वतंत्र रूप से ग्रधिक महत्व के भागी नहीं हुए। काम के सहकारी के रूप में उनका स्थान गौण है। काम स्वस्थ जीवन का एक महत्वपूर्ण ग्रंग है। ग्रत: उसमें स्वरूपत: कोई दोष नहीं है। स्त्री-पुरुष के गम्भीर प्रेम का वह निगूढ ग्राधार है। गीता में भगवान ने धर्माविरुद्ध काम को ग्रपनी विभूतियों में स्थान दिया है।[३१] स्रष्टाग्रों में कंदर्प को सर्वश्रेष्ठ माना है।[३२] काम मनुष्य जाति की परम्परा ग्रौर जीवन के ग्रान्तरिक सुख का ग्राधार है। व्यक्तिगत जीवन में उसका महत्वपूर्ण स्थान ग्रसन्दिग्ध है। किन्तु काम की सामाजिक व्यवस्था में ग्रनेक दोष ग्रापन्न हो गये हैं। पुरुष का ग्रनाचार ही उनका मूल कारण है। नारी का निर्यातन उसकी स्वतंत्रता का तिरस्कार, उसके गौरव की ग्रवहेलना ग्रौर उसकी श्लीलता का ग्रप-मान इस ग्रतिचार के परिणाम हैं।

साहित्य ग्रौर काव्य भी व्यवहार में सामाजिक हैं। चाहे कवि की ग्रान्तरिक ग्रनुभूतियों में ही कविता का मूल उद्‌गम हो किन्तु काव्य की धारा का प्रवाह सामा-जिक जीवन की भावभूमि पर ही होता है। ग्रनुभूति का प्रकाशन स्वान्त: सुखाय नहीं वरन् लोकोपयोग के लिए होता है। इस लोकोपयोग के साथ कवि में यश की कामना भी रहती है चाहे वह कितने ही नम्र ग्रौर प्रच्छन्न रूप में हो। इस प्रकार काव्य का उद्‌गम व्यक्तिगत ग्रनुभूति होते हुए भी उसका उपयोग सामाजिक है। ग्रत: यह प्रश्न नितान्त संगत है कि काव्य में काम की ग्रभिव्यक्ति की सामा-जिक मर्यादा क्या है? स्त्री-पुरुष के व्यक्तिगत जीवन में काम जिस ग्रान्तरिक ग्रानन्द का साधक है वह सभ्यता की दृष्टि से दम्पति की पूर्णत: व्यक्तिगत विभूति है। वैज्ञानिक दृष्टि से काम शास्त्र विवाहितों की शिक्षा का शास्त्र है। **किन्तु काव्य में उसके स्वरूप, स्थान ग्रौर ग्रभिव्यक्ति की मर्यादा सामाजिक हित ग्रौर श्लीलता के दृष्टिकोण से ही निर्धारित होगी।**

पुरुष-तंत्र समाज जिस प्रकार ग्रपनी सामाजिक व्यवस्थाग्रों में नारी के हित, स्वातंत्र्य ग्रौर शील की उपेक्षा करता ग्राया है उसी प्रकार पुरुष का काव्य भी इस

अपराध का दोषी है। समाज में चाहे पुरुषतंत्र का प्रभुत्व हो किन्तु वस्तुतः समाज स्त्री और पुरुष दोनों की संयुक्त व्यवस्था का नाम है। अतः सभ्यता की श्लीलता की मर्यादा दोनों के प्रति औचित्य की भावना से ही निर्धारित होगी। काव्य और कला में शृंगार और काम के प्रचुर प्रसंगों में नारी का चित्रण जिस रूप में होता रहा है वह पुरुष के राग का रंजन करने के कारण उसे प्रिय हो तो कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु विचारने की बात यह है कि अपने रूप, सौन्दर्य और शील के साथ पुरुष के कला और काव्य का यह उच्छृंखल व्यभिचार नारी को भी उतना ही प्रिय है। यदि हम कालिदास के इस कथन को भी थोड़ी देर के लिए मानलें कि नारी के सौन्दर्य की कृतार्थता प्रियों के प्रेम और अपने सौभाग्य में है (प्रियेषु सौभाग्य-फला हि चारुता) तो भी यह कथन नारी के जीवन की व्यक्तिगत सीमा में ही चरितार्थ होता है। नारी का मातृत्व और उसका प्रणय प्रेम के विश्रम्भ का अवलम्ब चाहता है। कोई भी नारी अपनी इच्छा से अपने को सामान्या बनाना नहीं चाहती। अपने रूप और सौन्दर्य का सामाजिक प्रदर्शन उसे वस्तुतः कहाँ तक अभीष्ट है यह सन्देह का विषय है। सम्भवतः यह सत्य है कि वह अपने रूप को सामाजिक खिलवाड़ का विषय नहीं बनाना चाहती। उसके नख-शिख का सामाजिक प्रदर्शन और रति के रहस्यों का सार्वजनिक उद्घाटन उसकी श्लीलता की मर्यादा का अतिक्रमण करता है।

इस दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो हमारा संस्कृत और हिन्दी का अधिकांश शृंगार-साहित्य अश्लीलत्व दोष का अपराधी है। जो व्यवहार या वचन सभ्य समाज में सबके सामने उचित नहीं है वही अश्लील है। श्लीलता सभ्य व्यवहार की शिष्टता की मर्यादा है। यह श्लीलता सभ्यता का सामान्य धर्म है। सभ्यता की भाँति इसका विभाजन नहीं हो सकता। प्रश्न किया जा सकता है कि हमारा कितना शृंगार-काव्य ऐसा है जो सबके सामने पढा जा सके? पार्वती के पवित्र आदर्श का अनुशीलन करने वाली भारतीय कन्याओं के समक्ष उस काव्य का कितना अंश रखा जा सकता है? नारी के नख-शिख के बीच ही अपनी तीर्थ यात्रा पूर्ण करने वाले काम सेवी कवियों से यह पूछा जा सकता था कि क्या आपका यह काव्य आपकी कन्याओं और बहनों के योग्य है? कुमार सम्भव और शाकुन्तल के शृंगार पर मुग्ध रहने वाले, सौन्दरनन्द के चतुर्थ सर्ग को माध्यमिक कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए पाठचक्रम में निर्धारित करने वाले तथा हिन्दी के रीति काव्य

को विद्यार्थियों तक के लिए पठनीय मानने वाले समाज में यह समझ सकना कठिन है कि काव्य का काम-विलास किसी भी साहित्य की विभूतिं नहीं बन सकता। ऐसा नग्न शृंगार न समाज और सभ्यता का ही हित कर सकता है और न वह नवयुवकों और युवतियों के समक्ष सामाजिक शील और श्रेय का सुन्दर आदर्श उपस्थित कर सकता है।

एक बात और विचरणीय है कि शृंगार का जो नग्न चित्रण तथा नारी के अंगों का जो स्थूल आकर्षण संस्कृत और हिन्दी के काव्य में मिलता है वह उतने परिमाण और उस रूप में यूरोपीय काव्य में नहीं मिलता। होमर, वर्जिल, दान्ते, गेटे और शेक्सपीयर के काव्य में शृंगार का स्थान गौण है। उनमें हमें जीवन की अनेक गम्भीर समस्याओं का चित्रण मिलता है जिनमें स्त्री पुरुष का सम्बन्ध केवल एक है। आश्चर्य की बात है कि शेक्सपीयर की कृतियों में नायिकाओं की प्रधानता होते हुए भी स्थूल शृंगार के स्थल बहुत कम हैं। इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या यह हो सकती है कि भारतीय समाज में कई कारणों से काम-वृत्ति का दमन अधिक रहा। शृंगार के काव्य की प्रचुरता कविता में उस दमन की प्रतिक्रिया है। समाज में इस काव्य का स्वागत भी इसी प्रतिक्रिया पर आश्रित है। यह निर्विवाद है कि नारी के रूप और अंग की परिक्रमा ही काव्य का सर्वस्व नहीं। दमित वासनाओं की प्रकट और प्रच्छन्न अभिव्यक्ति सत्काव्य का सृजन नहीं कर सकती। जो कविता को भी कामिनी के ही रूप में देखकर कालिदास को उसका कान्त मानते रहे और उनके 'विलास' को सरस्वती का वैभव मानते रहे, उनके लिए काम और काव्य के स्वस्थ रूप का समझना सहज नहीं है। कामिनी के हृदय के युगल गोलार्द्ध ही जिनके लिए विश्व की सीमा रहे उनके लिए उस परिधि के बाहर के व्यापक सत्य को समझना कठिन है। तपोलीन पार्वती के स्तनों पर भी जिनकी कामुक दृष्टि रही, जो शीतकाल में नारी के उरोजों में गर्मी का गढ़ बनाते रहे, जो राधा की कंचुकी में कृष्ण के कन्दुक ख़ोजते रहे, जो पेड़ की छाया में भी परिहत वसना दमयन्ती और रति श्रान्ता व्रज बनिता का रूप देखते रहे तथा जो सरोवर बन कर भी अवसन श्यामा के उतरने की कामना करते रहे, उन महाकवियों की कुशल दृष्टि की बलिहारी है।

काम-दमन की जिन मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों में इस कुत्सित काव्य की रचना

हुई उन्हीं परिस्थितियों में यह काव्य प्रचार और प्रशंसा पाता रहा। पुरुष की प्रसुप्त वासना का रंजन करने के कारण उसके लिए यह रमणीय अर्थ का प्रतिपादक बना रहा। किन्तु शिष्ट और कुलीन नारी की इसके प्रति क्या प्रतिक्रिया है? इसका भी किसी ने अनुमान लगाया। प्रयाग विश्व विद्यालय की डा० शैलकुमारी का 'आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी' नामक अन्वेषण ग्रन्थ इस प्रतिक्रिया का एक संकेत है और पुरुषों के लिए पठनीय है।

जो लोग यह तर्क देते हैं कि काम और शृंगार भी जीवन का एक तथ्य है, अतः काव्य में उसका स्थान है, उनसे यह प्रश्न किया जा सकता है कि इसके अतिरिक्त भी जीवन के कुछ अन्य महत्वपूर्ण तथ्य हैं अथवा नहीं। यदि हैं तो शृंगार की तुलना में संस्कृत और हिन्दी के काव्य में उनका क्या स्थान है? जीवन की जिन गम्भीर समस्याओं का मंथन हमें गेटे, मिल्टन और शैक्सपीयर में मिलता है वह भारतीय काव्य में कहां है? जो रघुवंश के अन्तिम सर्ग की भाँति यह तर्क देते हैं कि विलास के परिणामों की शिक्षा शृंगार के काव्य का उद्देश्य है, वे भ्रम में हैं। शृंगार का रमणीय वर्णन काम का उद्दीपन ही कर सकता है, उसका संस्कार नहीं। शिक्षा के लिए संकेत मात्र पर्याप्त है, विस्तृत वर्णन आवश्यक नहीं है।

सत्य यह है कि नारी के प्रति शृंगार के काव्य का विलासमय दृष्टिकोण मनोविकृति का ही द्योतक है। स्वस्थ दृष्टिकोण में काम ही प्राकृतिक मर्यादा के भीतर नारी के शील और सौन्दर्य के प्रति आदर की भावना रहती है, जिसका अधिकांश शृंगार काव्य में अभाव है। **नारी पुरुष का खिलौना नहीं, उसकी संगनी और सहयोगिनी है।** इस नाते वह स्वतंत्रता और सम्मान की अधिकारिणी है। आदर का यह स्वस्थ दृष्टिकोण हमारे अधिकांश काव्य में नहीं अपनाया जा सका यह स्पष्ट है। डा० शैलकुमारी का मत है कि भारतीय समाज और साहित्य में नारी के प्रति दो विरोधी भावनाएँ रही जिनका स्रोत और परिणाम कदाचित एक ही है। सन्त कवि नारी की भर्त्सना करते रहे और शृंगारी कवि उसके नग्न चित्रण में अपनी वासना की अभिव्यक्ति खोजते रहे। सन्तों की भर्त्सना एक औषधि के रूप में रही। रीति कवियों का शृंगार एक पराजित जाति के लिए मद्य बन कर उसे वासना में विभोर बनाता रहा। किन्तु नर नारी के पवित्र प्रेम का अमृत जीवन-रस हमारे काव्य में कहाँ है? कालिदास की आश्रम वासिनी और तपो-योगिनी शकुन्तला के

पवित्र सौन्दर्य और प्रेम का समादर पुरुष का दुष्यन्त कब कर सका। तपस्विनी पार्वती के पवित्र रूप की मर्यादा का मान तो स्वयं कालिदास भी न कर सके। **समानता, स्वतंत्रता और समादर के स्वस्थ भाव से काम और नारी की प्रतिष्ठा हमारे काव्य में न हो सकी।**

भर्त्सना और विलास के दृष्टिकोण के अतिरिक्त नारी का एक तीसरा रूप है जो हमें प्रसाद की 'कामायनी' में मिलता है। यह नारी का वही श्रद्धामय रूप है जो 'रामचरित मानस' की सीता में प्रतिष्ठित हुआ है। अन्तर केवल इतना ही है कि 'कामायनी' की श्रद्धा सीता से अधिक सक्रिय और मनु की साधना में सहायक है। किन्तु पुरुष के प्रति अनन्य निष्ठा का भाव दोनों में समान है। सीता और श्रद्धा दोनों नारी के उसी रूप की प्रतीक हैं जो पुरुष के विश्वासरंजत-नग के पद-तल में पीयूष स्रोत के समान बहती रही है। नारी की सुकुमारता का आकर्षण हमारे समाज और साहित्य में सदा रहा है। सीता इतनी सुकुमार थी कि 'चित्र लिखित कपि देखि डराती'। बिहारी की नायिकाओं के अंग में गुलाब की पंखुड़ियों से खरोटें पड़ जाती थी। 'कामायनी' की श्रद्धा ने भी अन्त में यही अनुभव किया कि "मैं दुर्बलता में नारी हूँ।" गीता में भगवान ने पौरुष को नरों में व्याप्त अपनी विभूति माना है।[३२] किन्तु एक पराजित जाति अपनी इस विभूति को भूल गई। नारी की दुर्बलता में हम अपनी पराजय का समाधान खोजते रहे। उस दुर्बलता को कोमलता का नाम देकर हमारे कवि उसे नारी का अलंकार बना कर विलास और वासना की व्यंजनाओं को ही काव्य की कृतार्थता मानते रहे।

श्रृंगार और काम की प्रधानता के कारण अधिकांश काव्य में सुन्दरम् की ही अभिव्यक्ति हुई है। शैली की दृष्टि से भी अधिकांश काव्य में अभिव्यक्ति की ही प्रधानता है। तत्व की दृष्टि से अधिकांश काव्य प्रकृत काव्य की कोटि में है। यद्यपि इस काव्य में प्रकृति का स्वस्थ रूप कम ही मिलता है फिर भी प्राकृतिक वृत्तियों के अनुरंजन का साधक होने के नाते इसे प्रकृति काव्य कहना ही उचित है। कालिदास, भवभूति और वाण के अतिरिक्त विक्रम युग के संस्कृत काव्य में तथा रीति काल के हिन्दी काव्य में इस प्रकृति पर विकृति की छाया भी है। प्रकृति में सीमित और प्राय: विकृति में भ्रष्ट हो जाने के कारण इस काव्य में शिवम् का समादर बहुत कम मिलता है। **जिस प्रकार सृजन ही मूल सत्य है, और जिस**

प्रकार सृजन में ही सुन्दरम् की अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार सृजन में ही जीवन का शिवम् भी सार्थक होता है। 'कुमार-सम्भव' को छोड़ कर समस्त भारतीय साहित्य में कदाचित् ही कोई ऐसा काव्य हो जिसमें सृजन का प्राकृतिक अथवा सांस्कृतिक महत्व अंकित हो। कुमार सम्भव में भी दो कारणों से इस सृजन की समुचित प्रतिष्ठा नहीं हो सकी। एक तो पार्वती-परिणय के बाद 'कुमार-सम्भव' की रचना कालिदास का कृतित्व नहीं मालूम होती। मल्लिनाथ की अपूर्ण टीका और पिछले सर्गों की भाषा तथा शैली इस मत का समर्थन करती है। दूसरे कुमार कार्तिकेय के जन्म और पराक्रम की चमत्कार पूर्ण पौराणिक कथा ने सृजन के मानवीय महत्व को तिरोहित कर दिया है। शकुन्तला के जीवन में सृजन का विशेष महत्व है। उसका औरस कुमार भरत इतना प्रतापी हुआ कि चन्द्रवंश भरतवंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ तथा देश और देश की सबसे महत्वपूर्ण घटना को भारत का अभिधान प्राप्त हुआ। किन्तु कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल में प्रेम के विरह और मिलन की परिणति ही मधुरतम रूप में व्यक्त हुई है, सृजन का वह गौरव स्पष्ट नहीं हो सका। राम कथा में लव-कुश के जन्म और पराक्रम में भी सृजन के गौरव की सम्भावनाएँ थी, किन्तु वाल्मीकि और भवभूति के अतिरिक्त अन्य कवियों ने राम कथा के इस उत्तर भाग की ओर बहुत कम ध्यान दिया है। भवभूति के बाद के संस्कृत साहित्य में और समस्त हिन्दी साहित्य में सृजन की महिमा के संकेत भी मिलना कठिन है। सूर और तुलसी के काव्य में प्राप्त कृष्ण और राम के जन्म में भगवान के अवतार की अलौकिकता का समावेश हो जाने के कारण सृजन का लौकिक महत्त्व जाता रहा। रीतिकाल और छायावाद के हिन्दी युग के साहित्य में काम का मनोविलास ही अधिक है। एक अपने वार्धक्य को कोसने वाले पलितमनों का मानसिक विलास है, तो दूसरा कुमार, विधुर और वियोगी कवियों की अतृप्त वासनाओं की व्यंजना है। दोनों में ही सृजन के गौरव की सम्भावना नहीं है। वाल्मीकि के उत्तर काण्ड के बाद यदि सृजन के महत्व का आभास कहीं मिलता है तो वह कालिदास के 'रघुवंश' में, जिसमें रघु, अज आदि सूर्यवंशी राजाओं के कौमार्य में शक्ति, शील और सौन्दर्य के समन्वय का एक उत्कृष्ट आदर्श रखा गया है। किन्तु कालिदास भी 'कुमार-सम्भव' की कथा की सृजनात्मक सम्भावनाओं का पूरा-पूरा उपयोग नहीं कर सके। उनके लिए रघुवंश के कथा स्रोत में सृजन को जीवन की अभिव्यक्ति का आधार बनाना सम्भव

न था। यद्यपि रघुवंशियों के आदर्श का वर्णन करते समय कालिदास ने "प्रजायै गृहमेधिनाम्" की नीति का निर्देश किया है, किन्तु किसी भी काव्य में उन्होंने जीवन के सृजनात्मक धर्म का सम्पन्न रूप हमारे सामने नहीं रखा। कामसूत्र और काव्य शास्त्र की शृंगारमयी परम्परा से प्रभावित होने के कारण यह स्वाभाविक ही था। राम और कृष्ण के चरित में यद्यपि कैशोर और यौवन के पराक्रम अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, किन्तु सूर और तुलसी के काव्य में वात्सल्य का महत्व अधिक है। वात्सल्य में सृजन के शिवं की अपेक्षा उसके सुन्दरम् की अभिव्यक्ति अधिक होती है। इसीलिए राम और कृष्ण के वाल्य के वर्णनों में रूप और सौन्दर्य की महिमा ही अधिक मिलती है। रीतिकाल में तो यह वात्सल्य भी शृंगार के प्रभाव से विकृत होगया है। बिहारीलाल का "लरिका लैबे के मिसन छिगुनी तनिक छुवाय" रीतिकाल के विकृत वात्सल्य की मनोवृति का एक उदाहरण है। **यह कहना अनुचित न होगा कि वाल्मीकि के उत्तरकाण्ड के अतिरिक्त सृजन का गौरवपूर्ण रूप संस्कृत और हिन्दी के काव्य में नहीं मिलता।** रवीन्द्रनाथ के काव्य में जीवन के रहस्यों की सुन्दर अभिव्यक्ति ही अधिक है। उनके काव्य में सत्य सुन्दर बनकर व्यक्त हुआ है। किन्तु सृजन के गौरव तथा शिवं के अन्य रूपों की व्यंजना उनके काव्य में भी कम ही मिलेगी। स्वतंत्र-भारत के काव्य में जीवन की सृजनात्मक प्रेरणा के अंकुर प्रस्फुटित होते हुए दिखाई देते हैं। नागार्जुन की एक कविता में (यह कैसे होगा) सृजन का सत्य बड़े मार्मिक रूप में व्यक्त हुआ है।[३४]

सृजन के शिवं की अभिव्यक्ति की सबसे उत्तम सम्भावना शिव-कथा में ही है। विष्णु के अपने विक्रम प्रसिद्ध हैं। राम और कृष्ण के रूप में उनके अवतारों में भी पराक्रम की प्रधानता है। सृजन से पूर्णतया रहित न होते हुए भी राम और कृष्ण की कथाओं में उनका अधिक महत्व नहीं है। भक्ति के प्रभाव ने राम और कृष्ण के रूपों को आराध्य बना दिया। इस भक्ति के चकाचोंध में उनके जीवन का सृजनात्मक गौरव तिरोहित हो गया। विक्रम युग में राम और कृष्ण का ही धर्म के क्षेत्र में प्रभुत्व रहा है। कालिदास महाकाल के अदूरवासी होने के कारण शिव के भक्त अवश्य थे। 'कुमार-सम्भव' में उन्हीं के द्वारा शिव की एक अपूर्ण कथा विक्रम युग के समस्त काव्य में मिलती है। रघुवंश में वे भी राम से प्रभावित दिखाई देते हैं। 'कुमार-सम्भव' के अतिरिक्त (पार्वती मंगल को छोड़ कर जो कुमार-संभव का ही संक्षिप्त भावानुवाद है) समस्त काव्य में शिव-कथा का

कहीं चिन्ह भी नहीं मिलता। शिव-कथा की उपेक्षा तथा राम और कृष्ण के प्रभुत्व के कारण विक्रम युग के संस्कृत और हिन्दी काव्य में सृजन की महिमा का समुचित आदर नहीं हो सका और इसी कारण सत्य के निर्देश और सुन्दरम् की अभिव्यक्ति होते हुए भी इस काव्य में शिवम् के मुख्य रूपों की प्रतिष्ठा बहुत कम हो सकी।

अध्याय ३४

नारी के रूप और काव्य

नारी सृष्टि का अनुपम अलंकार है। वह विधाता की एक अत्यन्त मनोहर सृष्टि है। उसके रूप में सृष्टि का सौन्दर्य स्वर्ग की सीमाओं का स्पर्श करता है। नारी के इस रूप-लावण्य पर मुग्ध होकर पुरुष आदिकाल से उसकी आराधना और उसके सान्निध्य का प्रयत्न करता आया है। इसमें संदेह नहीं कि नारी के रूप-लावण्य में अन्तर्निहित काम भी नर-नारी के सम्बन्ध का एक मौलिक और प्राकृतिक आधार है। किन्तु काम का प्राकृतिक आधार ही नर-नारी के सम्बन्ध का सर्वस्व नहीं है। वस्तुतः काम का सम्बन्ध भी पूर्णतः प्राकृतिक नहीं है। संस्कृत भाषा में काम को 'मनसिज' का नाम दिया गया है। इसका कारण यही है कि शारीरिक वृत्ति होने के साथ-साथ काम एक मानसिक वृत्ति भी है। काम की शारीरिक आकांशाओं का मानसिक वासनाओं में विस्तार होता है। काम की यह मानसिक वासना पूर्णतः प्राकृतिक नहीं है। उसके भीतर एक आध्यात्मिक रहस्य भी निहित है, जिसे समझने के लिये हमें प्रकृतिवाद और अध्यात्मवाद दोनों में एकांगी आग्रहों से ऊपर उठकर एक उदार भाव से काम का आदर करना होगा। **प्राकृतिक आकांशा और आध्यात्मिक भाव के अन्तराल में काम के अनेक सामाजिक, कलात्मक और सांस्कृतिक लोक हैं। इन लोकों में नारी के भाव और सौन्दर्य की अनेक विभूतियाँ विभासित होती हैं।** काम की प्राकृतिक आकांक्षा के अतिरिक्त नारी की इन व्यापक विभूतियों के कारण भी उसके प्रति पुरुष का आकर्षण रहा है। इनमें नारी का रूप-सौन्दर्य पुरुष के विशेष आकर्षण का कारण रहा है। नारी के इस रूप-सौन्दर्य का प्रकाश अध्यात्मलोक के क्षितिजों का भी स्पर्श करता है। किन्तु प्रायः वह पुरुष के काम को ही रंजित और अधिक रमणीय बनाता रहा है। काम और सौन्दर्य के इस संयोग का सूत्र यौवन में मिलता है। यौवन काल में ही नारी का रूप-सौन्दर्य विशेष रूप से स्फुटित होता है। दूसरी ओर पुरुष की चेतना का विकास भी यौवन काल में ही पूर्ण होता है। यौवन काल में जब पुरुष की चेतना प्रस्फुटित होती है, उस समय यौवन के सौन्दर्य से सम्पन्न नारी एक दिव्य आकर्षण के रूप में उसके सामने आती है। प्रकृति और मन की

आकांक्षाएँ काम और सौन्दर्य पर केन्द्रित होकर इन्हीं के आधार पर नर-नारी के सम्बन्ध का निर्धारण करते हैं। चेतना के मध्याह्न सूर्य के प्रकाश में नारी का रूप-कमल भी अपनी पूर्ण प्रतिभा में प्रस्फुटित होकर पुरुष की दृष्टि को विस्मित और विमुग्ध करता है।

इसी कारण पुरुष की कल्पना, भावना और रचना में कामिनी और रमणी के रूप में ही नारी अधिक व्याप्त रही है। पुरुष के साहित्य और कला में नारी के इसी रूप का प्रभाव अधिक दिखाई देता है। यौवन के पूर्व बाल्यकाल में पुरुष के लिए नारी के मातृ रूप का भी महत्व रहता है। उसी काल में नारी के भगिनी-रूप का माधुर्य भी पुरुष के बाल्य और कैशोर को सरस बनाता है। कैशोर काल में नारी के मातृत्व का महत्व पुरुष की बढ़ती हुई स्वतंत्रता के साथ-साथ कम होता जाता है। नारी के कामिनी और रमणी रूप का सौन्दर्य उसे विमोहित करने लगता है। यही विमोह उसके यौवन का उन्माद बना रहता है। इस उन्माद में वह नारी के अन्य रूपों की महिमा को भूल जाता है। इस उन्माद का भी अपना महत्व है। यह उन्माद जीवन का मर्म है। इस उन्माद के बिना मनुष्य के जीवन के सभी सूत्र शिथिल हो जाते हैं और जीवन के अन्य अनेक पक्ष निष्फल हो जाते हैं। **किन्तु जीवन के अन्य पक्षों का ध्यान और नारी के अन्य रूपों का सम्मान मनुष्य के जीवन को अधिक संतुलित और अधिक सुन्दर बना सकता है।** नारी के इन रूपों में चार मुख्य हैं जिन्हें हम उसका मातृ रूप, भगिनी रूप, पत्नी रूप और कन्या रूप कह सकते हैं। इनके अतिरिक्त सम्बन्धों के भेद से स्त्री के और भी अनेक रूप हो सकते हैं। अनेकरूपता जीवन और संस्कृति का वैभव है। इन अनेक रूपों में जीवन, संस्कृति और साहित्य में नारी की प्रतिष्ठा इन्हें गौरवमय एवं सम्पन्न बना सकती है। जीवन के अनुरूप साहित्य में भी इन सभी रूपों का उचित आदर अपेक्षित है, अन्यथा साहित्य के एकांगी और असंतुलित होने की आशंका है। यह एकांगिता साहित्य और काव्य में प्रायः दिखाई देती है। साहित्य के इस एकांगी दृष्टिकोण में नारी के प्रेयसी तथा पत्नी रूप की प्रधानता है। पत्नी रूप के सामाजिक और सांस्कृतिक गौरव को भी कालिदास जैसे कुछ सांस्कृतिक कवि ही उचित आदर दे सके हैं। अन्य अधिकांश कवि नारी के प्रेयसी रूप में ही उलझे रहे हैं। प्रेयसी के सम्बन्ध में भी हृदय के अन्य उदार भावों की अपेक्षा काम और अहंकार की प्रधानता है। पुरुष के स्वभाव

में अहंकार के प्रभुत्व के कारण उसका अनुराग भी एक-पक्षीय बन जाता है। वह अपने को केन्द्र बनाकर ही प्रेम के सम्बन्ध में भी सोचता है। अधिकांश काव्य की प्रेम कल्पनाएँ इस एक-पक्षीयता से दूषित हैं। नारी की ओर से भी जो कल्पनाएँ की गई हैं, उनमें भी नारी के भावों की अभिव्यक्ति की अपेक्षा पुरुष के आत्मानुकूल भावों की प्रतिच्छाया अधिक है। **नारी के केन्द्र से अथवा नर-नारी के युग्म केन्द्रों के सम्वाद की दृष्टि से प्रेम का निरूपण भी काव्य में बहुत कम मिलता है।** काम और पुरुष केन्द्रित प्रेम के अतिरिक्त अन्य उदार भावों, जटिल सम्बन्धों और व्यापक कर्त्तव्यों की दृष्टि से पति-पत्नी के सम्बन्ध का समावेश काव्य में और भी कम मिलता है। यशोदा और कौशल्या को छोड़कर मातृत्व की प्रतिष्ठा भी काव्य में बहुत कम की गई है। शाकुन्तल के कण्व की करुणा के अतिरिक्त नारी के कन्या-रूप का माधुर्य भी बहुत कम काव्यों का गौरव बना है। भारतीय संस्कृति में इतने अधिक सम्मानित भगिनी के सम्बन्ध की चर्चा तो काव्य में अपवाद के रूप में भी मिलना कठिन है।

अस्तु, चेतना के उत्कर्ष और यौवन के विकास में काम और एकांगी प्रेम से अभिभूत होने के कारण काव्य एवं साहित्य में नारी के विविध रूपों को उचित और आदरपूर्ण स्थान नहीं मिल सका है। **किन्तु यदि काव्य और साहित्य को जीवन की व्यापक विभूति से सम्पन्न बनाना है तो उसे नारी के विविध रूपों से सुसज्जित करना होगा।** जीवन और संस्कृति की दृष्टि से नारी के सभी रूप अपना महत्व और गौरव रखते हैं। पुरुष के जीवन को नारी के सभी रूप अपने विशेष भाव और सौन्दर्य से भरते हैं। प्राकृतिक दृष्टिकोण से यद्यपि नारी के प्रेयसी रूप का ही महत्व अधिक है। कैशोर के विकास के साथ-साथ बहिन के सम्बन्ध का महत्व कम होता जाता है। प्रेयसी के मोह में कन्या के सम्बन्ध का माधुर्य भी मन्द हो जाता है। किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से ये सभी सम्बन्ध महत्वपूर्ण एवं आदर के योग्य हैं तथा काव्य एवं साहित्य में ये सभी उचित स्थान के अधिकारी हैं।

इनमें क्रम की दृष्टि से माता का सम्बन्ध प्रथम है। जन्म काल से ही सबसे पहिले पुरुष का परिचय स्त्री के मातृ रूप से होता है। माता के स्तन्य से शिशु का पोषण होता है। माता जिस दुलार से अपनी गोद में पुत्र को पालती है, वह जीवन में दुर्लभ है। **पालन और प्यार की दृष्टि से माता का वात्सल्य जीवन का सर्वोत्तम सत्य है।** इसीलिये भारतीय संस्कृति में उसे सबसे अधिक मान दिया

गया है। इस प्रसंग में नीति के वचन विदित हैं। भारतीय नीति के इसी आधार पर कौशल्या ने राम से कहा था कि 'जो केवल पितु आयसु ताता। तो जनि जाउ जानि बड़ि माता'। भारतीय धर्म-परम्परा में मातृ-शक्ति की पूजा का भी यही रहस्य है। **माता के स्तन्य का क्षीर-सागर सृष्टि का आधार है।** शिष्टाचार के क्रम में भी कालिदास के 'पार्वती-परमेश्वरौ' और तुलसीदास के 'भवानी-शंकरौ' तथा 'सीता राम' की भाँति मातृ-रूप की प्रथम वंदना की जाती है। भारतीय धर्म-परम्परा में देवी का आदर माता की महिमा का ही फल है। शरीर और आत्मा के रस से मनुष्य जाति का लालन करने वाली माता धन्य है। मातृ-रूप का वह दिव्य सौन्दर्य जीवन और साहित्य दोनों में वंदनीय है। माता का यह दिव्य माधुर्य विस्मरणीय नहीं है। **माता के रूप के अतिरिक्त माता का भाव भी व्यापक बन कर जीवन में मंगल का अनुष्ठान करता है।** सृजन, पोषण, पालन, लालन आदि के भावों तथा इनके लिये अपेक्षित त्याग, सेवा, ममता, माधुर्य आदि को अपना कर पुरुष भी समाज के कल्याण में योग दे सकता है। माता के रूप और भाव दोनों के उदार अनुग्रह से मानवीय जीवन को मंगलमय बनाने के लिये ही भारतीय परम्परा में माता को इतना आदर दिया गया है। बाल्यकाल में माता के आश्रित रहने के कारण पुरुष के मन में माता का कुछ आदर रहता है। किन्तु वय के विकास के साथ-साथ ज्यों ज्यों पुरुष समर्थ और स्वतंत्र होता जाता है, मातृत्व का मान उसकी दृष्टि में घटता जाता है। यौवन के विकास के साथ-साथ प्रेयसी का बढता हुआ सम्मोहन इसे और कम करता है। इस प्रकार मातृत्व का घटता हुआ मान प्रकृति का स्वाभाविक क्रम है। इसी प्राकृतिक गति का प्रतिरोध करने के लिये भारतीय परम्परा में मातृ-रूप और माता की महिमा की सुदृढ़ प्रतिष्ठा की गई है। **भारतीय परम्परा का यह प्रयास प्राकृतिक गति के विपरीत एक सांस्कृतिक अध्यवसाय है।** इस सांस्कृतिक अध्यवसाय को सुरक्षित रखना मनुष्य समाज के लिये कल्याणकारी होगा। इसमें काव्य और साहित्य का योग सदा सराहनीय है।

सूर और तुलसी की यशोदा और कौशल्या को छोड़कर मातृत्व की महिमा का विशेष निरूपण संसार के साहित्य अथवा काव्य में मिलना कठिन है। पश्चिमी समाज में माता का इतना अधिक मान नहीं है। उसमें प्रेयसी के सम्बन्ध की ही प्रधानता है। अत: उसमें मातृत्व की महिमा का गौरवपूर्ण चित्रण मिलना कठिन

है। किन्तु भारतीय साहित्य में भी उसका मिलना उतना ही दुर्लभ है। **सूर और तुलसी की यशोदा और कौशल्या के अतिरिक्त संस्कृत और हिन्दी के साहित्य में मातृ रूप अथवा वात्सल्य का कोई उल्लेखनीय निरूपण नहीं मिलता।** सूर और तुलसी के द्वारा चित्रित यशोदा और कौशल्या के वात्सल्य को हिन्दी काव्य का गौरव माना जाता है। इनका वात्सल्य वस्तुतः साहित्य का गौरव है। **किन्तु माता के वात्सल्य में ही मातृत्व की महिमा सम्पूर्ण नहीं है।** माता की ओर से उसका वात्सल्य निस्संदेह उसकी महिमा का द्योतक है। किन्तु माता के इस वात्सल्य में पुरुष का कोई श्रेय नहीं है। पुरुष की ओर से माता के गौरव की प्रतिष्ठा पुरुष की श्रद्धा के द्वारा हो सकती है। **माता के प्रति पुरुष की श्रद्धा का निरूपण काव्य में बहुत कम मिल सकेगा।** इसका कारण यही है कि प्रेयसी के प्रेम की भाँति माता के वात्सल्य के प्रसंग में भी पुरुष की भावना आत्म-केन्द्रित रही है। शक्ति-तंत्रों के अध्यात्मिक काव्य में मातृ-शक्ति के प्रति पुरुष की श्रद्धा का जैसा परिचय मिलता है, माता के प्रति पुरुष की श्रद्धा का वैसा परिचय काव्य में मिलना कठिन है। किन्तु इसी श्रद्धा के द्वारा समाज और साहित्य में एक मधुर और मंगलमय भाव का प्रसार हो सकता है।

माता के अतिरिक्त नारी का एक अन्य उपेक्षित रूप भगिनी के रूप में मिलता है। 'भगिनी' का यह नाम ही इस बात का संकेत करता है कि इस सम्बन्ध के पवित्र रूप को स्वीकार करने में पुरुष को कितनी कठिनाई हुई है। **इस कठिनाई का अतिक्रमण करके समाज की परम्परा में बहिन के पवित्र और मधुर सम्बन्ध को एक आदर पूर्ण स्थान देना भारतीय चेतना की एक अद्‌भुत सांस्कृतिक विजय है।** समाज और संस्कृति की परम्परा में इस विजय का उल्लास आज भी सुरक्षित है। रक्षा-बंधन का पर्व प्रति वर्ष इस उल्लास को एक नई प्रेरणा दे जाता है। **बहिन के सम्बन्ध की महिमा भारतीय संस्कृति का एक अनुपम गौरव है। संसार का कोई भी समाज इसमें भारत की समता नहीं कर सकता।** भारतीय समाज में बहिन के इस सम्बन्ध को औरस सम्बन्ध के अतिरिक्त अपार विस्तार दिया गया है। पुरुष का समवयस्क अधिकांश नारी-समाज इस विस्तार की परिधि में आ जाता है। बहिन के सम्बन्ध और भाव का विस्तार प्रकृति के अतिचार की एक सुदृढ़ अर्गला है। यही अर्गला सामाजिक शील और शान्ति की मंगलमयी मर्यादा है। जिन समाजों में यह मर्यादा प्रतिष्ठित नहीं है और जिनमें एक औरस सम्बन्ध को छोड़कर अन्यत्र

विवाह का निषेध नहीं है, उन समाजों का जीवन इस क्षेत्र में सशंकित रहता है। **भारतीय समाज और संस्कृति में बहिन का विपुल आदर होते हुए भी भारतीय साहित्य और काव्य में उसका प्रसंग अपवाद रूप में भी नहीं मिलता, यह एक अत्यन्त आश्चर्य की बात है।**

एक तीसरे रूप में नारी पुरुष के जीवन में कन्या के रूप में प्रवेश करती है। सम्बन्ध और वयोभेद के कारण कन्या के प्रति पुरुष का स्वाभाविक अनुराग होता है। किन्तु पुरुषतंत्र समाज में कन्या का जीवन कन्या के रूप में कम महत्वपूर्ण तथा अधिक आपत्तिपूर्ण रहा है। पुत्र से वंश परम्परा चलती है और पितरों को नरक से मुक्ति मिलती है। अतः पुत्र की प्रतिष्ठा जीवन और साहित्य दोनों में मिलती है। पुरुषतंत्र समाज में कन्या के भान की स्वाभाविक हीनता की आशंका करके ही भारतीय संस्कृति के विधायकों ने समाज की परम्पराओं में कन्या को भी बहुत आदर दिया है। विवाह के पूर्व कन्याओं से भोजन आदि का कार्य न कराने की प्रथा इस आदर का एक उदाहरण है। कन्या-दान तथा विवाह के बाद कन्या के अनेक अनेक नेग-चार इस आदर को और बढ़ाते हैं। **किन्तु साहित्य और काव्य में नारी के कन्या-रूप को भी उचित आदर नहीं मिल सका है। अभिज्ञान शाकुन्तल के कण्व की करुणा के समान कन्या के प्रति वात्सल्य के भाव काव्य में कदाचित ही मिलते हैं।** किन्तु अनुराग और वात्सल्य में ही कन्या का मान पूर्ण नहीं है। इनके अतिरिक्त कन्या को अन्य प्रकारों से भी गौरव और मान देना उचित है। इन अनेक रूपों में कन्या के जीवन का गौरव तथा उसके शील और सौन्दर्य की पवित्रता बहिन के सम्मान की भाँति ही समाज के मंगल की मर्यादा है। इस मर्यादा को साहित्य में भी उचित मान देना अपेक्षित है।

इन सभी रूपों में स्त्री के प्रेम और माधुर्य को उचित आदर देना समाज और साहित्य का कर्त्तव्य है। किन्तु माता के प्रति श्रद्धा, बहिन के आदर और कन्या के मान में ही समाज और साहित्य में नारी की प्रतिष्ठा पूर्ण नहीं हो जाती। **नारी पुरुष के आदर और प्रेम की पात्र है। किन्तु पुरुष के आश्रय में ही उसके जीवन की कृतार्थता नहीं है। उसके जीवन और व्यक्तित्व का स्वतन्त्र महत्व भी है।** पुरुषतंत्र के अतिचारों के कारण वह पुरुष की रक्षणीया अवश्य है। इसी दृष्टिकोण से धर्म शास्त्रों ने उसे स्वतन्त्रता के योग्य नहीं माना है। किन्तु धर्म-शास्त्रों का अभिप्राय यह नहीं है कि नारी के जीवन और व्यक्तित्व का कोई स्वतन्त्र महत्व नहीं

है। पुरुष के द्वारा रक्षित होने पर तथा पुरुष के साथ सम्बन्धों में ही नारी के जीवन का सौन्दर्य सफल एवं साकार होता है। फिर भी नारी के जीवन का महत्व अपने स्वतंत्र रूप में सार्थक हो सकता है। पुरुष के द्वारा रक्षा का आश्वासन उसकी स्वतंत्रता को और अधिक सुदृढ़ बनाता है। इस सुरक्षा के वातावरण में उसकी स्वतंत्रता अधिक सफल हो सकती है। किन्तु पुरुषतंत्र की विडम्बनाओं के कारण पुरुष की रक्षणीया बनकर नारी अबला बन गई है। पुरुष के अधिकार और अतिचार ने उसे आतंकित कर अपनी दुर्बलता में सीमित कर दिया है। युगों के उत्पीड़न से उसकी शारीरिक सामर्थ्य और मानसिक क्षमता क्षीण हो गई है। कवि प्रसाद की श्रद्धा की भाँति वह दुर्बलता को ही अपना स्वरूप समझती है (मैं आज समझ यह पाई हूँ, मैं दुर्बलता में नारी हूँ)। कवि मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में अबला-जीवन की कहानी केवल इतनी ही है कि 'आंचल में है दूध और आँखों में पानी'। दुर्बलता में वात्सल्य और करुणा ही नारी जीवन की विभूतियाँ रह गई हैं। किन्तु यह न स्वाभाविक है और न आवश्यक है। **नारी में शारीरिक बल और मानसिक शक्ति पुरुष से कम नहीं है। नारी का अबला रूप पुरुषतंत्र की विडम्बनाओं का परिणाम है।** अपनी दुर्बलता में भी स्वामी बने रहने के लिए पुरुष ने नारी के अबला रूप का अभिनन्दन किया है। समर्थ, सशक्त और स्वतंत्र रूप में नारी का आदर करने के लिए पुरुष को अधिक सशक्त बनना होगा। **काव्य में भी नारी के अबला-रूप का ही अभिनन्दन अधिक है।** स्वतंत्र-चेता कवि भी नारी के समर्थ, सशक्त और स्वतंत्र रूप को काव्य में आदर नहीं दे सके। शैव-तंत्रों में शक्ति की उपासना नारी के रूप में ही होती है। सृजन और पालन के लिए भी शक्ति अपेक्षित है। किन्तु इसके अतिरिक्त रक्षा तथा अन्य कार्यों में भी नारी की शक्ति का प्रमाण मिलता है। भारतवर्ष की वीर और विदुषी महिलाओं से लेकर रूस की आधुनिक अंतरिक्ष-यात्री महिला तक नारी की शक्ति के अनेक उदाहरण इतिहास में मिलते हैं। ये उदाहरण अपवाद नहीं हैं वरन् ये उदाहरण नारी की शक्ति के सामान्य सिद्धान्त को प्रमाणित करते हैं। **स्वतंत्र, समर्थ और सशक्त रूप में नारी का आदर करके ही मनुष्य समाज और मनुष्य का साहित्य अपने पूर्ण गौरव को प्राप्त कर सकते हैं।**

किन्तु खेद की बात है कि नारी के समर्थ, सशक्त, स्वतंत्र और आदरमय रूप की प्रतिष्ठा हमारे काव्य में न हो सकी। दुर्गासप्तशती में जिस नारी को शक्ति

का रूप माना है उसके शक्ति रूप की अवहेलना हमारे शृंगार काव्य की एक शोचनीय विड़म्बना है। शक्ति की कल्पना बड़ी व्यापक है। दुर्गासप्तशती में शक्ति की अनेक विभूतियों का उल्लेख मिलता है। इन विभूतियों की व्यापकता नारी के स्वरूप और जीवन की विशालता की द्योतक है। इसमें नारी का मातृ-रूप सबसे अधिक मान्य है। **'सृजन' शक्ति का सबसे महान् धर्म है।** नारी की शक्ति रचनात्मक अधिक है, यद्यपि शक्तियों में प्रलयंकारी काली आदि अनेक उग्र और ध्वंसात्मक रूप भी मिलते हैं। हमारे साहित्य में नारी के इस मातृरूप की प्रतिष्ठा अधिक नहीं है। शृंगार और विलास की प्रचुरता के सामने उसका परिमाण नगण्य है। 'वाल्मीकि रामायण' में सीता का जो मातृ-रूप अंकित है वह 'रामचरित-मानस' में नहीं मिलता। 'रघुवंश' के आरम्भिक सर्गों में रघुवंशियों की अपुत्र-परम्परा के कारण मातृत्व का कुछ आभास अवश्य मिलता है। 'शाकुन्तल' में भी भरत-जननी का उदात्त रूप अमर है। यों कालिदास के काव्य में शृंगार के साथ-साथ मातृत्व का भी कुछ स्थान है किन्तु शेष संस्कृत काव्य में वह दुर्लभ ही है। हिन्दी काव्य में कौशल्या और यशोदा का मातृ-रूप राम और कृष्ण के रूप की अलौकिकता के चमत्कार में तिरोहित हो गया। सूर और तुलसी के अतिरिक्त शेष हिन्दी काव्य में वह संस्कृत काव्य की भाँति ही दुर्लभ है। जयशंकरप्रसाद ने 'कामायनी' की श्रद्धा के मातृरूप को पर्याप्त गौरव दिया है। किन्तु विक्षिप्त मनु की सुश्रूषा और साधना की ओर श्रद्धा का अधिक ध्यान है। 'कामायनी' की आनन्दमय परिणति में मातृत्व की कृतार्थता का गौरव उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि उछृंखल पुरुष की सुश्रूषा और साधना में श्रद्धामयी नारी का सहयोग है। गुप्तजी की यशोधरा में मातृत्व का एक ममतामय रूप मिलता है जो आधुनिक काव्यधारा में एक अपवाद सा है।

मातृत्व का सबसे उज्ज्वल और उदात्त रूप हमारी पौराणिक परम्परा में पार्वती के चरित्र में मिलता है। दाम्पत्य का प्रेम और पुत्र के प्रति वात्सल्य नारी के दो महत्वपूर्ण भाव हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त समाज की सांस्कृतिक परम्परा में श्रेष्ठ संतान के द्वारा सक्रिय सहयोग तथा शक्ति, शील और सौन्दर्य से मण्डित सेनानियों के निर्माण द्वारा एक मंगलमयी संस्कृति की रचना द्वारा नारी का मातृत्व सफल समाज का विधायक है। ऐसे मातृ-रूप की पूर्ति के लिए दाम्पत्य के प्रेम के अतिरिक्त एक साधना अपेक्षित है जो केवल शिव और पार्वती के चरित्र में मिलती

है। वात्सल्य का दुलार सृजन के विस्मय और आनन्द से विभोर माता की ममता का प्रवाह है। मातृत्व के पूर्ण गौरव के लिए दाम्पत्य में साधना की भांति वात्सल्य में भी शिशु के ओजस्वी भविष्य और संस्कृति के सेनानी बनने की भावना का दर्प अपेक्षित है। 'रघुवंश' के आरम्भिक सर्गों के अतिरिक्त अन्यत्र इस दर्प का अभास भी नहीं मिलता। 'कुमार-सम्भव' के उत्तरार्ध में (चाहे वह किसी की रचना हो) मातृत्व के इस दर्प की प्रतिष्ठा कुमार कार्तिकेय के शैशव अलौकिक चमत्कार के कारण न हो सकी। सूर और तुलसी का वात्सल्य भी शिशुओं का दुलार है। उसमें शिशुओं के ओजस्वी भविष्य और संस्कृति के नेतृत्व की महिमामयी आशा का दर्प नहीं है।

'पार्वती महाकाव्य' में मातृत्व के इस पूर्ण रूप और महिमामय दर्प की प्रतिष्ठा अभूतपूर्व है। पार्वती के दोहद काल से लेकर तारक-वध और त्रिपुर विजय तक ममतामय वात्सल्य के साथ-साथ संस्कृति के सेनानी कुमार के उज्ज्वल भविष्य का सक्रिय दर्प सर्वत्र व्याप्त है। परिणय के पूर्व और दाम्पत्य काल में एक गौरवमयी साधना इस मातृदर्प की पीठिका है। शची के वात्सल्य और पुत्र-गौरव का प्रतिरोध पार्वती के इस पूर्ण मातृरूप की ही छाया है। जयन्त और सेनानी का सख्य मातृत्व की इसी समान पीठिका पर आश्रित है। संकेत यह है कि मातृत्व की सांस्कृतिक साधना युवकों के स्नेहपूर्ण सहयोग और ओज-पूर्ण संगठन के द्वारा ही संस्कृति की रक्षा, उसके विकास और नूतन निर्माण की प्रेरणा बन सकती है।

नारी का शील, सौन्दर्य और उसकी श्लीलता संस्कृति का मर्म है। वस्तुतः यह संस्कृति के कुसुम का पराग है। यही संस्कृति की सृजनात्मक परम्परा तथा उसके गौरव के प्रसाद का सूत्र है। इस प्रसंग में कुमारों के ओजस्वी संगठन का महत्व और भी स्पष्ट हो जाता है। नारी का जो शील-सौन्दर्य संस्कृति का मर्म है उसी का अपमान आसुरी अनीति का लक्ष्य भी है। इस अनीति का उपचार संस्कृति की एक मूल समस्या है। यदि हिंसा और युद्ध इस अनीति का अपूर्ण अथवा असफल उपचार है तो एकांगी अहिंसा भी उसका पूर्ण और सफल उपचार नहीं है। इसका पूर्ण और यथार्थ उपचार तो युवक समाज की शक्ति, शील और प्रेम की भूमिका पर प्रतिष्ठित सार्वजनिक जागरण है। पार्वती महाकाव्य का विश्वयान इसी जागरण का प्रतीक है। इस लोक-जागरण के सेनानी कुमारों का

सृजन और निर्माण ही मातृत्व की कृतार्थता है। वाल्मीकि रामायण में मातृत्व के इस गौरव का जो आभास मिलता है वह भारतीय काव्य में अन्यत्र दुर्लभ है। 'शाकुन्तल' में उसकी सम्भावनाओं का उपयोग कालिदास की इस ओर दृष्टि न होने के कारण न हो सका। इसी कारण 'कुमार-सम्भव' की सम्भावनाएँ भी सफल न हो सकी। राजस्थान में राजपूत काल में मातृत्व के इस गौरव का जागरण हुआ था। किन्तु विदुला और कुन्ती की मातृ-ज्योति का यह जागरण हमारे काव्य की विभूति न बन सका। कोई भी कवि उस तेजपूर्ण मातृ-गौरव को वाणी न दे सका।

दाम्पत्य, वात्सल्य और मातृत्व के अतिरिक्त नारी जीवन के और भी पक्ष हैं। नारी के स्वरूप और जीवन की पूर्णता में इन सभी का समावेश है। **वह केवल पत्नी और माता ही नहीं है। इसके भी पूर्व वह पुत्री और बहिन है। भारतीय संस्कृति में नारी के इन दोनों ही रूपों का बड़ा महत्व है।** कन्यादान गृहस्थ जीवन का एक पवित्र धर्म माना गया है। विवाह आदि सभी मांगलिक कार्यों में बहिन की आचार-विधियों का गौरवमय स्थान है। वर्षारम्भ में नवरात्र की शक्ति पूजा के प्रसंग में कन्याओं का अर्चन इस तत्व का प्रतीक है कि कन्या रूप में नारी का मान ही संस्कृति का मूल है। 'पार्वती माहाकाव्य' के मङ्गलाचरण के अनुसार कन्या के निर्मल तन-मन की पुनीत आभा ही मनुष्य की प्रकृति को पवित्र करके उसकी उज्ज्वल जीवन-जीता बन सकती है। यदि कन्या नारी का आदि रूप है तो कन्या का गौरव ही सांस्कृतिक व्यवस्था में नारी के स्वतंत्र गौरव की प्रतिष्ठा की भूमिका है। वात्सल्य के सहयोग से कन्या की प्रतिष्ठा सहज है। यद्यपि भारतीय काव्य में हमारी संस्कृति के अनुरूप उसका अंकन नहीं हो सका। संस्कृति में नारी की प्रतिष्ठा की अधिक महत्वपूर्ण समस्या उसके यौवन के प्रति पुरुष का दृष्टिकोण है। इसी दृष्टिकोण को सांस्कृतिक पवित्रता देने के लिए सांस्कृतिक अवसरों पर बहिन का स्मरण दिलाना हमारे पूर्वज नहीं भूले। मांगलिक अवसरों के अतिरिक्त वर्ष के आदि, मध्य और अन्त में श्रावणी, भ्रातृद्वितीया और होली की दौज के आनन्दमय पर्वों पर बहिन के पवित्र करों से अंकित मंगल-तिलक शिव के तृतीय नेत्र के समान काम का संस्कार कर सामाजिक जीवन में पवित्र प्रेम का संचार करता है। **कन्या के गौरव के समान बहिन की महिमा की उपेक्षा भी हमारे शृंगार-प्रिय कवि करते आए हैं।** राम की बहिन शान्ता का

बहुत कम प्रसंग हमारे काव्यों में मिलता है ! उत्तर रामचरित में भवभूति ने उसका स्मरण भर किया है। गुप्तजी ने साकेत के नवम सर्ग में जो उसका स्मरण किया है वह साकेत के नवम सर्ग के शृंगारमय रूप और हमारे अधिकांश काव्य की शृंगार परम्परा के अनुरूप है। द्रौपदी के प्रसंग में कृष्ण के ओजस्वी भ्रातृत्व को भी भक्ति के अलौकिक चमत्कार में तिरोहित कर दिया। **हमारी सांस्कृतिक परम्परा में पूजित होते हुए भी बहिन के गौरव की प्रतिष्ठा हमारे काव्य में समुचित नहीं है। माता, पत्नी, कन्या और बहिन का मंगलमय रूप ही नारी का पूर्ण स्वरूप और भारतीय संस्कृति का चतुर्वेद है। इस चतुर्विध रूप की प्रतिष्ठा द्वारा ही काव्य संस्कृति का सजीव और सार्थक प्रतिनिधि बन सकता है।**

इन चारों रूपों के मूल में नारी का नारी रूप है जिसे हम सामान्य अर्थ में उसका मानवी रूप कह सकते हैं। वैसे तो उक्त चारों सम्बन्धों की कोटियों में उसका यह मानवी रूप प्रतिफलित होता है, किन्तु इन चारों सम्बन्धों का एक पारिवारिक अनुषंग है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की धारणा के अनुसार तो नारी का सामाजिक सम्बन्ध इसी पारिवारिक अनुषंग का विस्तार है। किन्तु आधुनिक सभ्यता की विचारशैली में यह पूर्णतः मान्य नहीं है। समाज के विविध कार्य क्षेत्रों में अनेक रूपों में आज के जाग्रत युग की नारी का सक्रिय स्थान और स्वतंत्र सम्बन्ध है। इन अनेक रूप-सम्बन्धों को उक्त चतुष्कोटि सम्बन्धों में घटाना आज कुछ परम्परा-वादी सा प्रतीत होता है। प्रगति के इस युग में जीवन के नये क्षितिजों के उद्घाटन का स्वागत होना चाहिए। इब्सन ने दाम्पत्य में भी एक स्वतंत्र सख्य भाव की नयी कल्पना आधुनिक समाज को दी है। शरतचन्द्र के उपन्यासों में 'श्रीकान्त' की राज्यलक्ष्मी, 'शेष प्रश्न' की कमल आदि के रूपों में नारी का यह सख्य रूप प्रस्फुटित हुआ है, जिसे प्रगतिवादी अपनी पारिभाषिक भाषा में 'साथी' कहना पसन्द करते हैं। जिस प्रकार नारी के परम्परागत चतुष्कोटि सम्बन्ध में स्वतंत्र समाज की नारी के अनेक-रूप सम्बन्धों को संकुचित करना उचित नहीं इसी प्रकार हरिऔधजी के 'रस कलश' के अनुसार कुछ नवीन नायिकाओं का आविष्कार करके शृंगार की रूढ़ परम्परा में उन्हें सीमित करना 'बुढ़भस' नहीं तो उप-हासास्पद अवश्य है। जिस प्रकार हमारा समाज नारी जीवन के इन नवीन क्षितिजों से अपरिचित है उसी प्रकार हमारा काव्य भी इन रूपों की प्रतिष्ठा से अनभिज्ञ है।

आधुनिक युग के कुछ कवियों में इन नये क्षितिजों के कुछ आभास अवश्य मिलते हैं। ठा० गोपालशरणसिंह की 'मानवी', रामनरेश त्रिपाठी के 'मिलन', 'पथिक' आदि काव्यों में इसका संकेत मिलता है। कुमारी मधु के एक गीत की इन पंक्तियों में इस नवीन विचारधारा का समर्थन नारी की ओर से मिलता है—

एक तुम्हारे ही परिचय की सीमा में बँधकर रहूँ
इतनी लघुता का वरदान न आज मुझे स्वीकार है।
मेरे पैरों में जंजीर न बाँधो तुम अधिकार की
विहगी की उन्मुक्त गगन में उड़ने की अभिलाषा है।।

इसमें संदेह नहीं कि नारी जीवन और सम्बन्धों के क्षितिज अनेक हैं। सभ्यता के विकास के साथ-साथ नये क्षितिजों का उद्घाटन होता रहता है। काव्य में नारी के इस व्यापक स्वरूप की प्रतिष्ठा ही काव्य को अभीप्सित विभूति दे सकती है। संस्कृति की केवल एक ही मांग है कि नारी की स्वतंत्रता रूढ़िवादी नीतिकारों के "जिमि स्वतंत्र होइ बिगरै नारी" के भय को चरितार्थ न करे और उसके सम्बन्धों का विस्तारशील और श्लीलता की मर्यादाओं के अतिक्रमण के अवसर न बनाए। यह स्पष्ट है कि इन विस्तारों में नारी से अधिक उत्तर-दायित्व नर का है। अतः नारी जीवन की स्वतंत्रता और सम्बन्धों के विस्तार नर और नारी दोनों के शील और संयम से अनुप्राणित होकर ही नवीन काव्य की विभूति बन सकते हैं।

अध्याय ३५

स्वस्थ शृंगार और प्रेम

भारतीय समाज और संस्कृति की परम्परा को छोड़कर मनुष्य के समाज और साहित्य में प्रेयसी और पत्नी के रूप में ही नारी का मान अधिक है। हिन्दी और संस्कृत के साहित्य में भी नारी का यही रूप अधिक स्थान पा सका है। नारी के जिन अन्य रूपों का निर्देश पिछले अध्याय में किया गया है, उनका बहुत कम निरूपण साहित्य और काव्य में मिलता है। अधिकांश साहित्य और काव्य में नारी का प्रेयसी और पत्नी रूप ही कवियों की कल्पना को आकर्षित करता रहा है। इसका मुख्य कारण वय और चेतना के विकास की प्राकृतिक स्थिति है। यौवन-काल में चेतना के समृद्ध और वय के समर्थ होने पर स्वाभाविक रूप से प्रेयसी और पत्नी के रूप में ही नारी-पुरुष के सामने आती है। **जीवन और साहित्य में नारी के प्रेयसी और पत्नी रूप की प्रधानता प्राकृतिक वृत्ति का स्वाभाविक परिणाम है। यह परिणाम साहित्य और काव्य पर प्राकृतिक वृत्ति के प्रभाव का द्योतक है।** कवियों की प्रतिभा प्राकृतिक वृत्तियों से इतनी प्रभावित रहती है, यह एक खेद की बात है। **कलाकार की चेतना, प्रतिभा का गौरव उसकी स्वतंत्रता में है।** अपने स्वतंत्र संकल्प और अध्यवसाय से वह कला और काव्य में जीवन की स्थापनाएँ करने की अधिकारी है। इसी अधिकार की सफलता प्रतिभा की कृतार्थता है। साहित्य और काव्य में नारी के प्रेयसी और पत्नी रूप की प्रधानता इसी बात की द्योतक है कि कवियों की चेतना प्रकृति के प्रभाव से अधिक शासित रही और उनकी प्रतिभा अपनी स्वतंत्रता का उपयोग कर नारी के अन्य रूपों को काव्य में समुचित आदर न दे सकी।

प्रेयसी और पत्नी के रूप में पुरुष के साथ नारी के सम्बन्ध में भी प्रकृति और काम का अधिक प्रभाव रहा है। जिस प्राकृतिक प्रभाव के कारण काव्य और साहित्य में नारी के प्रेयसी और पत्नी रूप की प्रधानता है उसको देखते हुए यह स्वाभाविक है। किन्तु स्वाभाविक होते हुए भी यह खेदजनक है। जिस प्रकार नारी के अन्य रूपों का समादर कवियों की स्वतंत्र प्रतिभा के लिये उचित था,

उसी प्रकार प्रेयसी और पत्नी के रूप में नारी के निरूपण में भी प्रकृति और काम के अतिरिक्त अन्य सांस्कृतिक भावों को आदर देना उचित था। किन्तु प्रकृति के मौलिक प्रभाव के कारण यह सम्भव न हो सका। प्रकृति से अभिभूत कवियों की प्रतिभा ने प्रकृति के अनुकूल भावों में ही अपने को अधिक कृतार्थ किया है। प्रकृति और काम से प्रभावित नारी के निरूपण में शृंगार की प्रधानता होना स्वाभाविक है। आचार्यों ने शृंगार को रस राज माना है। भक्ति काव्य के अतिरिक्त शेष हिन्दी काव्य में शृंगार की विपुलता है। छायावाद और उसके उत्तरकालीन हिन्दी काव्य में भी सूक्ष्म और प्रच्छन्न रूपों में शृंगार की माया छाई हुई है। एक दृष्टि से शृंगार जीवन और साहित्य का शृंगार है। दोनों में उसका मार्मिक और महत्वपूर्ण स्थान है। शृंगार का भाव जीवन और साहित्य के रस का एक रहस्यमय उत्स है, यद्यपि नारी सम्बन्ध के अन्य भाव जीवन के क्षितिज को दिव्य रूपों से रंजित करते हैं। किन्तु सभ्यता के विकास में शृंगार का भाव और सम्बन्ध दम्पति अथवा प्रेमियों का एक व्यक्तिगत और एकान्त अधिकार बन गया है। जीवन के व्यवहार में शृंगार का सामाजिक और सार्वजनिक प्रदर्शन वर्जित समझा जाता है। भारतीय समाज में इस वर्जना की सीमा अधिक संकुचित हो गई है। कदाचित इसीलिए एक प्रतिक्रिया के रूप में भारतीय काव्य में इस सीमा का उल्लंघन अधिक मिलता है।

काव्य में शृंगार के प्रसंग में सामाजिक मर्यादा का प्रश्न ही प्रधान है। साहित्य और काव्य भी पूर्ण रूप से व्यक्तिगत नहीं हैं। उनकी रचना व्यक्ति अवश्य करता है, किन्तु उनका प्रयोजन सामाजिक होता। स्वयं कवि इस बात की अभिलाषा करता है कि दूसरे उसकी रचना को पढ़ें, सुनें और सराहें। 'स्वान्तः सुखाय' होते हुए भी तुलसीदास का रामचरितमानस अपने प्रयोजन में सामाजिक है। रामचरितमानस के प्रबन्ध में ही उसके सामाजिक प्रयोजन के भाव और सूत्र अनेक स्थलों पर मिलते हैं। सामाजिक प्रयोजन के बिना रामचरितमानस के अनेक वचनों की संगति नहीं हो सकती। केवल स्वान्तः सुखाय की दृष्टि से ऐसे वचन असंगत और अनावश्यक जान पड़ते हैं। काव्य का प्रयोजन सामाजिक मान लेने पर काव्य में शृंगार की स्थिति कुछ विवादस्पद बन जाती है। यहीं अश्लीलता का प्रश्न भी उठता है। जिस स्थूल रूप में आचार्यों ने अश्लीलता को दोष माना है, उस रूप में चाहे शृंगार का काव्य अश्लील न हो किन्तु एक सामाजिक मर्यादा को अश्ली-

लता की सीमा माना जाय तो अधिकांश शृंगार का काव्य अश्लील सिद्ध होगा। अश्लीलता के अतिरिक्त इस काव्य में शृंगार और काम अतिरंजना का भी दोष है। प्राकृतिक आकांक्षा के रूप में व्यावहारिक काम की एक अल्प मर्यादा हो सकती है। **किन्तु मन की वासना के रूप में काम अनन्त है।** जीवन और काव्य दोनों में ही कामना के इस मनोविलास का बहुत विस्तार हुआ है। मनुष्य की समृद्ध चेतना मानसिक जगत में भी प्राकृतिक प्रवृत्तियों का अधिकतम विस्तार चाहती है। किन्तु सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से साहित्य और काव्य में शृंगार के मनोविलास की अतिरंजना का औचित्य बहुत संदिग्ध है।

जीवन में विलास और काव्य में शृंगार की अतिरंजना शृंगार के प्रति एक दृष्टिकोण है, जो काम के प्राकृतिक आकर्षण से प्रभावित है। एक दूसरा दृष्टिकोण धर्म और अध्यात्म की प्रतिक्रिया है जो नारी और काम की भर्त्सना करती रही है। भारतीय काव्य में जहाँ एक ओर शृंगार का मनोविलास अधिक मिलता है, वहाँ दूसरी ओर भारतीय धर्म और अध्यात्म में वैराग्य की प्रधानता है। **वस्तुतः वैराग्य का अर्थ प्रकृति का विरोध नहीं वरन् उसका अतिक्रमण है।** साम्य, संतुलन और शांति वैराग्य के आवश्यक लक्षण हैं। किन्तु अध्यात्म और वैराग्य की परम्परा में नारी और काम के प्रति एक विरोधी प्रतिक्रिया का विक्षोभ अधिक दिखाई देता है। वस्तुतः यह वैराग्य की विडम्बना है। यह वैराग्य का निषेधात्मक रूप है जो प्रकृति के विरोध में ही उलझकर रह जाता है। वैराग्य के भावात्मक रूप में प्रकृति का अतिक्रमण साम्य और शांति के भाव में स्थित होगा। संतों के अध्यात्म में काम की भर्त्सना निषेधात्मक और क्षुब्ध वैराग्य के रूप में मिलती है। वस्तुतः यह वैराग्य राग का ही निषेधात्मक रूप है। विरोध में भी राग का बंधन शेष रह जाता है। वाह्य रूप से त्याग कर देने पर भी काम और राग विरोध के लिये वैरागी को आमंत्रित करते हैं। इस विरोध के रूप में उनका ध्यान इनकी ओर आकर्षित रहता है। यही काम और राग का अभीप्सित है, जिसे पूरा करने के लिये वे वैरागी को भी विवश कर लेते हैं। यह वैराग्य की एक अद्भुत विडम्बना है। संत काव्य में नारी और काम की भर्त्सना बहुत कुछ इसी विडम्बना के रूप में मिलती है।

मनोविलास और काम की भर्त्सना दोनों ही जीवन के दो एकांगी सत्यों की अतिरंजनाएँ हैं। अतिरंजना के कारण ही जीवन के दोनों आंशिक सत्य असत्य और असत्य होकर अशिव हो गये हैं। **मनुष्य प्रकृति का औरस और परमेश्वर का**

पुत्र है। इसीलिए एक ओर प्रकृति की आकांक्षाएँ उसके जीवन का आधार हैं तथा दूसरी ओर उच्च आध्यात्मिक लक्ष्य उसके इष्ट हैं। व्यापक अर्थ में दोनों ही उसके स्वभाव की पूर्णता के अंग हैं तथा स्वस्थ जीवन के उच्चतम आदर्श में दोनों का समन्वय अपेक्षित है। नैसर्गिक अर्थ में मनुष्य की भौतिक अथवा शारीरिक प्रकृति को 'स्वभाव' कहते हैं क्योंकि अध्यात्म की अभीप्साएँ भी मनुष्य की अन्तर्तम आकांक्षाएँ हैं। इसी कारण अध्यात्म का मनुष्य की संस्कृति में सदा मान रहा तथा अध्यात्म की साधना से दूर रहने वाले भी उसे गौरव की दृष्टि से देखते रहे।

यदि प्रकृति जीवन का आवश्यक आधार है और उसका संतोष भी जीवन की पूर्णता का एक अंग है, तो यह स्पष्ट है कि उसकी एकांगी भर्त्सनाएँ भ्रान्ति से पूर्ण हैं। विलास और शृंगार का जीवन में एक स्थान है। काव्य में भी उनका स्थान जीवन के अनुरूप ही होना चाहिए। इसी सत्य के आधार पर प्रेम और शृंगार का काव्य सदा मनुष्य को आकर्षित करता रहा है। नये युगों में नये रूपों में उसकी अभिव्यक्ति होती रही है किन्तु नर-नारी के स्वाभाविक प्रेम का आधार उसमें समान रूप से बना रहा है। इस प्रेम के अनेक रूप और पक्ष हैं, किन्तु यौवन के उत्कर्ष काल में जीवन को विभोर करने वाला नर-नारी का शृंगारमय प्रेम ही जीवन और काव्य में प्रमुख रहा है। यह पूर्णतः स्वाभाविक है। दाम्पत्य के प्रेम की तीव्रता और तन्मयता के कारण धर्म और अध्यात्म के काव्य में भी मुनि और सन्त उसकी उपमा का सहारा लेते आए हैं।

किन्तु प्रेम का यह रूप एक वय और एक दृष्टिकोण के अनुकूल है। इसके भी जितने रूप काव्य में मिलते हैं वे सब यौवन के भी स्वस्थ दृष्टिकोण के अनुरूप नहीं हैं। **सभी रूपों में प्रेम दो आत्मीयों का सम्बन्ध है। एक मानवीय मर्यादा के अन्तर्गत ही इसका स्वस्थ और सफल रूप प्रतिष्ठित हो सकता है। दूसरे का मान और दोनों की समान स्वतंत्रता इस मर्यादा के दो कूल हैं।** मनुष्य के मान के अन्तर्गत व्यक्ति के देह, मन, बुद्धि, आदि सबका समादर तथा स्वतंत्रता के अन्तर्गत सभी प्रकार के आरोपणों का अभाव अभीप्सित है। विलास और शृंगार भी यौवन के प्रेम के दो ही अंग हैं। ये केवल शारीरिक रति में दो प्रेमियों के सहयोग के सूचक हैं। इनके अतिरिक्त सृजन, गृहकर्म, पालन, सामाजिक सम्बन्ध, सेवा, कला, साहित्य, यात्रा, आतिथ्य, आदि अनेक क्षेत्रों में यौवन के प्रेम का विस्तार उसे सम्पन्न, समृद्ध और स्वस्थ बनाता है।

मध्यकाल के रीति काव्य में रति का ही प्राधान्य है। एकांगिकता स्वयं ही अपूर्णता और अस्वस्थता का लक्षण है। वह पूर्ण की विडम्बना बनकर मानसिक अतिरंजना और व्यावहारिक अतिचार को जन्म देती हैं। शृंगार के काव्य की रति का यह रूप प्रमुखतः पुरुष के दृष्टिकोण पर आश्रित है। इसीलिए इसमें नारी की कल्पना विलास और शृंगार के एक सजीव यंत्र के रूप में की गई है। नख से शिख तक नारी की मूर्ति का निर्माण और उसका शृंगार एक मात्र पुरुष के विलास के दृष्टिकोण से किया गया है। उसके शरीर का कोई अपना भी सौन्दर्य है और उस शरीर तथा सौन्दर्य का स्वरूप में भी कोई महत्व है, इसकी कल्पना रीतिकाल के शृंगारी कवि नहीं कर सके हैं। रति की कामना के अतिरिक्त उसके मन का और कोई धर्म है, पुरुष के काम-मग्न मन के लिए इसकी कल्पना कठिन है। कालिदास के "प्रियेषु सौभाग्य फलाहि चारुता" के सूत्र पर उत्तरकाल का संस्कृत और हिन्दी काव्य रति-सम्प्रदाय का भाष्य है। 'संचारो रति-मन्दिरावधि सखी-कर्णावधि व्याहृतम्' इस सम्प्रदाय का संकुचित निष्कर्ष है।

सभी साम्प्रदायिकों की भाँति रति-सम्प्रदाय के कवियों ने भी जीवन के अन्य भावों को तोड़ मरोड़ कर उन सबका अन्वय रति के मूल मंत्र में किया। संयोग में रति के अतिरिक्त वे अन्य किसी भाव की कल्पना बहुत कम कर सके हैं। विप्रलम्भ का इतना विस्तार और उसमें विरह के भाव की अतिरंजनाएँ पुरुप के प्रति नारी की रति को उसके जीवन का सर्वस्व बनाने की दृष्टि से की गई हैं। इन अतिरंजनाओं में पुरुष के अहंकार और स्वार्थ शेष के सहस्र फणों से अपने प्रभुत्व की कामना का जयगीत गा उठे हैं। एक पराजित जाति के लिए प्रभुत्व की यह अतिरंजित कामना और उसकी यह सीमित अभिव्यक्ति स्वाभाविक है। किन्तु इस कारण इसे भारतीय पुरुष का दुर्भाग्य-जनित रोग कहा जायगा। यह यौवन और दाम्पत्य के प्रेम का भी स्वस्थ और पूर्ण रूप नहीं है। रुग्ण मन की अतिरंजित वासनाएँ स्थस्थ और शिव काव्य का उपादान नहीं बन सकती।

हमारी सामाजिक सीमाएँ और राजनीतिक परतंत्रता आधुनिक युग में भी चलती रहीं। इसी कारण हरिश्चन्द्र, रत्नाकर आदि की रचनाओं में भी रीतिकाल की भावना की प्रतिध्वनि ही गूंजती रही है। स्वतंत्रता संग्राम के साथ जागरण के स्वर में राष्ट्रीय कविता का एक नया रूप मुखरित हुआ। **किन्तु राष्ट्रीयता के इस राग में थोड़े ही कवि अपना स्वर मिला सके। सामाजिक सीमाओं की कुंठा**

से व्याकुल अनेक तरुण कवि अपने मनोमन्दिर में रीतिकाल के कवियों की रतिवन्ती नायिका के ही नवीन रूप को काल्पनिक प्रेयसी के नाम से प्रतिष्ठित कर वासना के कुसुमों से उसकी अर्चना करते रहे हैं। हिन्दी के चिर-कुमार कवि पन्त रति-काव्य की इस नवीन साधना के नायक बने। जीवन की अन्य गतियों से वंचित अनेक नवयुवक कवि और पाठक शृंगार के इस नवीन रूप के अराधक बने। तत्व की समानता होते हुए भी प्रकृति की मनोरम भूमिका और उसमें सजीवता का आरोप तथा भावनाओं की अस्फुट रहस्यमयता और एक अस्पष्ट अध्यात्म की विडम्बना ने इस नवीन काव्य को एक नवीन शैली दी। अंग्रेजी रोमांटिक काव्य ने पहली दिशा को प्रेरणा दी जिससे छायावाद का जन्म हुआ। रवीन्द्रनाथ के सौन्दर्य-मूलक और सुकुमार अध्यात्म ने दूसरी दिशा को प्रेरणा दी जिससे रहस्यवाद का जन्म हुआ। शैली में भेद होते हुए आरम्भिक आधुनिक कविता के इन दोनों रूपों की भावना प्रायः एक है। जीवन की सीमाएँ असह्य होने के कारण तथा स्वस्थ जीवन का कोई निश्चित मार्ग न होने के कारण इन नवीन कवियों की भावना-तरी असीम के सागर में अनन्त की ओर बह चली। उषा और सन्ध्या के रंजित आलोक में रुग्ण वासना के रंगीन चित्र ही कवियों की इस अनिश्चित यात्रा के सम्बल रहे। मधुराका के नौका-विहार में भी ये आधुनिक कुमार कवि तन्वंगी गंगा के उर्मिल-प्रवाह में 'तापस बाला' के रूप में भावी पत्नी के ही मधुर स्वप्न देखते रहे। छायावादी कवियों की यह भावी पत्नी भी रीतिकाल के कवियों की रतिवन्ती नायिका के समान 'लाज की छुई मुई सी' ही रही। **यौवन की वासना और प्रकृति की भूमिका में छायावाद के कवि प्रेम के स्वस्थ रूप की प्रतिष्ठा नहीं कर सके।** मध्यकाल के भक्तिकाल की भाँति आधुनिक युग का अधिकांश रहस्य-वाद भी अध्यात्म की विडम्बना बना रहा। कवि प्रसाद के 'आँसू', निराला की 'जूही की कली' और महादेवी के गीतों में रहस्य की अस्फुट छाया में वासना भी समावृत है। अध्यात्म की उच्च और उदार भावभूमि में आत्मा का जो उज्ज्वल और अनामिल आलोक प्रकाशित होता है वह अधिकांश भक्ति काव्य की भाँति आधुनिक रहस्यवाद में भी प्रायः कम मिलता है।

स्वतंत्रता के बाद हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन की कुंठाएँ कुछ कम होने लगी तथा प्रेम काव्य का कुछ स्वस्थ रूप विकसित होने लगा। कुछ शेष सीमाओं और पश्चिमी सभ्यता के बहिर्मुख विलास तथा सिनेमा में उसके अतिरंजित

प्रदर्शन के कारण नवयुवक कवियों के मन में रीतिकाल के रतिकाव्य के संस्कार अब भी अंकुरित होते रहे हैं। **किन्तु यह स्पष्ट है कि आधुनिक कवियों की प्रेम की कल्पना अधिक व्यापक और उनके शृंगार की भावना अधिक स्वस्थ है।** कवि का मन स्वतंत्रता का बल और मानवता की उदार भावना का सम्वल प्राप्त कर नारी के साथ अपने सम्बन्ध तथा नारी के जीवन के उन पक्षों का भी उद्घाटन कर रहा है जिन्हें रीतिकाल और छायावाद के कवियों की संकुचित दृष्टि न देख सकी थी। पुरुष की शृंगार दृष्टि को स्वस्थ और संतुलित बनाने में नारी-कवियों की आत्माभिव्यक्ति एक अपूर्व सहयोग दे रही है। युग-युग से वन्दिनी, शासित और विमुग्ध नारी का मन स्वतंत्रता के नवप्रभात में मुक्त होकर मनोविलास में भूले हुए पुरुष के यौवन की व्यक्तिगत, सामाजिक और सांस्कृतिक सार्थकताओं की नवीन दिशाओं का उद्घाटन कर रहा है। प्रगतिवाद का प्रतिगामी दृष्टिकोण तथा प्रयोगवाद का कला और शैली के साथ व्यभिचार नवीन कविता की इस स्वस्थ दशा को अनेक संक्रामक रोगों की आशंका से आतंकित कर रहा है। किन्तु विश्वास यही है कि जिस प्रकार राजनीति के क्षितिज पर स्वतंत्रता का सूर्य दिन-दिन ऊपर चढ़ रहा है उसी प्रकार समस्त दुर्बलताओं, विकृतियों और भ्रान्तियों को जीतकर यौवन और प्रेम के स्वस्थ काव्य की ही प्रतिष्ठा सरस्वती के मन्दिर में अधिक होगी। प्रेम और जीवन के अन्य रूपों का उद्घाटन इस विश्वास को नई आशाओं और प्रेरणाओं से पुष्ट करता रहेगा।

प्रेम और दाम्पत्य के इस स्वस्थ रूप में काम और विलास का एक उचित स्थान है, किन्तु रीतिकाल की भाँति उसका अतिरंजित चित्रण इन्हीं को सर्वस्व मानकर अन्य पक्षों की उपेक्षा करता रहा है। शृंगार और विलास की अतिरंजना में युग्म-जीवन के अन्य पक्ष तिरोहित होगये। शृंगार के व्यक्तिगत रहस्यों को कविता का विषय बनाकर औचित्य की मर्यादा का अतिक्रमण किया। **कला और कविता एक सामाजिक विभूति है अतः सभ्यता का शिष्टाचार दोनों की मर्यादा है।** शृंगार और विलास को सभ्यता की मर्यादा में लाते ही प्रेम के सामाजिक और उदार पक्ष खुलने लगते हैं। वियोग की व्यथायों और मिलन के सुख के अतिरिक्त प्रेम के परस्पर सम्बन्ध के भी अन्य अनेक पक्ष हैं। **वियोग शृंगार की अतिरंजना पुरुष के अहंकार का ही विराट रूप है।** रीति कवियों ने पुरुष के वियोग की अपेक्षा वियोगिनी नायिका का ही अधिक वर्णन किया है। नारी की भावना के

सम्बन्ध में पुरुष कवियों की महाभ्रान्ति का यह उत्तम उदाहरण है। इतिहास में पराजित पुरुष वियोगिनी नारी के अश्रुओं की काल्पनिक अर्चना में ही अपने गौरव की पूर्णता मानता रहा। भ्रान्तिपूर्ण होने के साथ-साथ यह प्रेम का असंतुलित और एकांगी दृष्टिकोण है। **प्रेम एक पारस्परिक भाव-सम्बन्ध है।** मेघदूत के यक्ष और उसकी प्रिया के पारस्परिक भावों का चित्रण, अज का विलाप, वियोगी राम और दुष्यन्त की विकलता तथा शिव-पार्वती का पारस्परिक भाव कालिदास में प्रेम के संतुलित रूप के उदाहरण हैं। 'प्रियप्रवास' की वियोगिनी राधा तथा गुप्तजी की वियोगिनी यशोधरा और उर्मिला के उदात्त रूप में हमें रीतिकाल के अतिरंजित वियोग वर्णन का आधुनिक संशोधन मिलता है।

रीतिकाल के वियोग वर्णन के एकांगी रूप के समान ही आधुनिक छायावादी कवियों का प्रेम प्रलाप भी एकांगी है। रीतिकाल का बाल्यकाल में विवाहित कवि विलास की अतिरंजनाओं और वियोगिनी के विलापों में अपने कुंठित अहंकार के अनुरंजन का साधन ढूँढ़ता रहा। इसके विपरीत यौवन में अविवाहित छायावाद का कवि अपनी अतृप्त वासनाओं की अस्फुट अभिव्यक्ति में अपने कुंठित काम का परितोष खोजता रहा। रीतिकाल का शृंगार-काव्य अपरिपक्व कैशोर में परितृप्त काम की स्मृतियों को मनोविलास में स्थायी बनाने के अभिलाषी प्रौढ़-कवियों का मानसिक विलास है। छायावाद का प्रेम काव्य परिपक्व यौवन में भी अतृप्त काम की कुंठाओं का अभिव्यंजन है। दोनों में ही परिपक्व यौवन के अनुरूप मिलन का अभाव होने के कारण काम के स्वस्थ दृष्टिकोण का अभाव है। इसी कारण दोनों ही काव्यों में प्रेम और दाम्पत्य के स्वस्थ काव्य का रूप नहीं मिलता।

अब स्वतन्त्रता के बाद ज्यों-ज्यों जीवन की कुंठाएँ कम हो रही हैं, जीवन का स्वस्थ रूप मनुष्य की कल्पना में प्रस्फुटित हो रहा है। प्रेम और दाम्पत्य के परस्पर भावों तथा दोनों के अन्य पक्षों का उद्‌घाटन इसी विकास का एक अंग है। नवीनतम प्रेम काव्य में विरह और मिलन के भावों के साथ-साथ जीवन के अन्य धर्म भी काव्य क्षितिज पर उदय हो रहे हैं। प्रेम सम्बन्ध में भी स्वतंत्रता, समानता सहयोग आदि की भावनाएँ प्रकाशित हो रही हैं। **सृजन के मधुर मर्म की प्रतिष्ठा प्रेम काव्य में अब भी कम हो रही है।** रीतिकाव्य के 'लरिका लैवे के मिसन छिगुनी तनिक छुवाय' की अन्तर्भावना में व्याप्त तथा वात्सल्य को भी वासना से कलुषित करने वाले शृंगार की भावना विलुप्त हो रही है। किन्तु कुमारसम्भव

की साधना में अन्तर्निहित सृजन का मधुर मर्म आधुनिक काव्य को पर्याप्त प्रेरणा नहीं दे सका। यौवन में भी अविवाहित कवियों से इसकी आशा करना भी एक मनोवैज्ञानिक अन्याय है। विधुर और चिर वियोगी कवि भी अविवाहितों के समान क्षम्य हैं। छायावादी युग के चार दिग्पालों में जयशंकरप्रसाद ही एक ऐसे थे जिनका अपत्यधर्म कुछ सार्थक हुआ। इसीलिए उनकी 'कामायनी' में मनु और श्रद्धा के साथ कुमार मानव को भी स्थान मिला है। श्रद्धा के रूप में मातृत्व के गौरव की महिमामयी प्रतिष्ठा 'कामायनी' में मिल सकती है। किन्तु जिस मातृ-मूर्ति के गौरव का निर्देश प्रसंगतः प्रसादजी ने किया है उसका अधिक निर्वाह 'कामायनी' में भी नहीं हो सका। भावी कुमार के प्रति मनु की ईर्ष्या पुरुष के परम्परागत अहंकार की सूचक है। पितृ पद के अनुरूप वात्सल्य की भावना मनु में अन्ततः जागरित न हो सकी। श्रद्धा भी कुमार-मानव के जीवन निर्माण की अपेक्षा मनु की असफल साधनाओं को सार्थक बनाने में अधिक संलग्न रही है। कामायनी और यशोधरा में सृजन का धर्म सूर और तुलसी के वात्सल्य से आगे न बढ़ सका। लालन के अतिरिक्त अपत्य के जीवन-निर्माण की भावना इस वात्सल्य की विभूति न बन सकी। कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में भरत की सिंह-शावकों के साथ क्रीड़ा में वात्सल्य की इस निर्माणमुखी भूमिका का आरम्भिक आभास भर मिलता है। 'कुमारसंभव' में कालिदास की शृंगारमुखी दृष्टि तथा पौराणिक कथा की अलौकिकता के कारण संभावना होते हुए भी इसकी प्रतिष्ठा न हो सकी। **वाल्मीकि रामायण के लव-कुश की शिक्षा में वात्सल्य के जिस विधायक रूप का चित्रण मिलता है वह समस्त संस्कृत और हिन्दी काव्य में दुर्लभ है।** शिव-पार्वती की कथा की महत्वपूर्ण संभावनाओं को लेकर 'पार्वती' महाकाव्य में प्रेम और वात्सल्य के इस विधायक रूप की प्रतिष्ठा भारतीय काव्य की एक अपूर्व घटना है। सांस्कृतिक-समस्याओं की व्यापक और गम्भीर भूमिका में इसकी प्रतिष्ठा ने व्यक्तिगत प्रेम और सामाजिक श्रेय में एक अद्भुत समन्वय स्थापित किया है।

सृजन के अतिरिक्त अन्य गृह-कर्म, सामाजिक सम्बन्ध और सेवायें, कला, साहित्य, यात्रा, आतिथ्य आदि अनेक स्थितियों में यौवन के प्रेम का विस्तार उसे समृद्ध, सम्पन्न और स्वस्थ बनाता है। रति ही उसका सर्वस्व नहीं है। रति यौवन के कुसुम के पराग के समान है। वह उसका मर्म और केन्द्र है। किन्तु

यौवन के पुष्प की शोभा उसके चतुर्दिक खिले हुए दलों से होती है। इन दलों के बिना पुष्प का रूप और सौन्दर्य पूर्ण नहीं हो सकता। **इसी प्रकार रति के केन्द्र के चतुर्दिक खिलने वाले जीवन के सम्बन्ध और कर्म के अनेक रूपों में प्रेम की पूर्णता होती है।** साथ ही यह भी सत्य है कि कुसुम की उत्पत्ति और स्थिति शून्य में नहीं होती। वह वृक्ष की एक डाली का अलंकार है। कदाचित् एक डाली पर भी वह वृन्त का एक कुसुम है। वृक्ष की अन्य डालियों पर खिले हुए कुसुमों के परिवार में उस कुसुम के एकान्त का शून्य सौन्दर्य और सार्थकता से पूर्ण होता है। उपवन अथवा उद्यान में न जाने कितने वृक्ष और पुष्पों के कितने परिवार हैं। इन सब वृक्षों का मूल वसुन्धरा के गर्भ में है जो अपने अन्तर के अमृत-रस से उनका पोषण कर अपनी आत्मा का सौन्दर्य उन्हें प्रदान करती है। रति **के कुड्मल कोष में सीमित यौवन का दृष्टिकोण कितना संकुचित है।** कर्म और सम्बन्धों के विस्तार तथा जीवन की यथार्थता के आधार में उसे एक उत्कृष्ट समृद्धि और स्वस्थता प्राप्त हो सकती है।

काम-सूत्र की परम्परा पर आश्रित वाल्मीकि के उत्तरकालीन संस्कृत काव्य में यौवन और प्रेम का यह स्वस्थ और समृद्ध विस्तार बहुत कम मिलता है। रति और रतिमन्दिर की सीमाओं के बाहर कवियों की दृष्टि बहुत कम जा सकी है। नारी के सौन्दर्य-वर्णन में भी हमारे कवि चर्म की गहराइयों में जाकर अन्तर के भाव-सौन्दर्य का चित्रण बहुत कम कर सके हैं। कालिदास की शकुन्तला, उर्वशी, यक्षिणी और पार्वती के रूप-लावण्य की बाह्य और दैहिक रेखाओं के भीतर आत्मा का सौन्दर्य अधिक प्रस्फुटित न हो सका। कालिदास के उत्तरकालीन कवियों की कल्पना तो शताब्दियों तक नारी की अंग-याष्टि के स्थूल तीर्थों की यात्रा में ही अपने धर्म की कृतार्थता मानती रही है। छायावाद के सूक्ष्मदर्शी कवियों के रहस्य-मय आवरण के नीचे भी दैहिक लावण्य का यह मोह छिपा है। रीतिकाल के कवि रति के हाव-भावों के अतिरिक्त यौवन के मनोभावों का चित्रण कम कर सके हैं। छायावाद के कवियों में यही वासना कुछ विचित्र भंगिमाओं में व्यक्त हुई है। स्वतंत्र भारत के नवीनतम काव्य में प्रेम का स्वस्थ और व्यापक भाव-सौन्दर्य धीरे-धीरे व्यक्त हो रहा है। पुरुष कवियों की दृष्टि नारी के रूप और मन के सूक्ष्म-मर्मों की ओर जा रही है। स्वयं नारी के अन्तर का कवि भी मुक्त होकर मुखरित हो उठा है और पुरुष को अपने अन्तर्भावों को समझने में सहयोग दे रहा है।

किन्तु अब भी कवि का मन सीमित प्रेम की परिधि में ही उलझा हुआ है। अतः प्रेम और यौवन के व्यापक धर्मों और संबन्धों की प्रतिष्ठा कम हो रही है। रीतिकाल की भाँति प्रेम अब भी बहुत कुछ मनोविलास ही बना हुआ है। उसके स्वस्थ और सक्रिय रूप का चित्रण साहित्य में कम ही दिखाई देता है। प्रेम एक मनोभाव अवश्य है। किन्तु वह केवल भावना नहीं है। प्रेम जीवन है। उसका एक व्यापक और सक्रिय रूप है। जीवन के धर्मों, संबन्धों और आधारों में उसकी प्रतिष्ठा है। यही उसका पूर्ण और स्वस्थ रूप है। रति और मनोविलास के अतिरिक्त सहकार और सहयोग के अन्य रूपों में भी उसका विस्तार काव्य में अपेक्षित है। **इनके अतिरिक्त नारी का अपना एक स्वरूप, सौन्दर्य और अस्तित्व** हैं। रति से निरपेक्ष मानकर ही इनका तत्व कवि के मन में उद्घाटित हो सकता है। इस प्रकार सहयोग के साथ-साथ प्रेम में नारी के स्वतंत्र अस्तित्व की प्रतिष्ठा भी अभीप्सित है। इस स्वतंत्रता का सामाजिक रूप व्यक्तित्व का सम्मान और गौरव है। इस सम्मान के लिए नारी के रमणीभाव के अतिरिक्त मनुष्य की दृष्टि से उसके व्यक्तित्व का मान अपेक्षित है। यह मान परम्परागत शृंगार के मान और मनुहार से नितान्त भिन्न है। **शृंगार का मान और मनुहार वासना का स्वार्थमय छद्म है।** उसका जितना अंश विनोद और लीलामय हैं वही रति के प्रेम का सहकारी है, शेष छलना है। **व्यक्तित्व का मान मूलतः परार्थ है।** उसमें न वासना के लिए स्थान है और न छल के लिए। शृंगार के मान-मनुहार की भाँति नम्रता की विडम्बना भी इसमें आवश्यक नहीं है। **आत्म गौरव के साथ-साथ समान भाव से दूसरे के व्यक्तित्व का आदर ही मान का मानदण्ड है। व्यक्तित्व का गौरव केवल मान में नहीं वरन् उसके समुचित विकास में है। मान व्यक्तित्व का आदर है; गौरव उसका उचित उत्कर्ष है।** कविता में नारी के व्यक्तित्व के इस विकास और उत्कर्ष की प्रतिष्ठा बहुत कम हुई है। रीतिकाल के रमणी रूप की तुलना में छायावाद का प्रेयसी रूप सूक्ष्म और व्यापक होते हुए भी मूलतः भिन्न नहीं है। 'कामायनी' की श्रद्धा में भी रमणी का आस्थामय रूप ही व्यक्त हुआ है। ऐसा प्रतीत है मानो नारी का यही रूप पूर्ण और परम कल्याणकारी है। यह सम्भव है कि नारी की प्रगति में पुरुष की अपेक्षा अध्यात्म का अन्वय अधिक सहज हो। इसीलिए कदाचित् 'दुर्गा-सप्तशती' में समस्त नारियों को कला-सहित देवी का स्वरूप माना है। फिर भी सम्भवतः नारी के लिए भी व्यक्तित्व का

उत्कर्ष और विकास पुरुष के समान ही अपेक्षित है और उसे भी इसके लिए साधना की अपेक्षा है। शिव-पार्वती की कथा में काम-दहन के पूर्व पार्वती की परिचर्या तथा काम-दहन के साथ उनके रूप-लावण्य की विफलता तथा उसके बाद शिव को प्राप्त करने के लिए पार्वती की तपस्या यही प्रमाणित करती है कि मंगलमय जीवन के वरण के लिए नारी को भी साधना की अपेक्षा है। यह साधना योग के अतिरिक्त सृजन, पालन तथा अन्य सांस्कृतिक धर्मों और संबन्धों में होती है। इस साधना के सहित नारी के व्यक्तित्व के विकास और उत्कर्ष की कल्पना काव्य में बहुत कम हो सकी है। 'पार्वती' में शिव और पार्वती की युगल साधना के द्वारा संस्कृति के इस महान् सत्य का संकेत किया गया है। दाम्पत्य जीवन में सहयोग और समभाव इसी साधना के फल हैं। इन्हीं फलों में संस्कृति की सृजनात्मक और ओजस्वी परम्परा के बीज निहित हैं। **प्रेम और शृंगार के इन स्वस्थ और सन्तुलित रूपों का आधान करके ही काव्य जीवन और संस्कृति का दीपक बन सकता है।** इस सांस्कृतिक काव्य में नवीन युगों के अनन्त जीवन-क्षितिजों के उद्घाटन की सम्भावना भी अन्तर्निहित है।

अध्याय ३६

सामाजिक श्रेय और काव्य

व्यक्तिगत सुख के अतिरिक्त सामाजिक सुख और श्रेय को भी प्रायः दर्शन और साहित्य में महत्व मिलता रहा है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इस दृष्टि से सुख और श्रेय की सामाजिक कल्पना आवश्यक रही है। समाज चाहे व्यक्तियों का समूह मात्र न हो किन्तु कुछ आन्तरिक संबन्धों के सूत्र से व्यक्तियों द्वारा ही समाज का निर्माण होता है। अन्ततः व्यक्ति ही सुख और श्रेय का आश्रय है। उसी के चेतन अनुभव में सुख और श्रेय का अन्वय इन्हें सार्थकता देता है। फिर भी इन दोनों का एक सर्वहितकारी रूप सामाजिक कहलाता है। पश्चिमी आचारशास्त्र के इतिहास में यह उपयोगितावाद के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें कर्म के औचित्य की कसौटी सार्वजनिक हित है। उपयोगितावाद में सुख ही श्रेय का रूप है। सुख के ऐन्द्रिक रूप को भारतीय विचार-परम्परा में प्रेय कहते हैं। प्रेय श्रेय का समानार्थक नहीं। कठोपनिषद् में दोनों को पृथक माना है और उनके विवेक को धीर पुरुष का लक्षण कहा है।[३५] जो सुख में ही जीवन का कल्याण मानते हैं, वे प्रेय को ही श्रेय मान सकते हैं। यह मान्यता की बात है किन्तु सत्य यह है कि प्रेय प्रकृति है और श्रेय संस्कृति है। प्रकृति जीवन का आधार है, अतः स्वस्थ जीवन में प्रेय का समवाय आवश्यक है। ऐन्द्रिक अतिचार विकृति है, किन्तु एक मर्यादा के अन्तर्गत प्रेय का श्रेय और संस्कृति के साथ समन्वय सम्भव ही नहीं, आवश्यक है। जो सुख और प्रेय की भर्त्सना करते रहे हैं उनका उद्देश्य यदि अतिचार से लोगों को सचेत करता रहा है तो ठीक है, अन्यथा प्रेय की भर्त्सना केवल भ्रान्ति है। ऐसे सन्त और संन्यासी अत्यन्त दुर्लभ हैं जो अपने जीवन में किसी न किसी अंश में प्रेय को महत्व न देते रहे हों। प्रकृति और प्रेय जीवन के अनिवार्य आधार हैं।

प्रकृति और प्रेय मुख्यतः स्वार्थमय धर्म है। इनका हित अपने ही लिये होता है। काम के अतिरिक्त इन्द्रियों का कोई ऐसा धर्म नहीं है, जिनका सुख पारस्परिक सहयोग के रूप में सम्भव हो। **इसीलिए काम प्रेय का परम रूप है और साथ ही श्रेय की भूमिका है। काम का सृजन-सूत्र प्रकृति के साथ-साथ संस्कृति**

की परम्परा का भी रक्षक है। प्रकृति और प्रेय की स्वस्थ भूमिका पर ही संस्कृति के प्रासाद का निर्माण होता है। संस्कृति से अन्वित होकर प्रेय स्वयं तो श्रेय बन ही जाता है किन्तु साथ ही प्रकृति के अतिरिक्त जीवन के अन्य सांस्कृतिक रूपों का भी उद्घाटन करता है। संस्कृति के ये रूप अनेक और अत्यन्त व्यापक हैं। **प्रकृति की स्वस्थ भूमिका पर मन, बुद्धि और आत्मा के धर्मों का विकास संस्कृति का सामान्य रूप है।** सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का अनेकार्थमय मंत्र भी संस्कृति का ही सूत्र है।

सामाजिक श्रेय की कल्पना के अन्तर्गत दूसरों के प्राकृतिक स्वास्थ्य के उपकरणों में सहयोग तथा सांस्कृतिक साधना में सहयोग दोनों ही सम्मिलित हैं। सेवा, दान आदि पहले के अंग हैं। स्नेह, सौहार्द, सहानुभूति और प्रोत्साहन दूसरे के अंग हैं। पहले में मन की भावना से प्रेरित इन्द्रियों का कर्म प्रधान है। दूसरे में आत्मा के सद्भाव और बुद्धि के न्याय की प्रधानता है। व्यक्ति के आदर और गौरव तथा उसके व्यक्तित्व का विकास एवं उत्कर्ष इस श्रेयोमुख सहयोग के लक्ष्य हैं। समाज के सामूहिक जीवन की भूमिका में इस लक्ष्य की साधना जीवन का सांस्कृतिक धर्म है।

काव्य में जीवन के इस सामाजिक लक्ष्य की स्थापना प्रायः रहती है क्यों कि अनुभूति और भावना के जिस स्रोत से कविता का उद्गम होता है उसका केन्द्र व्यक्तिगत होते हुए भी उसका क्षेत्र सामाजिक है। अन्य व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध में ही भावना का उदय होता है और अनुभूति स्फुटित होती है। सृष्टि के आदि में प्रजापति भी अकेले होने के कारण जीवन के रस का अनुभव न कर सके। अतः उन्होंने यह अनेक रूप सृष्टि की।[३६] इस रूप में सामाजिकता जीवन और काव्य का स्वभाव है। किन्तु इस सामाजिकता के अनेक रूप, पक्ष और स्तर हैं तथा काव्य में भी इनकी प्रतिष्ठा अनेक विधियों से हुई है। सामाजिक क्षेत्र की व्यापकता और संबन्ध की सम्पन्नता इसका एक रूप है। जीवन के मूल्यों और लक्ष्यों के अनुसार इसके अनेक पक्ष हैं। इन मूल्यों और लक्ष्यों की साधना के अनेक धरातल हैं। इन रूपों, पक्षों और धरातलों की विपुलता को लेकर जीवन की सामाजिकता एक बड़ी सम्पन्न कल्पना है। इस अभीप्सित सम्पन्नता के रूप में सामाजिक श्रेय की प्रतिष्ठा काव्य में सहज नहीं। इसके लिए बड़ी व्यापक दृष्टि, गम्भीर अनुभूति, महती प्रेरणा आदि से सम्पन्न कवि-प्रतिभा अपेक्षित है और इस

कवि-प्रतिभा के प्रकाश के लिए एक विशाल और सम्पन्न कथानक का अवलंब चाहिए। **भारतीय काव्य में महाभारत और वाल्मीकि-रामायण दो ही ऐसी कृतियाँ हैं जिन्हें एक सम्पन्न प्रतिभा के साथ-साथ एक विशाल कथानक मिल सका है, जो अपनी परिधि के सामाजिक श्रेय के अनेक रूपों, विविध पक्षों और विभिन्न धरातलों की सम्पन्नता को समाहृत कर सके हैं।** व्यास और वाल्मीकि के बाद भी भारतीय साहित्य में अनेक प्रतिभाशाली कवि हुए हैं किन्तु उनमें विरले ही अपनी प्रतीभा के स्वरूप को पूर्णतः समझ सके और उसके अनुरूप कथानक की भूमिका में सामाजिक श्रेय के सम्पन्न रूप की प्रतिष्ठा कर सके। अधिकांश कवियों की दृष्टि सीमित रही। काम-सूत्र और काव्य-शात्र की सीमाओं के कारण उनकी प्रतिभा व्यापक सामाजिक श्रेय की चेतना का सम्बल प्राप्त नहीं कर सकी। परिणाम यह हुआ कि हमें उत्तरकाल के काव्यों में सामाजिक श्रेय के आंशिक रूपों का चित्रण ही प्राप्त हो सका।

यह भी कम नहीं है। सामाजिक श्रेय के व्यापंक रूप की प्रतिष्ठा काव्य में सहज नहीं है। व्यास और वाल्मीकि एक देश में अनेक नहीं हो सकते। अतः यदि अन्य कवि सामाजिक श्रेय के किसी भी रूप और पक्ष को किसी भी धरातल पर सफलता पूर्वक अंकित कर सके तो इतने में ही उनके कवि-कर्म की कृतार्थता है। संस्कृत के महाकवियों और हिन्दी के भक्ति-काल के कवियों ने अपनी दृष्टि के अनुसार इसका प्रयत्न किया है। कालिदास के काव्यों में हमें भारतीय जीवन के सामाजिक और सांस्कृतिक रूप की प्रतिष्ठा एक अत्यन्त सुन्दर रूप में मिलती है। कालिदास की प्रतिभा में कवि-चेतना के इतने गुणों का इतना उत्कर्ष और समन्वय है कि वह अन्य कवियों में दुर्लभ है। इसी कारण कालिदास इतने मान्य और प्रिय कवि हैं। कालिदास के बाद वैसी प्रतिभा का रूप भवभूति और भारवि तथा आधुनिक युग में रवीन्द्र और प्रसाद में ही दिखाई देता है। कालिदास के बाद भवभूति और भारवि के काव्य में उस प्रतिभा ने एक अपूर्व प्रौढ़ता प्राप्त की। भवभूति के 'उत्तररामचरित' और 'महावीर चरित' में प्राप्त राम-कथा में सामाजिक श्रेय के अनेक पक्षों और उच्च धरातलों का एक ओजस्वी रूप मिलता है। भवभूति का आत्म विश्वास उनकी प्रतिभा की प्रौढ़ता का प्रमाण है। सीता-निर्वासन, वालि-बध आदि रामचरित के ऐतिहासिक दोषों में भवभूति ने जो संशोधन किए हैं, उनमें सामाजिक श्रेय की समग्रता के प्रति उनकी कवि चेतना की जागरूकता प्रकट

होती है। भारवि के 'किरातार्जुनीय' के आरम्भिक सर्गों में श्रेयस् काव्य का जो ओजस्वी रूप मिलता है वह दुर्लभ ही है। किन्तु 'किरातार्जुनीय' में विचारों की प्रौढ़ता तथा भाव-सौन्दर्य और ओज का समन्वय इतने सहज रूप में नहीं हो सका कि वह पूर्णतः सफल काव्य का उदाहरण बन पाता। मल्लिनाथ का 'नारिकेल फल सम्मतं वचो भारवेः' किरातार्जुनीय की क्लिष्टता का एक शास्त्रीय प्रमाण है। जिस अर्थ और गौरव के कारण भारवि की भारतीय काव्य में कीर्ति है, वह काव्य में सहज और पूर्ण रूप में अन्वित न हो सका। ओज और गम्भीर्य की प्रधानता में प्रसाद और माधुर्य का पर्याप्त पुट भारवि के काव्य में सर्वत्र नहीं मिलता। युधिष्ठिर के प्रति द्रौपदी की व्यंगोक्तियों में इस पूर्णता और समन्वय का कुछ आभास मिलता है। श्लोक के अन्तिम पद में प्राप्त होने वाली विदग्ध उक्तियाँ भारवि के अर्थ-गौरव के सूत्र हैं। किन्तु समग्र काव्य के साथ उनका यथोचित अन्वय न होने के कारण वे अपनी प्रमुखता से और विदग्धता से प्रभावित कर शेष काव्य के महत्व को गौण बना देती हैं। 'किरातार्जुनीय' के पिछले सर्गों में प्राप्त काव्य के चमत्कारों का वैभव यह प्रमाणित करता है कि भारवि जैसा अपूर्व प्रतिभा-शाली कवि भी काव्य-शास्त्र के उन आकर्षणों से न बच सका, जो योग की विभूतियों की भाँति कवि चेतना की समाधि के उपसर्ग हैं।

इस दृष्टि से काव्य का जो उदात्त और समन्वित रूप हमें भवभूति में मिलता है, वह कदाचित् भारतीय काव्य में अनुपम है। दण्डी का पद-लालित्य शब्द-विन्यास का वाह्य सौन्दर्य है। उसमें कविता की आत्मा प्रतिष्ठित न हो सकी। माघ में अलंकार पद-लालित्य और अर्थ गौरव तीनों का समन्वय बताया जाता है। तीनों की अद्भुत प्रतिभा माघ में है किन्तु संभवतः तीनों का समन्वय माघ में इतने आयास से हुआ है कि उसमें काव्य के सहज सौन्दर्य और कान्ति की रक्षा न हो सकी। श्री हर्ष में भी इस प्रतिभा का माघ के समान ही अद्भुत रूप मिलता है। किन्तु दोनों ही परम्परागत काव्य-शास्त्र के चमत्कारों और अर्थ-विन्यास की कुशलताओं में उलझे रहने के कारण श्रेयस् काव्य का वह सहज और सफल रूप हमें नहीं दे सके जो हमारी संस्कृति की सामाजिक निधि बन सके। **काव्य-न्याय अन्ततः इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि बाण और भवभूति का काव्य ही इस आदर्श के सबसे निकट है। बाण के काव्य में प्रसाद, माधुर्य और ओज के समन्वय के साथ जिस हृद्य रूप में जीवन के गम्भीर तत्वों का सन्निवेश मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। भवभूति**

में भी इसके योग्य पर्याप्त प्रतिभा थी किन्तु उस प्रतिभा की सफलता नाटक की शैली और कथानक की सीमाओं के कारण सफलतापूर्वक अपना उपयोग न कर सकी। वाण के काव्य की सफलता कथानक को निमित्त मात्र मानकर पद-पद के अवसर पर जीवन के गम्भीर तत्वों की विपुल और विषद व्यंजना में है। प्रवन्ध की अपेक्षा निवन्ध रूप में वाण की प्रतिभा अधिक व्यक्त हुई है। व्यापक परिव्रजन के विपुल अनुभवों के समावेश में कथा के सीमित अवसरों में भी वाण की महती प्रतिभा का स्वरूप प्रस्फुटित हुआ है।

सामाजिक श्रेय और काव्य-सौन्दर्य का सर्वोतम समन्वय होने के कारण कालिदास संस्कृत के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। कालिदास के काव्य-सौन्दर्य में उपमा की प्रधानता के कारण 'उपमा कालिदासस्य' काव्य परम्परा में उनकी कीर्ति मात्र वना। शृंगार और सौन्दर्य की प्रधानता के कारण कालिदास के काव्य को वाणी के विलास का पद मिला। काव्य सौन्दर्य की अस्फुट और सहज व्यंजना के कारण भास का काव्य वाणी का ह्रास ही है। काव्यालोचन के इन दृष्टिकोणों में भी काम-सूत्र से प्राप्त शृंगार-दृष्टि का ही प्रदर्शन मिलता है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि भास के ह्रास की अपेक्षा कालिदास के काव्य में वाणी के विलास का माधुर्य और उसकी सक्रियता, उष्मता और रसमयता मिलती है। भारतीय संस्कृति के वातावरण और तत्वों का सन्निवेश कालिदास और वाण में ही सवसे अधिक मिलता है। इस सन्निवेश के साथ-साथ कालिदास के काव्य का रूप भी उत्तम है। रघुवंश के मंगलाचरण के अनुकूल वागर्थ की जो अनायास सम्पृक्ति कालिदास के काव्य में मिलती है वह अनुपम है। इसी कारण कवि-परम्परा की उक्ति में कवियों के गणना प्रसंग में कालिदास के कनिष्ठकाधिष्ठित होने पर अनामिका आज तक असार्थवती है। कुम्हार के चाक पर उंगली के इशारे से बनते हुए दीपकों की तरह जीवन और काव्य की सामग्री से कालिदास के श्लोक अनायास बनते हुए चले आते हैं। वसन्त के प्रभात में मलयानिल के इंगित से सहज भाव से खिलते हुए कुसुमों की भाँति कालिदास के अक्लिष्ट श्लोकों का भाव-माधुर्य और रूप-सौन्दर्य अपनी सहज विभूति से हमारे हृदय को अंचित कर देता है। कवि के सायास कौशल और सचेष्ट चमत्कार से अछूते होने के कारण कालिदास के छन्द कुसुमों का लावण्य और उनकी कान्ति शकुन्तला के रूप के आनाघ्रात कुसुम और उसकी कान्ति के अलून किसलय के समान ही है। शाकुन्तल और रघुवंश के कुछ सर्गों

में कालिदास की प्रतिभा का जो पूर्ण और सफल रूप मिलता है वह अनुपम है। किन्तु काम-सूत्र के प्रभाव और काव्य-शास्त्र की परम्पराओं के आकर्षण ने कालिदास की प्रतिभा को भी अपने पूर्ण रूप में सफल न होने दिया। मेघदूत के मार्मिक श्रृंगार में जिसकी व्याख्या में कोलाचल मल्लिनाथ का अर्धवय व्यतीत हुआ तथा जिसके निगूढ़ स्थलों पर आकर उन्हें पाठकों को 'शेषं प्रियायै पृष्टव्यम्' का आदेश देना पड़ा तथा रघुवंश के अन्तिम सर्ग में जिसकी टीका में मल्लिनाथ को काम-शास्त्र के अनेक ग्रन्थों का सन्दर्भ देना पड़ा है, काम-सूत्र का प्रभाव पूर्णतः प्रकट है। उपमाओं के आधिक्य और रघुवंश के नवम सर्ग के यमक में काव्यशास्त्र को अलंकार-प्रधान परम्परा का प्रभाव स्पष्ट है। श्रृंगार और सौन्दर्य से प्रभावित दृष्टि के कारण कालिदास की अनुपम प्रतिभा सुन्दर काव्य के उत्तम रूप में ही कृतार्थ हुई। निःसन्देह कालिदास का काव्य वाणी का विलास ही है। कालिदास इस विलास में विभोर हो गये, जिसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि 'कुमार सम्भव' के जैसे महान् सांस्कृतिक और श्रेयस् संभावनाओं से पूर्ण कथानक को उठाकर भी उनकी प्रतिभा व्यापक सामाजिक श्रेय की प्रतिष्ठा से पूर्ण काव्य प्रदान न कर सकी। काम-सूत्र से प्राप्त श्रृंगार-परम्परा से कालिदास की प्रतिभा कितनी विवश थी इसका प्रमाण 'कुमार संभव' में पार्वती के रूप-वर्णन में मिलता है। शास्त्र-परम्परा का पालन करते हुए उन्होंने पार्वती का रूप वर्णन दिव्यता के अनुरूप पादाङ्गुष्ठ और नखों से आरम्भ किया है। किन्तु पार्वती के रूप वर्णन में अनुरूप दिव्यता की प्रतिष्ठा नहीं हो सकी। शकुन्तला और उर्वशी के लौकिक रूप वर्णन से उसमें कोई विशेषता नहीं है। नख-शिख वर्णन की प्रशस्त परम्परा के अनुकूल पार्वती की अंग यष्टिका वही स्थूल वर्णन है जो श्रृंगार काव्य में सर्वत्र पाया जाता है। श्रृंगार सामाजिक श्रेय का सर्वस्व नहीं है और न विलास जीवन की सम्पूर्ण विभूति है। सामाजिक श्रेय के विकास और उत्कर्ष के लिए जिस ओज के अन्वय की अपेक्षा है, वह कालिदास में दुर्लभ है। निर्वासिता सीता के उपालम्भ में जैसा ओज है वह भी निर्वासिता शकुन्तला में नहीं है और कालिदास के युद्ध तथा अमर्ष के प्रसंगों में भी नहीं मिलता। **कालिदास तथा प्रसाद माधुर्य, सौन्दर्य और श्रृंगार के कवि हैं।** ये सांस्कृतिक श्रेय के अपूर्ण तत्व हैं। इसीलिए कालिदास में श्रेयस् और सांस्कृतिक काव्य का पूर्णतः प्रस्फुटित रूप न मिल सका। विक्रमादित्य जैसे वीर, उदार और ओजस्वी सम्राट के जीवन-वृत्त को लेकर भी वे एक प्रेम-कथा ही हमें प्रदान कर

सके। सम्राट् विक्रमादित्य के उदान्त जीवन का सूर्य के समान ग्रोजस्वी रूप ग्रंकित कर वे हमारी सांस्कृतिक परम्परा को शक्ति ग्रौर श्रेय का एक शाश्वत संबल नहीं प्रदान कर सके।

हिन्दी काव्य में युग की प्रवृत्तियों के साथ-साथ काव्य-शास्त्र की सीमाग्रों का भी प्रभाव है। वीर काव्यों में राजाग्रों की वीरता की प्रशंसा ग्रौर शृंगार के पुट के ग्रतिरिक्त सामाजिक श्रेय के ग्रन्य रूपों के लिए ग्रवकाश न था। सामन्त-वादी युग के काव्य में इससे ग्रधिक ग्राशा नहीं की जा सकती। भक्ति-काव्य में ईश्वर का इतना प्रभुत्व है कि मनुष्य जीवन के गौरव का उसमें कोई स्थान न रहा। हिन्दी का भक्ति काव्य राम ग्रौर कृष्ण की ग्रलौकिक लीलाग्रों ग्रौर उनके प्रेम तथा उपासना में ही जीवन का सर्वस्व मानता रहा। प्रेम ग्रौर भक्ति की तन्मयता में जीवन के ग्रन्य श्रेयों की ग्रोर भक्त कवियों की दृष्टि या तो गई नहीं ग्रौर यदि गई भी तो उस सबका उत्तरदायित्व उन्होंने भगवान को सौंप दिया। पराजित जाति के लिए एक ईश्वर का ग्रवलंब ही शेष रह गया। भक्ति के भावों की गम्भीरता ग्रौर ईश्वरीय चमत्कारों की समर्थता में ही उस समय का पराजित समाज ग्रपने जीवन की ग्लानि को भुलाने का प्रयत्न करता रहा। भक्ति काव्य इस युग की सृष्टि नहीं है। उसकी एक ग्रत्यन्त प्राचीन परम्परा है। देवताग्रों का ग्राश्रय ग्रौर उनके ग्रलौकिक चमत्कारों में विश्वास हमारे धर्म का मौलिक रूप है। धर्म का यही रूप हमारे राजनीतिक पतन का कारण हुग्रा। पराजय ग्रौर पराभव के युग में यही हमारा ग्रश्वासन ग्रौर ग्रवलम्ब बना। राज-नीतिक परिस्थिति की विवशताग्रों के कारण स्वस्थ, स्वतंत्र ग्रौर श्रेयस् समाज के प्रतिकूल जो भी तत्व हमारी सामाजिक परम्परा में वर्तमान थे वे इस युग के ग्रनुकूल वातावरण में पलते रहे। वैशेषिक दर्शन में ग्रभ्युदय-पूर्वक निःश्रेयस को धर्म माना है।[३७] लौकिक ग्रभ्युदय की उपेक्षा करके धर्म ग्रौर ग्रध्यात्म एकांगी बन जाता है। एकांगी ग्रस्वस्थ ग्रौर ग्रसमर्थ होने के कारण वह बहुत दिन तक ग्रपने मूल तत्व को ग्रक्षुण्ण नहीं रख सकता। ग्रभ्युदय की उपेक्षा करके ग्रन्ततः वह पतन का ग्रनुगामी बनता है।

रीतिकाल का शृंगार ग्रौर विलास का काव्य एकांगी भक्ति काव्य की पतनोन्मुख गति का प्रमाण है। भक्ति का ग्राध्यात्मिक प्रेम लौकिक विलास के रूप में पतित हुग्रा। रीतिकाव्य में नायिका भेद की छाया में राधा-कृष्ण ग्रौर गोपियों के प्रेम

का ही चित्रण अधिक हुआ। इसका कारण यह था कि अभ्युदय के उत्साह से विहीन एक पराजित जाति को आत्म-ग्लानि भुलाने के लिए कृष्ण की प्रेम-लीला का विलास ही मद्य प्रदान कर सकता था। इसीलिए रीतिकाल में रामचरित की उपेक्षा हुई। कृष्णचरित में भी उनके वीर कृत्यों की ओर शृंगारी कवियों का ध्यान नहीं गया। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध की प्रेम और रास की लीलाएँ ही सूर-सागर का आधार हैं तथा रीति काव्य की प्रेरणा हैं। शिव के तपोमय और ओजस्वी चरित्र का तो इस विलास के युग में कोई अवकाश ही न था। हिन्दी का भक्ति-काव्य भी एक पराजित जाति का ईश्वरावलम्बन है। अतः उसमें भी शिव और पार्वती के तपोमय जीवन के विधायक और विजयी रूप की प्रतिष्ठा सम्भव न थी। तुलसीदास भी, जिन्होंने शैवों और वैष्णवों के विरोधों का समन्वय करने का प्रयत्न किया, शिव के विवाह और बरात के उपहास से अधिक शिव-कथा का प्रयोजन न देख सके। शिव को राम का उपासक बनाकर तथा शिव का उपहास करके उन्होंने इस समन्वय के मूल पर ही आघात किया है। समन्वय का आधार समानता है। एक उत्कृष्ट लक्ष्य में दो विरोधी तत्वों को समान मान देकर ही उनका उचित समन्वय हो सकता है।

अस्तु, रीतिकाल में शिव और राम के उदात्त चरित्रों की उपेक्षा करके कृष्ण के रमणीय चरित का अनेक-विध चित्रण होता रहा। काव्य-शास्त्र और काम-सूत्र की परम्पराओं के आधार पर नायिका निरूपण और अलंकार विधान में ही कवि कर्म की कृतार्थता रही। आधुनिक छायावाद के युग में रीति काव्य के परम्प-रागत रूप और शैली का तो विरोध हुआ किन्तु एक दृष्टि से छायावाद के युग का प्रेम काव्य रीति काव्य की आत्मा का ही पुनर्जन्म है। इस युग में केवल प्रसाद और निराला के काव्य में जीवन की कुछ मंगलमयी उदात्त वृत्तियाँ व्यक्त हुई हैं। पन्त के नवीनतम काव्य में सामाजिक श्रेय की मंगलमयी प्रतिष्ठा के कुछ सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक संकेत मिलते हैं। इन संकेतों के पीछे अरविन्द के अध्यात्म की प्रेरणा है। पन्त सौन्दर्य के कवि हैं। अतः उनके काव्य में सामाजिक श्रेय के ओजस्वी रूप की आशा व्यर्थ है। निराला के महाप्राण व्यक्तित्व की अभिव्यक्तियों में ओजस्वी श्रेय की वृत्तियों का बिखरा हुआ रूप मिलता है। गीतिका के मन्द्र-गम्भीर स्वरों में लोक मंगल सहस्र रागों में मुखरित हो उठा है। किन्तु निराला की रहस्यमय अभिव्यक्ति के कारण उनका काव्य लोक की भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित

होने की संभावना नहीं रखता। गीतों के रूप में बिखरा हुआ होने के कारण सामाजिक श्रेय के विधान और व्यवस्था की दशा भी खोजना उसमें कठिन है।

छायावाद के युग में प्रसाद की कामायनी ऐसा एक मात्र काव्य है जिसमें जीवन के मंगलमय रूप की प्रतिष्ठा एक मौलिक और व्यवस्थित रूप में मिलती है। **मनु और श्रद्धा की सनातन कथा के आधार पर मनोवृत्तियों के मार्ग से जीवन के मंगलमार्ग का जो विधान कामायनी में प्रसाद ने प्रस्तुत किया है वह हिन्दी काव्य की ही नहीं, विश्व काव्य की अनमोल निधि है।** शैव मत के आनन्द और श्रद्धा-रूप में नारी की प्रतिष्ठा कामायनी के दो महत्वपूर्ण पक्ष हैं। कामायनी के आरम्भ में प्रसाद ने मनु के चरित्र में पुरुष के सनातन स्वार्थमय भोग-प्रधान और वात्सल्य रहित तथा शासन का भी प्राकृत रूप का चित्रण किया है। श्रद्धा के सहयोग और मनु की अल्प-साधना से इसका थोड़ा सा संकेत कामायनी में है। मनु को कैलाश स्थित आनन्दमय शिव के दर्शन होते हैं। **'कामायनी' मनुष्य की प्रवृति और साधना के आधार पर व्यक्तिगत कल्याण का मार्ग दीप है।** इस व्यक्तिगत साधना में भी साध्य और साधन की पर्याप्त संगति कामायनी में नहीं मिलती। **साधना प्रकृति के संस्कार का मार्ग है।** इस संस्कार के द्वारा ही समाज और संस्कृति में मंगल की प्रतिष्ठा होती है। इस संस्कार का पूर्ण रूप बहुत व्यापक है। व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक व्यवहार में इसकी अनेक दिशायें हैं। सांस्कृतिक क्षेत्र में इसके अनेक धरातल हैं। कामायनी की सीमित परिधि में विशेषतः उसकी व्यक्तिगत भूमिका के कारण लोक-मंगल के इन विविध रूपों और धरातलों को कामायनी में समुचित स्थान न मिल सका।

रामचरितमानस की सीता के श्रद्धामय तथा कृष्णचरित की राधा के मुग्धा रूप से ऊपर नारी के स्वरूप और जीवन की कल्पना भारतीय कवि बहुत कम कर सके हैं। इसी प्रकार लालन से अधिक वात्सल्य की कल्पना में वे असमर्थ रहे हैं। सामन्तवाद ईश्वर के प्रभुत्व और आध्यात्मिक व्यक्तिवाद के कारण मनुष्य के स्वतंत्र गौरव, लोक के समृद्ध रूप और जागरित जन समाज की कल्पना प्रमुख भारतीय कवियों में नहीं है। (प्राचीन पश्चिमी कवियों में भी इसका अभाव है। वस्तुतः यह आधुनिक युग की चीज है)। गुप्त जी की यशोधरा और उर्मिला तथा कामायनी की श्रद्धा में नारी का वही परम्परागत रूप अंकित है। वह केवल श्रद्धा

है। भारतीय कवि विश्वास-रजत-नग के पदतल में जीवन के समतल में केवल पीयूष-स्रोत के समान निस्पंद भाव से बहते रहने की कामना नारी से करता है। **नारी के शक्ति रूप की प्रतिष्ठा भारतीय काव्य में दुर्लभ है।** उसके स्वतंत्र गौरव का अनुमान और मान करने में पुरुष का परम्परागत दंभ बाधक है। जन-समाज के जागरण और स्वातंत्र्य की भावना कुछ तरुण कवियों के स्फुट गीतों के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलता। **यौवन के गौरवमय रूप की कल्पना को एक सम्पन्न रूप दे सकने में भी कोई कवि समर्थ नहीं हुआ है। जन-जागरण और स्वतंत्रता के युग के अनुरूप काव्य अभी भविष्य की आशा ही बना हुआ है।**

प्रसाद और रवीन्द्र आधुनिक युग के दो महान् कवि थे। किन्तु दोनों उच्च वर्ग में उत्पन्न हुए थे। अतः दोनों ही सामाजिक श्रेय की ऐसी कल्पना में असमर्थ रहे। दोनों नवयुग के सांस्कृतिक जागरण के सन्देश वाहक थे। दोनों में ही हमें भारतीय संस्कृति के अनेक महत्वपूर्ण पक्षों का ऐसा चित्रण मिलता है, जो युगों तक भारतीय चेतना को मुग्ध करता रहेगा। प्रसाद के नाटकों में चाणक्य, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त आदि के ओजस्वी चरित्रों में मध्ययुग के इतिहास का उज्ज्वल और उदात्त रूप प्रस्तुत किया है। रवीन्द्रनाथ ने अपने निसर्ग मधुर गीतों में भारतीय अध्यात्म के हृदय की मर्ममयी व्यंजना प्रदान की है। रवीन्द्रनाथ के राजसी जीवन की सीमाओं में संस्कृति और अध्यात्म का सौन्दर्य ही प्रतिष्ठित हो सका। कालिदास के समान वे प्रमुखतः सौन्दर्य के ही कवि हैं। अतः उनमें प्रसाद और माधुर्य की प्रचुरता तथा ओज की न्यूनता है। प्रसाद के काव्य में भी उनके नाटकों का ओज उपलब्ध नहीं होता। ओज के बिना जन-जागरण, नारी-गौरव, यौवन की विभूति आदि सांस्कृतिक श्रेय के महत्वपूर्ण तथा विधायक तत्वों का समावेश काव्य में नहीं हो सकता। प्रसाद गुण व्यंजना की प्रांजलता का साधन है। काव्य के बौद्धिक तत्वों का हृद्य बनाने में वह सहायक होता है। अतः सभी पारदर्शी काव्य के लिए, वह आवश्यक है। माधुर्य का पुट काव्य को सुन्दर और रमणीय बनाता है किन्तु उसका अतिरेक अथवा प्राधान्य केवल सुन्दर और रमणीय काव्य में ही उचित है। स्वस्थ और शिव-काव्य में मिष्टान्नों का सा नहीं फलों का सा माधुर्य चाहिए। **किन्तु शिव के सजग, समर्थ, सक्रिय और उत्कर्षशील रूप की प्रतिष्ठा ओज के आधार पर हो सकती है।** अधिकांश भारतीय कवियों में ओज का अभाव होने के कारण शिव का यह रूप समादृत न हो सका।

आधुनिक कवियों में दिनकर ही एक ऐसे कवि हैं जिनमें कविता का ओजस्वी स्वर एक सिद्ध कंठ से मुखरित हुआ है। बच्चन के स्वर में भी ओज की कुछ ध्वनि गुंजित हुई थी। किन्तु वह ओज जवानी का जोश था, जिसमें प्रेम की तीव्रता थी, किन्तु कल्याणमुखी सांस्कृतिक चेतना का पर्याप्त जागरण न था। इसीलिए यौवन के आवेग के साथ बच्चन की कविता का उतार हुआ। हाला के सागर का ज्वार मन्द हो गया और उनकी पिछली कविताओं में बौद्धिक छन्द-विधान का सायास क्रम दिखाई देने लगा। आयर्लैण्ड के प्रवास से भेजी हुई प्रणय-पत्रिकाएँ भी यौवन और प्रेम के इस उतरते हुए ज्वार की मन्द ध्वनियाँ हैं। इसके विपरीत दिनकर का ओजस्वी स्वर आरम्भ से ही एक सांस्कृतिक प्रेरणा को लेकर उठा था। कवि के विकास और देश की प्रगति के अनुकूल वह ज्वार उठता ही गया। दिनकर के अनेक काव्यों में इस स्वर के बहुविध राग-विधान प्रकट हुए। 'कुरुक्षेत्र' में उस ओजस्वी स्वर का चरम उत्कर्ष दिखाई देता है। युद्ध की भूमिका में जीवन के श्रेय की अनेक गम्भीर समस्याओं को 'कुरुक्षेत्र' में एक सबल अभिव्यक्ति मिली है। अर्थ-व्यवस्था की विषमताओं और उससे उत्पन्न अनर्थों के विश्लेषण की ओर 'कुरुक्षेत्र' के कवि की दृष्टि अधिक रही है। **इसमें सन्देह नहीं कि अर्थ अधिकांश अनर्थों का मूल है। किन्तु मानवता के मान की समस्या भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इसके बिना अर्थ-मीमांसा अपूर्ण है। मानवता के प्रसंग में नारी का स्थान और मान संस्कृति का मर्म स्थल है।** अर्थ मीमांसा में अधिक संलग्न रहते हुए भी 'कुरुक्षेत्र' का कवि संस्कृति के इस मर्म की ओर पूर्णतः सजग है। द्रौपदी के चीरहरण के प्रसंग को लेकर दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' में इस मर्म की ओर संकेत किया है। नारी के गौरव को कवि ने नर की कीर्ति की प्रतिष्ठा माना है। अपनी रक्षा के लिए ईश्वर के प्रति द्रौपदी की पुकार को दिनकर ने नर की कीर्ति का अवसान माना है।[३८] 'रश्मिरथी' के कर्ण के उदार और ओजस्वी चरित्र में भी द्रौपदी के अपमान की वेदना का अन्तर्दाह बहुत तीव्र है। अपने अन्तिम क्षणों में कर्ण को सब प्रकार से सन्तोष है। केवल एक यही शूल उनके मरणासन्न प्राणों को वेध रहा है कि वे उस संकट काल में एक निर्यातित नारी के शील और मान की रक्षा क्यों नहीं कर सके।

अर्थ की सुव्यवस्था, नारी का मान और मानवता की प्रतिष्ठा संस्कृति की त्रिपथगा है। संस्कृति की त्रिवेणी के इस संगम में आततायियों की संगठित अनीति

और प्रबल अतिचार मुख्य बाधा है। जैन और बौद्ध धर्मों के उदयकाल से एकांगी अहिंसा और अध्यात्म की साधना हमारी संस्कृति का अभिशाप बनी रही है। चन्द्रगुप्त की विजय के बाद इतिहास के एक शान्ति-युग में अशोक की धर्मपताका की एकांगी कीर्ति को छोड़कर यही अभिशाप निरन्तर हमारे पतन और पराजय का कारण बना रहा। **महाभारत के मंत्र-वाक्य के अनुसार अमर्षशून्य पुरुष क्लीव है।**[३६] **पराजित की सहिष्णुता, करुणा, क्षमा और अहिंसा वस्तुतः उसकी असमर्थताएँ हैं। पौरुष के तेजस्वी पीठ पर ही सांस्कृतिक गुणों की श्रेयोमयी प्रतिष्ठा होती है।** एकांगी अध्यात्म और अहिंसा की असमर्थताओं का दिग्दर्शन 'कुरुक्षेत्र' में स्पष्ट मिलता है। इस प्रकार सांस्कृतिक श्रेय के व्यापक रूप और उसकी गम्भीर समस्याओं का जो सन्निवेश दिनकर के काव्य में मिलता है वह हिन्दी के समस्त काव्य में दुर्लभ है। 'संस्कृति के चार अध्यांय' दिनकर की इसी गंभीर सांस्कृतिक चेतना की एक प्रौढ़ परिणति है।

स्वतंत्र भारत के नवोत्थान के नवयुवक कवियों में जहाँ एक ओर प्रेम का कुछ स्वस्थ रूप नारी की समानता और उसके गौरव के साथ निखर रहा है वहाँ अर्थ और अनीति की सांस्कृतिक समस्याओं के प्रति भी उनकी जागरुकता प्रकट होती है। किन्तु 'कुरुक्षेत्र' के कवि की भाँति ये नवयुवक कवि भी अर्थ-व्यवस्था की विषमताओं में ही अधिक उलझे हुए हैं। युद्ध और राजनीति के इस युग में अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रभाव के कारण आसुरी वृत्तियों की संगठित अनीति के सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष को विश्वयुद्ध की भूमिका के अतिरिक्त आज के कवि और विचारक देखने में असमर्थ हैं। साम्यवाद के प्रभाव के कारण आर्थिक अनीति पर ही कवियों की दृष्टि अधिक है। फ्राइड के मनोविश्लेषणवाद ने विकृतियों के मूलों का उद्घाटन और उपचार अधिक किया है अथवा साहित्य और सामाजिक जीवन में विकृतियों का वर्धन किया है; यह निर्णय करना कठिन है। अर्थ की विषमताओं में उलझे रहने के कारण तथा मनोविश्लेषणवाद के निभृत प्रभाव के कारण आज का मानव और आज का कवि काम और नारी के प्रति अपने संबन्ध का स्वस्थ दृष्टि-कोण नहीं अपना पा रहा है। **साम्यवाद, मनोविश्लेषणवाद और विज्ञान ने मिलकर आधुनिक सांस्कृतिक भावना को भोगमुखी बना दिया है।** इसीलिए सांस्कृतिक व्यवस्था में स्वस्थ रूप का समायोजन कठिन हो रहा है। रीतिकाल और छायावाद के कवियों की भाँति ही काम से अभिभूत रहने के कारण तथा नारी के

प्रेयसी रूप के ही ग्रभ्यस्त होने के कारण नये कवि भी नारी के शारीरिक, मानसिक ग्रौर सांस्कृतिक गौरव के विरुद्ध ग्रनीति के संगठित ग्रतिचारों के प्रति ग्रधिक सजग नहीं हैं। हिन्दी के चिर कुमार कवि पन्त के 'मुक्त करो नारी को······वन्दिनी सखी प्यारी को' ऐसे नारी मुक्ति के नारों के ग्रतिरिक्त उसकी स्वतंत्रता के स्वरूप ग्रौर साधनों का कोई समृद्ध रूप नवीनतम हिन्दी काव्य में भी नहीं दिखाई दे रहा है। स्वतंत्रता संग्राम की राजनीतिक सीमाग्रों में महात्मा गांधी द्वारा उत्थापित बुद्ध का एकांगी ग्रहिंसावाद युवकों के इस विमोह में ग्रफीम का काम कर रहा है। इसीलिए ग्रधिकांश कवियों में नारी के गौरव के प्रति वह ग्रोजस्वी जागरुकता नहीं है जिससे 'कुरुक्षेत्र' का कवि विकल है तथा 'रश्मिरथी' का कर्ण ग्रपने ग्रन्तकाल में पीड़ित है। नारी वन्दिनी ही नहीं वह ग्रनेक ग्रतिचारों से पीड़ित ग्रौर ग्रनेक ग्राशंकाग्रों से ग्रातंकित है। पंत के उद्‌बोधन में सामन्तवादी युग की वीर भावना की प्रतिध्वनि है जो नारी को प्रेयसी ग्रौर रक्षणीया के रूप में देखती रही। इस युग ग्रौर इस युग के काव्य में ग्रहिंसा के प्रचार के कारण पराभव में विगलित वीर-भावना तो पुनः जागरित न हो सकी किन्तु नारी का प्रेयसी रूप ग्रक्षुण्ण बना रहा। **ग्रतः ग्रहिंसा-युग के सुकुमार कवियों के ये उद्‌बोधन-मंत्र एक स्वस्थ सांस्कृतिक ग्राकांक्षा की ग्रसमर्थ विडम्बनाएँ मात्र हैं।**

युद्ध के ग्रतिरिक्त नारी के शारीरिक गौरव, मानसिक मान ग्रौर सांस्कृतिक समादर में सामाजिक ग्रनीतियों की व्यवस्थाएँ बाधक हैं। प्रेम ग्रौर ग्रहिंसा से विमोहित ग्राधुनिक किन्नर-कुमारों ग्रौर कवि-किशोरों की इस दिशा में पर्याप्त जागरुकता नहीं है। **इसका मुख्य कारण शक्ति-साधना के प्रति सजकता का ग्रभाव है। दुर्बल ग्रौर ग्रसमर्थ युवकों का प्रेम भी रोग है। रीतिकाल का शृंगार-काव्य ग्रस्वस्थ विलास का उदाहरण है। छायावाद का प्रेम काव्य ग्रस्वस्थ प्रेम का उदाहरण है।** ग्राधुनिक प्रेम काव्य पर दोनों का ही प्रभाव बना हुग्रा है। समाज ग्रौर संस्कृति में यौवन के स्वस्थ रूप की प्रतिष्ठा द्वारा ही भोग, विलास ग्रौर प्रेम के भी स्वस्थ रूप का ग्रादर हो सकता है। **यौवन के इस स्वस्थ रूप में शारीरिक स्वास्थ्य के साथ-साथ ज्ञान, शील शक्ति ग्रौर सौन्दर्य का समन्वय ग्रपेक्षित है।** किन्नर-संस्कृति को छोड़कर जब युवकों ग्रौर युवक कवियों में यौवन के इस स्वस्थ ग्रादर्श के प्रति जागरुकता उत्पन्न होगी तभी उनकी चेतना में नारी के गौरव का पूर्ण रूप भी प्रस्फुटित होगा। किन्नर-संस्कृति के वैभव ग्रौर ग्राकर्षण से भ्रान्त

आधुनिक नारी भी पुरुष के व्यामोह से मुक्त होने पर ही अपने तन, मन और सौन्दर्य के गौरव को पहचानेगी। तभी वह भी पार्वती और महाश्वेता के समान यौवन के प्राकृत भोग की तपोमयी सांस्कृतिक भूमिका के महत्व को भी अपनी साधना में प्रतिष्ठित कर सकेगी। तभी वह असुर-विजयी और नवीन स्वर्ग के निर्माता कुमारों का निर्माण कर सकेगी। तभी वह भरत और लव-कुश से वीर नायकों की जननी बन सकेगी। इस सबके लिए नारी के मन में सांस्कृतिक चेतना का जागरण और शील के प्रति सम्मान तो अपेक्षित है ही, किन्तु इसके समान ही आवश्यक पुरुष का नेतृत्व है। शिव-पार्वती की मंगलमयी कथा में पार्वती की तपस्या के पूर्व शिव का कामदहन और उसके भी पूर्व उनका सनातन तपोमय रूप पुरुष के इसी सांस्कृतिक नेतृत्व का प्रतीक है। तप और शील से संस्कृत प्रकृति ही नर-नारी के स्वास्थ्य और शक्ति में अन्वित होकर यौवन के सौन्दर्य, भोग और प्रेम को सफल बनाती है। शक्ति से अन्वित होकर ही शील सेनानी कुमारों की परम्परा द्वारा श्रेय की सांस्कृतिक विजय और सामाजिक प्रतिष्ठा का पथ प्रशस्त करता है। इसी समर्थ भूमिका में नारी के गौरव का पूर्ण रूप प्रस्फुटित होता है तथा मानवता के अज्ञात मर्म का आविर्भाव होता है।

अध्याय ३७

शिवम् की साधना का रूप और उसके तत्व

सत्यं शिवं सुन्दरम् मानवीय संस्कृति की त्रिवेणी है। संस्कृति की पूर्ण कल्पना में तीनों का ही समन्वय अपेक्षित है। सांस्कृतिक काव्य का रूप इन तीनों के ही सहयोग से निर्मित होता है। इनकी पृथक-पृथक साधना से शास्त्र और कला का विकास होता है। शास्त्र संस्कृति के आधार और कला उसका अंग तथा अलंकार है। शास्त्रों में सत्यं, शिवं और सुन्दरम् के रूपों का अलग-अलग और बौद्धिक विवेचन शास्त्रों को जन्म देता है। विज्ञानों और दर्शनों में सत्य की जिज्ञासा और उसका निरूपण किया जाता है। सत्य के यथार्थ रूप का निर्धारण ही शास्त्रों का मुख्य प्रयोजन है। चेतना में उसकी अवगति से जिज्ञासा शान्त होती है। अपने स्वरूप के अभिज्ञान की आकुलता ही मानों प्रकृति के विकासक्रम में चेतना के रूप में आविर्भूत हुई। विकास की इस अपूर्व घटना से सत्य का एक दूसरा रूप उद्‌घाटित हुआ। **यह सत्य अवगति का निरपेक्ष अभिज्ञान मात्र नहीं वरन् चेतना की अपरिमित सम्भावनाओं का स्रोत है।** प्राकृतिक सत्ता और रूपों को भी चेतना के उद्‌भव में एक नवीन सार्थकता प्राप्त हुई है। स्वरूप के अभिज्ञान के लिए आकुल प्रकृति को मानों अपने स्वरूप की नवीन सम्भावनाएँ उद्‌घाटित हुईं। इसके पूर्व मानों प्रकृति अज्ञात-यौवना कुमारी की भाँति आज्ञात रूप से पार्वती का सा तप कर रही थी। उसके अपार सौन्दर्य और असीम भावना की सफलता का मार्ग अभी नहीं खुला था। चेतना के उद्‌भव में मानों प्रकृति की मूल शक्ति परम शिव से संयुत हुई और उनके इस परस्पर संयोग से दोनों के जीवन का एक नया मार्ग खुला।

अभिज्ञान और अवगति के अतिरिक्त इस विकास में प्रकृति को संस्कृति के नये रूपों के निर्माण का उपादान बनने का अवसर मिला। इन नये रूपों में मानवीय जीवन और संस्कृति के साथ प्रकृति के सुन्दर समन्वय की मंगलमयी सम्भावनाएँ प्रकट हुईं। चेतना के उद्‌भव में सृजन के नवीन और सांस्कृतिक रूपों की असीम सम्भावनाएँ उद्‌घाटित हुईं। सृजन का प्राकृतिक धर्म सुन्दर और मंगलमय

बनकर सांस्कृतिक जीवन का मधुर मर्म बना। इस सांस्कृतिक सृजन में प्राकृतिक सृजन की समस्त विभूतियों का अन्तर्भाव होने के अतिरिक्त अभिव्यक्ति के आनन्द और सौन्दर्य का आविर्भाव तथा आत्मदान के शिवं का समवाय हुआ। **इस प्रकार प्राकृतिक सत्ता का सत्य चेतना के आविर्भाव से शिवं और सुन्दरम् से समन्वित होकर सांस्कृतिक कल्पना की पूर्णता में प्रतिफलित हुआ।**

कला और काव्य इसी पूर्णता को प्रतिष्ठित करके संस्कृति **की विभूति बन सकते हैं।** सत्य की जिज्ञासा से प्रसूत विज्ञान और शास्त्र संस्कृति के मार्ग-प्रदीप हैं। वे उन अर्थों, तथ्यों और सिद्धान्तों को उद्घाटित करते हैं, जो संस्कृति के उपादान और उपकरण बनते हैं। जिज्ञासा का विषय बनकर शिवं और सुन्दरम् भी सत्य की कोटि में ही आ जाते हैं। पश्चिमी विचार-क्षेत्र में धर्म, आचार और नीति के शास्त्रों का विकास शिवं के स्वरूप की जिज्ञासा से ही हुआ है। भारतीय धर्म और अध्यात्म में इसके विवेचन की अपेक्षा उसकी साधना का निरूपण अधिक किया गया है। यह ठीक है कि साधना के पूर्व शिवं के स्वरूप का निर्धारण भी अपेक्षित है, किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि केवल बुद्धि के द्वारा जीवन के सम्पूर्ण सत्य का निर्धारण नहीं हो सकता। **शिवं के सम्बन्ध में तो यही सत्य है कि सत्य उसके मार्ग का दीपक है और साधना उसकी सजीव गति है।** दीपक का प्रकाश कुछ दूर तक हमारे मार्ग को आलोकित कर सकता है। उस आलोक में हम आगे बढ़ सकते हैं। किन्तु न वह सत्य का आलोक सम्पूर्ण मार्ग को प्रकाशित कर सकता है और न अन्तिम लक्ष्य का निदर्शन कर सकता है। एक बात और है, इस मार्ग में आँधी और तूफानों से साधना का स्निग्ध अंचल ही सत्य के दीपक की ज्योति को बचाये रख सकता है। साधना से सम्वलित सत्य ही शिव मार्ग का विश्वसनीय सम्बल है। मनुष्य-संस्कृति के इतिहास में साधना के अंचल की छाया न पाकर न जाने कितने सत्य के दीपक बुझकर अन्धकार में विलीन हो गये। और न जाने कितने दीपकों की शिखा झंझा से उद्वेजित होकर इतिहास में अनेक अकरुण अग्निकाण्डों का कारण बनी।

भारतीय धर्मों में सत्य की दृष्टि में साधना का समन्वय होने के कारण ही उनमें से कोई भी इतिहास में अमानवीय अत्याचारों का श्रेय न ले सका। **इस समन्वय में शक्ति का अभाव होने के कारण भारत पराजित हुआ, किन्तु सत्य में साधना के समन्वय के कारण ही भारत की अपराजिता संस्कृति अक्षुण्ण रही और**

आज विश्व की आशा बन रही है। सत्य में साधना के समन्वय के दो रूप हैं। एक को हम निषेधात्मक और दूसरे को भावात्मक कह सकते हैं। भावात्मक रूप इस साधना का मूल स्वरूप है। निषेधात्मक रूप केवल साधना के मार्ग में भ्रष्ट होने से साधकों को बचाने के लिए है। भावात्मक रूप शिवं के बौद्धिक सत्य को जीवन में चरितार्थ करने का साधन है। साधना का यह भावात्मक रूप जितना सक्रिय, सहज और निष्ठामय होगा उतना ही वह साधना सफल होगी। **भारतीय संस्कृति में योग, उपासना, भक्ति, पर्व आदि साधना के भावात्मक रूप हैं।** पराजय और पतन के पूर्व साधना के ये रूप भारतीय जीवन में किस प्रकार अनुस्यूत हो गये थे, इसका जीवन्त प्रमाण हमारे प्राचीन इतिहास में सुरक्षित है। प्रेम के लिए तो आधुनिक युग में इंगलैंड के सम्राट ने सिंहासन का त्याग किया। **किन्तु किसी सांस्कृतिक अथवा धार्मिक भाव में अपना जीवन अर्पित कर देने वाले राजाओं के उदाहरण भारत के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलेंगे।** रघु के समान विश्वजित यज्ञ करके सर्वस्वदान कर देने वाले, राम के समान राज्याधिकार का परित्याग कर वनवास ग्रहण करने वाले, कृष्ण के समान अद्वितीय वीर होते हुए भी राज्य की आकाँक्षा न रखने वाले, बुद्ध के समान राज्य के सुख और ऐश्वर्य को त्याग कर वैराग्य लेने वाले, भर्तृहरि के समान प्रेम की छलना से विरक्त होकर संन्यास ग्रहण करने वाले, अशोक के समान विजय में भी पराजितों की पीड़ा से व्यथित होकर संसार में अहिंसा का प्रचार करने वाले राजा भारतवर्ष में ही हुए हैं। उपनिषद् काल में जनक, जानश्रुति, अश्वपति, कैकेय आदि राजाओं में जीवन के सत्य के प्रति जैसी जिज्ञासा और उसकी साधना में जैसी आन्तरिक श्रद्धा दिखाई देती है, वह किसी भी अन्य देश में दुर्लभ है। राजाओं की यह साधनामयी भावना उनकी विचित्रता नहीं है वरन् इस बात की सूचक है कि भारतीय समाज और प्रजा कैसे आदर्श को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। पराजय और पतन की अनेक विकृतियों के बाद भी साधना का यह श्रद्धामय तत्व आज भी भारतीयों के मन की अन्तर्तम विभूति बना हुआ है। इसी विभूति के अक्षुण्ण आश्रय पर महात्मा गांधी का अहिंसात्मक आन्दोलन प्रतिष्ठित हुआ। इसी विभूति के कारण भारतीय जनता के मन में कभी भी अपने आक्रमणकारियों और अत्याचारियों के विरुद्ध द्वेष की भावना नहीं पनप सकी। सद्भावना और क्षमा इस साधना के सत्य के व्यावहारिक प्रमाण हैं। आचार साधना का व्यावहारिक रूप है। उसका आन्तरिक स्वरूप

चेतना में सत्य के मंगलमय तत्व को प्रतिष्ठित करने का आत्मिक अध्यवसाय है। योग का यही मूल रूप है। इसीलिए भारतीय धर्म और दर्शन के सभी सम्प्रदायों में योग के तत्वों का अन्तर्भाव है। योग आन्तरिक साधना का मूल मार्ग है। भारतवर्ष के समान अन्य कोई भी देश, धर्म अथवा संस्कृति इस योग की कल्पना नहीं कर सकी। यह योग भारत की अन्यतम विभूति है। यही सत्य और शिव को मिलाने वाला सेतु है। आत्म-विस्तार का सत्य इसका स्वरूप और आत्मदान का शिवम् इसका फल है।

साधना का निषेधात्मक रूप प्रकृति के प्रलोभनों और उसकी उत्तेजनाओं से सत्य और शिव के इस सेतु की रक्षा है। इसका आत्मगत पक्ष जीवन में अर्थ, काम, मद, मत्सर आदि के प्रभाव से जीवन को बचाना है। पराजय के पूर्व भारतवर्ष में इस साधना का अभ्यास कितनी सहज निष्ठा के साथ हुआ है, इसका उदाहरण उपनिषद् काल के सरल और सात्विक जीवन में मिल सकता है। शताब्दियों के कुचले हुए भारतीयों के हृदय में धर्म भीरुता, शान्तिप्रियता आदि दुर्बलताओं के रूप में उस सात्विक निष्ठा के ध्वंसावशेष शेष हैं। इसका बहिर्गत अथवा परगत पक्ष ज्ञान और शक्ति के समन्वय द्वारा सुरक्षा के लिए सात्विक बल का संगठन है। निषेधात्मक साधना के इस पक्ष की ओर भारतीय नेता और समाज अधिक सजग न रहे। गत एक हजार वर्ष का इतिहास हमारी इसी भूल का प्रायश्चित है। हमारी इस भूल के मूल में साधना के भावात्मक रूप की प्रबलता तथा निषेधात्मक रूप में आत्मगत पक्ष के प्रति हमारी अत्याधिक जागरूकता है। लौकिक विषयों—काम, क्रोध आदि के दमन का जितना प्रसंग हमारे शास्त्रों में मिलता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। इसी साधनामयी निष्ठा में हृदय से संलग्न रहने के कारण भारतवर्ष ने कभी किसी दूसरे देश पर आक्रमण करने की कल्पना नहीं की और न आक्रमण कारियों के विरुद्ध किसी द्वेष का प्रचार अथवा प्रतिकारिणी शक्ति का संगठन किया। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो साधना के निषेधात्मक रूप के परगत पक्ष की भूल भारतवर्ष की भूल नहीं वरन् आक्रमणकारी देशों के धर्म और संस्कृति की अमानवीयता का प्रमाण है।

धर्म और अध्यात्म के सम्बन्ध में भारतवर्ष की दृष्टि ही सत्य दृष्टि है। संस्कृति के सत्य और उसकी मंगलमयी साधना की महिमा वेदान्त के ब्रह्म की भाँति अपने स्वरूप में ही है। भावात्मक साधना उस स्वरूप की प्रतिष्ठा का ही

अध्यवसाय है। सत्य के स्वरूप की महिमा को हृदय से मानने के कारण ही भारतीय इतिहास में मतों के प्रचार का आग्रह तथा बुद्धि अथवा बल के द्वारा दूसरों के धर्म-परिवर्तन का न हमारे शास्त्रों में विधान है और न हमारे इतिहास में प्रमाण है। भारतीय भावना की इसी मौलिक उदारता के कारण हमारी भावभूमि में आरम्भ से ही अनेक मत, सिद्धान्त, धर्म, देवता, सम्प्रदाय आदि पल्लवित होते रहे। सम्प्रदायों के अधिकारियों में कुछ कट्टरता की भावना भले ही रही हो किन्तु सामान्य जनता की भावना सदा उदार और सहिष्णु रही है। **मत का आग्रह सत्य दर्शन का सबसे बड़ा शत्रु है। धर्म-परिवर्तन का उद्योग धर्म के क्षेत्र में सबसे बड़ा पाप है।** स्वतंत्रता धर्म और संस्कृति का सबसे बड़ा सत्य है। मत का आग्रह और धर्म परिवर्तन दोनों इस स्वतन्त्रता के घातक हैं। स्वतन्त्रता मनुष्य का सबसे बड़ा गौरव है। मनुष्य के गौरव के विपरीत होने के कारण ये दोनों अमानवीय हैं। भारतवर्ष के लिए यह सबसे अधिक गर्व की बात है कि उसने धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में किसी भी आग्रह अथवा अतिचार के द्वारा मनुष्य के इस गौरव का अपहरण नहीं किया। इसके विपरीत मनुष्य की आन्तरिक स्वतन्त्रता को ही मुक्ति के नाम से जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य बनाया है। भारतीय धर्म, अध्यात्म और संस्कृति अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहने के कारण ही अपराजेय बने रहे और आज भी अक्षुण्ण हैं। सूर्य के समान अपने प्रकाश के अतिरिक्त अपने विस्तार के लिए उन्होंने अन्य किसी अवान्तर साधन का अवलम्ब नहीं लिया। बल, आक्रमण और अतिचार का सहारा तो उसने अपनी रक्षा के लिए भी नहीं लिया, दूसरों में प्रचार, आरोपण आदि के लिए इनके सहयोग की बात ही दूर है। समस्त आक्रमणों और अत्याचारों की आँधियों में सत्य का यह मूल तत्व मणि प्रदीप की भाँति सदा ज्योतिष्मान् रहा। अन्य कितने धर्म-प्रदीप इन आँधियों में बुझ गये और कितनों ने इन आँधियों के सहयोग से दावानल बनकर संसार के सांस्कृतिक कानन में अग्निदाह के पर्व रचे। अब जागरित पूर्व से अध्यात्म की चिर नव्यसी उषा का उदय हो रहा है। दूसरी ओर पश्चिम से विज्ञान के साथ साथ राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता की त्रिवेणी प्रवाहित हो रही है। विश्व की नवीन संस्कृति का महातीर्थ इसी त्रिवेणी के संगम पर होगा। नवीन प्रभात के पर्व में इस महातीर्थ के संगम में अवगाहन करके ही आक्रमणकारी धर्म और संस्कृतियाँ अपने पुरातन पापों से मुक्त होंगी। नवयुग की इस भूमिका में उनका इतिहास अवलोकनीय होगा। **स्वतन्त्रता**

के जाग्रत युग में मत के आग्रह और धर्म परिवर्तन का क्या स्थान होगा, यह उन धर्मों के लिए विचारणीय है जो अपने धर्मों की श्रेष्ठता का ढिंढोरा पीटते आये हैं और सभी साधनों से धर्म परिवर्तन का समर्थन करते हैं। इन धर्मों के सामने उस समय अपने लज्जामय आवरण का इतिहास हटाकर एक आन्तरिक शोध के द्वारा कुछ स्वरूपनिष्ठ सत्यों के दीपदान से संस्कृति के इस नव प्रभात की अर्चना के अतिरिक्त सांस्कृतिक साधना का और कोई दूसरा रूप शेष नहीं रहेगा। किन्तु गत युग की यामिनी के कलंकपूर्ण इतिहासों के बाद यह सूर्य को दीपक दिखाने के समान ही उपहासास्पद होगा। आँधियों के शान्त होजाने के कारण ये दीपक फिर अग्निदाहों के इतिहास न रच सकेंगे। स्वरूपगत स्नेह के सत्य से अंचित होने के कारण नव प्रभात का सूर्य इन्हें अपने ज्योतिर्मय करों से अपने इतिहास की यामिनी को आलोकित करने का वरदान देगा।

साधना की निष्ठा द्वारा शिवम् का सत्य जीवन में अन्वित होता है। शास्त्र अध्यात्म बन जाता है और जीवन साधना। इस साधना का आत्मविस्तार आत्मदान में फलित होता है। आत्मिक अनुभव में सत्य की अखण्डता और असीमता का साक्षात्कार होने पर इस आत्मदान में ही पूर्ण आत्मलाभ होता है। इस पूर्ण सत्य के प्रकाश में यह आत्मलाभ ही आत्माभिव्यक्ति भी है। इस अभिव्यक्ति के अभिज्ञान में ही शिवम् में सुन्दरम् का स्फोट होता है और जीवन में सत्य और शिव के अन्वय की पूर्ण परिणति होती है। सत्यं-शिवं-सुन्दरम् के सांस्कृतिक सूत्र में तीनों तत्वों का क्रम परिणति के इसी विधान का द्योतक है। . सुन्दरम् की अभिव्यक्ति में चेतना की केन्द्रीयता में अहंकार का बीज है। इसीलिए यह सुन्दरम् इतिहास में अनेक बार अशिव भी सिद्ध हुआ है। प्रकृति और जीवन के रमणीय रूपों में सुन्दरम् की अभिव्यक्ति सदा मंगल की साधक नहीं रही है। शिवम् की भाँति सुन्दरम् भी जीवन का एक सत्य है। सत्य में अभिव्यक्ति की आकांक्षा सुन्दरम् का ही रूप है। किन्तु सत्य के रूप में सुन्दरम् शास्त्र का विषय है। पश्चिम का सौन्दर्य-शास्त्र और भारतीय काव्य-शास्त्र सुन्दरम् के स्वरूप और फल की ही मीमांसा करते हैं। किन्तु शिवम् के सत्य की भाँति सुन्दरम् के सत्य का भी जीवन और संस्कृति में अन्वय अपेक्षित है। इस अन्वय के द्वारा ही संस्कृति की कल्पना पूर्ण हो सकती है और जीवन भी अपने स्वरूप का मार्ग पाकर कृतार्थ हो सकता है। साधना इस अन्वय का मार्ग है। दूसरी ओर साधना शिवम् का मर्म है। इसीलिए सांस्कृतिक

व्यवस्था में शिवम् के माध्यम से सुन्दरम् की परिणति अधिक स्पृहणीय है। अभिव्यक्ति के दर्प के लिए आत्मदान का विनय दुष्कर है। किन्तु आत्मदान की उदारता अभिव्यक्ति में अपनी विभूति पाकर धन्य हो सकती है।

शिवम् का मूल स्वरूप तो आत्मदान है। सृजन के प्राकृतिक धर्म में इस आत्मदान का प्राकृतिक रूप ही साकार होता है। इस प्राकृतिक धर्म में भी शिवम् के सांस्कृतिक रूपों के आधार अन्तर्निहित होते हैं, किन्तु उन आधारों पर शिवं के अन्य समृद्ध रूपों का भव्य प्रासाद का निर्माण सन्तति के जन्म के उपरान्त उसके जीवन के निर्माण की साधना में होता है। **अतः साधना सांस्कृतिक सृजन की विधि है।** भगवान शिव के जीवन में साधना के महत्व का यही मर्म है। सांस्कृतिक सृजन की यह साधना यदि शृंगार और काम के विपरीत नहीं है, तो कम से कम दोनों की अतिरंजना के अनुकूल अवश्य नहीं है। साधना के साथ तप, त्याग और वैराग्य के निकट अनुषंग का यही कारण है। तप, त्याग और वैराग्य का अर्थ केवल स्वार्थमय भोग की मर्यादा है। दूसरों के प्रति प्रेम और सद्भाव से इनका कोई विरोध नहीं है। यह कहना अनुचित न होगा कि आत्मगत भोग को मर्यादित करके ये परार्थ, प्रेम और सद्भाव के पथ प्रशस्त करते हैं। इस प्रकार तप, त्याग और वैराग्य प्राकृतिक उपादानों तथा आत्मिक भावों दोनों ही के अर्थों में आत्मदान के साधन बन कर शिवम् की साधना के मार्ग बनते हैं। **आत्मदान का यह व्यापक रूप ही सांस्कृतिक सृजन की व्यापक साधना में शिवम् की चर्या बनता है।**

विक्रम युग के काव्य में शृंगार और काम की प्रधानता के कारण सांस्कृतिक सृजन की इस तपोमयी साधना का प्रसंग बहुत कम मिलता है। शृंगार और काम में दूसरे के प्रति अनुरक्ति की भावना अवश्य होती है और इस प्रकार जैसा कि मनोविश्लेषणवादी बताते हैं, काम की अनुरक्ति आत्मानुरक्ति की तुलना में परानुरक्ति है। अहंकार और आत्मानुरक्ति के अनेक रूप हो सकते हैं। किन्तु काम की भावना उससे नितान्त स्वतन्त्र नहीं है। आत्मानुरक्ति से अन्य रूपों की भाँति आत्मसुख की प्रेरणा ही काम का भी मूल है। कालिदास ने 'कामी स्वतां पश्यति' कह कर काम की अहंकार-मूलकता का निर्देश किया है। काम के अतिचार में यह स्पष्ट है कि अन्य वृत्तियों की भाँति काम में भी आत्मरति का उद्वेग होने पर वह दूसरे के स्वातन्त्र्य, सुख और गौरव सबकी उपेक्षा करती है। पशुओं में शक्ति

ग्रौर उद्दीपन के सन्तुलन के कारण ग्रतिचार कम है। मनुष्यों में यह सन्तुलन भंग हो जाने के कारण तथा शासन के सभी तन्त्र पुरुष के हाथ ग्रा जाने के कारण इस ग्रतिचार की सम्भावना ग्रधिक बढ़ गई है। यह ग्रतिचार स्पष्टतः ग्रशिव है क्योंकि इसमें शिवत्व के सभी तत्वों का ग्रनादर है। शिव-कथा के ग्रारम्भ में ही काम के देह-दहन के द्वारा उसके संस्कार की भूमिका का ग्राशय उसके ग्रनाचार की ग्रशिव सम्भावनाग्रों को निराकृत करके शिव जीवन में उसका समन्वय है। इतना ग्रवश्य है कि जहाँ एक ग्रोर काम में ग्रनाचार की सम्भावनायें हैं, वहाँ दूसरी ग्रोर उसमें पारस्परिकता का एक मंगलमूलक लक्षण भी है। ग्रन्य वृत्तियाँ पूर्णतः प्राकृतिक ग्रौर स्वार्थमय हैं। उनका फल उसी व्यक्ति के लिए होता है, जो उनका ग्राश्रय है। **काम की वृत्ति इस दृष्टि से विलक्षण है कि इसमें प्रकृति स्वार्थ से परार्थ की ग्रोर ग्रभिमुख हुई है।** काम की पारस्परिकता में स्वार्थ ग्रौर परार्थ का समन्वय है। वह दोनों की सन्धि का सेतु है। **पारस्परिकता ग्रौर परार्थ की सम्भावना के कारण ही काम सृजन का बीज ग्रौर सामाजिक सम्बन्धों का सूत्र बना है।** इसीलिए जहाँ काम ग्रतिचार में ग्रशिव है, वहाँ दूसरी ग्रोर वैदिक ग्रौर शैव ग्रागमों में उसे सृष्टि का मूल सिद्धान्त माना है। **स्वार्थ ग्रौर ग्रतिचार की मर्यादा के द्वारा काम मानवीय संस्कृति का मनोहर पीठ भी बन सकता है।**

किन्तु मंगलमयी संस्कृति में काम के समन्वय के लिए उसका संस्कार भी ग्रपेक्षित है। उसका प्रकृत ग्रौर स्वस्थ रूप ही इस दृष्टि से संस्कृति की मर्यादा से युक्त है। इतना ग्रवश्य होगा कि वह दूसरे के स्वातन्त्र्य ग्रौर गौरव पर ग्रतिचार नहीं करेगा। ऐसी स्वस्थ प्रकृति संस्कृति की सन्धि है। पारस्परिकता के ग्रन्योन्य भाव में काम को यह संस्कार सहज ही प्राप्त हो जाता है। पारस्परिकता में स्वार्थ के साथ एक संतुलित विधि में परार्थ भी समन्वित है। स्वार्थ का ग्रनुराग तो सबको सहज ग्रौर स्वाभाविक होता है। भूल या उपेक्षा परार्थ के विषय में ही हो सकती है। **इसीलिए ग्रन्योन्य भाव का सूचक 'परस्पर' पद भी पर की मूल ग्रभिधा से निर्मित हुग्रा है।** शब्द के इस विधान में मंगलमयी संस्कृति की दिशा का संकेत निहित है। काम की प्राकृतिक वृत्ति में 'पर' के ग्रनुषंग का ग्रभिप्राय यही परस्पर भाव है। किन्तु सभ्यता ग्रौर काव्य में इस मिथुन वृत्ति के परस्पर भाव की रक्षा सर्वत्र नहीं हो सकी। काव्य में तो ऐसा प्रतीत होता है मानो पुरुष का एकांगी ग्रतिचार ही श्रृंगार बनकर मुखरित हो उठा हो। पुरुष की ग्रतिचार-

मुखी ग्रतृप्त वासना ग्रधिकांश काव्य की प्रेरणा वनकर मनोविश्लेषणवाद के सत्य को प्रमाणित करती है। **ग्रतः काम की मिथुन वृत्ति में संतुलित पारस्परिकता की रक्षा के लिए ग्रात्मदान के शिवं की साधना का संस्कार ग्रपेक्षित है।**

यही साधना काम को मंगलमय तथा परस्पर ग्रानन्दमय बनाती है। इसी साधना से काम सृजन में सुन्दरम् की ग्रभिव्यक्ति से कृतार्थ होता है। यही साधना प्राकृतिक सृजन की भूमिका में जाति के सांस्कृतिक निर्माण की परम्परा का विधान करती है। यह साधना एक ग्रोर तो कर्त्ता का ग्रात्मसंस्कार है तथा दूसरी ग्रोर दूसरे के स्वातन्त्र्य ग्रौर गौरव का ग्रादर है। मंगलमयी साधना इस गौरव ग्रौर स्वातन्त्र्य की ग्रवगति मात्र नहीं, वह इस स्वातन्त्र्य ग्रौर गौरव को समृद्ध ग्रौर सार्थक वनाने वाला ग्रात्मदान है। **इसीलिए साधना शिव का स्वरूप है। नारी के प्रति काम की मर्यादा ग्रौर पारस्परिकता में व्यक्त होकर यह साधना संतति के महिमामय विकास की विधि बनती है। प्राकृतिक सृजन की भूमिका में सन्तति के निमित्त से जाति का सांस्कृतिक निर्माण ही साधना का लक्ष्य है।** साधना के इस सांस्कृतिक तथा सृजनात्मक रूप में काम की पारस्परिकता स्फुट परार्थ भाव में विकसित होती है। ग्रात्मभाव से यह परार्थमय ग्रात्मदान भी ग्रात्मा (स्वरूप) की गहराइयों की ग्रभिव्यक्ति है। इस ग्रभिव्यक्ति में सुन्दरम् को सुन्दर ग्राकार प्राप्त होता है। किन्तु यह ग्रद्वैत भाव से ही गम्य है। सम्वन्धभाव से शिवं का ग्रात्मदान परार्थ भाव ही है। ग्रतः ग्रात्मदान के इस शिवं की साधना में दूसरे के स्वातन्त्र्य, गौरव ग्रौर उत्थान की भावना ही प्रमुख है।

शृंगार की प्रधानता के कारण हमारे ग्रधिकांश काव्य में सृजन ग्रौर साधना का इतना महत्व नहीं है, जितना कि शिव काव्य में होना चाहिए। शृंगार की वृत्ति काम की ग्रतिरंजना की ग्रोर ही रही है। उसे मानसिक ग्रतिचार कहना ग्रनुचित न होगा। ग्रबोध शैशव के लालन को छोड़कर वाल्य ग्रौर कैशोर के सांस्कृतिक निर्माण ग्रौर विकास की साधना काव्य में वहुत कम मिलेगी। प्राचीन ग्रौर मध्यकाल का समाज चाहे वाल-मनोविज्ञान के ग्राधुनिक रहस्यों से परिचित न रहा हो, किन्तु यह ग्रसंदिग्ध है कि सभी माता-पिता सभी काल में ग्रपने ज्ञान ग्रौर क्षमता के ग्रनुसार ग्रपनी संतति के सांस्कृतिक निर्माण में कुछ न कुछ योग देते रहे हैं। ग्रतः इस विषय में जन-समाज की ग्रपेक्षा कवि-समाज ग्रधिक दोषी है। शृंगार

और भक्ति की रस धाराओं में तिरते हुए भावुक कवियों ने जाति के सांस्कृतिक विकास की इस साधना को अपने काव्य में कभी पर्याप्त स्थान नहीं दिया। सृजन की भाँति साधना का प्रसंग भी हमारे काव्यों में बहुत कम है। आत्म संस्कार के रूप में इस साधना का कुछ आभास भक्तिकाव्य और नीतिकाव्य में अवश्य मिलता है। किन्तु संतति के निमित्त से जाति के निर्माण के रूप में इसका प्रसंग मिलना कठिन है। 'कुमार-सम्भव' में किन्हीं कारणों से भी सही यह सम्भावना सफल न हो सकी। शिवकथा के अतिरिक्त राम और कृष्ण के चरित्रों में तो इसका अवकाश ही कम है।

आत्मदान की यह मंगलमयी साधना जीवन की एक सम्पूर्ण विधि है। उसमें विवेक का आलोक, भावना की प्रेरणा और क्रिया की शक्ति तीनों ही सन्निहित हैं। अतः लोक-मन की इस त्रिवेणी के अनुकूल ही साधना का स्रोत प्रवाहित होता है। सन्तति के जीवन में स्वातन्त्र्य और गौरव के द्वारा विवेक की स्फूर्ति का जागरण, उत्तम आदर्शों के प्रति अध्यवसाय की भावमयी प्रेरणा और जीवन की विषमताओं में संघर्ष के द्वारा उन आदर्शों को सफल बनाने की ओजमयी शक्ति में यह मंगलमयी साधना चरितार्थ होती है। सृजन और साधना के प्रसंग जहाँ इतने विरल हैं, वहाँ काव्य में साधना की प्रगति की इस त्रिवेणी का पथ अनुसंधान करना मरीचिका का अनुसरण है। वाल्मीकि के बाद कदाचित ही कोई कवि इस सांस्कृतिक साधना की व्यापक प्रेरणा लेकर काव्य-रचना में प्रवृत्त हुआ हो। यह एक अद्भुत संयोग की बात है कि आदि कवि की कविता का उद्गम काम के उस परार्थ भाव में है, जो मिथुन वृत्ति से भी परे है। अन्य अधिकांश कवि यदि सभी वियोगी नहीं हैं, तो इतना अवश्य है कि जो वियोगी नहीं हैं उनमें अधिकांश मानसिक भोग के ही कामी हैं। भोग के स्वप्न देखने वाले वियोगी और भोगी में अधिक अन्तर नहीं। आदि कवि की वह व्यापक सहानुभूति जो संस्कृति की सृजनात्मक साधना की प्रेरणा बनती है, अन्य कवियों में दुर्लभ ही है।

आत्मदान का भाव-योग शिवम् का स्वरूप है। इसके उपकरण तत्व तथा उनके विधान की प्रणालियाँ अनेक हो सकती हैं। किन्तु इन सभी उपकरणों और प्रणालियों का शिवम् के सामान्य भाव में अन्वय आवश्यक है। इस अन्वय के द्वारा ही ये शिवम् के स्वरूप से एकात्म होते हैं। शिवम् एक सामाजिक धर्म है। अतः

व्यवहार की दृष्टि से स्व और पर का उपचार उसमें रहता है। इस स्थिति में दूसरे के व्यक्तित्व और उसकी स्वतन्त्रता का सम्मान शिवम् के स्वरूप का प्रथम और प्रमुख तत्व है। इस सम्मान की भूमिका में जीवन के समस्त प्राकृतिक और भौतिक उपादान तथा विचार के सभी सिद्धान्त और कला की सभी अभिव्यक्तियाँ शिवम् का उपकरण बन जाती हैं। आत्मीयता की भावना से भोजन, भेंट आदि किसी भी भौतिक वस्तु का प्रदान तथा प्राचीन आचार्यों की भाँति विचार का वितरण और लोक-साहित्य की भाँति भाव का विभाजन सभी मंगल-कारक बन सकते हैं। शिवम् के आत्मभाव के मौलिक आधार के कारण ही भारतीय धर्म, दर्शन और साहित्य के इतने विविध और विरोधी रूप भी सामाजिक संघर्ष तथा अमंगल का कारण नहीं बने। इनमें जहाँ कहीं भी अमंगल का बीज अंकुरित हुआ वह इस आत्मीयता और दूसरे की स्वतंत्रता तथा उसके सम्मान की मौलिक मंगल भावना का व्यवहार में उलंघन करके ही हुआ। **नारी का निर्यातन, शूद्रों का बहिष्कार, सती की प्रथा, धर्म की भ्रान्ति आदि अनेक अमंगल इसी मौलिक भावना से स्खलन के फल हैं। वस्तुतः यही स्खलन हमारे समस्त सामाजिक अमंगलों का मूल है।**

आत्मीयता की भावना और दूसरे की स्वतन्त्रता के सम्मान में सत्य का आलोक भी अन्तर्निहित है। उज्ज्वल विवेक सबका अधिकार है। इस विवेक के जागरण में सहयोग देकर ही हम अपने आत्मदान के भावयोग को सफल बना सकते हैं। इसके बिना वह आरोपण बन जायेगा और स्वतन्त्रता के साथ-साथ मंगल की भी हानि करेगा। उपनिषदों में ब्रह्म दीक्षा के जो अनेक उदाहरण मिलते हैं, उनमें आग्रह और आरोप का पूर्ण अभाव है। प्राचीन आचार्य शिष्यों को सब प्रकार की प्राकृतिक सुविधायें देकर स्नेह पूर्वक उन्हें साधना में प्रेरित करते हैं। वारुणि भृगु के समान वे अपनी साधना से ही सत्य का साक्षात्कार करते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की शिशुपालन और बालशिक्षा की यही नवीनतम प्रणाली है। उपनिषदों के तत्वदर्शी मुनि जीवन के इस मंगलमय सत्य का साक्षात्कार हजारों वर्ष पूर्व कर चुके थे। यह इसी तत्व दर्शन का फल है कि उन्होंने चेतना के असीम भाव विस्तार के तत्व को ब्रह्म की संज्ञा देकर उसे 'शान्त, शिव' आदि पदों से अभिहित किया था। ब्रह्मवाद के आत्मदर्शन में सत्य में शिवं का सुन्दर समन्वय है। शंकराचार्य के काव्य तथा उनके द्वारा श्री चक्र की प्रतिष्ठा में इस सत्यं और शिवं के समन्वय में सुन्दरम् का भी अन्वय हुआ। इस प्रकार

अद्वैत वेदान्त सत्यं-शिवं-सुन्दरम् का संगम बनकर संस्कृति का तीर्थराज बना। **अन्य प्राचीन तथा अर्वाचीन धर्म और सभ्यतायें संस्कृति के इस आदर्श से कितनी दूर हैं, इसका अनुमान उनके इतिहास के निष्पक्ष और निर्भय अनुसंधान द्वारा किया जा सकता है।**

अस्तु आत्मदान शिवं का मूल और सामान्य स्वरूप है। सृजन उसका धर्म है और साधना उसकी विधि है। सृजन के अनेक रूप हैं। अधिकांश रूपों में यह सृजन प्राकृतिक उपादानों के माध्यम से मन के भावों को साकार बनाना है। कुछ रूपों में भाव ही इसका उपादान भी हो सकता है। किन्तु सभी रूपों में भाव का ही प्राधान्य है। **मनुष्य उपादान की सृष्टि नहीं कर सकता, अतः उसका सृजन भाव-रूप ही है। यह भाव आत्मा का अनुभाव है।** चेतना में स्फुरित होने वाले भावों को साकार बनाने की आकांक्षा ही सृजन की प्रेरणा है। समस्त सृजन में आत्मा के भाव का अनुयोग रहता है। यह अनुयोग आत्मदान ही है, अतः समस्त सृजन में शिवं का आधार रहता है। अभिव्यक्ति आत्मा के भाव को आकार देने का प्रयत्न है। सृजन में अभिव्यक्ति का वृक्ष सुन्दरम् ही है। भाव-योग पूर्वक अभिव्यक्ति शिवम् के पीठ पर सुन्दरम् की सृष्टि है। वस्तु-रूपों और भाव-रूपों के सृजन में यह अभिव्यक्ति ही प्रधान होती है। अतः उनमें सुन्दरम् की ही प्रधानता रहती है। उनके मूल में निहित भावयोग का शिवम् कर्त्ता की आत्मगत वृत्ति की अवस्था में ही रहता है। जहाँ सृजन का अन्वय दूसरे की आत्मा से होता है, वहाँ इस सृजन का शिवं अपने पूर्ण भाव को प्राप्त करता है। अभिव्यक्ति के आमंत्रण के रूप में तो यह अन्वय सुन्दरम् का ही साधक होता है, किन्तु आमंत्रण के स्थान पर जब इसमें आत्मदान का भावयोग दूसरे की भाव सम्पत्ति में अनुयोग बनता है, तो शिवं का स्फुरण होता है। सुन्दरम् की अभिव्यक्तियाँ भी इस शिवं में अन्वित हो सकती हैं, किन्तु इनके बिना भी शिवं अपने स्वरूप में पूर्ण है। **शिशु के जन्म में सुन्दरम् में शिवं का एकत्र अन्वय है। किन्तु शिवं की पूर्ण स्फूर्ति सचेतन प्राणियों के साथ सृजनात्मक आत्मीयता के भाव-सम्बन्ध में ही होती है। इन प्राणियों की चिन्मय साधनाओं में आत्मदान के भावयोग में शिवं का अवतार होता है। भाव-सृष्टि के रूप में यह सृजन का और भी समृद्ध रूप है। सृष्टाओं का सृजन बनकर शिवं की यह भाव-सृष्टि जीवन की मंगलमयी और अमृत परम्परा बन जाती है।**

यह आत्मदान का शिवं एक साधना है। एक अर्थ में तप, त्याग, भोग, वैराग्य आदि भी इसके लिए अपेक्षित हैं। शिव के साधनामय रूप का यही रहस्य है। किन्तु यह साधना प्रकृति का वहिष्कार नहीं वरन् उसका संस्कार है। स्वयं शिव की भाँति एक मर्यादित रूप में प्रकृति का आदर शिवं की साधना के लिए सम्भव ही नहीं आवश्यक है। प्रकृति की वृत्तियाँ तथा उसके उपादान कर्त्ता और ग्राहक दोनों की दृष्टि से आत्मदान के माध्यम हैं। आत्मदान का एक मूल आध्यात्मिक स्वरूप अवश्य है; किन्तु लोक व्यवहार में वह प्रकृति के उपकरणों में ही साकार होता है। प्रकृति के ये उपकरण केवल उसके माध्यम हैं। शिवं का स्वरूप आत्मा का भावयोग ही है। कर्त्ता और ग्राहक दोनों की दृष्टि से यह आत्मा का धर्म होने के कारण आलोकमय है। अतः कर्त्ता की दृष्टि से आत्मीयता के साथ-साथ विवेक का आधार और ग्राहक की दृष्टि से विवेक की प्रेरणा बनता है। विवेक उज्ज्वल और अनामिल ज्ञान है। अवगति उसका फल है। अतः शिवं में सत्य का मूल अन्तर्निहित है। मोहमय अनुराग और भ्रान्त भावनाओं से आत्मदान का आलोकमय भावयोग नितान्त भिन्न है। आत्मा का भावयोग होने के कारण यह स्वरूप से ही आलोकमय है। जिस वाणी के जीवन में हमारे भावयोग का रस निर्झर फूटता है, उसके जीवन में यदि आलोक का विस्तार नहीं होता, तो यह निश्चित है कि हमारी भावना में कहीं भ्रान्ति है। प्रसाद आत्मा का स्वाभाविक गुण है, अतः जीवन, कला और काव्य में आत्मदान के शिवं में उसकी विवृत्ति स्वाभाविक है। यदि आत्मदान को आलोक-दान कहें तो अनुचित न होगा। यदि शिवं में सत्य का स्वरूप पूर्ण होता है तो सत्य शिवं का अभिन्न आधार है।

आत्मा आलोकमय होने के साथ-साथ स्वतन्त्र भी है। चैतन्य के साथ स्वतन्त्रता उसका स्वरूप ही है। प्रकृति उसका माध्यम हो सकती है, किन्तु उसका वन्धन नहीं बन सकती। इसके विपरीत आत्मा प्रकृति की मर्यादा है। **अतः कर्त्ता और ग्राहक दोनों की स्वतन्त्रता के बिना शिवं का धर्म पूर्ण नहीं हो सकता।** आत्मदान का भावयोग कर्त्ता का स्वतन्त्र धर्म है। दूसरी ओर वह ग्राहक की स्वतन्त्रता का भी आदर करता है। इसी स्वतन्त्रता के कारण वह उभय और आनन्दमय है। स्वतन्त्रता का सम्मान व्यक्ति के आदर का मूल है। मनुष्यता के गौरव और सम्मान का अनेक शाखामय वृक्ष इसी मूल पर प्रतिष्ठित होता है। व्यवहार के वातावरण में इस वृक्ष की अनेक शाखाओं की भाँति भावना के भूगर्भ में

भी इसके मूलों की अगणित दिशायें हैं। व्यक्तित्व और उसकी स्वतन्त्रता का आदर करके ही कर्त्ता का आलोकमय आत्मदान कृतार्थ होता है।

इस मानवीय भूमिका में आत्मदान के आलोकमय शिवम् में रस की स्फूर्ति होती है। यह रस ग्राहक के जीवन की स्फूर्ति बनता है। वस्तुतः यह रस जीव और समाज की विभूति है, किन्तु व्यवहार की दृष्टि से ग्राहक को उसका केन्द्र मानते हैं। यह रस की स्फूर्ति एक ओर आत्मा में आनन्द का स्रोत बनती है और दूसरी ओर जीवन की मंगलमयी प्रेरणा। **यही सृजन के भावयोग का अनुग्राहक सचेतन प्राणी स्वयं स्रष्टा बनता है। यहीं स्रष्टा के सृजन में पूर्व-स्रष्टा का सृजन सफल होता है।** रस स्फूर्ति की प्रेरणा से यह सृजन संस्कृति की मंगलमयी परम्परा बन जाता है। यही शिवं के स्वरूप की पूर्णता है। शिव और पार्वती के साधना-मय जीवन में कुमार कार्तिकेय का जन्म इसी रहस्य का सूचक है। **आत्मा के भावयोग के द्वारा औरस तथा अन्य समस्त आत्मीय जनों को उत्तरोत्तर भाव सृष्टि में समर्थ बनाने में ही जीवन के शिव धर्म की कृतार्थता है।**

जिस प्रकार कर्त्ता की दृष्टि से साधना शिव धर्म की विधि है, उसी प्रकार ग्राहक की दृष्टि से भी साधना के द्वारा ही शिवं की परम्परा सफल होती है। एक ओर जहाँ तप, त्याग आदि इस साधना के आत्मगत अंग हैं वहाँ दूसरी ओर जीवन के अनीतिमय अशिव तत्वों से संघर्ष उसकी नियति है। अनीति प्रकृति के अनियंत्रित पोषण और अतिरंजित अनुराग का सामाजिक उत्पात है। **अतः साधना जहाँ एक ओर आत्मगत प्रकृति का संयम और संस्कार है, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक अनीति के साथ निर्भय संघर्ष भी है।** अनीति के नेता और अनुयायी असुर प्रकृति के सामाजिक प्रकोप हैं। स्वयं शिव और उनके औरस कुमार कार्तिकेय के असुरों के साथ संघर्ष की पौराणिक कथाओं में शिवत्व की साधना के इसी सामाजिक पक्ष का संकेत है।

इस संघर्ष की सफलता के लिए शक्ति का सहयोग अपेक्षित है। शैवागमः और शक्ति-तंत्रों में शिव के साथ शक्ति की अभिन्नता का यही रहस्य है। शक्ति मूलतः आध्यात्मिक है। वह भी आलोक की भाँति आत्मा का एक भाव है। किन्तु जिस प्रकार प्रकृति की वृत्तियाँ और उसके उपादान आत्मा के भावयोग के उपकरण बनते हैं, उसी प्रकार प्रकृति के उपकरणों में शक्ति का आत्मगत भाव साकार होता

है। इसीलिए शक्ति-परम्परा में शक्ति का स्वरूप सिंहवाहिनी, अनेक भुजावाली और विविध अस्त्र धारिणी दुर्गा के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। यह शक्ति ही शिव की अनन्त विभूति है। यही श्री है। इससे विरहित शिव को तन्त्रों में शवतुल्य मानते हैं। लोक-मंगल की समर्थ, सजीव और सफल साधना शक्ति के सहयोग से ही हो सकती है। **इसलिए आत्मदान की आलोकमय रस-स्फूर्ति की सृजनात्मक प्रेरणा शक्ति की स्फूर्ति बनकर ही शिव के स्वरूप को पूर्ण करती है।** काव्य की भाषा में प्रसाद में माधुर्य के साथ-साज ओज का उद्रेक ही कलाकृति के शिव रूप को पूर्ण बनाता है। मंगलमयी कला सुकुमार कलाकारों की कोमल साधना और मृदुल अभि-व्यक्ति मात्र नहीं है। जिन्होंने कला और कविता का कामिनी के रूप में ध्यान किया है, वे सिंहवाहिनी दुर्गा के शक्ति स्वरूप का स्मरण रखने का साहस नहीं कर सके।

जीवन और साधना में शिवम् का यही पूर्ण रूप है। उपादान और लक्षण के रूप में इसी का ग्रहण काव्य को शिव बनाता है। मनुष्य की प्रकृति की जिन प्राकृतिक आकांक्षाओं को पश्चिमी आचार-शास्त्रों में शिवं मानते हैं, वे सांस्कृतिक शिवं के आधार अवश्य हैं और इसमें उनका अन्वय अपेक्षित है। वस्तुतः सांस्कृतिक शिवं के संस्कार को प्राप्त करके ही ये भी शिवत्व को प्राप्त करती हैं। सृजन के रूप में प्रकृति के क्षेत्र में भी आत्मदान ही शिवं की साधना का सिद्धान्त है। मनुष्य के प्राकृतिक जीवन की सृजनात्मक परम्परा में भी यही सत्य है। प्रकृति के स्वार्थ की सीमा आत्म-रक्षण मात्र में है। मनुष्य के सृजनात्मक और सामाजिक जीवन में प्राकृतिक हित सांस्कृतिक शिवं में अन्वित होकर ही शिवत्व को प्राप्त करते हैं। प्राकृतिक स्वार्थ का हित पशुओं और मनुष्यों में समान है। अतः आत्मदान ही सांस्कृतिक शिवं का स्वरूप है। यही मनुष्य की विशेषता है। इसमें अन्वित होकर ही प्राकृतिक प्रेय संस्कृति तथा शिवत्व के अधिकारी और मानव जीवन के योग्य बनते हैं। प्रेय प्रकृति है। आत्मदान का शिवं ही संस्कृति का श्रेय है। प्रेय स्वार्थ है। श्रेय परार्थ है। पारस्परिकता में प्रेय और श्रेय स्वार्थ और परार्थ का समन्वय है। परार्थ में ही त्रुटि हो सकती है, क्योंकि स्वार्थ में जीव प्रायः सजग और सचेष्ट रहता है। **अतः परार्थ ही इस समन्वय की सफलता और इसके शिवत्व की कसौटी है। इसीलिए आत्मदान को शिवं का मूल स्वरूप मानना उचित है। साधना, विवेक, स्वातन्त्र्य, सम्मान, प्रेरणा, परम्परा, ओज आदि आत्मदान को साकार बनाने वाले रूप और साधन हैं।** केवल उपादान रूप में इन तत्वों के

ग्रहण से शिवं काव्य का स्वरूप और लक्षण नहीं बनता । इसे हम 'काव्य में शिवम्' कह सकते हैं । किन्तु 'शिव काव्य' वही है जिसमें यह आत्मदान का सांग शिवम् काव्य के स्वरूप का लक्षण वन जाता है । काव्य का स्वरूप सुन्दरम् है । अतः शिव काव्य वही है जिसमें शिवं के तत्वों का सुन्दरम् के स्वरूप में पूर्ण समन्वय हो । अभिव्यक्ति के सौन्दर्य में अन्वित होकर ही आत्मदान के तत्व काव्य को शिव बनाते हैं । आलोक, आत्मदान, साधना, प्रेरणा, ओज, शक्ति आदि काव्य के स्वरूपगत गुण बनकर शिव-काव्य की सृष्टि करते हैं ।

अध्याय ३८

शिवम् की साधना का पहला तत्व—आलोकदान

सांस्कृतिक सृजन की मंगलमयी साधना में ही जीवन की त्रिवेणी की धारा प्रवाहित होती है। यही धारा सन्तति के निमित्त से लोक-जीवन की परम्परा के अंकुरों का पोषण करती है। इसी धारा के रस-सिंचन से सांस्कृतिक परम्परा के अंकुर पल्लवित, फलित और पुष्पित होकर जीवन के आश्रय बनते हैं। **इस सांस्कृतिक साधना का मूलमंत्र मानव की स्वतंत्रता, समानता और उनका गौरव है। मानव का यह सम्मान ही प्रेम और आत्मदान का बीज है। अपने सुख की खोज मोह है, प्रेम नहीं। दूसरे के व्यक्तित्व का सम्मान प्रेम का सूत्र और मंगल का मन्त्र है।** यह सम्मान केवल एक बौद्धिक स्वीकृति नहीं, वह एक हार्दिक भावना और सजीव प्रेरणा भी है। सम्पूर्ण चेतना का भाव होने के कारण इसे आत्मभाव कह सकते हैं। यह हमारे सम्पूर्ण जीवन की अन्तर्वृत्ति है। अतः यह आत्मा का भाव है। दूसरे के जीवन और भाव में ओतप्रोत होकर ही यह सफल होता है। इसीलिए इसे आत्मीयता का भाव भी कह सकते हैं। सत्य के आलोक में यह आत्मा का भाव उदित होता है। यह आलोक अनन्त है, क्योंकि सत्य स्वरूप से सार्वभौम है। अतः स्वभाव से ही इस आलोक का विस्तार और प्रसार होता है। दूसरों के व्यक्तित्व और जीवन इस प्रसार की भूमि है। हमारी आत्मा में उदित होने वाले आलोक का प्रसार दूसरों की आत्मा में होता है। भाषा और व्यवहार की यह सापेक्षता एक उपचार मात्र है। वस्तुतः सत्य के आलोक के इस प्रसार में एकात्म-भाव का उद्घाटन होता है। आत्मदान के शिवं का सौन्दर्य भी इस स्थिति में अनायास निखर उठता है।

किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इसे हम दूसरे के आलोक स्रोतों का उद्घाटन कहेंगे। अपनी आत्मा के आलोक-दान से दूसरे की आत्मा में उदित होते हुए इस आलोक स्रोत को हम और भी उज्ज्वल तथा प्रखर बना सकते हैं। आलोक का यह आत्मदान शिवं की साधना का प्रथम चरण है। विचार का आरोपण और दूसरे के स्वतंत्र चिन्तन का अवरोध इसमें सबसे बड़ी बाधायें हैं। इन बाधाओं के

मेघों में आलोक का सूर्य तिरोहित हो जाता है। मंगल के मार्ग में अमंगल की सम्भावनायें उपस्थित हो जाती हैं। शैव-तन्त्रों (आगमों) में परम शिव को वेदान्त के ब्रह्म के समान पूर्ण चिन्मय माना है। वेदान्त के प्रज्ञानघन ब्रह्म की भाँति वे अखिल विज्ञानमय हैं। जीवन की समस्त विद्याओं और कलाओं में इस विज्ञान की अभिव्यक्ति होती है। इसीलिए शिव के स्वरूप और जीवन में समस्त विद्याओं का निधान है। वे परम योगीश्वर हैं। भाषा और व्याकरण के आधार भूत माहेश्वर सूत्रों का उद्घाटन भी उनके ही डमरूनाद से हुआ। वे नटराज भी हैं। नृत्यकला के आदि गुरु हैं। जीवन, स्वास्थ्य और आयु के रहस्यों के परम विज्ञाता वे वैद्यनाथ भी हैं। कितने देवता और महावीर उनसे अस्त्र मांगने के लिए जाते हैं। वे युद्ध और अस्त्र विद्या के भी आचार्य हैं। **इस प्रकार पौराणिक शिव की कल्पना में जीवन और संस्कृति की समस्त विद्याओं का समाहार है।** शिव के इस विद्यामय स्वरूप में सत्य के आलोक-लोक और आलोक-दान की भूमिका है। एक ओर जहाँ शिव अखिल विद्यामय हैं, वहाँ दूसरी ओर उपनिषदों में अद्वैत ब्रह्म अथवा आत्मा को 'शिव' माना है। **इसका तात्पर्य यही है कि आत्मा का चिन्मय आलोक सत्य भी है तथा शिव भी। इसीलिए दूसरे की आत्मा में आलोक का प्रसार शिव की साधना का व्यवहार मार्ग है।**

आत्मा का यह आलोकदान आरोपण नहीं है। दूसरे की स्वतंत्रता, समानता और उसके गौरव का मान करते हुए दूसरे की आत्मा के आलोक स्रोतों को जागरण की प्रेरणा देना ही आलोकदान का मंगलानुकूल रूप है। प्राचीन उपनिषदों की शिक्षा-प्रणाली में आत्मीय भावना और स्वतन्त्रता के गौरव से युक्त शिक्षा का एक सरल और पूर्ण रूप मिलता है। उपनिषदों के ऋषि ब्रह्म का उपदेश नहीं देते थे। शिष्यों के साथ उनका पूर्ण सहयोग और आत्मभाव था। धर्म, ज्ञान आदि किसी भी क्षेत्र में अपनी मान्यताओं का आरोपण उनका उद्देश्य न था। उपनिषदों में ऐसे अनेक शिष्यों के उदाहरण हैं, जहाँ ऋषियों ने संकेत और सहयोग से शिष्यों को स्वयं ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा दी है। इस प्रकार आत्मालोक के जागरण और विवेक के संवर्द्धन की प्रेरणा शिवं की साधना की सत्यमयी भूमिका है। दर्शनों का तो उद्देश्य ही इस आलोक का विस्तार है। भारतीय दर्शनों के प्राचीन रूपों में आग्रह और आरोपण बहुत कम हैं। आरम्भ से ही मतों की अनेकरूपता का आदर भारतीय-आत्मा की मौलिक उदारता का प्रमाण है। ब्रह्म-साधना की

विधि में मनन और निदिध्यासन का स्थान स्वतन्त्रता और सम्मान की व्यावहारिक प्रतिष्ठा का प्रमाण है। बुद्ध का दृष्टिकोण आरम्भ से ही स्वतन्त्र विचार के पक्ष में था। जैन अनेकान्तवाद भी मूलतः इसी विचार स्वातंत्र्य और उदारता का समर्थक है। इस प्रकार भारतीय दर्शन की तीनों ही परम्पराओं में विचार की स्वतंत्रता का पर्याप्त समादर है। विचार का आग्रह आगे चलकर दार्शनिक मतभेदों और विरोधों के पैदा होने पर ही बढ़ा। विद्वान ही इस वाद-विवाद में उलझे रहे, साधारण जनता धर्म और दर्शन के क्षेत्र में सदा इस उदार दृष्टिकोण को अपनाती रही है। इतना अवश्य है कि बुद्ध के अतिरिक्त और किसी महात्मा ने विचार स्वातन्त्र्य की आदरणीयता की मुक्त और स्पष्ट भाव से घोषणा नहीं की। अन्य भारतीय महात्मा और आचार्यों ने अपने विचारों को यथासम्भव स्वच्छ रूप में दूसरों के सामने रखा तथा उन विचारों के आग्रह और आरोपण की चेष्टा नहीं की।

यह धर्म और स्वतंत्रता की एक अद्भुत विडम्बना है कि जिन महात्मा बुद्ध ने सिद्धान्त की दृष्टि से वैदिक रुढ़िवाद का खंडन किया तथा स्वतंत्र विचार की घोषणा की, वे बुद्ध ही धर्म के क्षेत्र में स्वतंत्रता के घातक मठवाद के आदि प्रवर्तक बने तथा जिस वैदिक धर्म में उन्हें रुढ़िवाद का संदेह हुआ, उसकी परम्परा में धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में सबसे अधिक स्वतंत्रता का सम्वर्धन हुआ। **धर्म के प्रसार में व्यक्तिगत नेतृत्व तथा प्रचार एवं उपदेश को अपनाने वाले महात्माओं में बुद्ध कदाचित् प्रथम थे।** उनसे पहले धर्म के प्रवर्तकों और संस्थापकों में केवल एक पारसी धर्म के नेता जरथुस्त्र का नाम लिया जा सकता है। अन्य पश्चिमी धर्मों की भाँति जरथुस्त्र मत में भी एक धार्मिक नेता और एक धर्म ग्रंथ मान्य है। यह व्यवितवाद, एकरूपता आदि के द्वारा रुढ़ि का पोषक है। रुढ़ि का अनुरोध आलोक-दान में बाधक है। किन्तु जरथुस्त्र मत रुढ़िवादी धर्मों में प्राचीनतम होने के कारण कदाचित मृदुलतम है। उसमें एक धार्मिक नेता और एक धर्म ग्रंथ की मान्यता अवश्य है, किन्तु विधर्मियों में अपने धर्म के प्रचार तथा आरोपण का आग्रह जरथुस्त्र मत में नहीं है। धार्मिक प्रचार और आरोपण के गढ़ के रूप में मठ की स्थापना भी जरथुस्त्र मत में नहीं है। व्यवित के नेतृत्व के अतिरिक्त धार्मिक प्रचार, संगठन, उपदेश आदि के गढ़ के रूप में मठ की स्थापना सबसे पहले बुद्ध धर्म में पाई जाती है। धर्म प्रवर्तक के अनुयायियों, समर्थकों और संदेशवाहकों तथा धार्मिक प्रचार

एवं संगठन के यंत्रों के रूप में धर्माधिकारियों की एक प्रथक तथा केवल धर्म संरक्षण करने वाली जाति की स्थापना सबसे पहले बौद्ध परम्परा में पाई जाती है। अन्य पश्चिमी धर्मों ने धर्म प्रसार के इन यंत्रों को बौद्ध परम्परा से ग्रहण करके ही अपनाया और बढ़ाया है।

धर्म प्रसार के सभी यंत्र जहाँ एक ओर धर्म के प्रसार में सहायक होते हैं, वहाँ दूसरी ओर वे मनुष्य की चेतना की स्वतंत्रता में बाधक होते हैं तथा इस प्रकार आलोकदान का अपघात करते हैं। ये यंत्र जितने अधिक विपुल, दृढ़, कठोर, समर्थ और उग्र होते हैं, उतना ही अधिक वे आलोकदान का अपघात भी करते हैं। अन्ध-विश्वास का प्रसार ईश्वरीय कोप का आह्वान ईश्वर की अथवा पैगम्बरों की महिमा का अतिरंजन, छल, प्रलोभन, आतंक, आक्रमण आदि अनेक उग्र और अंधकारमय रूपों को धर्मों के इतिहास में धर्म-प्रचार के लिये अपनाया गया है। **धर्म की यह सबसे बड़ी विडम्बना है कि वह अपने प्रचार के लिये उन साधनों को अपनाता रहा है जो धर्म के वास्तविक आध्यात्मिक सत्य के विपरीत होने के कारण उस सत्य का आच्छादन और हनन करते हैं।** धर्म की इस विडम्बना का आरम्भ तो जरथुस्त्र से ही माना जा सकता है, किन्तु प्रचार की जो अन्धकारमयी विभूषिका पिछले दो हजार वर्षों में विश्व में फैलती रही है उसका स्फुट आरम्भ नेताओं के व्यक्तिवाद, मठवाद और प्रचारकों की सेना के रूप में बौद्ध परम्परा में ही हुआ है। ईसाई धर्म परम्परा में धार्मिक प्रसार के ये यंत्र, अधिक दृढ़, अधिक व्यवस्थित, अधिक समंथ और अधिक उग्र बन गये। इस्लाम धर्म के अनुयायिओं की भाँति ईसाईयों ने धर्म-प्रसार के लिये कदाचित् युद्ध और आक्रमण का अवलम्ब नहीं लिया फिर भी अन्य रूपों में वे छल और बल दोनों से विधर्मियों को ईसाई बनने के लिये विवश करते रहे हैं। राजनीतिक और आर्थिक छल का उपयोग उन्होंने अधिक किया है। इस्लाम धर्म के नेताओं ने अपने आदि स्रोत के पूर्व और पश्चिम की दोनों दिशाओं में आक्रमण और युद्ध का मार्ग अपनाया। इस दृष्टि से प्रचार की जिस अनीति का आरम्भ बुद्ध धर्म से हुआ उसकी उग्रतम परिणति इस्लाम धर्म में मिलती है।

धर्म की यह सबसे बड़ी विडम्बना है कि प्रचार की आकांक्षा उसे अधर्म बना देती है। इस अधर्म का आरम्भ उपदेश से और इसका अन्त आक्रमण से होता है। यह आक्रमण बौद्धिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और यौद्धिक अनेक प्रकार

का होता है। सभी रूपों में इसकी उग्रता और इसका अतिचार मनुष्य की स्वतंत्रता और उसकी चेतना के स्वतंत्र विकास का बाधक है। **उपदेश के तुच्छ बीज से ही अधर्म की यह विषबेल धर्म के उद्यान में फैलती है।** उपदेश का अहंकार बड़े-बड़े महात्माओं को छलता रहा है। आक्रमण इसी उपदेश के अहंकार का उग्रतम रूप है। धर्मात्माओं और जिज्ञासुओं को उपदेश की यह आलोचना सुनकर खेद होगा। किन्तु यदि वे विचार कर देखें तो उन्हें विदित होगा कि उपदेश आक्रमण का बौद्धिक और मृदुलतम रूप है। किन्तु उपदेश में छिपा हुआ अहंकार दूसरे के व्यक्तित्व को हीन तथा उसकी चेतना को मन्द बनाकर आलोकदान के शिवम् को तिरोहित करता है। उपदेश के प्रकट रूप में आलोकदान का छल छिपा रहता है, वही ज्ञानियों और जिज्ञासुओं को भ्रान्त करता है। प्रकट रूप में उपदेश ज्ञान का दान है। ज्ञान आलोक है। अतः उपदेश आलोकदान है। **किन्तु उपदेश का अहंकार इस आलोकदान को आरोपण बना देता है। आलोकदान का वास्तविक रूप अपने अहंकार के दर्प को वर्जित कर दूसरे की स्वतंत्रता और उसके सम्मान की रक्षा करते हुए उदारता पूर्वक उसकी चेतना को विकास के लिये प्रेरित करना है। यही प्रेरणा श्रेय अथवा शिवम् का बीज है। इसी बीज से जीवन के नन्दन में श्रेय के अनेक कल्पवृक्ष फलते हैं।** उपदेश से लेकर आक्रमण तक आरोपण के विविध रूपों का अवलम्ब करने वाले व्यक्ति और समुदाय धर्म के क्षेत्र में श्रेय के इस मौलिक रूप की अवहेलना करते आये हैं। **आलोकदान के श्रेय का सबसे अधिक उदार और उज्ज्वल रूप धर्म और संस्कृति की वैदिक परम्परा में मिलता है जो आरोपण, आग्रह, आक्रमण आदि से सबसे अधिक मुक्त रही है।**

काव्य के साथ आलोकदान के इस श्रेय का दोहरा सम्बन्ध है। काव्य के स्वरूप और उसके विषय तथा भाव दोनों में ही आलोक के तिरोधान और आविष्कार दोनों की सम्भावना हो सकती है। कलाओं में रूप की अभिव्यक्ति के द्वारा सौन्दर्य का स्फोट होता है। काव्य में रूप के साथ भाव की अभिव्यक्ति भी होती है। यह अभिव्यक्ति आलोक का ही विस्तार है। सम्प्रेषण का उद्देश्य कला की अभिव्यक्ति को आलोकमय बनाना है। **इस प्रकार कला और काव्य का स्वरूप ही आलोकमय है और आलोकदान उनका धर्म है।** दूसरी ओर काव्य के स्वरूप और विषय में आलोक के संकोच की भी सम्भावनाएँ रहती हैं। भाषागत अभिव्यक्ति की दृष्टि से अभिधा का आलोक सबसे अधिक ऋजु होता है। किन्तु काव्य में अभिधा का

सबसे कम महत्व है। इसका अभिप्राय यही है कि आलोक की ऋजुता काव्य के अनुकूल नहीं है। लक्षणा और व्यंजना में जहाँ एक ओर अन्य प्रकार से भाव की अभिव्यक्ति भी होती है वहाँ दूसरे प्रकार से अर्थ का अपह्नव भी होता है। विचार की बात यह है कि यह अपह्नव कहाँ तक अभिव्यक्ति के आलोक का बाधक होता है। वस्तुतः लक्षणा और व्यंजना के इस अपह्नव का उद्देश्य आलोक को बाधित करना नहीं है वरन् उसे अधिक तीव्र और अधिक सुन्दर बनाना है। व्यंजना के अपह्नव के द्वारा ही अभिव्यक्ति का सौन्दर्य निखरता है। इसकी तुलना में अभिधा का आलोक बहुत मंद होता है। प्रकाश की किरणों की भाँति व्यंजना की वक्रता आलोक को गति देती है किन्तु उसके लिये दिशा की ऋजुता आवश्यक है। व्यंजना के साथ भी काव्य में प्रसाद सम्भव है। अन्य अवान्तर कूटताएँ इस आलोक की बाधक हो सकती हैं। अभिव्यक्ति के रूप का सौन्दर्य और भाषा का माधुर्य अपने सम्मोहन के द्वारा आलोक की प्रेरणा को मंद बनाता है। व्यंजना में चमत्कार को दूर रखकर काव्य इस दोष से बच सकता है। इसके अतिरिक्त विषय के रूप में माधुर्य, शृंगार, भक्ति आदि इस आलोक के बाधक बन जाते हैं। ये भी सम्मोहन के द्वारा ही बाधक बनते हैं। इनके माधुर्य में यदि चेतना की सजगता और उसके स्वतंत्र ओज के संरक्षण का सूत्र बना रहे तो इनके सम्मोहन की बाधा कम हो सकती है। सम्मोहन एक प्रकार से प्रकृति का आकर्षण है। आरोपण से उसका यही अन्तर है कि आरोपण व्यक्ति के अहंकार के प्रतिकूल होता है तथा सम्मोहन व्यक्ति के अहंकार के अनुकूल होता है। किन्तु अहंकार के केन्द्र में प्रकृति की मेघ-मालाओं का आवाहन जीवन को सरस बनाने के साथ-साथ आत्मा के आलोक का आच्छादन भी करता है। **भाषा, अभिव्यक्ति और विषय तीनों ही रूपों में आलोक-दान की उज्ज्वल प्रेरणा को समाहित करने वाला काव्य अधिकतम परिमाण में शिव-काव्य बन सकता है।** यह आलोकदान का भावात्मक रूप है जो धर्म और काव्य दोनों में बहुत कम अपनाया गया है। फिर भी भारतीय धर्म और काव्य के उदार दृष्टिकोण में मनुष्य की स्वतंत्रता का ऐसा आदर मिलता है जिसमें आलोक-दान की बाधाएँ अल्पतम हैं तथा जिसमें आलोक के ग्रहण और विस्तार की सम्भावनाएँ पर्याप्त मात्रा में निहित हैं।

भारतीय धर्म और दर्शन के स्वतंत्र और उदार दृष्टिकोण का प्रभाव भारतीय काव्य पर भी है। अधिकांश भारतीय काव्य विचार के आग्रह आरोपण से मुक्त

हैं। वाल्मीकि रामायण और कालिदास का काव्य, प्रभात और राका के समान उज्ज्वल हैं। कालिदास के बाद काव्य में भाषा और व्यंजना की कुछ दुरूहता अवश्य आगई किन्तु आरोपण और आग्रह उसमें भी नहीं हैं। **हिन्दी के भक्ति काव्य में विचार का प्रबल आरोपण काव्य में प्रथम बार दिखाई देता है। खेद की बात है कि हिन्दी काव्य की श्रेष्ठतम निधि रामचरितमानस इसकी सबसे अधिक** दोषी है। अन्य सब देवताओं और राक्षसों का उपहास और अपमान करके राम को परब्रह्म सिद्ध करने का जैसा आग्रह रामचरितमानस में दिखाई देता है, वैसा धार्मिक विवादों में जूझने वाले सन्तों और दार्शनिक विवादों में उलझने वाले आचार्यों में भी मिलना कठिन है। **सूरदास के काव्य में इतना आग्रह नहीं है। उनके पदों में भक्ति की प्रेममयी मन्दाकिनी कहीं अधिक प्रसन्न भाव से प्रवाहित हुई है।** तुलसीदास का रामचरितमानस जहाँ अन्य अनेक दृष्टियों से हिन्दी-काव्य की सर्वोत्तम विभूति है, वहाँ आलोकदान की दृष्टि से कदाचित् सबसे अधिक दोषपूर्ण है। अपने मत का इतना प्रबल आग्रह और दूसरे देवता, राक्षस तथा राम-कथा में श्रद्धा न रखने वाले मानवों का जितना अपमान रामचरितमानस में किया गया है, उतना कदाचित ही किसी धार्मिक काव्य में मिलेगा। बालकाण्ड के आरम्भ में ही शिव का उपहास शैव और वैष्णव धर्मों के समन्वय में उनकी पक्षपातपूर्ण और संकुचित नीति का द्योतक है। बाली और परशुराम जैसे महारथियों का भी तुलसीदास ने बड़ी अशिष्टता से अपमान किया है। बाली के साथ छल और अन्याय करके तुलसी के राम जो अशोभन उत्तर देते हैं, वह उनके शील-चन्द्रमा का कलंक है। राम के उत्तर की तुलना में बाली का प्रश्न कहीं अधिक शोभन और शालीन है। 'नाथ' कहकर नम्रतापूर्वक अपने प्रति अन्याय का समाधान माँगने वाले को 'शठ' कहकर उसकी भर्त्सना करना किस शील का लक्षण है? यह राम और तुलसी के भक्तों से पूछना चाहिए। जिन्हें रामकथा में श्रद्धा नहीं है, उनकी इस अरुचि को पूर्व पापों का फल बताना कैसा धार्मिक शील है? यह भी विचारणीय है (तुलसी पिछले पाप से नहीं हरि कथा सुहाय)।[४०] धर्म का तत्व बहुत गहन और विस्तृत है, भगवान और भक्ति के रूप अनन्त हैं। ऐसी स्थिति में भगवान के एक रूप की उपासना और उनकी एक कथा में श्रद्धा न होने को पाप का फल कहना नैतिक अशालीनता ही नहीं धार्मिक अनुदारता भी है। इन अभद्रताओं की ओर हमारे साहित्य के इतिहास में कभी इंगित नहीं किया गया। इससे स्पष्ट

है कि स्वतन्त्र और उदार विचार तथा मन के मुक्त आलोक का अपने मत के अतिरंजित आग्रह और अभद्र आरोपण के दृष्टिकोण को लेकर चलने वाली कृतियों में हमारे विवेक का तिरोधान करने की कितनी अद्भुत शक्ति है।

भक्ति काव्य में आलोकदान का बाधक आरोपण प्रायः मिलता है। इसका एक कारण तो भक्त कवियों की अपने इष्ट देवता के प्रति अतिशय श्रद्धा है। यह श्रद्धा अपने आप में इस आरोपण का हेतु नहीं है। वास्तविक रूप में यह श्रद्धा एक अत्यन्त उदार और विनम्र भाव है। अतः यह आरोपण का कारण नहीं बन सकती किन्तु जब भक्ति में भी अहंकार का लेश रह जाता है तो उसके संयोग से यह श्रद्धा आरोपण की ओर अभिमुख होती है। धर्म प्रचार और धर्म परिवर्तन में विश्वास रखने वाले सम्प्रदायों में यही हुआ है। धर्म की इसी विडम्बना का कुछ प्रभाव भक्ति काव्यों में भी मिलता है। यह प्रभाव उन्हीं स्थलों पर आया है जहाँ भक्त और कवि अपने इष्ट देवता को अन्य देवताओं से श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए उत्सुक हुए हैं अथवा जहाँ वे अपने देवता के प्रति दूसरों की श्रद्धा आकर्षित करने के लिये प्रयत्नशील हुए हैं अन्यथा जहाँ अपने देवता के प्रति केवल उनकी भक्ति का प्रसंग है वहाँ भक्ति-काव्य आरोपण के दोष से मुक्त है। भक्ति के माधुर्य में सम्मोहन का प्रभाव हो सकता है। उत्तम भक्ति-काव्य में वह स्वाभाविक है। शृंगार आदि काव्यों के सम्मोहन की भाँति यह सम्मोहन भी किसी सीमा तक आलोक का बाधक हो सकता है। किन्तु शृंगार के सम्मोहन की भाँति यह सम्मोहन केवल सम्मोहन नहीं है। इस सम्मोहन में कुछ उदात्त और उदार भाव भी उदित होते हैं जो आत्मा को विशद बनाकर उसके आलोक को अनावृत करते हैं। श्रेष्ठ भक्त कवियों में भाव के द्वारा आत्मा को आलोकित करने वाले स्थल बहुत मिलेंगे। इन भावों का आलोक बहुत मधुर और उज्ज्वल होता है। विकासशील और सृजनात्मक आलोक की प्रेरणा चाहे भक्ति-काव्य में न हो किन्तु आलोक के इस रूप की सम्भावना के लिये उसमें अवकाश रहता है। श्रद्धा और भक्ति के उदार भाव लोक व्यवहार में इस सम्भावना के स्रोत बन सकते हैं। गीता के 'सर्वभूतहिते रतः' में भक्ति की इस मंगलमयी सम्भावना का सूत्र मिलता है।

भक्ति काव्य में प्रसंगतः नैतिक आचार के तत्व मिलते हैं। इन प्रसंगों के नैतिक संकेत चेतना में नैतिक रहस्यों को उद्घाटित करते हैं। इस दृष्टि से भक्ति-काव्यों के ये नैतिक संकेत पाठकों को आलोक का दान करते हैं। उपदेश के रूप

के अतिरिक्त इस आलोक में और कोई आरोपण नहीं रहता। नीति की उक्तियों मात्र में उपदेशक का अनुषंग न होने के कारण तथा इन उक्तियों के निर्वैयक्तिक होने के कारण नीति के उपदेश का आरोपण अत्यन्त मंद और प्रभावहीन हो जाता है। धर्म और भक्ति के आरोपण की तुलना में वह नगण्य है। नैतिक शिक्षा के रूप में रचित नीति काव्य भी व्यावहारिक जीवन के रहस्यों का उद्घाटन कर आलोक का प्रसार करता है। अभिधा की प्रधानता और व्यंजना की अल्पता इस आलोक को ऋजु बनाती है। सौन्दर्य की दृष्टि से चाहे नीति के ये निर्वचन अधिक श्रेष्ठ न हों किन्तु आलोकदान के श्रेय की दृष्टि से ये सम्पन्न होते हैं। महाकाव्यों में ये आलोक के कण बिखरे हुए मिलते हैं। इनमें व्यंजना के सौन्दर्य की अल्पता श्रेय और सौन्दर्य के समन्वय के चिरंतन प्रश्न की ओर संकेत करती है। नीति के वचनों में प्रसाद गुण की प्रधानता होती है किन्तु माधुर्य की मन्दता के कारण ये आकर्षक नहीं होते तथा ओज की अल्पता के कारण इनमें प्रेरणा नहीं होती। इसीलिये महत्वपूर्ण तत्वों को प्रकाशित करते हुए भी ये नीति के निर्वचन पाठकों को बहुत कम लाभान्वित कर सके हैं।

शृंगार के काव्य में भक्ति-काव्य की भाँति कोई सिद्धान्तों का आरोपण नहीं होता किन्तु सौन्दर्य एवं माधुर्य का सम्मोहन उसमें बहुत होता है। वह इतना आकर्षक और उन्मादक होता है कि आलोक को आच्छादित कर देता है। शृंगार का भाव अत्यन्त तीव्र और निभृत रूप में व्यक्तिगत होता है। **शृंगार का सम्मोहन, व्यक्तिवाद और रहस्यवाद ये सभी आलोक के विस्तार के विपरीत हैं।** शृंगार में भक्ति के समान उदार भावों का भी अवकाश नहीं होता। भक्ति काव्य में भी ये उदार भाव बहुत कम फलित हुए हैं। अधिकांश भक्ति और भक्ति-काव्य सम्मोहन और संकोच का ही कारण बने हैं। यही कारण है कि मध्यकाल की भारतीय जनता भक्ति और शृंगार के सम्मोहन में डूबी रही तथा जीवन के जागरण और उत्थान का कोई आलोकमय मार्ग नहीं खोज सकी। भक्ति और शृंगार के सम्मोहन में आत्मा के आलोक का संकोच होने के कारण वह पराजित जीवन की कटु यथार्थताओं की गम्भीरता को भी आँख खोल कर न देख सकी और न उनके उपचार का कोई उज्ज्वल एवं ओजस्वी मार्ग बना सकी। वैसे अपने स्वरूप में भक्ति और शृंगार का काव्य बहुत उज्ज्वल है तथा उसकी मधुर व्यंजना में उसका विषय भव्य रूप में प्रकाशित हुआ है। आलोकदान की दृष्टि से भक्ति और

शृंगार के काव्य की सीमाओं का संकेत ऊपर इस काव्य के स्वरूप और विषय की दृष्टि से नहीं वरन् जीवन के गौरव के व्यापक दृष्टिकोणों से किया गया है। इस दृष्टिकोण में जीवन के स्वातंत्र्य और उत्कर्ष के साथ-साथ उसकी विकासशील सृजनात्मक परम्परा का अनुरोध अधिक है।

भक्ति और शृंगार के काव्य के समान ही काव्य में सम्मोहन का एक दूसरा रूप आधुनिक हिन्दी के छायावादी और रहस्यवादी काव्यों में मिलता है। इस आधुनिक काव्य का सम्मोहन भक्ति और शृंगार के काव्य से अधिक अनिर्वचनीय है। इस अनिर्वचनीयता के कई कारण हैं। कुछ आलोचकों ने इस काव्य पर अस्पष्टता का भी दोषारोपण किया है। यह अस्पष्टता एक प्रकार से काव्य के स्वरूप में भी आलोक की बाधक है। उज्ज्वल व्यंजना की भाँति यह अभिव्यक्ति के आलोक को तीव्र नहीं बनाती वरन् वह इसे धुँधला बनाती है। **छायावाद और रहस्यवाद के काव्य में प्रभात का उज्ज्वल आलोक कम है और उषा एवं सन्ध्या का धूमिल आलोक अधिक है।** किन्तु छायावाद और रहस्यवाद के सम्मोहन की अनिर्वचनीयता का अधिक गम्भीर कारण सूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय भावों और रूपों के प्रति कवियों का विशेष आकर्षण है। इसी सूक्ष्म और अतीन्द्रिय तत्व ने 'असीम' और 'अनन्त' बन कर छायावाद को रहस्यवाद का रूप दिया। हिन्दी के इस आधुनिक काव्य में भी भक्ति और शृंगार के काव्य के समान सम्मोहन ही अधिक है। किसी भी रूप में जीवन के गम्भीर रहस्यों का उन्मीलन भी 'कामायनी' के अतिरिक्त अन्य गीत काव्य में कम मिलता है। इसका एक कारण छायावाद और रहस्यवाद के भावों में कल्पना की प्रधानता है। आधुनिक कवियों की यह कल्पना शीलता भक्ति और शृंगार के काव्य की उसी परम्परा में है जिसमें अधिकांश कवि जीवन की व्यापक यथार्थताओं से अप्रभावित रहे हैं। **हिन्दी काव्य की ये तीनों धाराएँ सम्मोहन और कल्पना के विलास में ही अधिक लीन रही हैं।** जीवन की व्यापक और विकासशील यथार्थताओं की ओर ये विमुग्ध कवि ध्यान नहीं दे सके। छायावादी और रहस्यवादी काव्य की व्यंजना की विचित्र भंगिमाएँ इस काव्य के सम्मोहन को और बढ़ाती रही हैं। आधुनिक काव्य में जीवन के ऋजु और उज्ज्वल आलोक के विस्तार का आरम्भ बच्चन और दिनकर के काव्य से हुआ। इसके पूर्व वह मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में मिलता है। **दिनकर के काव्य में इस आलोक का अधिक उत्कर्ष हुआ है। रेणुका, कुरुक्षेत्र और उर्वशी में दिनकर के काव्य में**

क्रमशः प्रभात के मधुर, मध्याह्न के प्रखर और संध्या के स्वप्निल आलोक के रूप मिलते हैं। प्रगतिशील काव्य में जीवन का यह आलोक यथार्थ की अनेक उपेक्षित वीथियों में बिखर पड़ा है। कल्पना और व्यंजना दोनों के सौन्दर्य के सम्मोहन के विपरीत यथार्थ का उग्र निरूपण होने के नाते यह प्रगतिवादी काव्य एक प्रकार से छायावाद और रहस्यवाद की उग्र प्रतिक्रिया है। प्रयोगवादी कहे जाने वाले काव्य में प्रायः व्यंजना की दुरूहता में आलोक की ऐसी वक्रता दिखाई देती है जैसी पानी के भीतर प्रकाश की किरणों की होती है। **प्रयोगवादी काव्य में सबसे पहिले काव्य का वह रूप आया है जिसमें व्यंजना के प्रकाश की किरणें खंडित होकर बिन्दुल रेखाओं के समान बन गई हैं।** आधुनिक चित्रकला की भाँति इस नई कविता की अभिव्यक्ति कूट और दुरूह है। अतः व्यंजना की दृष्टि से इसका आलोक उन दूरवर्ती तारों के आलोक के समान है जो अभी तक भूमि पर नहीं पहुँच सका है अथवा विद्युत के आलोक की उन वंकिम रेखाओं के समान है जो चेतना के मार्ग को प्रकाशित करने के स्थान पर उसे अपनी प्रखरता से चकाचौंध कर देता है। विषय की दृष्टि से नई कविता जीवन के गम्भीर रहस्यों की खोज का प्रयास करती है किन्तु उसकी खोज के मार्ग जीवन के कान्तार में अलक्षित ही रहते हैं। उसकी खोज की गुफाओं की गहराइयों में मार्ग और विषय (व्यंजना और वस्तु) दोनों का दर्शन दुष्कर हो जाता है। अधिकांश नई कविता की यही गति है, यद्यपि भक्ति, शृंगार और नीति के काव्यों की भाँति नई कविता में भी स्निग्ध और मधुर आलोक के दीपक मिल जाते हैं।

अस्तु आलोक का मुक्त और उदार प्रसार शिव-काव्य का प्रथम लक्षण है। वस्तुतः यह सत्य काव्य का लक्षण है, क्योंकि आलोक सत्य का स्वरूप है। सत्य शिव का आवश्यक आधार है और शिव सत्य की पूर्णता है। इसीलिए शैवागमों में शिव को चिन्मय और ज्ञान-स्वरूप माना गया है तथा वेदान्त में प्रज्ञानघन ब्रह्म को 'शिव' कहा है। यह आलोक का उदार प्रसार दूसरे को चिन्मय और स्वतन्त्र मानकर ही हो सकता है। **बालक तक में स्वतन्त्र चेतना का यह स्फुरण आरम्भ से ही दिखाई देता है, उसके इस स्फुरण में स्नेह और उदारता-पूर्वक योग देना आत्म-दान का प्रथम पक्ष और शिवं की साधना का प्रथम चरण है।** ज्ञान इस आलोक का सामान्य स्वरूप है। अवगति उस ज्ञान की आत्मगत अनुभूति है। इस ज्ञान के प्रकाश में पदार्थों, तथ्यों, सिद्धान्तों और जीवन के मूल्यों के यथार्थ रूप का

उद्घाटन होता है। सामान्य लौकिकज्ञान में इन सबमें एकरूपता होती है। अतः इनके स्वरूप की अवगति के लिए इनका परस्पर विवेक आवश्यक है। विवेक अखण्ड चेतना की व्यावहारिक और तार्किक शक्ति है। यह स्पष्ट है कि विवेक द्वारा अनेक रूपों का भेद होता है। विवेक के भेद-मूलक होने के कारण एक बार तो वह शिवं के अभेदमूलक अद्वैत भाव से विपरीत प्रतीत होता है। दो विपरीत तत्वों का समन्वय कठिन है, इसीलिए कला और काव्य के साथ तर्क और विचार के विरोध की चर्चा रहती है। प्रायः लोग भावना को काव्य का स्रोत मानते हैं। भावना का आधार आत्मभाव है। उसका धर्म एकात्मता है। यह एकात्मता भेद के विपरीत है। विचार और विवेक का धर्म भेद है। भावना पर आश्रित होने पर ही कविता में आत्मभाव की एकता सुरक्षित रह सकती है। कदाचित् इसी धारणा को लेकर आधुनिक हिन्दी में गीत काव्य की रचना अधिक हो रही है और गीतकार अल्हड़ और मुक्त भावना में बहते रहने का अभिनय करते हैं। इसी धारणा के कारण इन कवियों में अध्ययन और चिन्तन की अपेक्षा सी दिखाई देती है।

किन्तु वस्तुतः यह भ्रम है। भावना में एकात्मता के अनुभावन की अद्भुत शक्ति अवश्य है। किन्तु इस एकात्मभाव का विचार विवेक और भेद से कोई मौलिक विरोध नहीं है। एकात्मता भिन्न तत्वों अथवा व्यक्तियों में आन्तरिक एकता का भाव है। भेद और विभिन्नता इस एकात्मता की विभूति है। भेद और विविधता की अवगति को यथार्थ मानते हुए भी एकात्मता आनन्द की सृष्टि करती है। अतः विवेक और भावना में विरोध के स्थान पर सामंजस्य अपेक्षित है। यूरोपीय अध्यात्मवादी ब्रैडले ने विचार और भावना के इस सामंजस्य को पूर्ण सत्य का लक्षण माना है। वेदान्त में यद्यपि अनुभूति की एकात्मता पर अधिक वल है, किन्तु जीवन्मुक्ति से यह स्पष्ट है कि इस एकात्मभाव से विचार और व्यवहार के भेद का पूर्ण सामंजस्य है। आत्मा की अखण्ड एकता का तर्क-विधि से निदर्शन करने के लिए ही वेदान्त में अनेक विध प्रपंच का 'नेति नेति' करके निराकरण किया गया है। किन्तु यह निराकरण वेदान्त-शिक्षा का उपचार मात्र है। वस्तुतः इस एकात्मता का स्वरूप अनेक-विध प्रपंच में भी तथावत् रहता है। भेद के निराकरण की प्रक्रिया केवल एकात्मता के अभेद को ग्राह्य बनाने के लिए है। भेद रहित एकात्मता तो शुन्य-कल्प प्रतीत होती है। इसी आशंका से

शंकराचार्य ने सगुण ब्रह्म को भी वेदान्त में स्थान दिया। इसी सम्भावना का फल बौद्ध मत का शून्यवाद हुआ। सत्य यह है कि अनुभूति और भावना की एकात्मता का भेद और विविधता से कोई विरोध नहीं है। भेद की सम्पन्नता में ही एकात्मता का सजीव रूप निखरता है। इसीलिए रामानुजाचार्य ने अद्वैत को सविशेष माना है। समाधि की आन्तरिक अनुभूति में अखण्ड एकात्मता अपने कैवल्य में विभासित होती है। कवियों की वे तन्मय अनुभूतियाँ जिनमें कविता का अनुभावन होता है, योगियों की समाधि के तुल्य ही हैं। इतना अन्तर है कि जहाँ योग और वेदान्त की समाधि में भेदमूलक प्रपंच का पूर्णतः निरास हो जाता है, वहाँ कविता की तन्मय अनुभूति में इस प्रपंच का अनुषंग बना रहता है। सविकल्प समाधि की तन्मयता की भाँति इसमें भेद का अनुभव नहीं होता। कला और काव्य के क्षेत्र में अध्यात्मवाद की प्रतिष्ठा करने वाले क्रोचे भी अनुभूति में विषय का अनुषंग मानते हैं; यद्यपि उनका मत है कि अखण्ड चेतना सृजनात्मक है और वह अपने विषय की स्वयं सृष्टि करती है। यह सृजन ही चेतना की अभिव्यंजना है। सृजन की आत्माभिव्यक्ति चेतना की एकात्मता को अखण्डित रखती है। इतना स्पष्ट है कि कवि की अनुभूति योग अथवा वेदान्त की आत्मगत अनुभूति की भाँति पूर्णतः प्रपंच-शून्य नहीं होती। **समाधि अथवा कैवल्य की अपेक्षा काव्य की अनुभूति जीवन्मुक्ति के अधिक निकट है। काव्य की एकात्मता प्रपंच से सम्पन्न रहती है, इसीलिए योग और वेदान्त की अपेक्षा काव्य में लोक की आत्मा को प्रभावित करने की अधिक शक्ति है।** इसीलिए सत्य का वास्तविक और पूर्ण स्वरूप 'निष्प्रपंच' ब्रह्म नहीं है वरन् प्रपंच की अनेक रूपता में ओतप्रोत ब्रह्म का वह स्वरूप है, जिसे तर्क-युग में 'सप्रपंच' कहा जाने लगा। किन्तु जिसे उपनिषद् युग में 'कवि' कहा जाता था। जिस प्रकार कवि की तन्मय भावना में अनेक-रूप प्रपंच की एकात्म भावना पश्यन्ति वाक् के रूप में आलोकित होकर मध्यमा के मार्ग से वैखरी में मुखरित हो उठती है, उसी प्रकार विश्व कवि (ब्रह्म) की अखण्ड चेतना में प्रपंच की आत्मा अनेक समृद्ध रूपों में साकार हो उठती है।

जहाँ तक काव्य के व्यक्त रूप का प्रश्न है वहाँ तक यह स्पष्ट है कि काव्य की व्याख्या उसे विविध रूपात्मक भाषा को अनुप्राणित करने वाला एकात्मभाव मानकर ही हो सकती है। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार ब्रह्म का अनेक-रूप प्रपंच से सहज सामंजस्य है, उसी प्रकार कविता की भावानुभूति की

एकात्मता का भी शब्दों की अनेकरूपता से सहज सामंजस्य है। भाषा का विधान विचार और विवेक की भेद मूलकता के अधिक अनुकूल है। किन्तु इस भेद मूलक भाषा में अनुभूति की एकात्मता को व्यक्त करने की भी अद्‌भुत शक्ति है। वस्तुतः भाषा की अनेकरूपता में ही अर्थ और अनुभूति की आत्मा समृद्ध रूपों में साकार होती है। अतः जिस प्रकार भाषा की अनेकरूपता से अनुभूति की एकात्मता का कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार विचार और विवेक की भेद-मूलकता से भी काव्य की आत्मा का विरोध नहीं है। सृष्टिवाद की दृष्टि से जहाँ वेदान्त और व्याकरण दर्शनों में जगत और भाषा के प्रपंच को 'विवर्त' कहा जाता है, वहाँ तत्व-दृष्टि के पक्ष से हम विश्व प्रपंच और भाषा को अखण्ड आत्म-तत्व की 'व्यंजना' का पद दे सकते हैं। एक दृष्टि से जो विवर्त है, वह दूसरी दृष्टि से व्यंजना है। वेदान्त और व्याकरण दर्शन में विवर्तवाद के आग्रह का कारण केवल इतना ही है कि सृष्टिवाद के सम्बन्ध में कारणवाद को स्वीकार करने पर ब्रह्म (शब्द) के अखण्ड एकात्मभाव में परिणाम अथवा विकार को अंगीकार नहीं किया जा सकता। वेदान्त की परिभाषाओं में अविकारी कारण से उत्पन्न होने वाली सृष्टि को 'विवर्त' कहा जाता है। ब्रह्म-मुख से सृष्टि का विवाद उठाने पर ही ये कठिनाइयाँ पैदा होती हैं। प्रपंचमुख से आत्मतत्व का अनुसंधान करने पर लोक और भाषा का प्रपंच अखण्ड एकात्म तत्व की व्यंजना बन जाता है। शैव और शक्ति तन्त्रों में विमर्श को शिव की शक्ति अथवा उनका स्वरूप मान लेने के कारण यह कठिनाइयाँ पैदा नहीं होतीं। व्याकरण दर्शन में भी ब्रह्म-कल्प परावाक् का पश्यन्ती और मध्यमा के मार्ग से वैखरी वाणी से सामंजस्य इसी प्रकार हो सकता है।

ज्ञान के आलोक प्रसार में जहाँ एक ओर पदार्थों और सिद्धान्तों के तथावत् रूपों की अनेकता का उद्‌घाटन होता है, वहाँ दूसरी ओर जीवन की आन्तरिक एकात्मता का भी प्रकाशन होता है। अतः जिस प्रकार विमर्श शक्ति से परम शिव का पूर्ण सामंजस्य अथवा तादात्म्य है, उसी प्रकार शिवं के एकात्मभाव अथवा आत्मदान से विवेक और विचार की भी पूर्ण संगति है। अतः शिव-काव्य में उपादान और स्वरूप दोनों ही रूपों में आलोक का आधान अपेक्षित है। उपादान और स्वरूप का भेद काव्य की एकता में समाहित हो जाता है। आलोक का उपादान काव्य के स्वरूप से एकाकार होकर ही पूर्ण और सफल काव्य की सृष्टि करता है। अतः उपादान के रूप में ग्रहीत विचार और विवेक का आलोक काव्य

के रूप में एकाकार होकर विवेचन की शक्ति का उद्भावन करते हुए भी एकात्मता का अनुभावन करता है। जहाँ आलोक के उपादान में रूप की प्रधानता रहती है, वहाँ विज्ञान, शास्त्र अथवा दर्शन की सृष्टि होती है। आलोक के उपादान से रहित काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती। जहाँ रूप और अभिव्यक्ति की भंगिमाओं की प्रधानता होती है, वहाँ आलोक का मुक्त प्रसार नहीं होता। अतिरंजित अभिव्यक्ति के अपारदर्शी झाड़फानूसों में आलोक की मन्द आभा मनोहर बनकर मुग्ध करती है। आलोक की शक्ति की अपेक्षा वह रूप का सम्मोहन अधिक उत्पन्न करती है।

——०——

अध्याय ३९

आलोकदान के बाधक

आलोक चेतना का स्वरूप है। दर्शनों में चेतन आत्मा को प्रकाश स्वरूप मानते हैं। प्रकाश का लक्षण विस्तार है। वह अपने और अन्य पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करता है। इन प्रकाशित पदार्थों को भी प्रकाशित होने के कारण 'लोक' कहते हैं। आलोक का 'लोक' प्रकाश की प्रकाशमानता और पदार्थ की प्रकाशनीयता दोनों को लक्षित करता है। **प्रकाश अथवा आलोक अपने स्वरूप में उज्ज्वल, ऋजु, गतिशील और विस्तारशील है।** मध्याह्न की धूप के समान तीव्र होने पर प्रकाश उज्ज्वल दिखाई देता है। प्रभात और सन्ध्या में कुछ मन्द होने पर ही उसमें अरुणिमा झलकती है। इसीलिए भारतीय परम्परा में प्रकाश का वर्ण उज्ज्वल माना है। प्रकाश से सम्बन्धित होने के कारण कवि-समय में दृष्टि का वर्ण भी उज्ज्वल माना गया है। प्रकाश गतिशील और विस्तारशील होता है। उसका चतुर्दिक विस्तार होता है। प्रकाश की किरणों की गति ऋजु होती है। वे सरल रेखाओं में चारों ओर विकीर्ण होती हैं। तेज के रूप में यह आलोक सृष्टि का सृजनात्मक तत्व भी है। तेज के प्रभाव से होने वाले परिवर्तनों से ही विश्व में वनस्पतियों और वसुओं का विकास एवं उनकी सफलता होती है। मनुष्य की चेतना अथवा आत्मा में इसी आलोक का उद्रेक, ज्ञान, कला, संस्कृति आदि के विकास का मूल स्रोत है। इसीलिए शैव दर्शनों में शिव अथवा आत्मा की पारिभाषिक संज्ञा 'प्रकाश' है।

आत्मिक और प्राकृतिक दोनों ही रूपों में आत्मदान अर्थात् अपनी विभूति का दान करना प्रकाश का सहज लक्षण है। चेतना के आलोक के इसी लक्षण से प्रेरित होकर मनुष्य ज्ञान और भाव के वितरण में प्रवृत्त होता है। इसी प्रवृत्ति के द्वारा ज्ञान, सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ है। किन्तु दूसरी ओर प्रकाश का यह वितरण आत्म-प्रकाशन अर्थात् अपने स्वरूप का प्रकाशन भी है। साहित्य की भाषा में इसे आत्माभिव्यक्ति कह सकते हैं। शैव तंत्रों की भाषा में चेतना के आत्मदान को प्रकाश का विमर्श और इस आत्माभिव्यक्ति को विमर्श का प्रकाश

कहना होगा। प्रकाश चेतना की अन्तर्मुखी वृत्ति है और विमर्श उसकी बहिर्मुखी वृत्ति है। प्रकाश अहंकार के विन्दु में केन्द्रित होता है और विमर्श अनेक विन्दुओं में विकीर्ण होता है। इसीलिए उसको विसर्ग भी कहते हैं। कला, साहित्य और संस्कृति में चेतना की इन दोनों वृत्तियों की प्रेरणा रहती है। अहंकार का केन्द्र आत्मा की इस उभयमुखी प्रक्रिया का सन्धि स्थलं अथवा द्वार है। वह विश्व के डमरू का मध्य है जहाँ से दोनों ओर प्रकाश और विमर्श की प्रक्रियाएँ प्रसारित होती हैं। इस प्रक्रिया की सफलता अहंकार का द्वार दोनों ओर खुला रहने पर ही होती है। दोनों ओर खुला रहने पर द्वार दिखाई भी नहीं देता है और द्वार की अपेक्षा दोनों ओर की प्रक्रियाओं का ही महत्व अधिक रहता है। वन्द होने पर ही द्वार के स्वरूप में दृढ़ता आती है तथा उसका स्वरूप कठोर हो जाता है और वह दोनों ओर की गति का अवरोधक बन जाता है। यही बात अहंकार के द्वार पर भी घटित होती है। अहंकार के कठोर होते ही प्रकाश और विमर्श दोनों ही प्रक्रियायें शिथिल हो जाती हैं और चेतना का धर्म क्षीण हो जाता है। मनुष्य के जीवन में कला और साहित्य में भी यह अहंकार का केन्द्र प्रायः उसे आकर्षित करता है। कला और साहित्य में आलोकदान के शिवम् के प्रसंग में अहंकार की यह बाधा गम्भीरता-पूर्वक विचारणीय है। इसके प्रभाव से आलोकदान का विमर्श शिथिल हो जाता है तथा दूसरी ओर आत्मा का अन्तर्मुख प्रकाश भी वन्द हो जाता है। इतना अवश्य है कि चेतना के आलोक का स्रोत अन्तःकरण में प्रवाहित होने के कारण बन्द कमरे की रोशनी की तरह आत्मिक प्रकाश पूर्णतः तिरोहित नहीं होता, फिर भी वह मंद अवश्य हो जाता है। विचार करने पर कला और साहित्य में प्रकाश और विमर्श दोनों के प्रकर्ष और अपकर्ष का समान क्रम मिलेगा।

काव्य के स्वरूप में प्रकाश और विमर्श दोनों का ही समवाय रहता है। वस्तुतः यह समवाय शब्द अथवा वाणी के रूप में ही निहित है। शब्द के स्फोट से एक ओर आत्मा में प्रकाश का विस्तार होता है तथा दूसरी ओर प्रकाश का वहिर्मुख वितरण होता है। शब्द भी प्रकाश के समान विस्तारशील है। श्रोताओं के ग्रहण में शब्द के प्रकाश का वितरण सफल होता है। सरस्वती के शुभ्र अथवा शुक्ल रूप में शब्द अथवा वाणी की प्रकाश रूपता को ही आकार दिया गया है। सामान्य रूप से शब्द के प्रयोग और काव्य की रचना दोनों में आत्माभिव्यक्ति

तथा प्रकाश का विस्तार ये दोनों ही प्रयोजन रहते हैं। इतना अवश्य है कि प्रायः इन दोनों रूपों में ऐसा साम्य नहीं रहता जैसा कि शैव दर्शन में अभीष्ट माना गया है। प्रकृति के प्रभाव के कारण प्रायः मनुष्य का अहंकार कठोर हो जाता है और वह प्रकट रूप में विमर्श अर्थात् प्रकाश के वितरण का विरोध करता है। ऐसी स्थिति में आत्माभिव्यक्ति भी आत्मा की अभिव्यक्ति नहीं वरन् अपने अहंकारमय रूप की अभिव्यक्ति बन जाती है। 'काव्य-प्रकाश' का 'काव्यं यशसे', इसी रहस्य का संकेत करता है। मम्मटाचार्य ने यश को काव्य का प्रथम प्रयोजन मानकर एक ओर काव्य की साधना के मूल्य को कम किया है, किन्तु दूसरी ओर उन्होंने काव्य रचना में प्रभाव रखने वाली एक प्रबल प्राकृतिक प्रेरणा को भी उद्घाटित किया है। यश को हम अहंकार का फल अथवा लक्ष्य कह सकते हैं। वह अहंकार की सामाजिक सफलता है। हमारे लौकिक जीवन के प्राकृतिक पक्षों में प्रायः अहंकार की प्रेरणा रहती है। किसी सीमा तक यह आवश्यक है। किन्तु अहंकार और प्रकृति में ही मनुष्य का जीवन पूर्ण नहीं है। जीवन के सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पक्ष केवल इनके द्वारा सम्पन्न नहीं हो सकते। ये संस्कृति और अध्यात्म के आधार बन सकते हैं किन्तु संस्कृति और अध्यात्म की सफलता के लिये प्रकृति और अहंकार को संस्कृति और अध्यात्म के अनुकूल बनना होगा, प्रकृति को अपना संस्कार और उन्नयन करना होगा तथा अहंकार को अपना द्वार खोलना होगा। इसके बिना सांस्कृतिक साधना सम्भव नहीं हो सकती। कवि और कलाकारों में चाहे प्रकृति और अहंकार का प्रभाव शेष रह जाता हो (उसे निःशेष करना अत्यन्त कठिन है); किन्तु जब तक यह प्रभाव कुछ कम न होगा और आत्मा के प्रकाश के लिए अवकाश न देगा तब तक साहित्य, कला और संस्कृति की साधना सम्भव नहीं हो सकती। जो प्रकृति और अहंकार से अभिभूत रहते हैं, वे इस साधना की ओर अभिमुख नहीं होते। जो इस साधना की ओर अभिमुख होते हैं उनमें अन्य जनों की अपेक्षा प्रकृति और अहंकार का प्रभाव इतना कम होता है कि वह आत्मा के प्रकाशन को अवकाश देता है। उनके अहंकार का द्वार यदि पूरा खुला नहीं रहता तो पूरा बंद भी नहीं रहता। **अहंकार का द्वार जितना खुला रहता है उतना ही कलाकार की आत्मा का प्रकाश अधिक विकीर्ण होता है। द्वार की उपमा की सीमा को छोड़कर यह कहना होगा कि दूसरी ओर अहंकार का द्वार जितना अधिक खुला रहता है उतना ही अधिक उज्ज्वल आत्मा का आन्तरिक प्रकाश होता है।**

मनुष्य का जीवन प्रकृति और आत्मा के संघर्ष का जीवन है। आत्मा इस संघर्ष में अधिक सक्रिय नहीं है। प्रकृति की सक्रियता के कारण प्रकृति का ही प्रभाव अधिक रहता है। किन्तु दूसरी ओर आत्मा का प्रकाश कभी तिरोहित नहीं होता। जिसके लिये जितना सम्भव होता है उतना ही उसका अहंकार का द्वार खुलता है, वैसा ही प्रकाश और विमर्श का साम्य उसके लिये सम्भव होता है। इसी सम्भावना के अनुरूप कला और काव्य का आलोक भी सम्भव होता है। **स्वरूप की दृष्टि से आलोकदान प्रत्येक रचना का लक्ष्य है। विषय और उद्देश्य के रूप में वह प्रायः कम अपनाया गया है क्योंकि अहंकार से प्रभावित आत्माभिव्यक्ति प्रायः काव्य की प्रेरणा रहती है।** मनुष्य के नाते कवि पर प्रकृति का प्रभाव भी रहता है। अहंकार का संकोच कला और काव्य के आत्मदान में सबसे अधिक बाधक रहा है। यह अहंकार की बाधा काव्य के स्वरूप-गत सौन्दर्य को भी क्षति पहुँचाती है। **आत्मा का उदार भाव काव्य के सौन्दर्य को श्रेष्ठ बनाता है।** अहंकार का भाव कवि की साधना में कई रूपों में रह सकता है। इनमें एक मुख्य रूप काव्य की रचना को प्रेरित करने वाला यशःकामी अहंकार है जो स्वयं काव्य का विषय नहीं बनता। एक दूसरे रूप में अहंकार काव्य का उपादान अथवा विषय भी बन जाता है। **आधुनिक हिन्दी के गीत काव्य में अहंकार का यह रूप अधिक मिलता है।** अनेक गीत कवियों ने अपने व्यक्तित्व और अपने सामाजिक कृतित्व तथा अन्य रूपों में अपने गौरव की कल्पनाओं को गीतों में व्यक्त किया है। प्रेम के पात्र, क्रान्ति के संदेशवाहक आदि अनेक रूपों में आधुनिक हिन्दी के गीतकारों ने अपनी महिमा की कल्पना की है। रचना के दृष्टिकोण में निहित पहले प्रकार का अहंकार आलोकदान में बाधक नहीं होता किन्तु वह आलोकदान के अनुकुल भी नहीं होता तथा वह काव्य के सौन्दर्य को मंद बनाता है। दूसरे प्रकार का अहंकार जो आधुनिक हिन्दी के गीत काव्य में मिलता है, वह स्पष्ट रूप से पाठकों की चेतना के विस्तार में बाधक होता है। साहित्यकारों को समाज में प्रायः उचित सम्मान नहीं मिलता। अनादर से उनका अहंकार उत्तेजित होता है। इस अहंकार को प्रायः साहित्यकार स्वाभिमान अथवा आत्मगौरव समझते हैं। किन्तु साहित्यकार यह भूल जाते हैं कि सामाजिक यश की अभिलाषा भी अहंकार की अभिव्यक्ति है। आत्मगौरव और स्वाभिमान अपनी योग्यता और प्रतिष्ठा का मान है जो किसी सीमा तक उचित हो सकता है। भवभूति का आत्म विश्वास इसका एक उदाहरण

है। किन्तु प्रायः यह स्वाभिमान मिथ्या दर्प का रूप ले लेता है। **ग्राधुनिक हिन्दी के गीत काव्य में यह दर्प बहुत मिलता है।**

कवि के व्यक्तिगत ग्रहंकार के ग्रतिरिक्त काव्य के उपादान में ग्रन्य व्यक्तियों के गौरव की ऐसी ग्रभिव्यंजना जो पाठकों के व्यक्तित्व को उत्कर्ष के लिये प्रेरित करने के स्थान पर केवल उन व्यक्तियों की प्रशंसा के लिये प्रेरित करे, वह भी पाठकों की चेतना के विस्तार में बाधक होती है। इसके ग्रतिरिक्त ग्रन्य ग्रनेक प्रकार की ग्रतिरंजनाएँ पाठकों को विस्मित ग्रौर विमोहित बनाकर उनकी चेतना के विस्तार में बाधक होती हैं। **इन ग्रतिरंजनाग्रों में भक्ति ग्रौर शृंगार का माधुर्य, व्यंजना के चमत्कार ग्रादि उल्लेखनीय हैं।** ग्रभिव्यक्ति ग्रौर सम्प्रेषण के नाते सभी काव्य पाठक की चेतना में ग्रालोक का कुछ न कुछ विस्तार ग्रवश्य करता है। किन्तु माधुर्य ग्रौर चमत्कार का सम्मोहन इस ग्रालोक को स्थिर बना देता है। ग्रालोक की यह स्थिरता उसके विस्तार के प्रतिकूल है। **कला ग्रौर काव्य के सम्बन्ध में गति ग्रौर स्थिरता का प्रश्न गम्भीरता के साथ विचारणीय है।** सौन्दर्य की सृष्टि में कलाकार कुछ रूपों को स्थिर बनाने का ही प्रयास करता है। ग्रभिव्यक्ति के सौन्दर्य ग्रौर माधुर्य का सम्मोहन इसे पाठक के मन में स्थिर बनाता है। कला के सौन्दर्य की यह स्थिरता भी ग्रपने स्वरूप में गत्यात्मक बनी रहे ग्रौर ग्रालोक के विस्तार की निरन्तर प्रेरणा बनी रहे यह कलाकार का एक बहुत कठिन कर्म बन जाता है। किन्तु इसी दुष्कर कार्य को सम्भव बनाकर कला ग्रालोक के विस्तार में सफल होती है। **वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसीदास, प्रसाद ग्रादि महान कवियों के काव्य के स्वरूप में स्थिरता ग्रौर गति का ग्रद्भुत सामंजस्य मिलता है।** उत्तरकालीन काव्य में सम्मोहन, चमत्कार, क्लिष्टता, दुरूहता ग्रादि के रूप में ग्रालोकदान के बाधक तत्व मिलते हैं। ग्रालोकदान को काव्य के स्वरूप ग्रथवा उपादान का ग्रावश्यक ग्रंग मानकर कदाचित ही किसी कवि ने ग्रपनाया हो। उनकी कृतियों में ग्रालोकदान की सम्भानाएँ ग्रथवा बाधाएँ रचना ग्रौर उसके स्वरूप के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण एवं उनकी भावना का स्वाभाविक फल है।

विचार ग्रौर विवेक के ग्रालोक की उपेक्षा काव्य में ग्रनेक प्रकार से हुई है। विवेक उज्ज्वल, उदार ग्रौर मुक्त ज्ञान है। काव्य की जो भी वृत्तियाँ इस विवेक के ग्रालोक के मुक्त प्रसार में प्रेरक होने के स्थान पर बाधक होती हैं, वे सत्य ग्रौर

शिव काव्य के स्वरूप की घातक हैं। ये वृत्तियाँ अनेक प्रकार की हो सकती हैं। इनमें से कुछ मुख्य वृत्तियों का परिगणन और विवरण ही सम्भव हो सकता है। **मूल रूप में तो विवेक की बाधक वृत्ति का एक ही सामान्य लक्षण है;** वह चेतन मानव की ज्ञानगत स्वतन्त्रता को प्रेरित करने के स्थान पर किसी मत के आग्रह और आरोपण के द्वारा उसे बाधित करना है। यह अनेक प्रकार से किया जाता है। इन्हीं प्रकारों से विवेक की बाधक विविध वृत्तियाँ बनती हैं। **इन वृत्तियों में सबसे पहले हम प्रकृति की अतिरंजना को ले सकते हैं।** प्राकृतिक प्रवृत्तियों में मनुष्य का सहज अनुराग है। इन प्रवृत्तियों का सरस और मधुर वर्णन करने वाला काव्य सहज ही रुचिकर बन जाता है। शृंगार का काव्य इसीलिए सबसे अधिक लोकप्रिय रहा है। कालिदास के श्रेष्ठ काव्य में शृंगार के अतिरिक्त और भी सांस्कृतिक महत्व के अनेक तत्व हैं। किन्तु कालिदास के अधिकांश अनुरागी उनके शृंगार पर ही मुग्ध हैं। श्री कृष्ण के चरित्र में वृन्दावन की रासलीला केवल एक पक्ष है। उसके अतिरिक्त कंस-चाणूर मर्दन, शिशुपालवध आदि अनेक पराक्रम पूर्ण पक्ष हैं। संस्कृत में तो शिशुपाल-वध पर माघ का प्रसिद्ध और श्रेष्ठ महाकाव्य है भी, किन्तु हिन्दी के भक्ति और रीति काव्य में कृष्ण की प्रेम लीलाओं का ही प्राधान्य है। सूरसागर और अन्य कृष्ण-काव्य श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध पर आधारित है, जिसमें कृष्ण की प्रेमलीलाओं का ही प्रसंग मुख्य है। अधिकांश कवि इस बात को बिल्कुल भूल गए कि जहाँ कृष्ण को 'स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्' कहा है, वहाँ इसके पूर्व उन्हें 'मल्लानामशनिः' बताया है।

कृष्ण-चरित्र के काव्य प्रकृति और विशेषतः शृंगार की अतिरंजना के केवल एक उदाहरण हैं। रीतिकाल और छायावाद के काव्य में कृष्ण के प्रसंग के अतिरिक्त भी यह अतिरंजना बहुत मिलती है। शृंगार की यह अतिरंजना जीवन के एक प्राकृतिक पक्ष को उचित से अधिक महत्व देना है। प्रकृति का तिरस्कार न अभीष्ट है और न कल्याण कर ही। किन्तु उसके एक ऐसे पक्ष की अतिरंजना करना, जिसमें मनुष्य स्वभाव से ही बहुत अनुरक्त है, अनुचित है। यह एकांगी अतिरंजना प्राकृतिक जीवन को असंतुलित बनाने के साथ-साथ सांस्कृतिक जीवन की दिशाओं का भी अवरोध करती है। दर्शनों में प्रकृति के मोह को अविद्या अथवा अज्ञान का कारण बतलाया है। प्रकृति का मोह ज्ञान का आवरण करता है। इसीलिए अविद्यामयी माया की एक शक्ति को 'आवरण' का नाम दिया है। प्रकृति

में मनुष्य की स्वाभाविक रति है, अतः उसकी अतिरंजना एक दिशा के अनुराग का वर्द्धन करके प्रकृति की अन्य दिशाओं से विमुख बनाती है। प्रकृति का अतिरंजित सम्मोहन विवेक को मन्द करता है और मनुष्य को ज्ञान में अक्षम बनाता है। विलासी राजाओं और धन कुबेरों के जीवन में इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। प्रकृति की अतिरंजना के काव्य अधिकांशतः जीवन के इसी दृष्टिकोण और ऐसे ही लोगों की रंजना के लिए रचे गये थे। इनके प्रणेता कवि और इन काव्यों के अनुरागी पाठक भी जीवन के इसी दृष्टिकोण के अनुरागी हैं। **सभी प्रसंगों में प्रकृति की यह अतिरंजना बुद्धि का सम्मोहन करके विवेक और ज्ञान की शक्ति को तिरोहित करती है।**

श्रृंगार की अतिरंजना उसकी सहज रमणीयता के कारण अधिक हुई, किन्तु प्रकृति के अन्य पक्षों की अतिरंजना के उदाहरण भी काव्य में मिल सकते हैं। भूषण के काव्य में वीररस और क्रोध की अतिरंजना मिलती है। भवभूति ने उत्तररामचरित में करुण रस की अतिरंजना की है। युग और समाज के एक सामयिक उद्देश्य को तीव्र प्रकाश में लाने की दृष्टि से इन अतिरंजनाओं की उपयोगता मानी जा सकती है। किन्तु यह तर्क वीररस के सम्बन्ध में ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। श्रृंगार के विषय में इसकी उपयुक्तता बहुत कम जान पड़ती है। यदि किसी काल में वैराग्य और संन्यास की बाढ़ आ रही हो तो कदाचित श्रृंगार के सन्देश के लिए भी कुछ आधार मिल सकता है। मनुष्य के स्वभाव को देखते हुए ऐसी सम्भावना की कल्पना करना कठिन है। अतः श्रृंगार की अतिरंजना सबसे अधिक अनुपयुक्त है। वीर रस से उत्तेजित होने के लिए कुछ साहस चाहिए। अतः वीर काव्य की प्रेरणा का संक्रमण सभी पाठकों में नहीं हो सकता। यह प्रत्यक्ष है कि वीर काव्य इतने लोकप्रिय नहीं हैं, जितने कि श्रृंगार काव्य हैं। वीर-काव्यों में केवल एक 'आल्ह-खण्ड' लोक प्रिय रहा है। उसकी लोक-प्रियता भी नागरिकों की अपेक्षा ग्रामीणों में अधिक रही है, जिनमें नागरिकों की अपेक्षा अधिक साहस शेष रह गया था। **अतः प्रकृति के उत्तेजन और विवेक के सम्मोहन की दृष्टि से श्रृंगार का काव्य ही सबसे अधिक अनर्थकारी और अशिव है।**

लौकिक श्रृंगार के अतिरिक्त श्रृंगार का एक अलौकिक और आध्यात्मिक रूप भी है, जिसे भक्ति का नाम दिया जाता है। **भक्ति भगवान के प्रति मनुष्य की**

श्रद्धामय भावना है। अपने स्वरूप में भक्ति अत्यन्त कल्याण-कारिणी है, किन्तु यह कल्याण तभी सम्भव है, जबकि भक्ति की भावना अन्य प्राकृतिक वासनाओं से कलुषित न हो और भक्ति का तात्पर्य अन्य प्राकृतिक उद्देश्यों में तिरोहित न हो। ऐसा सात्विक भक्ति में ही सम्भव हो सकता है। राजसी भक्ति में भ्रान्त और भ्रष्ट होने के अनेक साधन रहते हैं। यह एक कठोर कल्पना मात्र नहीं है। भक्ति, साहित्य और भक्ति के सामाजिक जीवन में इस कल्पना का सत्य एक ऐतिहासिक तथ्य के रूप में प्रकट हुआ है। भक्ति के अनेक रूप हैं--दास्य, सख्य, दाम्पत्य आदि। समाज और साहित्य में इन सभी रूपों में भक्ति के उदाहरण मिलते हैं। तुलसीदास की भक्ति दास्य भाव की है। सूर की भक्ति में सख्य, दाम्पत्य और वात्सल्य तीन भाव मिलते हैं। किन्तु भक्ति का दाम्पत्य रूप ही सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ है। इसका कारण यही है कि मनुष्य की प्रकृति में शृंगार और दाम्पत्य का प्रभाव प्रबल है। भक्ति-काव्य में ही नहीं उपनिषदादि ज्ञान-ग्रन्थों में भी आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की उपमा दम्पति के आलिंगन से दी गई है। तुलसीदास जैसे शिष्ट और सात्विक भक्त ने भी 'कामिहि नारि पियारि जस' कह कर भक्ति के प्रेम की तुलना काम के अनुराग से दी है। यह सत्य है कि इन सबका उद्देश्य भक्ति के प्रेम की तन्मयता, अनन्यता, तत्परता आदि को लौकिक उपमाओं के द्वारा ग्राह्य बनाना है। इसमें सन्देह नहीं कि भक्ति की तन्मयता आदि की उपमा यदि कहीं मिल सकती है तो वह स्त्री-पुरुष के लौकिक अनुराग में ही मिल सकती है। इस विवेचन का मन्तव्य भक्ति कवियों पर दोषारोपण करना नहीं है। किन्तु यह विचारणीय है कि कहाँ तक इन उपमाओं से तथा भक्ति के शृंगारिक प्रतीकों से भक्ति का वास्तविक उद्देश्य पूर्ण होता है। प्रकृति में एक सहज आकर्षण है। मुनियों, भक्तों, और योगियों तक के लिए इस आकर्षण को जीतना कठिन है। अतः प्रकृति के आकर्षण को उपमा और प्रतीकों के रूप में स्थान देने से भी भक्ति के उद्देश्य में बाधा ही हो सकती है। भक्ति के स्वरूप और तत्व को सुगम बनाने के स्थान पर शृंगार के ये अनुषंग उसके अवगम और उसकी साधना में बाधक ही हो सकते हैं। यह न प्रकृति अथवा शृंगार की भर्त्सना है और न वैराग्य का समर्थन। यह केवल भक्ति के साथ शृंगार के संबंध में प्रचलित एक सामान्य भ्रान्ति का निवारण मात्र है। भक्ति-काव्य और भक्त के सामाजिक जीवन का विकास (अथवा ह्रास) स्पष्टतः यह प्रमाणित करता है कि

अध्यात्म और भक्ति में लौकिक शृंगार के उपमान और प्रतीक लौकिक भावना का भक्ति की ओर उन्नयन नहीं करते, वरन् इसके विपरीत भक्ति और अध्यात्म की भावना का लौकिक प्रवृत्ति की ओर अधोनयन करते हैं। कृष्ण-काव्य की परम्परा और कृष्ण सम्प्रदायों तथा पीठों का इतिहास इस तथ्य का जीवन्त प्रमाण है। भागवत, गीतगोविन्द और विद्यापति से लेकर हिन्दी के रीतिकाव्य तक का इतिहास भक्ति की भावना के क्रमशः स्खलन का ही इतिहास है। राधाकृष्ण और गोपी-कृष्ण के दाम्पत्य सम्बन्ध का अवलम्ब लेकर कितने कवियों और भण्ड महन्तों ने अस्वस्थ लौकिक शृंगार का अपने काव्य और सम्प्रदाय में पोषण किया। कृष्ण सम्प्रदाय में जिस अस्वस्थ और असामाजिक रूप में भक्ति का शृंगार में पतन हुआ है, उसकी अपेक्षा लौकिक जीवन का शृंगार और दाम्पत्य कहीं अधिक स्वस्थ है। दाम्पत्य में काम और शृंगार के अतिरिक्त सात्विक प्रेम की एक आध्यात्मिक, सामाजिक और मानवीय भावना भी अन्तर्निहित है। भक्ति के शृंगार में दाम्पत्य के इन सात्विक भावों का उतना अधिक महत्व नहीं हो सका, जितना कि रति और रमण के राजस भावों का है। इसका एक कारण यह भी है कि उपमा और प्रतीकों में रति और रमण का ही संकेत अधिक है। भक्ति में दाम्पत्य भाव के पतन की पराकाष्ठा का उदाहरण सखी सम्प्रदाय में मिलता है। इस सम्प्रदाय में दाम्पत्य भाव में प्रकृति के अनुरोध को इस सीमा तक ले जाया गया है कि सखी भाव के उपासक स्त्रियों की वेष, भूषा और व्यवहार, आचार आदि को भी अपना लेते हैं। दाम्पत्य की आध्यात्मिक भावना स्त्री के प्राकृतिक धर्मों के अनुकरण की अपेक्षा भक्ति में कहीं अधिक हितकारी है। किन्तु भक्ति में प्रकृत के अनुरोध ने इन सब सात्विक सम्भावनाओं को तिरोहित कर दिया।

भक्ति की भाँति वैराग्य में भी शृंगार की भूमिका वैराग्य के प्रयोजन को निष्फल बनाती है। रम्भाशुकसंवाद, रघुवंश के अन्तिम सर्ग आदि ऐसी कृतियों से, जिनमें भोग और शृंगार की स्पष्ट अथवा लाक्षणिक भर्त्सना द्वारा मनुष्य को उनसे विरत बनाने की आशा की है, कदाचित ही किसी को वैराग्य हुआ होगा। वैराग्य के ये सन्देश श्मशान के वैराग्य के समान ही औपचारिक और क्षणिक होते हैं। जीवन और भोग की रति इतनी दृढ़ और स्वाभाविक है कि भोग की भर्त्सना के मार्ग से उससे विरत होना सम्भव नहीं है। इन भर्त्सनाओं से विरति के स्थान पर रति के ही बढ़ने की आशंका है। सत्य यह है कि शृंगार के माध्यम से भक्ति और

वैराग्य में श्रद्धा उत्पन्न करने की आशा कुपथ्य से स्वास्थ्य लाभ करने की आशा के समान भ्रान्तिपूर्ण है। अस्तु स्वतन्त्र रूप से अथवा भक्ति और वैराग्य की भूमिका के रूप में शृंगार की अतिरंजना विवेक का तिरोधान करती है। भक्ति और वैराग्य के प्रसंग में तो प्रायः विपरीत फल होता है। संसार से भोगों से विरति के स्थान पर उलटी उनमें रति बढ़ती है। इस प्रकार भक्ति और वैराग्य का लक्ष्य ही दृष्टि के सामने स्पष्ट रूप से बनाये रखना कठिन हो जाता है। शृंगार की स्वतन्त्र अतिरंजना में भक्ति, वैराग्य अथवा अन्य किसी सांस्कृतिक लक्ष्य का आभास भी रहने का कोई प्रश्न नहीं। उसका तो स्पष्ट उद्देश्य ही वासनाओं का उद्दीपन है। मनुष्य स्वभाव की सहज रुचि के अयाचित सहयोग के कारण काव्य का यह उद्देश्य सहज ही सफल होता है। इसीलिए शृंगार का काव्य सदा लोकप्रिय रहता है। किन्तु शृंगार की यह अतिरंजना जीवन के अन्य मूल्यों को अज्ञान के अंधकार में आवृत कर देती है। उमर ख़ैय्याम के स्वप्न की भाँति शृंगार ही जीवन का सर्वस्व जान पड़ता है, जो असत्य है। **इस प्रकार शृंगार अथवा प्रकृति के अन्य किसी भी पक्ष की अतिरंजना मनुष्य के विवेक को मन्द और ज्ञान को भ्रान्त बनाती है।**

प्रकृति की अतिरंजना के अतिरिक्त अन्य किसी भी सांस्कृतिक सत्य की अतिरंजना भी शृंगार की भाँति ही मनुष्य के विवेक को तिरोहित करती है। काव्य में अतिशयोक्ति को अलंकार माना गया है। यह अतिशयोक्ति जहाँ विश्वास की सीमा को पार कर जाती है, वहाँ तो भ्रान्ति का कारण नहीं होती। किन्तु अतिरंजना का रूप जहाँ ग्राह्य होता है, वहाँ वह निःसंदेह विवेक की क्षति करता है। मनुष्य बड़ा विश्वासशील प्राणी है। रामचरितमानस तथा योगवाशिष्ठ की भाँति जहाँ भक्ति और वैराग्य का अतिरंजित रूप प्रस्तुत किया गया है, वहाँ भी जीवन के सन्तुलित दृष्टिकोण का ज्ञान उत्पन्न होने में यह अतिरंजना बाधक होती है। **विचारणीय बात यह है कि सत्य की अतिरंजना भी उसे असत्य बना देती है। 'सत्य' वस्तु की यथार्थता है अथवा जीवन का एक सन्तुलित दृष्टिकोण है।** अतिरंजना यथार्थता और सन्तुलन दोनों का खण्डन करती है। जहाँ सत्य अथवा जीवन के एक पक्ष अथवा रूप को प्रभावशाली बनाने के लिए अतिरंजना का उपयोग है, वहाँ दूसरी ओर वह दूसरे पक्षों के प्रति सन्तुलित दृष्टिकोण की हानि करती है। यह सत्य है कि किसी भी कृति में जीवन के समस्त पक्षों का चित्रण नहीं किया जा सकता। किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि जिन पक्ष या पक्षों का संस्कृति में ग्रहण

किया गया है, वे इतने अतिरंजित रूप में अंकित न किए जायँ कि वे मनुष्य की बुद्धि को जीवन के अन्य पक्षों के प्रति सही और संतुलित दृष्टिकोण जाग्रत करने में असमर्थ बना दे। रामचरित मानस में भक्ति की अतिरंजना का फल वही हुआ है, जो रीतिकाल के काव्य में शृंगार की अतिरंजना का हुआ है। शृंगार, भक्ति, वैराग्य आदि सभी सत्य हैं। सभी का जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु किसी भी पक्ष की ऐसी अतिरंजना, जो अन्य पक्षों के महत्व को तिरोहित करे, भ्रान्तिपूर्ण है। एक पक्ष के प्रभाव और महत्व को स्पष्ट करने के लिए उसमें अन्तर्निहित समस्त तत्व और सौन्दर्य की विभूति का उद्भावन तो कला की प्रणाली है, किन्तु उसी को जीवन का सर्वस्व बनाने के लिए उसकी अतिरंजना भ्रामक है।

जीवन के किसी भी पक्ष की अतिरंजना के द्वारा मनुष्य के विवेक को तिरोहित करने के अनेक मार्ग हो सकते हैं। प्रकृति के क्षेत्र में सम्मोहन उसका एक सामान्य और अत्यन्त प्रभावशाली रूप है। शृंगार के मार्मिक रूपों का तदनुरूप भाषा और शैली में चित्रण उसके सहज सम्मोहन का वर्द्धन करता है। भक्ति वैराग्य आदि सांस्कृतिक विषयों में शृंगार का सा सहज सम्मोहन नहीं है। अतः इनमें आस्था उत्पन्न करने के लिए प्रायः चमत्कार का आश्रय लिया जाता है। चमत्कार एक अलौकिक शक्ति है, जो लोक-नियमों की सीमा का अतिक्रमण कर साधारणतः असम्भव कार्यों के सम्पादन की क्षमता रखती है। मनुष्य की कामनायें उसकी सामर्थ्य से अधिक हैं। वे प्राकृतिक नियमों की मन्दगति से चलना स्वीकार नहीं करतीं। सहज गति के इसी अतिक्रमण की कामना विज्ञान के आविष्कारों की जननी है। इस अतिक्रमण के कारण ही प्राकृतिक नियमों से पूर्णतः नियंत्रित आविष्कारों को भी चमत्कार माना जाता है। वह इसलिए कि इन आविष्कारों में लोक की सामान्य और परिचित विधि से असम्भव कार्यों के सम्पादन की क्षमता है। इसी चमत्कार की कामना से प्राचीन काल में लोग देवताओं की पूजा करते थे और पारस पत्थर की खोज में फिरते थे। मनुष्य की इसी दुर्बलता का उपयोग करने के लिए सभी धर्मों की परम्पराओं में और सन्तों के चरित में चमत्कारों का समावेश है। कहते हैं बुद्ध और ईसा ने मृतकों को जिला दिया था। उनके मतावलम्बी यह भी मानते हैं कि बुद्ध और ईसा का किसी समय पुनरागमन होगा और वे विश्व का उद्धार करेंगे। यह भी मान्यता है कि कयामत के दिन सब मुर्दे कब्रों से जाग उठेंगे।

हमारे धर्म की पौराणिक परम्पराओं में अनेक चमत्कारों का समावेश है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव के रूप तो प्रतीक हैं; किन्तु राम और कृष्ण के जन्म में इतिहास में भी चमत्कार का समावेश हो गया है। राम ने कौशल्या को अपना अद्भुत रूप दिखाया। कृष्ण का जन्म होते ही बन्दीगृह के ताले अपने आप टूट गये। भक्ति के प्रचारक और प्रेमियों को यह चमत्कार कितना प्रिय है, यह इसी से विदित होता है कि राम और कृष्ण के पराक्रम तथा उदारता के मानवीय कृत्यों में भी अलौकिकता की छाया पड़ गई है। राम के धनुष-भंग, अहिल्या-उद्धार आदि तथा कृष्ण के कालीय-दमन और द्रौपदी-उद्धार आदि पराक्रम एवं उदारता के कृत्यों में भी अलौकिकता का प्रवेश हो गया है। इसी प्रकार सन्तों के चरित में भी चमत्कार की कथायें हैं। ज्ञानेश्वर के प्रताप से दीवार हवा में वायुयान की तरह उड़ने लगी थी, भैंसा वेदमंत्र बोलने लगा था। आज भी अनेक सन्त-महन्त चमत्कारों की शक्ति का दम्भ रखते हैं और अनेक श्रद्धालु भक्त उनके दम्भ में विश्वास करके अपने को भ्रान्त बनाते हैं। मनुष्य की शक्ति सीमित होने के कारण तथा प्रकृति के नियमों से जीवन की सामान्य गति नियन्त्रित होने के कारण चमत्कार की अलौकिक शक्ति में मनुष्य का विश्वास अभी तक खण्डित नहीं हुआ है। इसीलिए भक्ति और अध्यात्म चमत्कार का उपयोग करते रहे हैं। विज्ञान के युग में भी योग की विभूतियों, मन्त्र-तन्त्रों की शक्ति आदि में मनुष्य का विश्वास बना हुआ है। शिक्षा और विज्ञान का पूर्ण प्रचार होने पर यह विश्वास विशीर्ण हो जायेगा, तब इस चमत्कार पर आश्रित सम्प्रदाय और साहित्य पुरातत्व संग्रहालय की शोभा के योग्य रह जायेंगे। किसी भी रूप में सम्मोहन और चमत्कार का प्रयोग मनुष्य के विवेक को कुण्ठित करता है। शृंगार और भक्ति के जिन काव्यों में इनका प्रयोग किया गया है, वे मनुष्य के विवेक को कुण्ठित करने के कारण उसके अमंगल के अपराधी हैं। अतिरंजना और चमत्कार का आश्रय लेने के कारण हितकारी पक्षों को चित्रण करने वाले भक्ति और अध्यात्म के काव्य भी अपने उद्देश्य में असफल रहे हैं।

चमत्कार की अलौकिकता अविश्वास के स्थान पर विश्वास का साधन बनती है यह आश्चर्य की बात है। किन्तु इस आश्चर्य का मूल मनुष्य की दुराशा है। इस दुराशा के साथ-साथ मनुष्य में एक दुर्बलता भी है। उस दुर्बलता का रूप यह है कि वह किसी भी व्यक्ति या सम्प्रदाय से प्रभावित होकर विश्वासी बन जाता है।

विश्वास जीवन की आस्था है, किन्तु विवेक उसका आधार है। अन्ध-विश्वास विश्वास की एक विडम्बना है, वह विश्वास का एक विकृत रूप है। जहाँ गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस के मंगलाचरण में भवानी और शंकर को श्रद्धा और विश्वास का रूप बताया है, वहाँ शैव सम्प्रदाय में शिव को चित् स्वरूप मानते हैं। इसका आशय यही है कि निर्मल और असंदिग्ध ज्ञान पर आश्रित विश्वास जीवन का मंगलमय आधार है। विश्वास का विवेक से विरोध नहीं है। विवेक रहित विश्वास अन्ध-विश्वास बन जाता है। अन्ध-विश्वास अनर्थकारी है। अतः जिन कृतियों में मनुष्य के विवेक को भ्रान्त कर तथा उसे जागरण के अवसरों से वंचित कर एक मत में अतर्कित विश्वास पैदा करने का प्रयत्न किया गया है, वे सब असत्य और अशिव हैं। असत्य इसलिए हैं कि वे मनुष्य को सत्य के पूर्ण रूप के दर्शन से विमुख बनाते हैं। सत्य का पूर्ण रूप अन्ध-विश्वास से नहीं स्वच्छ विवेक और उदार ज्ञान से दिखाई देता है। अशिव इसलिए हैं कि वे मनुष्य में कुछ अमंगलकारी आस्थाओं को आरूढ़ कर उसे व्यक्ति और समाज दोनों के कल्याण की साधना में असमर्थ बनाते हैं। जिस दिन हमें इस कटु सत्य का बोध होगा कि रामचरितमानस जैसा श्रेष्ठ भक्ति काव्य इस अनर्थ का अपराधी है, उस दिन हमारी साहित्यिक श्रद्धा को एक असह्य आघात पहुँचेगा। किन्तु यह निश्चित है कि एक दिन विज्ञान और शिक्षा के पूर्ण आलोक में हमारे देश के ही नहीं संसार के सभी देशों के रूढ़िवादी धर्म और काव्य के इस दोष को निःसंकोच स्वीकार करना होगा।

भक्ति की अलौकिक सम्भावनाओं के चमत्कार घटनात्मक हैं। भगवान की माया को अघटन-घटना-पटीयसी कहते हैं। धर्म के पौराणिक चमत्कार की भाँति शैली का चमत्कार भी विवेक का बाधक है। न्याय में इस चमत्कार को वाक्छल कहते हैं। शब्द और शैली का यह चमत्कार अर्थ में भ्रान्ति उत्पन्न करता है। भ्रम ज्ञान का बाधक है। यद्यपि शब्द और शैली के चमत्कार को काव्य में अलंकार माना जाता है। वचन-भंगिमा से शैली में सौन्दर्य उत्पन्न होता है। वक्रोक्तिकार का यह कथन मान्य भी हो कि वक्रोक्ति काव्य का जीवित है तो भी शब्द-चमत्कार के ऐसे अनेक अतिरंजित रूप हैं, जो चमत्कार की अतिशयता के कारण पाठक की दृष्टि से मुख्य अर्थ को ही तिरोहित कर देते हैं। अतः अतिशयोक्ति की भाँति वक्रोक्ति का आधिक्य भी अर्थ की अवगति और विवेक के संवर्धन में बाधक है। जिस प्रकार वेदान्त

दर्शन में समाधि के आनन्द की आसक्ति को भी मुक्ति में बाधक माना है, उसी प्रकार काव्य के सम्बन्ध में भी यह मानना होगा कि वक्रोक्ति अथवा शब्द चमत्कार के अतिरंजित रूप भी अर्थ की अवगति में बाधक हैं। अभिव्यक्ति के सौन्दर्य में अधिक आकर्षण होने पर अर्थ का महत्व तिरोहित हो जाता है। सत्य और शिव अर्थ तत्व में ही निहित रहते हैं। जिन काव्यों में चमत्कार की प्रधानता होती है, उनमें सौन्दर्य ही प्रमुख होता है। छायावाद और आधुनिक प्रयोगवाद में वचन भंगिमा का सौन्दर्य ही प्रमुख रहा है। दोनों में सत्यं और शिवं का अधिक महत्व नहीं है। कालिदास के बाद संस्कृत के काव्यों में भी वक्रोक्ति की महिमा बढ़ती गई। कालिदास में प्रकृति की रमणीयता तो है किन्तु अलंकार और चमत्कार के साथ सत्यं तथा सुन्दरम् का सन्तुलन बाद के काव्यों की अपेक्षा अधिक है। कालिदास के अधिकांश काव्य में चमत्कार के साथ-साथ उक्ति की ऋजुता तथा वाणी का प्रसाद गुण भी बहुत है। **वस्तुतः शैली की ऋजुता और वाणी का प्रसाद विवेक के जागरण और आलोक के प्रसार के अनुकूल है। आलोक-किरण की भाँति अभिव्यक्ति की ऋजुता में उक्ति की वक्रता का अन्वय और अन्तर्भाव ही काव्य को आलोकमय रूप देता है।** 'प्रसाद' शिवकाव्य का सर्वथा स्पृहणीय गुण है। वाल्मीकि के काव्य में इस प्रसाद का प्रभात-सूर्य के प्रकाश की भाँति मुक्त और उज्ज्वल प्रवाह है। रामचरितमानस में जहाँ भक्ति की अतिरंजना का दोष है, वहाँ प्रसाद की प्रचुरता उसकी एक महान् विशेषता है। चमत्कार की भंगिमा की भाँति ऋजुता का आलोक भी शैली का गुण है। काव्य के उस आलोकमय रूप में सत्य और शिव के वही तत्व प्रकाशित होंगे, जिनका आधान काव्य के कलेवर में होगा।

चमत्कार के अतिरिक्त क्लिष्टता, दुरूहता आदि काव्य के ऐसे अनेक दोष हैं, जो विवेक और ज्ञान के बाधक हैं। वे उसे जागरित करने के स्थान पर विमुख बनाते हैं। क्लिष्टता काव्य के तत्व और तात्पर्य को अनावश्यक जटिलताओं में आच्छादित कर पाठक की रुचि को कुण्ठित बनाती है और उसके उत्साह को मन्द करती है। संस्कृत में माघ और श्री हर्ष के काव्य के बहुत कुछ अंश ऐसे ही हैं। भारवि के अर्थ-गौरव को भी प्रसाद की विभूति नहीं मिली। उनके टीकाकार मल्लिनाथ ने उनके वचन की उपमा नारिकेल के फल से दी है। यद्यपि उसका मर्म कोमल और मधुर है, उसका आवरण कठोर है। इसी क्लिष्टता और

काठिन्य के कारण केशव 'कठिन काव्य के प्रेत' कहलाये। चमत्कार और क्लिष्टता की पराकाष्ठा काव्य में चित्रकाव्य और पहेलियों में हुई। जिस प्रकार दर्शन और साहित्य की टीकाओं की कठिन से कठिनतर होती हुई भाषा दोनों की उन्नति में बाधक हुई, उसी प्रकार क्लिष्टता काव्य की लोकप्रियता में भी बाधक होती हैं। प्राचीन काव्य, दर्शन, साहित्य सभी में ऋजुता और प्रसाद की प्रधानता मिलती है। इसीलिए प्राचीन कृतियाँ अर्वाचीन कृतियों की अपेक्षा विवेक को अधिक प्रेरणा और ज्ञान के आलोक को अधिक विस्तार प्रदान करती हैं।

अध्याय ४०

विश्वास और तिरस्कार

चमत्कार और क्लिष्टता की भाँति विश्वास का प्रचार विवेक के जागरण और ज्ञान के विस्तार में बाधक है। यह सत्य है कि विश्वास मन की आवश्यक आस्था है। अनवस्था तर्क का ही दोष नहीं है, चेतन मानव के जीवन की वह एक असहनीय विडम्बना है। किसी न किसी आस्था का अवलंब जीवन के प्रत्येक धरातल पर आवश्यक है। किन्तु यह आस्था अन्ध-विश्वास के रूप में होने पर जहाँ एक ओर जीवन को आधार प्रदान करती है वहाँ दूसरी ओर विवेक और ज्ञान की प्रगति का अवरोध करती है। धर्म के क्षेत्र में यह विश्वास का प्रचार सबसे अधिक देखने में आता है। धार्मिक काव्य इसके सबसे अधिक दोषी हैं। भगवान की अलौकिक शक्तियों तथा उनके अद्‌भुत चमत्कारों के वर्णन द्वारा यह विश्वास का प्रचार प्रायः किया जाता है। अपने मत का आग्रह और आरोपण भी इस प्रचार की विधियाँ हैं। किसी भी मत या धारणा की सरल, निश्छल और संतुलित अभिव्यक्ति में कोई दोष नहीं है। यह विचार स्वातंत्र्य की सीमा के अन्तर्गत है। किन्तु उस मत का अतिशय आग्रह अथवा प्रबल आरोपण ग्राहक के विवेक को कुण्ठित कर देता हैं और अवगति के स्थान पर अन्ध आस्था उत्पन्न करता है।

विश्वास एक प्रकार से आलोक का अवरोध है। जिस प्रकार भौतिक आलोक और दृष्टि किसी पदार्थ पर आकर रुक जाते हैं उसी प्रकार विश्वास में आत्मा का आलोक किसी विषय अथवा तत्व में आकर स्थिर हो जाता है। आलोकमय विश्वास एक प्रकार से प्रत्यक्ष ज्ञान के समान है। प्रत्यक्ष में ज्ञाता की दृष्टि का प्रकाश अपनी सहज गति के द्वारा एक पदार्थ पर स्थिर होता है। ऐसे प्रत्यक्ष में दृष्टि की गति स्वाधीन होने के कारण हम दृष्टि को उस पदार्थ से हटा सकते हैं तथा उसे दूसरे पदार्थों पर लगा सकते हैं। इसी प्रकार जब हमारी स्वतंत्र चेतना की आस्था किसी विषय अथवा तत्व पर स्थिर होती है तो आवश्यकता होने पर वह अपनी स्वतंत्र गति से ही उस तत्व को त्याग कर दूसरे तत्व पर स्थिर हो सकती है। यह आलोकमय विश्वास का रूप है जो प्रत्यक्ष ज्ञान के समान है और प्रत्यक्ष

के समान ही जीवन में आवश्यक है। सामान्यतः हमारी दृष्टि समय की आवश्यकता के अनुसार किसी न किसी पदार्थ पर स्थिर रहती है। इसी प्रकार हमारी चेतना की आस्था भी कुछ विषयों और तत्वों पर रहती है। **इसी आस्था के द्वारा मनुष्य उत्साह के साथ जीता है। यह आस्था जीवन का आवश्यक अवलम्ब है। यह आस्था कल्याणमय जीवन का आवश्यक तत्व है।** तुलसीदास जी ने रामचरितमानस के मंगलाचरण में 'भवानीशंकरौ' की वंदना के निमित्त से इस विश्वास को शिव का स्वरूप बताया है। 'शिव' आनन्द और मंगल के स्वरूप हैं। वैज्ञानिक युग के वर्तमान समाज में विज्ञान, व्यापार और युद्ध के प्रभाव से मनुष्य की समस्त आस्थाएँ उच्छिन्न हो रही हैं। इसी कारण आधुनिक जीवन नीरस और अर्थ हीन होता जा रहा है। आदिम और ग्रामीण समाजों में आस्था अथवा विश्वास का अवलम्ब होने के कारण ही जीवन आनन्द एवं उल्लास से पूर्ण था। इतना अवश्य है कि इन समाजों की आस्था सदा आलोकमय नहीं थी। अंधकारमयी आस्था भी सर्वदा हानिकारक नहीं होती। वह तभी हानिकारक होती है जबकि वह हमारे ज्ञान के विस्तार तथा जीवन के अन्य मूल्यों की साधना में बाधक हो। आरोपण और प्रचार का रूप ग्रहण कर अन्धविश्वास दूसरों के जीवन को भी संकटापन्न बनाता है। मनुष्य जाति के इतिहास में कुछ समाजों के अन्धविश्वास ने आरोपण और प्रचार का रूप लेकर घोर अनर्थ किये हैं।

अन्धविश्वास अन्धकार में दृष्टि को स्थिर करने के समान है। उसका आधार निश्चित और प्रकाशित नहीं होता। वह आलोकमय विश्वास के विपरीत है। ईश्वर आदि के सम्बन्ध में मनुष्यों का विश्वास बहुत कुछ इसी प्रकार का है। **ऐसे मनुष्य दुर्लभ हैं जिन्हें ईश्वर का साक्षात्कार हुआ है और उस साक्षात् अनुभव के आधार पर जो ईश्वर में विश्वास करते हैं।** ईश्वर कोई मनुष्य अथवा मूर्ति नहीं है किन्तु यदि वह कोई दिव्य सत्ता अथवा शक्ति है तो आत्मिक अनुभव के रूप में उसका साक्षात्कार सम्भव हो सकता है। यह अनुभव ईश्वर के स्वरूप के अनुरूप ही होगा। ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न धर्मों में जो कुछ भी बताया गया है उसके आधार पर ईश्वर का स्वरूप अत्यन्त उदात्त और उदार प्रतीत होता है। ऐसे ईश्वर का अनुभव भी उसके स्वरूप के अनुरूप होगा और वह अनुभव-कर्ता के मन में अनुरूप भावों को ही प्रेरित करेगा। **कितने धर्माधिकारियों, भक्तों और ईश्वर में विश्वास करने वाले साधारण जनों का व्यवहार यह**

प्रमाणित करता है कि उनके आन्तरिक अनुभव में ईश्वर का प्रभाव है। छल और बल से धर्म का आरोपण और प्रचार करने वाले ईश्वर के स्वरूप के किन दिव्य लक्षणों को चरितार्थ करते हैं? धर्म की श्रेष्ठता के अभिमानियों ने कभी साहस और सच्चाई के साथ इस पर विचार करने का प्रयत्न नहीं किया।

अन्धविश्वास दो प्रकार का होता है। उसका सामान्य लक्षण तो अतर्कित और आलोकरहित विश्वास है। किन्तु यह विश्वास दो रूपों में प्रकट होता है। उसका एक रूप वह है जिसमें विश्वास करने वाला विश्वास को अपने जीवन का अवलम्ब मानता है और उसके आधार पर चलता है। यह अन्धविश्वास का व्यक्तिगत और मृदुल रूप है। एक व्यक्ति का ऐसा विश्वास किसी दूसरे के जीवन में कोई आँपत्ति उपस्थित नहीं करता। अधिकांश आदिम समाजों का विश्वास इसी प्रकार का है। पश्चिमी विद्वानों के मत में भारतीय धर्म और सांस्कृति में भी बहुत अंधविश्वास छाया हुआ है। यदि यह सत्य भी है तो भारतीय समाज का यह विश्वास पहले प्रकार का अन्धविश्वास है जो व्यक्तिगत और मृदुल है। इस विश्वास के पोषकों ने अपने विश्वास को दूसरों पर आरोपित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। दूसरे प्रकार का अंधविश्वास उग्र होता है। उस विश्वास में आस्था से अधिक आग्रह होता है। आग्रह और आरोपण ही उस विश्वास को बल देते हैं। कदाचित् इस उग्र अन्धविश्वास में आत्म विश्वास की कमी होती है। सम्भवतः इसी की प्रतिक्रिया में वह उग्र बनता है। व्यक्तिगत और मृदुल अंधविश्वास भावात्मक होता है। इसीलिए उसमें आरोपण और आग्रह के उग्र एवं निषेधात्मक तत्व नहीं होते। निषेधात्मक होने के कारण ही विश्वास में आरोपण और आग्रह की प्रतिक्रियाएँ होती हैं।

सभी रूपों में अन्धविश्वास आलोक के विस्तार का अवरोध करता है। किन्तु व्यक्तिगत और मृदुल अंधविश्वास का इस दिशा में परिणाम भी व्यक्तिगत और मृदुल होता है। वह व्यक्ति के अपने आलोक का ही अवरोध करता है और वह अवरोध भी इतना कठोर नहीं होता। आवश्यक होने पर इस विश्वास के बदलने की बहुत सम्भावना रहती है। समय की अपेक्षा के अनुसार आदिम समाजों के विश्वास धीरे-धीरे बदलते गये हैं। भारतीय समाज के विश्वासों में भी समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है। मृदुल होने के कारण विश्वास के इस रूप ने दूसरों के आलोक के मार्ग में किसी प्रकार अवरोध नहीं किया। आरोपण, आग्रह

और आक्रमण की बात तो बहुत दूर है, इस मृदुल विश्वास ने मृदुल अनुरोध के द्वारा भी दूसरों को प्रभावित करने का प्रयत्न नहीं किया। किन्तु दूसरे प्रकार का उग्र अन्धविश्वास दूसरों के भी आलोक के मार्ग का अवरोध करने का प्रयत्न करता है। इस उग्र अंधविश्वास का पोषण करने वाले स्वयं सभी ओर के आलोक से अपनी आँखें बन्द करते हैं, किन्तु इसके साथ-साथ वे दूसरों के आलोक के विस्तार को भी अवरुद्ध करते हैं। **छल, बल, आरोपण, प्रचार आदि के द्वारा जिन सम्प्रदायों ने दूसरों पर अपने मत अथवा विश्वास का आरोपण करने का प्रयत्न किया है वे सम्प्रदाय और समाज ज्ञान, विज्ञान के क्षेत्र में अधिक उन्नति नहीं कर सके, इसका इतिहास साक्षी है।** प्राचीन भारत और प्राचीन ग्रीक में आरोपण का आग्रह न होने के कारण ही ज्ञान-विज्ञान का इतना विकास हो सका था। भारतवर्ष का वह विकास आरोपण वादियों के आक्रमणों के कारण रुक गया। आज योरोप को अपनी वैज्ञानिक प्रगति का गर्व है। किन्तु १६ वीं शताब्दी तक वह धार्मिक साम्राज्य के अन्धकार में पड़ा हुआ था। **योरोप के इतिहास से एक प्रश्न करने योग्य है कि १६ वीं शताब्दी तक वह ज्ञान-विज्ञान के विकास में भारतवर्ष से इतना पिछड़ा हुआ क्यों रहा ?** इस प्रश्न का उत्तर यही है कि ईसाई धर्म का आरोपणवाद उस मानसिक स्वतंत्रता की अर्गला बना रहा जो ज्ञान-विज्ञान के विकास के लिये अपेक्षित है। १६वीं शताब्दी के बाद इस अर्गला को तोड़कर ही योरोप के आधुनिक विकास का आरम्भ हो सका। इस आरम्भ के क्रम में कितने विरोध और बलिदान हुए यह भी योरोपीय इतिहास के विद्यार्थियों के लिये विदित है। ब्रूनो, गेलीलियो आदि की कथाएँ ईसाई आरोपणवाद पर अमिट कलंक हैं। मनुष्य के इतिहास और उसकी सभ्यता का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने यह बताने की कृपा नहीं की कि भारतवर्ष के इतिहास में ज्ञान-विज्ञान के विकास में ऐसी कलंकपूर्ण बाधाएँ क्यों नहीं आई। हमारे मत में भारतीय धार्मिक विचारों की उदारता और उनमें आरोपण का अभाव ही इसका कारण था। भारतीय धार्मिक परम्परा में अनेक प्रकार के मत प्रचलित हैं। आरम्भ से ही यह अनेकता और उदारता भरतीय चिंतन का प्रमुख लक्षण रही है। धार्मिक और दार्शनिक सम्प्रदायों में निरीश्वरवादी जैन, बौद्ध, सांख्य, मीमांसा आदि सम्प्रदायों का भी आदर है। भारतीय सम्प्रदायों में विश्वास एक व्यक्तिगत आस्था है। उसमें आरोपण की उग्रता नहीं है। इसीलिये वह अपने स्वरूप में भी कठोर नहीं है तथा कालक्रम

से उसमें परिवर्तन होता रहा है। इसके विपरीत आरोपणवादी सम्प्रदायों में ज्ञान-विज्ञान के विकास के बाद भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता।

विश्वास जहाँ एक ओर आलोक के विस्तार का बाधक है वहाँ दूसरी ओर वह मनुष्य के जीवन का अवलम्ब भी है। आस्था के रूप में वह सचमुच मनुष्य के जीवन की स्थिति का आश्रय है। अन्धविश्वास होने पर भी वह जीवन को आस्था का सम्बल देकर शान्ति और आनन्दमय बनाता है। विश्वास जीवन का बल और सम्बल भी है। वह जीवन के अनेक उद्यमों में उत्साह भरकर उन्हें सम्भव और सफल बनाता है। विश्वास की आस्था मानो जीवन की भूमि है किन्तु इस भूमि पर मार्ग देखकर चलना उचित है। इसी प्रकार विश्वास में भी अनुभव का आलोक रहने पर वह अधिक स्वस्थ और उदार रहता है। उदार और आलोकमय विश्वास भी आलोकदान के अनुकुल नहीं होता, किन्तु वह उसमें कम बाधा डालता है। वह आलोकदान के अनुकूल नहीं, किन्तु आलोकदान के प्रतिकूल भी नहीं है। आलोकमयी आस्था के साथ-साथ आलोक का प्रदान भी किया जा सकता है। इसमें विश्वास के प्रदान से अधिक आलोक के प्रदान के विषय में सतर्क रहने की आवश्यकता है, क्योंकि इसी में प्रमाद की आशंका अधिक रहती है। इस प्रमाद के होने पर विश्वास का प्रदान आरोपण बन जाता है और इसमें उग्रता आते ही यह आग्रह और आक्रमण की ओर बढ़ने लगता है। आग्रह और आरोपण आलोकदान के बिलकुल विपरीत है। ये आलोकदान का ही संकोच नहीं करते वरन् आलोक के ग्रहण की शक्ति को भी कुंठित करते हैं। धार्मिक परम्परा में यह आग्रह अधिक दिखाई देता है। धर्म के मार्ग से धार्मिक काव्य में भी इसका प्रवेश हुआ है। भारतीय धार्मिक परम्परा में उदारता बहुत रही है। इसीलिये प्रचीन धर्म सम्प्रदायों और धार्मिक काव्य में आरोपण बहुत कम मिलता है। उत्तरकालीन धर्म सम्प्रदायों और धार्मिक काव्य में भी आरोपण का अनुरोध अधिक नहीं है। किन्तु जितना कुछ भी उसमें मिलता है वह भी पश्चिमी धर्म सम्प्रदायों के प्रभाव के कारण हैं। भारतीय धार्मिक काव्य की यह एक अद्भुत विशेषता है कि उसमें धार्मिक तत्व के साथ-साथ कलात्मक सौन्दर्य का भी कितना अधिक समवाय है कि इसके कारण उसे साहित्य के इतिहास में अत्यत्त महत्वपूर्ण स्थान मिलता रहा है। धार्मिक विश्वास की उदारता ही धार्मिक काव्य की सफलता का मूल कारण रही है। पश्चिमी भाषाओं और धर्म-सम्प्रदायों के इतिहास में ऐसा सम्भव

नहीं हो सका है। इसका मूल कारण भी भारतीय परम्परा के विपरीत उनके विश्वास में आरोपण के आग्रह की प्रबलता है। इसी कारण पश्चिमी भाषाओं में कोई धार्मिक काव्य इतने सुन्दर नहीं बन सके हैं जो भारतीय धार्मिक काव्यों की भाँति साहित्य में स्थान प्राप्त कर सकें।

विश्वास और आलोकदान का विरोध केवल इतना ही नहीं है कि वह आलोक के विस्तार में बाधक होता है वरन् आग्रह और आरोपण का उग्र रूप धारण करने पर विश्वास की परम्परा में उसके आरोपण के अनेक यंत्र विकसित होते हैं। इनमें संगठन, प्रचारकों का समाज, परस्पर प्रवंचना, प्रलोभन आदि की गणना की जा सकती है। धार्मिक सम्प्रदायों ने आरोपण के आग्रह को अपनाया है वे इन यंत्रों का उपयोग भी करते रहे हैं। विश्वास के आरोपण का अधिक महत्व होने के कारण इन सम्प्रदायों में इन यंत्रों का भी अधिक महत्व रहा है। ये यंत्र धर्म के आध्यात्मिक तत्व के मूलतः अनुकूल नहीं हैं। अतः इन यंत्रों की प्रबलता का परिणाम यह हुआ है कि इन सम्प्रदायों का धार्मिक तत्व क्षीण होता गया है और ये यंत्र ही इनके मुख्य अवशेष के रूप में शेष रहते जा रहे हैं। भारतीय धार्मिक परम्परा के उदार और आलोकमय होने के कारण उसमें आरोपण के यंत्रों के लिए अधिक स्थान नहीं था। फिर भी पश्चिमी धर्म सम्प्रदायों के सम्पर्क और प्रभाव के कारण विश्वास के कुछ यंत्रों ने इसमें भी कुछ स्थान पा लिया। ये यन्त्र आरोपण के अस्त्र नहीं बन सके, क्योंकि यह आरोपण भारतीय परम्परा के विपरीत था, फिर भी ये विश्वास को रूढ़ बनाने में सहायक हुए और आलोक के प्रसार को मन्द बनाने के साधन बने। भारतीय परम्परा में भी इन यंत्रों का परिणाम धर्म के तत्व के अनुकूल नहीं हुआ। जिस रूप में और जिस मात्रा में इन यंत्रों ने भारतीय परम्परा में स्थान पाया उस रूप और मात्रा में वे धर्म को रूढ़ बनाने में सहायक हुए। किन्तु भारतीय परम्परा में भी इनका परिणाम वही हुआ जो पश्चिमी परम्परा में हुआ। धर्म के आध्यात्मिक तत्व को गौण बनाकर ये यंत्र ही धर्म के अवशेष बनने लगे। धर्म की आत्मा को भी क्षीण कर इन यंत्रों के कंकाल धर्म के अवसान का संकेत करते हैं। इन कंकालों में सजीव धर्म की प्रतिष्ठा तभी तक सम्भव हो सकती है, जब तक धार्मिक आचारों की देह में धर्म की आत्मा का तेज प्रकाशित होता रहे तथा उसमें आलोक के अरुण और उज्ज्वल (मन्द और तीव्र) प्रवाह-तंतु प्राण गति से स्पंदित होते रहें।

विश्वास का आरोपण सभी रूपों में दूसरे के व्यक्तित्व और उसकी चेतना की स्वतंत्रता का तिरस्कार है। मृदुल रूपों में भी यह आरोपण एक मृदुल तिरस्कार रहता है। आग्रह और आक्रमण के अधिक उग्र रूपों में यह अधिक उग्र बन जाता है। किन्तु सभी रूपों में इसमें तिरस्कार का भाव बना रहता है। चेतना मनुष्य के व्यक्तित्व की सबसे अधिक गौरवमयी विभूति है। गीता में भगवान ने उसे अपना स्वरूप बताया है (भूतानामस्मि चेतना)। **स्वतंत्रता चेतना की मुख्य विभूति है। चेतना का आनन्द इसी स्वतंत्रता का भाव है।** विश्वास का आरोपण दूसरों की चेतना की स्वतंत्रता का तिरस्कार करता है। मनुष्य की चेतना का गौरव इसी में है कि उसकी चेतना के आलोक का विस्तार स्वतंत्र रूप से हो। आरोपण इस स्वतंत्रता के विपरीत है। उपदेश और प्रचार को आलोकदान समझने का भ्रम हो सकता है। विश्वास का प्रचार और आरोपण करने वालों को भी यह भ्रम रहता है। उपदेश प्रकट रूप में ज्ञान का दान है। किन्तु यदि उपदेश में ज्ञान के ग्राहक के प्रति हीनता अथवा तिरस्कार का भाव रहता है तो ज्ञान का यह दान अपने उद्देश्य में अधिक सफल नहीं होता। दान का मूल भाव तो प्रदान अथवा वितरण ही है। उसमें हीनता और श्रेष्ठता का भाव आवश्यक नहीं है। इसके विपरीत कन्यादान आदि की भाँति अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक दानों में दाता की ओर से एक उदारता और विनम्रता का भाव अपेक्षित होता है। भारतीय परम्परा में दान का यही भाव उचित माना गया है। फिर भी मनुष्य के स्वाभाविक अहंकार के प्रभाव से विद्यादान तथा आर्थिकदान में कुछ श्रेष्ठता और हीनता का भाव आ गया है। श्रेष्ठता का भाव अहंकार का द्योतक है और हीनता इसी अहंकार से फलित होने वाला दूसरे का तिरस्कार है। यह तिरस्कार दान के प्रयोजन को विफल बना देता है। दान का व्यावहारिक प्रयोजन सहायता हो सकता है किन्तु दान का सांस्कृतिक प्रयोजन दाता की उदारता और विनम्रता तथा ग्राहक को गौरव एवं मान देकर उसे समृद्ध बनाना है। दान में उपकार का भाव हीनता का संकेत करके गौरव और समृद्ध दोनों के भावों को खंडित करता है। उपदेश के इसी भ्रम के कारण धर्म और विद्या के विकास के स्थान पर उनका ह्रास होता है। ग्राहक की हीनता और उसके तिरस्कार का भाव न होने पर ही उपदेश तथा अन्य रूपों में आलोकदान आलोक के विस्तार का साधन बन सकता है। विश्वास का आरोपण और

आग्रह उपदेश की अपेक्षा अधिक उग्रता के साथ आलोक की समृद्धि का खंडन करता है।

विश्वास का आरोपण और प्रचार तथा इस निमित्त से दूसरों के व्यक्तित्व का तिरस्कार मुख्य रूप से धर्म आदि के क्षेत्रों में अपनाया गया है। पश्चिमी धर्म सम्प्रदायों में यह अधिक प्रबलता के साथ मिलता है। किन्तु कला, साहित्य और काव्य में इसका विशेष अवसर नहीं है। कला और काव्य में यह बहुत कम पाया जाता है। अपवाद के रूप में भी यह केवल उन्हीं कलाकारों अथवा कवियों में मिल सकेगा जो किसी धार्मिक आग्रह से ग्रस्त हैं अथवा व्यक्तिगत अहंकार से पीड़ित हैं। तुलसीदास जैसे श्रेष्ठ कवि में यह कुछ परिमाण में मिलता है। इसका कारण अपनी धार्मिक आस्था के सम्बन्ध में तुलसीदास की अतिरंजित भावना है। कुछ आधुनिक कवियों में वह अहंकार की अभिव्यक्ति के रूप में मिलता है। पश्चिमी काव्य की यह विशेषता अत्यन्त सराहनीय है कि जहाँ पश्चिमी धर्म में विश्वास के आरोपण का आग्रह बहुत उग्र है, वहाँ पश्चिमी भाषाओं का काव्य इस आग्रह से पूर्णतः मुक्त है। दान्ते अथवा मिल्टन के काव्यों में जहाँ काव्य के कथा और तत्व पर कुछ धार्मिक आस्थाओं का प्रभाव है वहाँ उनके आरोपण का आग्रह इन काव्यों में तनिक भी नहीं हैं। उन प्रसंगों को किसी धार्मिक उद्देश्य अथवा प्रचार की दृष्टि से अधिक प्रभावशाली बनने का प्रयत्न भी नहीं किया गया है। धार्मिक कथानक पर आश्रित होते हुए भी ये मुख्य रूप से कला एवं काव्य की कृतियाँ हैं। धार्मिक-कथानक को इन कवियों ने केवल अपने संस्कारों के संयोग से अपनाया है। कथानक के धार्मिक होने पर भी कोई भी काव्य विश्वास के आग्रह से पूर्णतः मुक्त और अधिकतम कलात्मक सौन्दर्य से युक्त हो सकता है। दान्ते और मिल्टन की काव्य-कृतियां स्वयं ऐसे काव्य का श्रेष्ठतम उदाहरण है। इनके अतिरिक्त पश्चिमी भाषाओं के काव्य में धार्मिक प्रभाव और विश्वास का आरोपण अपवाद रूप में ही मिल सकेगा। पश्चिमी भाषाओं के कवियों के लिये यह एक अत्यन्त गौरव की बात है। पश्चिमी दार्शनिकों में धार्मिक आस्था का अनुरोध इतना प्रबल है कि उसने अनेक दार्शनिकों को अपने तार्किक सिद्धान्तों के साथ समझौता करने के लिये तथा उन्हें खंडित करने के लिये भी विवश किया है। लाईब्नीज, बार्कले, ह्यूम आदि की ईश्वर सम्बन्धी मान्यताएँ इसी स्थिति में हैं। किन्तु दार्शनिकों के विपरीत पश्चिमी कवियों में धार्मिक आस्था का

अनुरोध नहीं है। गेटे के फाउस्ट में कुछ ईसाई सिद्धान्तों का प्रभाव है किन्तु शैक्सपीयर तथा अंग्रेजी के रोमान्टिक कवि जो विश्व में सबसे अधिक लोकप्रिय हैं, धार्मिक विश्वास के प्रभाव से सबसे अधिक मुक्त हैं। यही इनकी लोकप्रियता का कारण भी है। साहित्यिक श्रेष्ठता के साथ-साथ विश्वास के आरोपण और व्यक्तित्व के अहंकार तथा दूसरों के व्यक्तित्व के तिरस्कार के भाव से पूर्णतः मुक्त होने के कारण शैक्सपीयर की साहित्यिक महानता विश्व के लिये मान्य हो सकी।

संस्कृत काव्य भी पश्चिमी काव्य की भाँति ही विश्वास के आग्रह और आरोपण से मुक्त है। पश्चिमी काव्य की भाँति संस्कृत काव्य में भी कलात्मक स्वरूप का ही प्राधान्य है। वाल्मीकि की राम कथा धार्मिक वृत्त नहीं वरन् एक सामाजिक काव्य है। कालिदास के काव्यों में उनकी धार्मिक आस्था के संकेत अवश्य मिलते हैं किन्तु उनमें आरोपण अथवा आग्रह का भाव नहीं है। कालिदास ने अपने-इष्टदेव शिव की महिमा की ऐसी अतिरंजना नहीं की है जो आरोपण के समान प्रतीत हो। कुमारसम्भव का केवल कथानक धार्मिक है, किन्तु वह काव्य पूर्णतः कलात्मक है। अन्य संस्कृत काव्य भी पश्चिमी भाषाओं के काव्यों की भाँति कला-प्रधान ही हैं तथा विश्वास के आरोपण से मुक्त हैं। गीत गोविन्द आदि की धार्मिक आस्था भी आरोपण नहीं हैं वरन् काव्य के कलात्मक सौन्दर्य में समरस हो गई है। इन काव्यों में आलोकदान का कोई सचेष्ट प्रयास नहीं है। ऐसा प्रयास कलात्मक सौन्दर्य के अनुरूप भी नहीं है किन्तु संस्कृत के काव्यों तथा पश्चिमी भाषाओं के काव्यों में जीवन के गम्भीर रहस्यों का ऐसा उद्‌घाटन मिलता है जो पाठक की चेतना में आलोक के स्रोत खोल देता है। इस दृष्टि से इन काव्यों में अलक्षित और उदार आलोकदान का आदर्श रूप मिलता है।

हिन्दी काव्य में भी संस्कृत और पश्चिमी भाषाओं के काव्य की भाँति विश्वास के आरोपण अथवा अहंकार की अभिव्यक्ति का काव्य बहुत कम मिलता है। फिर भी हिन्दी के भक्ति काव्य और आधुनिक हिन्दी काव्य में वह संस्कृत और पश्चिमी भाषाओं के काव्य की अपेक्षा अधिक मिलता है। **आधुनिक हिन्दी काव्य में अहंकार की जैसी अभिव्यक्ति मिलती है, वैसी संसार के किसी भी देश के काव्य में कदाचित ही मिल सकेगी।** इसका कारण देश की दीर्घकालीन पराधीनता के प्रभाव से उत्पन्न युवक कवियों की कुंठा हो सकती है। **एक ओर काव्य में अहंकार की अभिव्यक्ति इतनी कहीं न मिल सकेगी। दूसरी ओर इतने आक्रमणों**

और विदेशी शासनों से पीड़ित भी संसार का कोई नहीं रहा । हिन्दी का भक्ति-काव्य भी बहुत कुछ सीमा तक इसी पराधीनता की प्रतिक्रिया है। पराजित और पराधीन जाति की विवशता में भगवान की शरण ही एक मात्र मार्ग है। दूसरा मार्ग राष्ट्रीय क्रान्ति का है जो अँग्रेजी शासन के पूर्व कई कारणों से भारत में सम्भव नहीं हो सका। **धर्म और कला के समन्वय से युक्त भक्ति काव्य हिन्दी साहित्य की एक अद्भुत विशेषता है।** भारतीय भाषाओं को छोड़कर अन्य किसी देश की भाषा में ऐसा भक्तिकाव्य मिलना दुर्लभ है। धर्म और कला का अद्भुत समन्वय इस काव्य की अनुपम विशेषता है। धर्म में भक्ति की भावना की प्रबलता होने पर धर्म के साथ कलात्मक सौन्दर्य का समन्वय दर्शन में सौन्दर्य के समन्वय की अपेक्षा अधिक सुकर होता है। फिर भी हिन्दी भक्तिकाव्य की उक्त विशेषता अनुपम है। भक्ति के गहन भाव कलात्मक सौन्दर्य की श्रेष्ठताओं के साथ जिस उत्तमता के साथ हिन्दी के भक्तिकाव्य में समन्वित हुए हैं, उसी ने सूर और तुलसी को हिन्दी साहित्याकाश का सूर्य और शशि बनाया है। **शायद ही संसार की किसी भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि ऐसे भक्त कवि हों।** भारतीय भाषाओं के चंडीदास, कम्बन और सुब्रह्मण्यम् भारती में ही सूर और तुलसी का साम्य मिल सकता है। **जहाँ पश्चिम के सबसे महान् कवि शेक्सपीयर का काव्य पूर्ण रूप से लौकिक है वहाँ उसके विपरीत हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का सर्वश्रेष्ठ काव्य धार्मिक और भक्तिपूर्ण है।** धर्म और भक्ति के प्रभाव के कारण इस काव्य में आत्मा के गहन भावों की अभिव्यक्ति के साथ-साथ धार्मिक अनुरोधों की भी छाया है। रामचरितमानस में यह छाया स्पष्ट दिखाई देती है। उसमें धर्म और कला का सर्वोत्तम समन्वय है। इसीलिए वह इतना अधिक लोकप्रिय है जितना कि संसार का कोई काव्य नहीं हो सकता किन्तु दूसरी ओर विश्वास का आरोपण भी कदाचित उसमें सबसे अधिक है। राम की प्रभुता का आग्रह और अन्य पात्रों की हीनता का आग्रह रामचरितमानस के प्रबन्ध को असंतुलित बना देता है। अपने इष्टदेव की महिमा का गान तो प्रत्येक भक्त के लिए स्वाभाविक है। किन्तु अन्य पात्रों का तिरस्कार उचित नहीं। यह सत्य है कि समस्त ज्ञान का उद्घाटन कोई भी काव्य अथवा ग्रन्थ नहीं कर सकता। किन्तु अन्य दृष्टिकोणों की सम्भावनाओं को आग्रह और आरोपण से कुण्ठित करना मनुष्य के विवेक के साथ अन्याय है। अतिरंजित आस्था के आग्रह से उस सम्भावना को अवरुद्ध करना एक साहित्यिक अपराध है।

तुलसीदास के रामचरितमानस में विश्वास का प्रचार करने वाले आग्रह और आरोपण का एक अद्भुत रूप मिलता है, जो धर्म के क्षेत्र में चाहे कितना ही सुलभ हो, काव्य के क्षेत्र में मिलना कठिन है। कठिन इसलिए नहीं कि कवियों में उसकी क्षमता नहीं है, वरन् कठिन इसलिए है कि काव्य परम्परा में उसे दोष मानते हैं। काव्य-शास्त्र में इस दोष का नाम पुनरुक्ति है। पुनरुक्ति एक भाव की आवृत्ति के कारण काव्य के सौन्दर्य को भंग ही नहीं करती, वरन् वह अधिक प्रयुक्त होने पर मनुष्य के विवेक को भी अवरुद्ध करती है। काव्य में यह दोष अपवाद के रूप में उदाहरण के लिए ही मिलेगा, किन्तु रामचरितमानस में इसकी प्रचुरता है। राम के प्रभुत्व और परमब्रह्मत्व को पाठक की आस्था में आरूढ़ करने के लिए तुलसीदास ने इसका आवश्यकता से अधिक उपयोग किया है। एक कुशल कलाकार होने के नाते यह आवृत्ति उनमें अनेक रूपों में मिलेगी। राम के परमब्रह्मत्व की पग-पग पर दुहाई तो उसका एक अत्यन्त सरल रूप है, जो रामचरितमानस की अनेक पंक्तियों में पुनः आवृत्त होता है। इसके अतिरिक्त इसी भाव की आवृत्ति अन्य अनेक रूपों में हुई है। रामचरितमानस के सभी पात्र (एक दो को छोड़कर) किसी न किसी समय राम के परमब्रह्मत्व को स्वीकार करते हैं। कथा-काव्य में एक मान्यता के आरोपण की यह अत्यन्त कुशल और प्रभावशाली विधि है। धार्मिक काव्य में यह विश्वास के प्रचार का एक प्रबल यंत्र है। राम और तुलसी के भक्तों की भावना को इस तुलना से आघात पहुँचेगा किन्तु विचार और मनोविज्ञान की दृष्टि से यह तुलना इतनी अनुचित नहीं है, कि रामचरितमानस में विश्वास के प्रचार की जो विधियाँ अपनाई गई हैं वे बहुत कुछ उन विधियों के समान हैं जो आधुनिक व्यापार में विज्ञापन की कला में विश्वास के प्रचार के लिए अपनाई जाती हैं। पुनुरुक्ति विज्ञापन का एक साधारण सिद्धान्त है। इसीलिए एक ही विज्ञापन का मुद्रण अथवा प्रकाशन बार-बार किया जाता है। पैरी ने धार्मिक चेतना की व्याख्या में यह मत प्रकट किया है कि एक ही धारणा की बार-बार आवृत्ति से आस्था उत्पन्न होती है। 'आवृत्ति' विवेक, तर्क और सन्देह को मन्द करके आस्था को आरोपित करती है। व्यापारी इसी विश्वास को लेकर बार-बार अपनी वस्तुओं का विज्ञापन करते हैं कि उन वस्तुओं के गुणों की निरन्तर आवृत्ति से लोगों के मन में उन वस्तुओं की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में विश्वास पैदा हो जाये। रामचरितमानस के राम के परमब्रह्मत्व को प्रमाणित करने के लिए तुलसीदास द्वारा प्रयुक्त आवृत्ति

की दूसरी प्रणाली का अनुसरण भी व्यापारिक विज्ञापनों में बहुत होता है। लक्स टायलेट साबुन का विज्ञापन प्रतिमास एक नई चित्र-तारिका के नाम और चित्र के साथ होता है। आज वैजयन्तीमाला कहती है कि लक्स साबुन त्वचा को सुन्दर और कोमल बनाता है, तो कल मीनाकुमारी यह प्रमाणित करती है कि लक्स उतना ही शुद्ध है जितना कि वह सफेद है। इस प्रकार एक के बाद एक चित्र तारिका यह प्रमाणित करके कि लक्स त्वचा के सौन्दर्य की रक्षा करता है, जनता में यह विश्वास पैदा करती हैं कि लक्स एक उत्तम साबुन है। लक्स के व्यापारियों की इस प्रमाण-प्रणाली का अनुकरण अन्य वस्तुओं के व्यापारी और भी विविधता के साथ करते हैं। चाय, डालडा आदि पदार्थ बच्चों, खिलाड़ियों, मजदूरों, नर्तकियों आदि सबको शक्ति और स्फूर्ति देते हैं। सबके प्रमाण इनकी उपादेयता का विश्वास जनता के मन में उत्पन्न करते हैं। यह उसी मनोविज्ञान का उपयोग है, जिसका उपयोग कि संस्कृत की प्रसिद्ध कथा के तीन धूर्तों ने उस भोले ब्राह्मण के साथ किया था जो गाय के बछड़े को कन्धे पर बिठाकर ले जा रहा था। मार्ग में थोड़ी-थोड़ी दूर पर एक के बाद एक क्रम से जब तीनों व्यक्तियों ने ब्राह्मण पर आश्चर्य प्रकट किया कि वह कुत्ते को सर पर बिठाकर क्यों ले जा रहा है तो अन्त में उस भोले ब्राह्मण ने गाय के बच्चे को कुत्ता मानकर मार्ग में ही छोड़ दिया और वे धूर्त उसको लेकर चलते बने। चाहे मानस के प्रेमियों और व्यापारियों को यह कितना ही आघातप्रद और अनुचित प्रतीत हो किन्तु यह एक स्पष्ट सत्य है कि राम के परमब्रह्मत्व, वस्तुओं की श्रेष्ठता और गोवत्स के श्वानत्व को प्रमाणित करने का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त एक ही है। वह सिद्धान्त अनेक रूप में एक ही मान्यता की आवृत्ति के द्वारा मनुष्य के विवेक को कुण्ठित करके अतर्कित आस्था का आरोपण करना है। जीवन के सभी क्षेत्रों की भाँति यह काव्य में भी विवेक के जागरण और आलोक के प्रसार में बाधक है।

आग्रह, आरोपण और आवृत्ति के अतिरिक्त अपने मत की अतिरंजना तथा पाठकों के विवेक को कुण्ठित करने के और भी कई रूप हो सकते हैं। ये सभी रूप न्याय के दोषों के अन्तर्गत हैं। स्वच्छ विचार के शील से बहिर्गत होने के कारण ये कवि के शील में भी स्थान पाने योग्य नहीं है। दूसरे के मत का तिरस्कार तथा कुछ कुतर्कों के द्वारा उसका उपहास विचार के शील के उन दोषों में से हैं जो न तो कवि के शील की स्वच्छता का परिचय देता है और न पाठकों के मन में

उस शील के वांछनीय संस्कारों का बीजारोपण कर सकता है। दर्शन सम्प्रदायों में खण्डन के प्रसंग में ऐसे व्यवहार का परिचय प्रायः विद्वानों और आचार्यों ने दिया है। शंकराचार्य जैसे महान् आचार्य ने भी कई स्थलों पर दार्शनिक विचारक के महनीय शील की अवहेलना की है। भगवान बुद्ध पर उन्होंने लोगों को भ्रांत करने का दोषारोपण किया है।[४१] कुतार्किकों को एक स्थान पर बलीवर्द कहा है।[४२] एक स्थान पर कदाचित् उन्होंने विरोधी के तुंड-त्रोटन का संकेत भी किया है। खंडन के प्रसंग में ऐसे अशालीन व्यवहार बड़े विचारकों तक में मिलते हैं। दर्शन के लिए यह बड़े खेद और लज्जा की बात है। कठोर से कठोर तर्क शालीनता के साथ संभव हो सकता है। दार्शनिकों को उदार, उदात्त और नम्र शील की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। कवियों का संबन्ध तो विचार के साथ-साथ भावना से भी है। अतः उनके शील की मर्यादा दार्शनिकों से भी अधिक कोमल और कठोर है। मतभेद, विचार-विरोध और खण्डन के लिए तीव्र तर्क का उपयोग किया जा सकता है, किन्तु इसके लिए दूसरे के मत का तिरस्कार अथवा किसी भी प्रकार से उसका उपहास अनावश्यक है। अनावश्यक होने के साथ-साथ वह अशालीन भी है। कविता के विचार-तत्व के लिए तो काव्य प्रकाशकार ने "कान्ता-सम्मिततयोपदेशयुजे" का आदर्श प्रस्तुत किया है। कान्ता का सम्मित शालीनता का आदर्श है। 'किरातार्जुनीय' की द्रौपदी का युधिष्ठिर के प्रति वचन 'कान्ता-सम्मित' का एक उत्तम उदाहरण है। द्रौपदी के व्यंग में भी एक नम्र और भावमय शालीनता है। कविता में यह शालीनता उतनी ही वांछनीय है जितनी कि कान्ता में। कविता को कामिनी मानने वाले कवियों को तो इस शालीनता को बहुत महत्व देना चाहिए। कवि स्वभाव से भावनाशील होते हैं, इसीलिए दूसरे के विचार के प्रति तिरस्कार और उपहास की भावना उनमें स्वभाव से ही न होनी चाहिए। कविता का मूल स्वरूप तो व्यापक समात्मभाव और भावना की अभिव्यक्ति है। किन्तु अधिकांश कवियों की चेतना अपने ही भावों में तल्लीन रही है। अतः दूसरे के विचारों के खण्डन, तिरस्कार अथवा उपहास के प्रसंग कविता में बहुत कम आते हैं। जहाँ ये प्रसंग आते हैं वहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि कोई अनुदार और असहिष्णु मतवादी शालीनता की मर्यादा को लांघकर बोल रहा है। श्रीहर्ष ने जहाँ न्याय दर्शन के प्रवर्तक गौतम के नाम पर व्यंग किया है, वहाँ नैषधीय चरित का निर्माता कवि नहीं खंडन-

खंड-खाद्य का प्रणेता कुशल तार्किक तिरस्कार के स्वरों में बोल रहा है। कविता में ऐसे स्थल वहीं दिखाई देते हैं, जहाँ कवि अपनी सहज और उदार भाव-भूमि को छोड़कर संकीर्ण तर्क और मतवाद की वीथियों में भटक जाता है। कृष्ण परम्परा के काव्य में निर्गुण ब्रह्म के ऊपर कुछ ऐसे ही तर्क मिलते हैं। सूर का 'निर्गुण कौन देश को वासी' से आरम्भ होने वाला पद इसी वृत्ति का उदाहरण है। कबीर ने भी जहाँ हिन्दू और मुसलमानों की कुछ धार्मिक रीतियों का उपहास किया है, वहाँ इसी वृत्ति का परिचय दिया है। तुलसीदास ने सिद्धान्तों का तर्क अधिक नहीं अपनाया है। रामचरितमानस का सामान्य रूप लोक मानस की भूमि पर विरचित एक स्थूल काव्य है। अतः उसमें सिद्धान्त के तर्क के स्थान पर व्यक्तित्व का तर्क है। व्यक्तियों के प्रमाण से ही उन्होंने राम का परमब्रह्मत्व सिद्ध किया है और दूसरी ओर व्यक्तियों के ही तिरस्कार तथा उपहास से राम के इस परम-ब्रह्मत्व को एक गौरवमयी भूमिका दी है। कालिदास के काव्य में कुछ विचारों की आस्था स्पष्ट झलकती है किन्तु किसी मत का तिरस्कार-पूर्ण खण्डन उन्होंने कहीं नहीं किया है। प्रगतिवादी काव्य में प्राचीन आस्थाओं के प्रति तिरस्कार का भाव प्रायः देखने में आता है। यह माना जा सकता है कि मनुष्य की सांस्कृतिक परम्परा में कुछ ऐसे मत और विचार पैदा हो जाते हैं, जो अन्ततः मनुष्य के लिए अकल्याणकारक, अतः असत्य बन जाते हैं। उनकी असत्यता और अशिवता का उद्घाटन काव्य में भी वांछनीय हो सकता है। यह उद्घाटन उन मतों की तर्कगत भूलों और उनके अमंगल-पूर्ण परिणामों को प्रत्यक्ष करके किया जा सकता है। यह पूर्ण शालीनता के साथ संभव है। इसके लिए दूसरे के मत के तिरस्कार उपहास आदि की अशालीनता की आवश्यकता नहीं है।

अध्याय ४१

अपमान और उपहास

विश्वास के आरोपण और तिरस्कार के समान ही दूसरों का अपमान और उपहास भी आलोकदान तथा आलोक के विस्तार में बाधक होता है। **आलोकदान एक प्रकार का उदार अनुग्रह है, जिसमें उपकार अथवा आरोपण का भाव उचित नहीं है।** यह भाव आलोक के विस्तार को संकुचित करता है और आलोकदान के उद्देश्य को विफल बनाता है। उपनिषदों के शान्ति पाठ में गुरू और शिष्य के 'सहवीर्यंकरवावहै' में गुरू शिष्य के साम्यपूर्ण सहयोग में इसी उपकार और आरोपण का निषेध करके तेजस्वी विद्या की अभ्यर्थना की गई है। धर्म की परम्पराओं में विश्वास का आरोपण मृदुल एवं प्रच्छन्न तथा प्रकट एवं उग्र दोनों ही रूपों में देखा जाता है। सभी रूपों में इसने आलोक के विस्तार का अवरोध किया है और आलोकदान के प्रयोजन को विफल बनाया है। पूर्व और पश्चिम दोनों में सभ्यता की प्रगति इसके कारण रुकी रही है। दोनों दिशाओं में दो धर्मों का प्रचार और आक्रमण इस प्रगति का अवरोधक बना रहा। विश्वास का आरोपण और आग्रह इन धर्मों का मूलमंत्र है। मृदुल और उग्र दोनों प्रकार के आरोपण दूसरों के व्यक्तित्व और उनकी चेतना की स्वतंत्रता का तिरस्कार करता है। **यह आरोपण और तिरस्कार भी एक प्रकार से मनुष्य और आत्मा का अपमान है।** किन्तु विश्वास के आरोपण के अतिरिक्त अपमान के अन्य रूप भी सम्भव हैं। अपमान का अभिप्राय दूसरे के व्यक्तित्व को हीन बनाना है। मनुष्य की स्वतंत्रता और उसके गौरव की उपेक्षा ही अपमान में चरितार्थ होती है। उपहास उसका एक व्यंग्यात्मक रूप है। उपहास भी एक प्रकार का अपमान ही है। उपहास और अपमान में इतना अन्तर है कि अपमान में हम अपने आग्रह और अतिचार से स्वयं दूसरे को हीन बनाते हैं। उपहास में हम दूसरे की हीनता को एक व्यंग्यात्मक रूप में अनावृत करते हैं, जिससे कि वह दूसरों के उपहास का पात्र बनकर अपमानित हो जाता है। उपहास के द्वारा हम किसी व्यक्ति को दूसरों की दृष्टि में अपमान का भाजन बनाते हैं। व्यंग्य और विनोद का पुट होने के कारण 'उपहास'

आरोपण, आग्रह, आक्रमण, तिरस्कार, अपमान आदि की अपेक्षा अधिक मृदुल दिखाई देता है। किन्तु उपहास के पात्र के मर्मानुभव की दृष्टि से यह इनसे कम तीव्र और उग्र नहीं है। प्रायः उपहास का व्यंग-वाण अन्य आघातों से अधिक तीव्र होता है और उसकी प्रतिक्रिया भी अधिक भीषण होती है। द्रौपदी के द्वारा दुर्योधन का अल्प उपहास ही महाभारत का कारण बन गया। वाण के हर्ष चरित के अनुसार वेद-पाठ में दुर्वासा के स्वरभंग का तनिक उपहास करने के कारण देवी सरस्वती को पृथ्वी तल पर जन्म लेना पड़ा। मृदुल प्रतीत होते हुए भी उपहास की भीषण प्रतिक्रिया का कारण कदाचित उसकी तीव्रता और सामाजिकता है। उपहास का पात्र अनेक व्यक्तियों की दृष्टि में अपमान का भाजन बन जाता है। इससे उसके अपमान की मात्रा बढ़ जाती है। तिरस्कार में उपेक्षा का भाव अधिक है। उपेक्षा अपमान का निषेधात्मक रूप है। तिरस्कार की तुलना में विश्वास का आरोपण, अपमान और उपहास अधिक भावात्मक है।

कला और संस्कृति की दृष्टि से विश्वास का आरोपण, तिरस्कार, अपमान और उपहास उस साम्य के घातक हैं जो हमारे मत में कला और संस्कृति का मूल आधार है। अपमान और उपहास दोनों शब्दों का व्याकरण उपसर्गों के द्वारा गौणता का संकेत करता है। 'अप्' का आशय हीनता है। दूसरे के 'मान' को हीन बनाना ही अपमान है। उपहास का 'उप' हास की जिस गौणता का संकेत करता है, वह गौणता हास के साम्य पूर्ण और सांस्कृतिक भाव की दृष्टि से विचारणीय है। भावात्मक और सांस्कृतिक हास व्यक्तित्वों के साम्य से अलंकृत होता है, जिसमें किसी को हीन नहीं बनाया जाता वरन् एक प्रकार से जिसमें सबका उत्कर्ष अभीष्ट है। इस हास की दृष्टि से उपहास 'हास' का गौण रूप है। किन्तु दूसरे के मान की दृष्टि से इसे अपहास कहना अधिक उचित है। सभी रूपों में मनुष्य का अपमान समात्मभाव के उस साम्य को भंग करता है जो कलात्मक सौन्दर्य का मूल सिद्धान्त है। समात्मभाव का यह साम्य संस्कृति का भी आधार है। अतः अपमान का यह वैषम्य संस्कृति का भी घातक है। **जिन समाजों के विश्वास और व्यवहार दूसरों की स्वतंत्रता का निषेध तथा दूसरों के व्यक्तित्व का अपमान करते रहे हैं, वे मानवीय संस्कृति के मूल पर ही आघात करते रहे हैं।** उनके सांस्कृतिक गर्व में एक आत्मगत विरोध निहित है। कला और काव्य के सौन्दर्य के सम्बन्ध में भी अपमान और उपहास का यह वैषम्य विचारणीय है। यदि कला केवल रूप

का सौन्दर्य है तो किसी प्रकार का भी भाव उस रूप में साकार हो सकता है। किन्तु यदि रचना की सामान्य स्थिति की दृष्टि से भी यदि समात्मभाव का साम्य कलात्मक सौन्दर्य का आवश्यक आधार है, तो कला और काव्य के विषय के रूप में भी अपमान और उपहास के भाव सौन्दर्य के बाधक हैं। इस सिद्धान्त के सत्य की परीक्षा काव्यों में मिलने वाले ऐसे स्थलों के सौन्दर्य के द्वारा की जा सकती है। कला के पारखियों और अनुयायियों को ऐसे स्थलों में अधिक सौन्दर्य दिखाई न देगा। ऐसे स्थल काव्य और साहित्य के श्रेष्ठ और स्थायी महत्व के स्थल भी नहीं माने जाते। साहित्य और काव्य में ऐसे स्थल बहुत कम मिलते हैं। इससे यही प्रमाणित होता है कि सौन्दर्य की व्यवस्था में इनके लिए अधिक स्थान नहीं है। कालिदास के अनुसार यदि इन मलिन स्थलों को चन्द्रमा के कलंक की भाँति सौन्दर्य का वर्धक माना जाय तो दूसरी बात है।

काव्य के क्षेत्र में कुछ प्रबन्ध काव्यों के पात्रों के सम्बन्ध में ही अपमान और उपहास के प्रसंग मिलते हैं। ऐसे प्रसंग परिमाण और महत्व दोनों में ही बहुत कम हैं। प्रबन्ध काव्यों में समाज की मान्यता के अनुसार जिन पात्रों को दुष्ट पात्र माना गया है, उन्हीं के अपमान और उपहास के कुछ प्रसंग काव्य में मिलते हैं। राम कथा की परम्परा में कुछ ऐसे प्रसंग अधिक विदित हैं। राम-कथा की परम्परा में बालि, रावण आदि महाबली प्रतिनायक भी खल नायक के रूप में प्रसिद्ध हो गये हैं। इसीलिए उनका चित्रण कुछ अपमान-पूर्ण किया गया है। रामचरितमानस में अंगद-रावण-सम्वाद में तथा रावण-मन्दोदरी के सम्वाद में रावण का चित्रण अपेक्षित गौरव के साथ नहीं किया गया है। राम के भक्तों के लिये राम की महिमा की दृष्टि से यह अपमान शोचनीय प्रतीत न हो किन्तु साहित्यिक और सामाजिक न्याय की दृष्टि से यह अवश्य शोचनीय है। इसी प्रकार रामकथा के प्रसंग में राम की महिमा को बढ़ाने के लिए शिव और परशुराम का उपहास किया गया है। शिव और परशुराम के महिमामय चरित्रों को देखते हुए यह और भी अधिक शोचनीय है। साहित्यिक और सामाजिक न्याय के संतुलन का ध्यान न रखने पर ही ऐसे अपमान और उपहास सम्भव होते हैं। कथा प्रबन्ध में कुछ वस्तुतः निन्दनीय पात्र हो सकते हैं। उनके चरित्र का चित्रण भी यथार्थ रूप में ही होगा। दुष्ट चरित्रों को उदात्त बनाने से कथा और काव्य दोनों का ही प्रयोजन नष्ट हो जाता है। किन्तु उदात्त पात्रों के गौरवपूर्ण व्यवहार के द्वारा

इन दुष्ट पात्रों को भी उचित आदर दिया जा सकता है। यह उदात्त पात्रों के गौरव के अनुरूप है। मधुसूदनदत्त के 'मेघनाद-वध' काव्य में राम और लक्ष्मण ने रावण और मेघनाद को जो गौरव दिया है उसमें इस सामाजिक और साहित्यिक न्याय का उदाहरण मिलता है। 'पार्वती' महाकाव्य में तारकासुर के प्रति कुमार कार्तिकेय का व्यवहार और भाव भी इसी न्याय के अनुरूप है। अपमान और उपहास कलात्मक सौन्दर्य का ही बाधक नहीं वरन् आलोकदान के साथ-साथ सामाजिक श्रेय का भी बाधक है। हिन्दी के कवि और आलोचक उपहास को ही हास्य रस समझने की भूल करते रहे हैं। समात्मभाव का साम्य रस का मूल मर्म है। उपहास के वैषम्य में हास्य रस सम्भव नहीं हो सकता।

अपने मत की प्रतिष्ठा अथवा दूसरे के मत के खण्डन के लिए दूसरे के व्यक्तित्व का अपमान तथा उपहास तो और भी अधिक अनुचित तथा अशालील है। जिस प्रकार धर्म अथवा मत से प्रभावित कुछ कवियों ने तथा विचारकों ने दूसरों के मत के खण्डन के लिए उसका तिरस्कार अथवा उपहास किया है उसी प्रकार कुछ कवियों ने अपने इष्ट पात्र के महत्व को बढ़ाने के लिए दूसरों के व्यक्तित्व का अपमान तथा उपहास किया है। रीतिकाल और छायावाद के कवि तो कुछ स्फुट (मुक्तक) भावनाओं के कलात्मक चित्रण में ही अपने कवित्व की कृतार्थता मानते रहे हैं। उनकी रचनाओं में पात्रों के प्रसंग बहुत कम हैं। अतः किसी के अपमान और उपहास का अवसर भी कम आया है। प्रबन्ध काव्य में इसकी संभावना अधिक रहती है। हिन्दी के कुछ प्रबन्धकार इस संबन्ध में अधिक दोषी हैं। एक बार फिर यह खेद जनक प्रश्न हमारे सामने आता है कि हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाने वाले गोस्वामी तुलसीदासजी ही इस अशालीनता के सबसे अधिक अपराधी हैं। उनके रामचरितमानस का मुख्य उद्देश्य राम का परमब्रह्मत्व सिद्ध करना है। यदि उनकी यह आस्था है तो वे काव्य में इसके प्रतिष्ठापन के लिए पूर्ण स्वतंत्र हैं। कवि की दृष्टि से उनके इस मौलिक अधिकार में किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु अपने इष्ट का महत्व बढ़ाने के लिए दूसरों के व्यक्तित्व के अपमान का अधिकार किसी कवि को नहीं है। वस्तुतः मनुष्य और कवि दोनों की ही दृष्टियों से यह अशालीनता का द्योतक है। अशिष्ट होने के साथ-साथ यह अशिव भी है। शिव का स्वरूप आत्मदान है। आत्मदान का आधार दूसरे के व्यक्तित्व का

आदर है। अतः दूसरे के व्यक्तित्व का अनादर, अपमान और उपहास स्पष्टतः अशिव है।

प्रबन्ध काव्यों में प्रसंगतः कुछ दुष्ट पात्र भी आ सकते हैं। उनमें कुछ अत्यन्त नीच और धूर्त्त भी हो सकते हैं। कवि को उनका चित्रण उसी रूप में करना होगा। किन्तु दूसरों के चरित्र की दुष्टता, धूर्तता और नीचता एक बात है, तथा उसके चित्रण में कवि की अशालीनता और अशिष्टता बिल्कुल दूसरी बात है। जहाँ पहली आवश्यक मानी जा सकती है तथा उचित भी है, वहाँ दूसरी अनावश्यक और साथ ही अनुचित भी है। तुलसीदास और उनके प्रशंसक इन दोनों स्थितियों में भेद नहीं कर सके। तुलसीदासजी ने रामचरितमानस की भूमिका में ही रामकथा में श्रद्धा न रखने वालों के पूर्व पापों का उल्लेख करके अपने सामाजिक शील की संकीर्णता का परिचय दिया है।[४३] सबसे प्रथम महीसुरों की चरण-वन्दना करके बाद में उन्होंने दुष्टों को भी प्रणाम किया है। जिनका शील उन्होंने यह बताया है कि 'जे बिनु काज दाहिनेहु बाँएँ'। इसमें उदारता का आभास अवश्य है, किन्तु इसके मर्म में जो व्यंग है, उसमें अपमान की भावना ही अधिक है। 'दुर्जनं प्रथम वन्देत्' की नीति की भाँति इसमें भी उदारता की अपेक्षा भय और अपमान अधिक है। राम तथा राम के सेवकों के अतिरिक्त मानस के अन्य पात्रों की ओर भी तुलसीदासजी का यही भाव रहा है। मानस के रूपक में ही उन्होंने 'कांई कुमति कैकयी केरी' कहकर कैकयी के प्रति जो भाव दिखाया है तथा रावणादि राक्षसों को जो स्थान दिया गया है उसी में उनके कवि-शील की इस भावना का संकेत मिलता है। मानस के प्रबन्ध में उन्होंने अपनी इस भावना का पूर्ण निर्वाह किया है।

इस प्रसंग में सबसे पहिले राम-कथा की भूमिका में जो शिव और नारद के प्रसंग हैं, इनमें ही दोनों का जो उपहास किया गया है वह तुलसीदास के कवि-शील का परिचायक है। तुलसीदास ने यदि राम को परमब्रह्म माना है तो इसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। परमब्रह्म का स्वरूप तो एक ही है। उसका रूप और नाम आपको जो इष्ट हो वह मान सकते हैं। तुलसीदास का परमब्रह्म को राम मानना उतना ही उचित है, जितना शिव के भक्तों का परमब्रह्म को शिव मानना। किन्तु अपने इष्ट का महत्व बढ़ाने के लिए परमब्रह्म के किसी अन्य रूप का अनादर अथवा उपहास करना अत्यन्त अनुचित है। शिव सनातन हैं,

उनका कोई अवतार नहीं होता। विष्णु चाहे शिव के समान हों किन्तु राम तो विष्णु के अवतार हैं। विष्णु भी परब्रह्म नहीं, वरन् परमब्रह्म की शक्ति के एक रूप हैं। वे शिव के रुद्र रूप के समान हो सकते हैं जो विष्णु के समान ही परमब्रह्म की एक शक्ति के प्रतीक हैं। किन्तु वे परमशिव के समान नहीं हो सकते जो साक्षात् परमब्रह्म हैं। यह सत्य है कि तुलसीदास के भी पूर्व पुराणों में विष्णु के प्रभुत्व की परम्परा बढ़ चली थी। इसका कारण देश की कुछ पतनमुखी वृत्तियाँ थीं। उसी परम्परा के प्रभाव में तुलसीदास ने भी शिव को राम का भक्त बनाकर अपने इष्ट की महिमा का अनुचित विधि से संवर्धन किया। मानस की भूमिका में जो नारद के उपहास की कथा है उसका चाहे पौराणिक आधार प्राप्त हो, फिर भी प्राप्त परम्पराओं का ग्रहण भी हमारी मनोवृत्ति का सूचक है। नारद को ज्ञान देने के लिए विष्णु भगवान ने उनके साथ जो कठोर व्यंग किया है उसकी तुलना नारद के शाप से ही हो सकती है। शिव के रूप के कुछ विचित्रताओं को लेकर उनके उपहास की परम्परा भी कुछ वैष्णव पुराणों में मिलती है। तुलसीदास ने उस परम्परा का उपयोग राम की महिमा के संवर्धन के लिए किया है। इसमें शिव के महिमामय रूप के गौरवपूर्ण पक्षों की उपेक्षा तो है ही साथ ही अपने इष्ट की महिमा के लिए दूसरे पात्रों के अपमान का अक्षम्य अपराध भी है। अयोध्या में राम की बरात का सुन्दर वर्णन तुलसीदासजी ने किया है। राम के रूप पर अयोध्या के नर-नारी मुग्ध हैं। वनवासियों को भी वे 'कोटि मनोज लजावन हारे' दिखाई पड़ते हैं। महादेव के 'जस दूलह तस बनी बराता' की उपहासमयी भूमिका से राम की महिमा और उनके रूप का वैभव कितना बढ़ जाता है। यह उन्हीं महादेव के रूप का उपहास है, जिनकी बरात चढ़ने पर 'कुमार संभव' में औषधिप्रस्थ की नारियाँ यह कहती हैं कि 'ऐसा प्रेम और ऐसा पद पाने के लिए उमा का तप उचित ही था। इनकी दासी बनकर भी कोई स्त्री कृतार्थ हो सकती है। इनकी अंकशायिनी बनने के सौभाग्य का तो कथन ही क्या।'[४४] शिव के जितने चित्र और उनकी जितनी मूर्तियाँ मिलती हैं, उन सब में उनका रूप सुन्दर अंकित किया जाता है। **कालिदास ने राम और शिव दोनों का चित्रण समान आदर के साथ किया है। इस सम्बन्ध में उनकी भावना वैष्णव भक्तों और तुलसीदासजी जैसे वैष्णव कवियों की अपेक्षा अधिक संतुलित और शालीन है।** हमें साहस पूर्वक इस कटु सत्य को स्वीकार करना होगा कि तुलसीदासजी ने इस

सम्बन्ध में कालिदास के समान शोभन रूप में कवि के शील का निर्वाह नहीं किया है।

तुलसीदासजी ने एक शिव और नारद का ही अपमान तथा उपहास नहीं किया है। उन्होंने मानस के अन्य पात्रों के साथ भी इसी प्रकार की अशालीनता का व्यवहार किया है। उनके इस व्यवहार से दो क्षतियाँ हुई हैं। एक ओर तो कवि का शील अपनी नैतिक मर्यादा से च्युत हुआ है। दूसरी ओर राम का शील भी उस पराकाष्ठा पर अखण्डित नहीं रह सका है, जिसको रामचन्द्र शुक्ल की परम्परा के अनुरागी राम के चरित्र का सबसे बड़ा गौरव मानते हैं। अन्य पात्रों के साथ तुलसीदासजी के अन्यायपूर्ण और अशालीन व्यवहार के विवेचन के पूर्व शिव और नारद के उपहास के संबन्ध में हिन्दी कवियों के विनोद संबन्धी दृष्टिकोण पर विचार कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा। **'विनोद' जीवन और काव्य का पराग है, उससे मन प्रफुल्लित होता है।** 'आमोद' शब्द के अर्थ में जो श्लेष है वह भाषा का एक आकस्मिक संयोग नहीं, वरन् एक रहस्यपूर्ण विधान है। 'व्यंग' विनोद की शैली है। साहित्य और काव्य में विनोद के कई रूप प्रचलित हैं। यहाँ उनमें से एक अत्यन्त प्रचलित रूप का विवेचन ही अभीष्ट है। मनुष्य की विनोद वृत्ति का एक साधारण, किन्तु दुष्ट, रूप यह है कि वह दूसरे की आपत्ति और अपमान पूर्ण स्थिति पर हँसता है। केले के छिलके पर रास्ता चलते हुए किसी राहगीर का पैर फिसल जाता है तो हम उसकी विडम्बना पर हँसते हैं। पाण्डव सभा में स्फटिक के सरोवर में उतरते हुए दुर्योधन को देखकर द्रौपदी ने हँसकर व्यंग किया था कि 'अंधों के अंधे ही होते हैं'। दुर्योधन के द्वारा दुःशासन के हाथों द्रौपदी के अपमान से यह स्पष्ट है कि जिसे लक्ष्य बनाकर यह विनोद किया जाता है वह कितना कटु और विषाक्त है। खेद की बात है कि समाज और साहित्य में विनोद का यही रूप अधिक प्रचलित है। हम दूसरे के अपमान और उसकी पीड़ा पर हँसते हैं। विनोद का यह रूप अभद्र और अशिव है, क्योंकि एक दूसरे के गौरव के अनुकूल नहीं है। **विनोद का उत्तम रूप वही है जिसमें किसी का अपमान और गौरव न हो।** जहाँ तक हो सके उसमें दूसरों के गौरव और मान की वृद्धि हो। इस दृष्टि से शिव और नारद, विशेषकर शिव का जो उपहास संस्कृत और हिन्दी काव्य में मिलता है, वह व्यक्तित्व के मान की दृष्टि से अशिव काव्य का ही

उदाहरण है। साथ ही वह साहित्य में विनोद का एक निकृष्ट रूप भी प्रस्तुत करता है।

रामचरितमानस में विनोद के रूप में ही दूसरों के व्यक्तित्व का अनादर और उपहास नहीं है। अन्यथा भी अनेक रूपों और परिस्थितियों में तुलसीदासजी ने राम से भिन्न और राम के विरोधी पात्रों का अपमान तथा उपहास किया है। रामचरितमानस के आरम्भ में शिव-पार्वती का जो प्रसंग दिया है, उससे राम की महिमा भले ही बढ़ती हो किन्तु कालिदास ने 'जगतः पितरौ' कहकर जिनकी वन्दना की है उन पार्वती और महेश्वर की महिमा राम की तुलना में हीन हो जाती है। 'श्रद्धा-विश्वास-रूपिणौ' कहकर स्वयं तुलसीदासजी ने मानस के मंगलाचरण में जिनकी वन्दना की है उन उमा-महेश्वर के गौरव की समुचित रक्षा तुलसीदासजी नहीं कर सके। तुलसीदासजी के प्रसंशक उनको शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के तत्कालीन विरोध में सामंजस्य प्रस्तुत करने का श्रेय देते हैं। 'शिव द्रोही ममदास कहावा' आदि कुछ पंक्तियाँ इस धारणा का प्रमाण और आधार मानी जाती हैं। इन पंक्तियों में समन्वय की कुछ भावना निःसन्देह है। किन्तु ये पंक्तियाँ आजकल के समानतावादी नेताओं के आप्त वाक्यों की भाँति ही हैं जो तत्वतः सत्य होते हुए भी व्यवहार में अप्रमाणित हैं। इसी प्रकार राम की तुलना में जिस रूप में तुलसीदासजी ने शिव का चित्रण किया है उसमें उस समन्वय की भावना का यथोचित निर्वाह नहीं हो सका है, इसका संकेत मानस की कुछ प्रसिद्ध पंक्तियों में मिलता है। **शिव को राम का भक्त बनाकर आरम्भ में ही तुलसीदासजी ने उस समन्वय के मूल को ही दुर्बल बना दिया है।** यद्यपि मानस की यह भी धारणा है कि 'राम ते अधिक राम का दासा' किन्तु सत्य यह है कि मानस में सर्वत्र राम का ही प्रभुत्व व्याप्त है। दासों की महिमा दास्य भक्ति को आकर्षक बनाने का एक छल है। वह भक्ति परम्परा का एक उपचार मात्र है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था अथवा कागजी शासन विधि में कर्मचारियों को स्वामी अथवा शासक कहना एक शाब्दिक उपचार मात्र है। यदि राम के दास राम से अधिक हैं, तो किसी भक्त महाकवि ने उनकी महिमा का ऐसा वर्णन प्रस्तुत क्यों नहीं किया जिसमें भगवान-भक्त की सेवा में खड़े हुए दिखाई देते ? कृष्ण का राधा के पाँय पलोटना तो भक्ति में श्रृंगार की छाया के कारण श्रृंगार के महामान और मनुहार का भ्रम उत्पन्न कर सकता है। यदि भक्त भगवान से बड़ा है, तो राम

को शिव का भक्त बनाकर राम की महिमा का दिग्दर्शन किया जा सकता था। रामेश्वरम् का मंदिर तो इस बात का ऐतिहासिक प्रमाण है कि राम ने शिव की अर्चना की थी किन्तु सनातन परमब्रह्म शिव विष्णु के एक ऐतिहासिक अवतार को अपना आराध्य मानते थे, यह वैष्णव पुराणों और काव्यों की एक लोक-प्रवंचना है। पौराणिक शैली और प्रभाव में रचित होने के कारण रामचरितमानस भी कुछ वैष्णव पुराणों की भाँति इस प्रवंचना का अपराधी है। आरम्भ के प्रसंग की भाँति रामचरितमानस में अन्यत्र भी शिव के जो और प्रसंग आए हैं, वे भी शिव के गौरव के अनुकूल नहीं हैं। उन सब की व्यवस्था राम की महिमा के ही अनुकूल है। राम के अतिरिक्त अन्य किसी पात्र का महत्व रामचरितमानस में साध्य कोटि का नहीं है। सभी पात्र राम की महिमा के साधन हैं। किसी न किसी रूप में साध्य कोटि को पाकर ही प्रत्येक व्यक्तित्व कृतार्थ हो सकता है। योग और वेदान्त में भी व्यक्ति की आत्मा परम साध्य है। ऐकेश्वरवाद का यही दोष है कि ईश्वर की सार्वभौम प्रभुता में जीव एक साधन मात्र रह जाता है।

शिव के अतिरिक्त रामचरितमानस के अन्य पात्रों की ओर तुलसीदासजी का अधिक आदरभाव नहीं है। जिनके प्रति उनका थोड़ा बहुत आदर है, वे सब राम के भक्त हैं। इसीलिए तुलसीदासजी की उन पर कृपा है। भरत, कौशल्या, दशरथ, हनुमान, सुग्रीव, विभीषण आदि उनमें विशेष उल्लेखनीय हैं। निषादराज, शबरी, जटायु आदि भी स्मरणीय हैं। इनके अतिरिक्त जो पात्र राम के विरोध में हैं, उन्हें विरोधी भाव से भक्त बताते हुए भी तुलसीदास ने उनके प्रति तनिक भी आदर भाव नहीं दिखाया। इतना ही नहीं उन्होंने स्पष्ट रूप से इन सबका अपमान और उपहास किया है। इनमें परशुराम जैसे महाप्रतापी और अवतारी महात्मा तथा बालि और रावण जैसे महारथी सम्मिलित हैं। परशुराम भी विष्णु के अवतार थे। वर्ण से ब्राह्मण और पूज्य थे। अतः धनुष यज्ञ के प्रसंग में उनका अपमान और उपहास रामचरितमानस का एक अत्यन्त अशोभन प्रसंग है। परशुराम शिव के भक्त थे, और सीतास्वयंवर के प्रसंग में भंग होने वाला धनुष भी शिव का ही धनुष था। उसे उठाने में असमर्थ रहने वाले प्रतापी महारथियों में लंकापति रावण भी थे, जो शिव के परमभक्त थे। हिमाचल पर उन्होंने शिव की उपासना के लिए जो कठिन तपस्या की थी उसका उज्ज्वल प्रमाण रावणहृद आज भी कैलाश पर्वत के चरणों में लहराता है। रामचन्द्र महाबली थे और उन्होंने उस

शिव धनुष को चढ़ाकर तोड़ दिया था, यह एक ऐतिहासिक तथ्य हो सकता है; किन्तु इस प्रसंग में तुलसीदासजी ने अन्य महारथियों का, विशेषत: शिव के भक्तों का, जो अपमान और उपहास किया है वह काव्य के शील और साहित्य के शिष्टाचार के लिए गौरव की बात नहीं। परशुरामजी स्वभाव से उग्र और क्रोधी थे, किन्तु साथ ही समाज में उनका आदर भी बहुत था। केशवदासजी ने रामचन्द्रिका में जहाँ 'तोरेउ रा यह कहत ही समुझेउ रावण राज' कहकर परशुराम के क्रोध की पराकाष्ठा का संकेत किया है, वहाँ परशुराम की ओर उचित आदरपूर्णभाव भी रखा है। राम के विनम्र व्यवहार द्वारा अन्त में वामदेव के समादर पूर्ण वचन के द्वारा केशवदास ने परशुराम के क्रोध का समाधान किया है—'एकै तुम दोऊ और न कोऊ रघुनन्दन निरदोषी'। केशवदास के राम, तुलसी के राम की भाँति लक्ष्मण के द्वारा परशुराम के अपमान पर हँसते नहीं हैं। जब लक्ष्मण परशुराम की खिल्ली उड़ाते हैं, तब तुलसीदास के राम मन्द-मन्द मुस्कराते हैं। तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम का यह व्यवहार शील की मर्यादा के कहाँ तक अनुकूल है, यह राम के चरित्र में शील की पराकष्ठा मानने वाले आलोचकों के लिए विचारणीय है। तुलसी के इन राम का शील वाल्मीकि के राम से तुलना करने योग्य है। धनुष यज्ञ के प्रसंग में राम की महिमा बढ़ाने के लिए तुलसीदास जी ने रावणादि महारथियों का उपहास किया है, वह भी उन महारथियों की प्रतिष्ठा देखते हुए अशालीन है। इस प्रसंग में तुलसीदास जी ने जो अतिरंजना की है वह अशोभन होने के साथ-साथ असत्य भी है। तुलसीदासजी ने लिखा है कि 'भूप सहस-दस एक हि बारा, लगे उठावन टरहि न टारा'। यह विदित है कि धनुष यज्ञ सीता के स्वयंवर के लिए हो रहा था। जो शिव के धनुष को उठाकर चढ़ा देता उसके साथ सीता का विवाह हो जाता। तब स्वयंवर के विधान के अनुसार दस हजार राजा एक साथ उस धनुष को उठाने की अनुमति कैसे पा सकते थे ? यदि वे धनुष चढ़ाने में सफल हो जाते, तो क्या उन दस हजार राजाओं के साथ एक साथ सीता का विवाह होता ? तुलसीदासजी की इस असत्य और अतिरंजित कल्पना के अनौचित्य की ओर किसी भी आलोचक का ध्यान नहीं गया। सत्य यह है कि राम की महिमा के एक लक्ष्य की ओर तुलसीदासजी की दृष्टि इतनी एकाग्र रही है कि उसके कारण पैदा होने वाले अनौचित्यों की ओर उनका ध्यान बिल्कुल नहीं रहा और रामचरितमानस के प्रशंसक तथा आलोचक तुलसी-

दास की प्रतिभा और उनके प्रस्तावों से इतने प्रभावित रहे हैं कि जहाँ तक हो सका है उन्होंने रामचरितमानस के समस्त प्रसंगों का सामाधान करने का ही प्रयत्न किया है। श्रुतिकल्प मानकर 'मानस' में वे अनौचित्य और असंगति की तो कल्पना ही नहीं कर सकते थे। इस प्रसंग में एक और भी संकेत कर देना अनुचित न होगा। परशुराम, रावण आदि शिव के भक्तों के उपहास से शिव के अपमान की भी ध्वनि निकलती है। मानस की भूमिका में तुलसीदासजी ने राम की महिमा बढ़ाने के लिए जानबूझकर शिव का प्रसंग लिया है। अतः धनुष-यज्ञ के प्रसंग में परशुराम और रावण के उपहास में, विशेषतः परशुराम के उपहास में, वही भूमिका का भाव अवचेतन रूप में तुलसीदास के मन में काम कर रहा हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। यदि वाल्मीकि रामायण में भी सीता-स्वयंवर के धनुष को शिव का ही धनुष बताया है, तब तो यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। अन्यथा इसमें भी उसी मूल भावना का संकेत खोजा जा सकता है। राम के स्वयंवर और राज-तिलक में भी शिव को उपस्थित करके तुलसीदासजी ने शिव का नहीं वरन् राम का ही गौरव बढ़ाया है।

शिव और परशुराम के अतिरिक्त अन्य राक्षस कहलाने वाले पात्रों के साथ तुलसीदासजी और उनके राम ने जो व्यवहार किया है वह तुलसीदास के कवि-शील और पुरुषोत्तम राम की मर्यादा दोनों पर कलंक है। इनमें सबसे पहिले सीताहरण की अत्यन्त शोचनीय दुर्घटना के उत्तेजक कारण सूर्पणखा के अंग-भंग का काण्ड विचारणीय है। किसी भी स्त्री का किसी पुरुष पर मुग्ध होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सूर्पणखा के व्यवहार में स्त्री के सहज विमोह के अतिरिक्त और कोई अनौचित्य नहीं। सूर्पणखा के मोह-भंग करने और उसके प्रस्ताव को ठुकराने के और भी कई कम उग्र मार्ग हो सकते थे। पंचवटी प्रसंग की वह प्रसिद्ध पंक्ति, जिसकी रामायणी भक्त अनेक प्रकार से लीपा-पोती करते रहते हैं, तुलसी और राम दोनों के अपराध का प्रमाण है। 'अहहि कुमार मोर लघु भ्राता', में राम का कथन असत्य ही नहीं वरन् एक स्त्री के साथ राम के अनावश्यक रूप से अशालीन व्यवहार का सूचक भी है। आखिर एक काम-विमूढ़ नारी के साथ यह छल और उपहास का व्यवहार करने में राम के शील का क्या गौरव था? फिर अन्त में उसके साथ शील की मर्यादा का ऐसा असीम उल्लंघन करने में रघुकुल के वीरों की कीर्ति-पताका क्या ऊँची होती थी, यह समझ में नहीं आता। लक्ष्मण का

स्वभाव उग्र था, यह तो सर्वविदित है। किन्तु लक्ष्मण ने भी क्रोध के अतिरिक्त और कहीं इतनी अशालीनता का परिचय नहीं दिया है। क्या वशिष्ठ के शिष्यों को आर्यशील की वह साधारण शिक्षा भी नहीं मिली थी जिसके अनुसार आततायिनी के अतिरिक्त अन्य किसी नारी पर हाथ उठाना अनुचित है। फिर किसी युवती नारी की नाक-कान से विहीन करना तो और भी अधिक अनुचित है। यदि उसने आक्रमण अथवा उत्पात किया था तो वे ताड़का की भाँति उसका वध कर सकते थे। राम की परिस्थिति में यह अनुचित कर्म हुआ। राम की ओर से इसे रोकने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस घटना के बाद राम को कोई पश्चात्ताप भी नहीं हुआ। राम के आरम्भिक व्यवहार में उपहास और अपमान के ही संकेत हैं। इस सबसे राम के शील की कीर्ति कलंकित ही होती है। अहल्या का उद्धार और शबरी का सत्कार करने वाले राम के लिए सूर्पणखा का यह काण्ड अशोभन और अशालीन ही है।

इसके बाद बालि-वध का प्रसंग आता है जो राम के शील के साथ-साथ उनकी शक्ति के लिए भी एक महान कलंक है। बालि कितना बली था यह तो सर्वविदित है। रामचन्द्रिका में रावण की सभा में जब अंगद से प्रश्न किया गया था कि तुम किसके पुत्र हो तो उसके उत्तर पर रावण ने एक झूँठी अनभिज्ञता प्रकट की थी कि मैं नहीं जानता की बालि कौन है। तब अंगद ने उत्तर दिया था कि 'काँख चापि तुम्हें जो सागर सात नहात बखानियो' उस बालि को आप नहीं जानते ? बालि रावण से भी अधिक महाबली था तथा उसने रावण को भी पराजित किया था। ज्येष्ठ होने के नाते किष्किन्धा के राज्य पर उसका अधिकार था। सुग्रीव को इसी प्रकार उसकी सेवा करनी चाहिये थी जिस प्रकार भरत और लक्ष्मण ने राम की सेवा की थी। सुग्रीव को बालि से किस प्रकार द्वेष था यह विदित नहीं। बालि ने सुग्रीव को निकाल भले ही दिया हो किन्तु ऋष्यमूक पर्वत पर उसके रहते हुए बालि ने कभी उसके ऊपर आक्रमण किया इसका कोई प्रमाण नहीं है। इससे बालि की शान्तिमय राजनीति और उसकी शालीनता का प्रमाण मिलता है। रावण को पराजित करने के अतिरिक्त बालि के और किसी अत्याचार का इतिहास विदित नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि बालि का बल और उसका सुशासन ही रावण आदि की उत्तर की ओर अभियानों की अर्गला रहा। बालि के भय से ही दक्षिण का कोई भी अतिचारी शासक उत्तर की ओर आने का साहस न कर सका। तारा के

संबन्ध में बालि पर जो लांछन लगाया जाता है और जिसके कारण राम ने उसे 'अनुज वधु भगिनी सुत नारी' का उपदेश दिया है उसमें भी कदाचित् कुछ भ्रम है। इतिहास में ऐसे भी संकेत मिलते हैं कि तारा मूलतः बालि की ही पत्नी थी। किस प्रकार वह सुग्रीव पर अनुरक्त हुई और बालि को सुग्रीव से उसका प्रत्याहरण करने की यह आवश्यकता हुई यह सब खोज का विषय है। संभव हो सकता है कि वह बालि के बल की अपेक्षा सुग्रीव के रूप पर अधिक मुग्ध हुई हो। सुग्रीव का नाम तो उसके सौन्दर्य का ही द्योतक है। जो भी हो राम ने जिस प्रकार, छल से बालि का वध किया और अन्तकाल में जिस प्रकार अशालीनतापूर्ण उत्तर दिये उससे राम के शक्ति और शील दोनों ही लांछित हुए हैं। राम के चरित्र को इस लांछन से बचाने के लिए ही भवभूति ने 'महावीर-चरित' में राम का बालि से साक्षात् युद्ध कराया है। यह राम के उत्तमशील के अनुरूप है किन्तु ऐतिहासिक नहीं। ऐतिहासिक तथ्य यही है कि राम ने बालि को छल से मारा है। राम भी महावीर थे इसमें कोई सन्देह नहीं। बाल्यकाल में ही ताड़का और सुबाहु को मारकर उन्होंने अपने पराक्रम का परिचय दिया था। लंका-विजय उनकी वीरता का अन्तिम और पूर्ण प्रमाण है। सात तालों को एक ही बाण में वेधकर उन्होंने बालि के वध के योग्य शक्ति और कौशल का प्रमाण दिया था। फिर भी उन्होंने बालि को छल पूर्वक मारना क्यों उचित समझा, यह रामचरित का एक कूट प्रश्न है। संभव है बालि की शक्ति के संबन्ध में निश्चित न होने के कारण अथवा सुग्रीव को उसकी शक्ति सीमा का परिचय कराने के लिए अथवा सुग्रीव को अपने सख्य की सीमा से अवगत कराने के लिए अथवा सीता की मुक्ति को सन्देह में न डालने के लिए राम ने यह छल का निश्चित मार्ग अपनाया हो। आपद्-धर्म की दृष्टि से राम का यह छल क्षम्य भी हो सकता है। किन्तु इस छल से भी अधिक अनुचित राम के वे वचन हैं जो उन्होंने बालि के अन्तिम प्रश्नों के उत्तर में कहे हैं। बालि ने जब मरते समय बड़ी मर्म वेदना के साथ पूछा था कि 'कारण कवन नाथ मोहि मारा' तो राम उसका शालीनता के साथ समुचित उत्तर दे सकते थे। 'नाथ' कहकर निवेदन करने वाले को 'शठ' कहकर उत्तर देना कहाँ की शालीनता है? भ्रातृ-बधू का जो लांछन बालि पर लगाया जाता है, वह न वैदिक युग में इतना दोष पूर्ण माना जाता था और न दक्षिण की वन्य जातियों में रहा होगा। स्वयं बालि का वध करने वाले राम ने मन्दोदरी को विभीषण की महिषी बनाने में कोई

अनौचित्य नहीं माना। वालि इतना महाबली था कि जीवित अवस्था में उसका अपमान अथवा उपहास करने का साहस सबका उपहास और अपमान करने वाले तुलसीदास भी नहीं कर सके। परशुराम के साथ छिछोरी करने वाले लक्ष्मण का क्रोध भी यहाँ बिल्कुल शान्त है। एक बालि का ही अस्तित्व ऐसा है जिसके सामने तुलसी के राम को 'मन्द-मन्द मुस्कराने' का अवसर नहीं मिला। मरणकाल में उसकी कुछ भर्त्सना करके ही तुलसी और राम का शील चरितार्थ हो गया।

बालि से कम बली होते हुए भी रावण बड़ा प्रतापी और पराक्रमी था। तुलसीदास बालि का उपहास नहीं कर सके, साथ ही यह भी स्मरणीय है कि बालि से शिव का कोई संबन्ध नहीं था। बालि का वध राम को अभीष्ट रहा हो किन्तु बालि का उपहास तुलसी को भी अभीष्ट नहीं है। किन्तु रावण का उपहास करने के लिए तुलसीदासजी ने अवसर बनाये हैं। अंगद वाली का पुत्र था अतः रावण की सभा में कोई भी उसका पैर न हिला सका हो इसमें आश्चर्य नहीं, किन्तु रावण की सभा में अंगद का अपमान पूर्ण वार्तालाप तुलसीदासजी की उसी मनोवृत्ति का सूचक है जो राम और राम-भक्तों के अतिरिक्त सबके अपमान में चरितार्थ हुई है। राजनीति की दृष्टि से भी अंगद के वचन उस शान्ति दूत के अनुरूप नहीं हैं जो सन्धि का प्रस्ताव लेकर शत्रु की सभा में गया है। अंगद के पाद प्रहार से रावण के किरीटों का गिर जाना तथा अंगद के द्वारा उनका राम दल की ओर फेंका जाना भी एक ऐसी घटना है जो तुलसीदासजी ने रावण के अपमान और उपहास के लिए गढ़ी है। इसी प्रकार लंका दहन और युद्ध के प्रसंगों में भी तुलसीदास का दृष्टिकोण ऐसा ही रहा है। कुम्भकर्ण के मुँह और कानों में से बन्दरों का प्रवेश करके निकल जाना तथा महाबली राक्षसों के सम्मुख बानरों के अन्य अलौकिक कृत्य सब उसी परम्परा में हैं। सीताहरण, लक्ष्मण की मूर्च्छा आदि पर तुलसीदासजी ने करुणा के नद बहाये हैं किन्तु बालि के वध, लंका-दहन, मेघनाद वध आदि पर उनकी करुणा बिल्कुल मौन रही हैं। इन प्रसंगों में राम का भाव भी तुलसीदास के समान ही करुणाहीन रहा है। रामचरित के प्रसंग में राक्षसों के गौरव और उनके दुःख में सहानुभूति से द्विगुणदीप्त राम के महान शील तथा कवि के उदार और गम्भीर भाव का परिचय मधुसूनदत्त विरचित 'मेघनाद बध' महाकाव्य में दर्शनीय है। विरोधी पात्रों के प्रति आदर और गौरव की भावना का दृष्टिकोण महाभारत के बाद भारतीय काव्यों में कम देखने में आता है।

महाभारत के प्रसंग में ही भारवि के किरातार्जुनीय में युधिष्ठिर के चर ने दुर्योधन की शासन क्रिया का जो गौरवपूर्ण वर्णन किया है वह भारवि की 'कृतविद्विषादरः' वृत्ति का उत्तम उदाहरण है। विरोधी पात्रों के प्रति अपमान और उपहास की जितनी शोचनीय भावना तुलसीदासजी के रामचरितमानस में मिलती है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है।

अध्याय ४२

शिव और शक्ति

पिछले एक अध्याय में हमने शिव और शिवम् के साम्य का विवेचन करते हुए शिव के पौराणिक रूप और तान्त्रिक स्वरूप के अनुरूप शिवम् अर्थात् जीवन के मंगल के निरूपण करने का प्रयत्न किया है। शिव के पौराणिक रूप के विविध उपकरणों के तात्पर्य का अनुसंधान करने पर यह विदित होता है कि शिव का पौराणिक रूप जीवन के मंगल का साकार रूप है। उनके इस रूप के सभी उपकरण लोक-मंगल के विविध पक्षों के प्रतीक हैं। शिव और शिवम् के विवेचन के प्रसंग में इन प्रतीकों की व्याख्या की जा चुकी है। शिव के योगीरूप तप और समाधि को मंगल के मूल साधन के रूप में प्रस्तुत करता है। इनके लिए जो त्याग आदि अपेक्षित हैं वे भी शिव के योगि-रूप में प्रत्यक्ष हैं। सर्प और कंठ का विष अनीति के समाधान के लिए अपेक्षित दो दृष्टिकोणों के सूचक हैं। त्रिशूल भी अनीति के उपचार का एक तृतीय और उग्र मार्ग है। शिव का तृतीय नेत्र तप और ज्ञान के उस तेज का सूचक है जो काम आदि प्राकृतिक, विकारों को मर्यादित कर उनका संस्कार करता है। शिव के मस्तक की चन्द्रकला और उनके जटाजूट की गंगा की धारा जीवन के सृजनात्मक सत्य का संकेत करती हैं, जो मंगल का मूल मर्म है। शिव के रूप के अन्य उपकरण जीवन के उन तत्वों के प्रतीक हैं जो इस सृजनात्मक मंगल के उपकारक हैं। शैव परम्परा के अनुसार सृजनात्मक जीवन ही मंगल का मूल रूप है। इसी सृजन की महिमा के कारण शैव परम्परा में शक्ति की महिमा शिव से भी अधिक है। शक्ति शिव के स्वरूप की सृजनात्मक अभिव्यक्ति ही है। तंत्रों के अनुसार शिव आत्मा है। वे वेदान्त के ब्रह्म के समान परम चैतन्य और परम आनन्द स्वरूप हैं। शैव तंत्र और वेदान्त में एक प्रमुख भेद यह है कि तंत्रों की शक्ति वेदान्त की माया के समान मिथ्या नहीं है। आगे चलकर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव शैव दर्शन पर भी हुआ, किन्तु जीवन के इस सृजनात्मक सत्य को मिथ्या मानना शैव परम्परा का मूल मन्तव्य नहीं है। शिव के पौराणिक रूप में भी जीवन का सृजनात्मक सत्य चरितार्थ हुआ है। शैव तंत्रों में भी सृजनात्मक शक्ति

के विना शिव को शव तुल्य और स्थाणु माना जाता है। अपनी अभिन्न शक्ति की सृजनात्मक परम्परा के वैभव में ही शिव का आध्यात्मिक सत्य चरितार्थ होता है। शिव के आध्यात्मिक स्वरूप का उज्ज्वल प्रकाश शक्ति की सप्तरंग सृष्टि में खिलता है।

यही सृजन मंगल का मूर्त्त और साक्षात् रूप है। यही सृजन, संस्कृति, कला और काव्य का मूल सत्य है। आत्मा की प्रतिभा के आलोक में सृजनात्मक परम्परा में साकार होकर ही जीवन का सांस्कृतिक और कलात्मक सत्य सफल होता है। पुराण और तन्त्रों के आत्मस्वरूप शिव शक्ति के साथ साम्य में ही पूर्ण होते हैं। शिव और शक्ति का यह साम्य तंत्रों का निगूढ़ रहस्य है। यही रहस्य संस्कृति और कला की सृजनात्मक विभूति में भी ओत-प्रोत होता है। संस्कृति और कला के सौन्दर्य और श्रेय दोनों में इस साम्य की स्फूर्ति रहती है। अध्यात्म और दर्शन की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति में आत्मा का ही प्रकाश मुख्य होता है। व्यावहारिक जीवन में बहिर्मुख विमर्श अथवा सृजन की प्रमुखता रहती है। किन्तु इन स्थितियों में दोनों ही एकांगी रहते हैं। सृजन के साम्य से युक्त होने पर अन्तर्मुखी अध्यात्म पूर्ण एवं सफल होता है। इसी प्रकार अध्यात्म के प्रकाश से युक्त होने पर बहिर्मुख सृजन आनन्द का स्रोत बनता है। संस्कृति और कला स्वरूप से ही सृजनात्मक हैं, अतः उनको तंत्रों की शक्ति से ही प्रेरित मानना होगा। तंत्रों की यह शक्ति सृजनात्मक है। सृजन ही सौन्दर्य है, अतः तंत्रों की शक्ति का नाम कला और सुन्दरी है। शैव तंत्र के अनुसार यह सृजनात्मक शक्ति आत्म-स्वरूप शिव से अभिन्न है। आत्मा के प्रकाश से ही सृजन के रूपों में सौन्दर्य खिलता है। संस्कृति और कला का सृजन भी आत्मा की प्रेरणा से ही पूर्ण होता है। संस्कृति और कला के रूप ही आत्मा के प्रकाश से ही आलोकित होते हैं। **जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से पृथिवी पर नाना वर्ण के पुष्प खिलते हैं तथा संध्या के आकाश में नाना वर्ण के मेघ खिलते हैं, उसी प्रकार संस्कृति और कला के रूप आत्मिक प्रकाश से ही खिलते हैं।** समात्मभाव के रूप में आत्मा का यह प्रकाश संस्कृति और कला को एक मौलिक प्रेरणा प्रदान करता है। संस्कृति के सजीव और साक्षात् रूपों में जो भाव इनके उपादान बनते हैं वे भी आत्मा के सूर्य की किरणों के समान है। शुद्ध रूपात्मक कलाओं में ये भाव कला के उपादान नहीं बनते किन्तु इन रूपों की रचना, इनके आस्वादन, प्रदर्शन आदि में आत्मा के भाव की अपेक्षा होती है। प्राकृतिक व्यक्तिवाद के

आधार पर न कला की रचना संभव है और न उसका आस्वादन अथवा प्रदर्शन संभव हो सकता है। शुद्ध रूपात्मक कलाओं के अतिरिक्त काव्य, संगीत आदि भावमय कलाओं में आत्मा के अनुभाव ही सौन्दर्य के रूपों में साकार होते हैं। काव्य तथा अन्य कलाओं में जो भाव कला की महनीय और स्थायी विभूति बने हैं वे आत्मा के ही भाव हैं। प्रकृति के स्वार्थ, अहंकार, अतिचार आदि से परे होने के कारण ही ये भाव अदीन और उदात्त हैं। भावों के वैभव के साथ-साथ भावमयी कलाओं में सौन्दर्य भी उत्कृष्ट रूपों में निखरता है। जीवन के भावों में सजल मेघों से ही आत्मा के सूर्य का आलोक सौन्दर्य के रंजित रूप खिलाता है। रूप के सौन्दर्य को अधिक महत्व देने वाले कलाकार भाव को गौण मानते रहे हैं। कुछ रचनाओं को अपनी भाव-सम्पत्ति के अनुरूप सौन्दर्य का रूप नहीं मिल पाता किन्तु कला और काव्य की उत्तम और अमर रचनायें वे ही ठहरती हैं जिनमें शिव और शक्ति के साम्य की भाँति भाव और रूप का उच्चतम साम्य होता है। शिव के मस्तक पर स्थित चन्द्रकला के अनुरूप साधना के सर्वोच्च शिखर पर इस साम्य की प्रतिष्ठा अभीष्ट है।

कला और काव्य की रचना कलाकार अथवा कवि की सृजनात्मक शक्ति की ही अभिव्यक्ति है। इस शक्ति को कुछ लोग प्रतिभा भी कहते हैं। 'प्रतिभा' शक्ति का आन्तरिक और आत्मिक रूप है। प्रतिभा की भूमि में ही सृजन के बीज अंकुरित होते हैं। प्रतिभा के तेज और शक्ति के ओज से ही ये अंकुर सुन्दर कलाकृतियों में फलते-फूलते हैं। प्रतिभा चाहे जन्म-जात होती हो किन्तु साधना के द्वारा उसका संस्कार होता है। प्रतिभा का यह संस्कार एक ओर जीवन के अनेक विषयों की सम्पत्ति में फलित होता है तथा दूसरी ओर आत्मा के स्वरूप के विस्तार से ही सम्पन्न होता है। प्रतिभा का यह दोनों ओर विकास शिव और शक्ति के समान है। शिव और शक्ति के समान प्रतिभा के ये दोनों पक्ष अभिन्न हैं। जिस प्रकार सृजनात्मक रूप में शिव ही शक्ति बन जाते हैं, उसी प्रकार सृजन की ओर अभिमुख होकर प्रतिभा ही कलात्मक शक्ति बन जाती है। शिव और शक्ति के स्वरूप की भाँति प्रतिभा के आन्तरिक आलोक और उसकी सृजनात्मक स्फूर्ति का विवेक करना कठिन है। साधना के अन्य उपकरण रचना के साधन हैं। जीवन के अनुभवों में उपार्जित होकर वे रचना को सम्पन्न बनाते हैं किन्तु प्रतिभा का मूल स्रोत आत्मा के उदात्त भाव में ही है। वही कलाकृति को अनुपम श्रेष्ठता और अद्भुत सौन्दर्य

प्रदान करता है, जिनका विश्लेषण करना कठिन है। **विश्व की श्रेष्ठ कला-कृतियों की श्रेष्ठता का रहस्यमय स्रोत आत्मा के इसी अनिर्वचनीय भाव में निहित है।** व्यक्तित्व, शैली कुशलता आदि इस अनिर्वचनीय भाव के निर्वचन के प्रयास हैं। साम्य का स्रोत होने के कारण आत्मा का भाव शिवम् अथवा मंगल का मूल आधार है। इसीलिए तंत्रों में शिव को आत्मा कहा गया है। वेदान्त दर्शन में भी आत्म-स्वरूप ब्रह्म को शिव माना गया है (शान्तं शिवं अद्वैतं ब्रह्म)। आत्मा आलोकमय है, अतः प्रतिभा का आत्म-भाव अपने सहज रूप में आलोक का विस्तार करता है। सूर्य के समान आलोक-दान प्रतिभा का सहज धर्म है। प्रतिभा से प्रेरित कला कृतियाँ अनुरागियों के मन के अन्तरिक्ष के अनेक धूमिल कुहरों को आलोकित कर देती हैं। **विषय और उद्देश्य के रूप में आलोक-दान को बहुत कम रचनाओं में अपनाया गया है। किन्तु भाव के अनुपम और उज्ज्वल स्वरूप से सभी श्रेष्ठ रचनायें आलोक का विस्तार करती हैं।** इन कृतियों में प्रतिभा का आत्मभाव प्रकाशित होने के कारण आलोक-दान के बाधक तत्वों का स्थान नहीं रहता। आग्रह के रूप में विश्वास भी प्रतिभा के इस आत्मभाव के अनुकूल नहीं है। एक आलोक-मयी और उदार आस्था से आलोक का कोई विरोध नहीं है। प्रतिभा के आत्मभाव में दूसरों के तिरस्कार, अपमान, उपहास आदि आलोक के बाधक तत्वों के लिए अवकाश नहीं रहता। श्रेष्ठ रचनाओं में ये अपवाद के रूप में ही मिल सकेंगे। उज्ज्वल सौन्दर्य का प्रसार ही कलाधर के समान उत्तम कलाकृतियों का लक्षण है। शिव-रूप आत्मा का आलोक ही इन कला-कृतियों को उज्ज्वल, उदात्त और उदार बनाता है। शक्ति का सौन्दर्य कला की सृजनात्मकता में सफल और साकार होता है। सृजनात्मक परम्परा की प्रेरणा बनकर कला की यह शक्ति एक अमृत परम्परा बन जाती है। सांस्कृतिक जीवन में यह परम्परा अधिक सफल होती है कला की रचनाओं में सृजनात्मक शक्ति तो सहज रूप में साकार होती है। किन्तु सृजनात्मक परम्परा की सफलता का निर्वाह इनमें प्रायः कठिन होता है।

प्रकृति की अतिरंजना से लेकर दूसरों के व्यक्तित्व के अनादर, अपमान और उपहास तक की जिन छः भावनाओं का पीछे वर्णन किया गया है, उन्हें हम सत्य और शिव काव्य का षड्रिपु कह सकते हैं। जिस प्रकार धर्म और नीति में विकारों के षड्रिपु मनुष्य के अन्यथा श्रेष्ठ व्यक्तित्व को भी हीन बना देते हैं उसी प्रकार यह काव्य के षड्रिपु भी अन्यथा श्रेष्ठ काव्य को भी हीन बना देते हैं। ये सभी

भावनायें मोह, अन्धविश्वास आदि उत्पन्न करने के कारण स्वच्छ विवेक की बाधक हैं। स्वच्छ विवेक सत्य का मार्ग-दर्शक है। सत्य के आलोक में ही जीवन का मंगलमय लक्ष्य भी स्पष्ट दिखाई देता है तथा उसकी साधना की प्रेरणा मिलती है। स्वच्छ विवेक का बाधक होने के कारण उक्त भावनाओं से प्रभावित काव्य सत्य काव्य नहीं कहा जा सकता। सत्य के बिना शिव निराधार हैं। अथवा यों कहा जा सकता है कि शिवं सत्य का सर्वोत्तम रूप है। **सृजन, आत्मदान तथा दूसरे के व्यक्तित्व के गौरव, उसकी स्वतंत्रता और उसके विवेक का समादर ही शिवम् है।** उक्त भावनायें शिवम् की इस मर्यादा के विपरीत हैं। अतः इनसे युक्त काव्य सत्य के साथ-साथ शिवं के भी विपरीत है। यदि ऐसे काव्य को असत्य और अशिव कहा जाये तो यह निर्णय कठोर भले ही हो किन्तु अनुचित नहीं है। रामचरितमानस जहाँ एक ओर हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ काव्य है, वहाँ दूसरी ओर इन भावनाओं से सबसे अधिक आक्रान्त है। राम के प्रति एक अन्ध-श्रद्धा तथा कुछ धार्मिक धारणाओं में अन्धविश्वास का सन्तोष उत्पन्न करने के अतिरिक्त चेतना के जागरण, विवेक के उत्कर्ष और सामाजिक कल्याण में रामचरितमानस का कितना योग रहा है यह एक निष्पक्ष अनुसंधान का विषय है। भरत की भ्रातृ सेवा और सीता की पति-निष्ठा दो ही रामचरितमानस के मुख्य सन्देश हैं। इन दोनों में ही अनुजों और स्त्रियों के लिए बड़ों के प्रति अतर्कित श्रद्धा और सेवा के अतिरिक्त जागरण और विकास का कोई सन्देश नहीं है। **संतति के निर्माण और विकास में सृजनात्मक आत्मदान का भावयोग शिवं का मूल तत्व है।** आत्मदान का यह सृजनात्मक भावयोग ही जीवन और समाज के सम्पन्न और समृद्ध मंगल के विविध अंगों और रूपों की अमृत परम्परा में साकार होता है। **रामचरितमानस में ही नहीं भारतीय साहित्य के अधिकांश काव्यों में शिवम् के इस रूप का अभाव है।**

सवच्छ विवेक तथा गौरव और स्वातंत्र्य के सम्मान के साथ-साथ जीवन की एक जागरण और उत्कर्ष शील प्रेरणा तथा उसकी सृजनात्मक परम्परा जीवन के शिवं की सजीव और सक्रिय विधि है। इसी के सुन्दर समाधान के द्वारा शिव-काव्य का निर्माण होता है। अधिकांश संस्कृत और हिन्दी के काव्यों में प्रकृति के दृश्यों और जीवन की रसमय स्थितियों का सुन्दर वर्णन तो बहुत मिलता है किन्तु शिवम् के इस रूप का समावेश उनमें बहुत कम है। जहाँ विवेक का काव्य में आधान करने के लिए प्रसाद गुण की आवश्यकता है वहाँ शिवम् के इस रूप के

आधान के लिए ओज गुण अपेक्षित है। इस प्रकार प्रसाद और ओज के समन्वय से शिव-काव्य का निर्माण हो सकता है। माधुर्य इसमें वर्जित नहीं है, किन्तु केवल माधुर्य इसके लिए पर्याप्त नहीं है। माधुर्य की अधिकता भी इसके लिए उपयुक्त नहीं है। 'माधुर्य' शृंगार रस के अधिक अनुकूल है। जीवन में दोनों का उचित स्थान है। किन्तु शिव-जीवन के ये ही सर्वस्व नहीं हैं। जिस प्रकार समाज में शृंगार के प्रति पुरुष की अधिक अनुरक्ति रही है उसी प्रकार कवियों और पाठकों को काव्य में माधुर्य से अधिक मोह रहा है। कालिदास, जयदेव, विद्यापति पन्त और प्रसाद की भाषा के लालित्य और माधुर्य पर रसिक लोग न्यौछावर हो जाते हैं। माधुर्य का महत्व न मानने वालों को अरसिक कहा जा सकता है, किन्तु जीवन अथवा काव्य में माधुर्य में ही रत रहने वालों को नवाबों और नरेशों की भाँति विलासी कहा जा सकता है। **कालिदास और रवीन्द्र के काव्यों में प्रसाद और माधुर्य का अच्छा समन्वय है, किन्तु दोनों के ही काव्य में ओज की न्यूनता है।** दोनों के ही काव्यों में जीवन के मधुर और मार्मिक रहस्यों के अनुपम चित्रण मिलते हैं किन्तु दोनों के ही काव्य में जीवन की ओजमयी सृजनात्मक परम्परा का सन्निधान नहीं है। सृजन की परम्परा ही रघुवंश का मूल सूत्र होने के कारण रघुवंशी युवराजों के वर्णन में कुछ ओज का आभास अवश्य मिलता है किन्तु समूचे रघुवंश में कालिदास की शृंगार और माधुर्य वृत्ति का ही अधिक प्रभाव है। मंगल-मयी और ओजस्वी सृजन परम्परा के महत्व की ओर कालिदास का ध्यान नहीं था। इसीलिए 'कुमार संभव' और 'शाकुन्तल' में इसका अवकाश होने पर भी वे इसका उचित उपयोग नहीं कर सके। उपनिषदों के अध्यात्म और राजकुल की सुविधाओं के वातावरण में पले होने के कारण रवीन्द्रनाथ का ध्यान भी इस ओर नहीं रहा। उनके गीतों में सरस्वती के नूपुरों की झनकार की प्रतिध्वनि तो बहुत है, किन्तु उनकी वीणा का मन्द्र गंभीर राग अधिक सुनाई नहीं पड़ता और महाकाली की प्रबल पदचाप तथा रुद्र के ताण्डव की तीव्र भंगिमायें तो अत्यन्त दुर्लभ हैं। छाया-वाद का अधिकांश काव्य रीतिकाल की शृंगारमयी भावना और रवीन्द्र की रहस्या-त्मक शैली के प्रभाव में लिखा गया है। अतः उसमें माधुर्य और शृंगार के अतिरिक्त और कुछ ढूंढना कुसुमों में मणियाँ ढूढने के समान है। युग की भावना के प्रभाव के कारण जयशंकर प्रसाद भी अपने काव्य में ओजस्वी परम्परा का कोई समृद्ध रूप नहीं दे सके। कामायनी के आरम्भ का तीन चौथाई भाग छायावाद

की परिचित माधुर्यमयी परम्परा में है। पिछले कुछ सर्गों में शैवागम की छाया में अध्यात्म का उद्घाटन है। इन दोनों में एक स्वाभाविक असंगति है। यह असंगति कामायनी का भी दोष है। शृंगार और अध्यात्म की संगति के लिए साधना का जो संस्कार अपेक्षित है, वह कामायनी के मनु में प्रकृति का आवेग प्रबल होने के कारण प्रतिष्ठित नहीं हो पाया है। **सृजनात्मक परम्परा के रूप में न सही, किन्तु एक सामाजिक प्रेरणा के रूप में ओज और उत्कर्ष का आधान प्रसादजी के नाटकों में अधिक पुष्ट और सफल रूप में हुआ है।** इसका कारण प्रसादजी के नाटकों की वह भाव-भूमि है जिसकी संस्कृति के अन्तर में आन्दोलित होने वाले भूचालों ने हिन्दी के इस महाकवि की चेतना को संघर्ष, ओज और उत्कर्ष के संस्कार प्रदान किये। हिन्दी के अर्वाचीन कवि भी अधिकतर प्रेम और माधुर्य के गीत गा रहे हैं। छायावादी और अर्वाचीन युग की संध्या के क्षितिज पर दिनकर ही एक ऐसा नक्षत्र है जिसकी 'रसवन्ती' में रीतिकाल और छायावाद का माधुर्य है, जिसके 'कुरुक्षेत्र' में प्रसाद और ओज का समन्वय है, तथा जिसके 'रश्मिरथी' में तीनों की एकत्र अन्विति है। यह ठीक है कि दिनकर किसी सृजनात्मक परम्परा की प्रसन्न और ओजस्वी प्रतिष्ठा नहीं कर सके किन्तु यह केवल कथानक की बात है। समाज में इस सृजनात्मक परम्परा का विकास इतना कम हुआ कि शिव-कथा के अतिरिक्त ऐसे कथानक ही दुर्लभ हैं। किन्तु विवेक के जागरण तथा ओजस्वी निर्माण की प्रेरणाओं के तत्व दिनकर के काव्य में प्रचुर मात्रा में वर्तमान हैं। हर्ष की बात है कि स्वतंत्रता के बाद अर्वाचीन कवियों में भी इस चेतना के स्फुलिंग दिखाई देते हैं। आशा है किसी समय इनमें से ही कुछ स्फुलिंग अपनी अन्तर्निहित शक्ति के द्वारा पूर्णतः विकसित होकर साहित्य और संस्कृति के आकाश में ओज के मंगल और सृजन के ओजस्वी सूर्यों का निर्माण करेंगे।

यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि शिव काव्य की यह ओजमयी और सृजनात्मक परम्परा एक ओर न शृंगार और माधुर्य के विपरीत है और न दूसरी ओर काव्य के इतिहास में विदित ओजस्वी काव्य के साथ एक रूप है। सृजन शिवम् का वीज है। प्राकृतिक और सांस्कृतिक दोनों ही अर्थों में शिवम् की इस सृजनात्मक भूमिका में शृंगार और माधुर्य के लिए पर्याप्त स्थान है। इतना अवश्य है कि यह शृंगार रीतिकाल के काव्य का तथा अधिकांश संस्कृत काव्य का अतिरंजित विलास नहीं है। शिव और पार्वती के परिणय तथा रति और लास्य के पूर्व दोनों

की तपस्या का यही रहस्य है। स्वस्थ शृंगार और रति के साथ जीवन के अन्य मंगलमय तत्वों का समन्वय ही प्रकृति और शृंगार को संस्कृति में अन्वित करता है। दूसरी ओर यह ओजस्वी परम्परा काव्य के विदित वीर रस से भिन्न है। वीर रस के विदित रूप में भाव की दृष्टि से शृंगार की रति की भांति ओज का आधार अवश्य है। किन्तु वह ओज प्रायः क्रोध का रूप ग्रहण कर लेता है। शत्रुता उसका सम्बल है। युद्ध इसका क्षेत्र है। वीरत्व का दंभ और प्रदर्शन तथा शत्रु का अपमान इसका धर्म है। ओजस्वी शिव-काव्य में ये सभी तत्व आगन्तुक रूप में संभव हो सकते हैं। किन्तु वे उसके स्वरूप के मौलिक और आवश्यक उपादान नहीं हैं। ओजमयी सांस्कृतिक परम्परा का आधार शक्ति है। शक्ति का रूप बड़ा व्यापक है। शारीरिक बल, बौद्धिक विवेक, मानसिक स्फूर्ति, चेतना की सजगता, अध्यात्म की गौरवमयी उदारता आदि अनेक रूपों का इसमें समाहार है। शत्रुता के वीर दर्प की भाँति यह शक्ति सापेक्ष नहीं है। यह अपने स्वरूप में ही साध्य है। सांस्कृतिक जीवन की मंगलमयी परम्परा में इसके जागरण और विकास का महत्व अपने आप में है। मनुष्य के सांस्कृतिक उत्कर्ष की प्रेरणा का यह एक बहुत बड़ा भाग है। आगमों में शक्ति को शिव का प्राण माना जाता है इसका यही तात्पर्य है कि यह शक्ति की साधना मंगलमयी संस्कृति का प्राण है। शक्ति के बिना जिस प्रकार शिव निर्जीव हैं, उसी प्रकार इस व्यापक शक्ति-साधना के बिना संस्कृति और समाज भी निर्जीव है। यह शक्ति की ओजस्वी और मंगलमयी काव्य की प्रेरणाओं का स्रोत और लक्ष्य है।

इस शक्ति की साधना में ही नवोदित जीवन का उत्कर्ष और विकास पूर्णता प्राप्त करता है। यही शक्ति सामाजिक जीवन में लौकिक अभ्युदय तथा सामाजिक श्रेय की रक्षिका है। यही शक्ति आध्यात्मिक निःश्रेयस की साधना और सिद्धि है। यही शक्ति लोक और अध्यात्म की सेतु है। इसी शक्ति की साधना में आत्मदान का योग देकर गुरुजन अपने जीवन में शिवम् का साक्षात्कार कर सकते हैं। यह शक्ति अपने स्वरूप में सत्य, शिव और सुन्दर है। इसीलिए तंत्रों में इसे शैवी, शाम्भवी आदि तथा ललिता, सुन्दरी आदि नामों से अभिहित किया गया है। उदार होते हुए भी यह शक्ति अनीति के लिए अकरुण है। सजग और सचेतन होने के कारण अनीति के आतंक का उन्मूलन करना इस शक्ति का सहज धर्म है। यह शक्ति सांख्य और वेदान्त की आत्मा के समान एकांगी अध्यात्म की प्रतीक नहीं है।

यह जीवन और आत्मा का वह पूर्ण और समग्र रूप है, जिसमें जीवन के आधार और लक्ष्य-भूत समस्त तत्वों का समाहार है। महादेवीदुर्गा के स्वरूप की कल्पना में शक्ति का यह पूर्ण और व्यापक रूप साकार हुआ है। सिंहवाहिनी, अनेक भुजावाली और अनेक अस्त्र धारण करने वाली भगवती के स्वरूप में शक्ति के सभी रूपों का समाहार है। असुरों के संहार में यह स्पष्ट है कि सामाजिक श्रेय और शान्ति तथा अध्यात्म दोनों की बाधक आसुरी अनीति का उन्मूलन शक्ति के पूर्ण रूप का एक प्रसिद्ध धर्म है। किन्तु साहित्य के विदित वीर रस की भाँति क्रोध में वीरत्व का प्रदर्शन और शत्रु का दलन इस शक्ति का सर्वस्व नहीं है। दुर्गा-सप्तशती में शक्ति की विभूतियों का जो वर्णन है उनमें शक्ति के सांस्कृतिक और रचनात्मक रूपों की ही प्रधानता है। महादेवी के तीनों चरित्रों में जो असुरदलन की प्रधानता दिखलाई देती है, वह उनके बाह्य चरित्र की दृष्टि से ही है। इसका कारण सामाजिक जीवन में अनीति का आतंक है। वस्तुतः शक्ति का ध्वंसात्मक रूप असुरों और अनाचारियों की अनर्गल अनीत का आगन्तुक फल है।

किन्तु आसुरी अनीति सामाजिक जीवन में अनेक आपत्तियों और विक्षोभों का कारण है। **अतः जीवन और काव्य दोनों में व्यवहारिक दृष्टि से शक्ति के रचनात्मक रूप के साथ-साथ इस ध्वंसात्मक रूप की प्रतिष्ठा भी आवश्यक है। अनीति के प्रति उदासीन होकर ही प्राचीन भारत का उत्कृष्ट अध्यात्म असफल हुआ।** ऋग्वेद में इन्द्र के मन्त्रों में अनीति के प्रति सजगता का प्राचीन प्रमाण हमारे इतिहास और परम्परा में मिलता है। उसके बाद ब्राह्मण धर्म के स्वार्थमय और बाह्य आचारों में तथा वेदान्त, जैन और बौद्ध सम्प्रदायों के सीमित और एकांगी अध्यात्म में वह भावना मन्द हो गई। महाभारत में द्रौपदी के चीरहरण के समय समस्त कुल वृद्धों की उदासीनता से यह स्पष्ट है कि अनीति के प्रति समाजिक उदासीनता और उसकी सहिष्णुता एकांगी अध्यात्म के प्रभाव से उस समय तक काफी बढ़ चली थी। चाणक्य ने एक बार उस सजगता की शिखा को अपनी तेजस्विनी आत्मा की ज्वाला से पुनः दीप्त किया था किन्तु चन्द्रगुप्त के वंशधर अशोक के साम्राज्य के ऐतिहासिक दृष्टि से अनुकूल वातावरण में उठने वाली एकांगी अध्यात्म की प्रतिकूल वात्याओं में वह शिखा सदा के लिए अस्तंगत हो गई है। इतिहास में उसकी चिनगारियाँ सदा चमकती रही, किन्तु उनमें से कोई भी चिनगारी इतनी शक्ति प्राप्त न कर सकी कि वह हमारी सांस्कृतिक

भूमि को आलोक और ओज से सफल बनाने वाले सूर्य का रूप ग्रहण कर सकती। स्वाधीनता के इस जागरण काल में हमारा नवीन उदय भी कुछ ऐसी एकांगी भूमिका में हुआ है जैसी एकांगी भूमिका में बुद्ध और अशोक के युग में हमारा पतन आरम्भ हुआ था, जिसे कि अधिकांश लोग अपना अभ्युदय मानते हैं। **इस नवीन युग के विधाता गान्धी में बुद्ध की आत्मा और अशोक की प्रभुता दोनों का एकत्र संयोग है।** गांधीजी बुद्ध के समान साधु थे और दूसरी ओर राजनीतिक नेता होने के नाते उनका प्रभाव अशोक के समान था। उनके जीवन काल में उनके अहिंसात्मक आन्दोलन की जागृति द्वितीय महायुद्ध के बाद की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति तथा अंगरेजों की दूरदर्शिता के कारण भारत को जो स्वतंत्रता प्राप्त हुई है, उसके कारण एकांगी अध्यात्म और अहिंसा की भ्रामक नीति को बहुत बल मिला है। यदि बुद्ध और अशोक के प्रभाव की भाँति गांधीजी का प्रभाव दो हजार वर्ष तक न भी रहा तो भी कई शताब्दियों तक वह अवश्य रहेगा। किसी आन्तरिक जागरण और बाहरी आपत्ति से सचेत होकर ही युगों से भ्रान्त भारतवासी जीवन की समग्रता के स्वस्थ, समर्थ और सुन्दर रूप को पहिचानेंगे। (आज चीनी आक्रमण ने जागरण का वह अवसर उपस्थित कर दिया है)।

किन्तु अभी तक ढ़ाई हजार वर्ष से हमारा सांस्कृतिक वातावरण इतना भ्रान्त है कि हमारे देश और साहित्य के इतिहास में कोई भी नेता विचारक अथवा कवि जीवन के इस पूर्ण और जाग्रत रूप की कल्पना भी नहीं कर सका। इसीलिए हमारे समस्त साहित्य में इसकी प्रतिष्ठा करने वाली कोई कृति उपलब्ध नहीं होती। भारतीय काव्य तो काम-सूत्र और काव्य-शास्त्र के प्रभाव के कारण माधुर्य और शृंगार में ही अधिक अनुरक्त रहा। वीर रस के जो काव्य अथवा नाटक मिलते हैं उनमें व्यक्तियों के वीरत्व का अतिरंजित वर्णन अधिक है, समाज के सांस्कृतिक कल्याण की दृष्टि से शक्ति साधना की सृजनात्मक परम्परा का संकेत उनमें कहीं नहीं मिलता। जिस प्रकार बुद्ध और अशोक के बीच में चाणक्य की चिन्ता और साधना के रूप में सांस्कृतिक जीवन की सशक्त और सजग भूमिका एक बार उद्‌घाटित हुई थी उसी प्रकार चाणक्य के चरित्र की पीठिका में ही एक बार आधुनिक युग में जयशंकरप्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक में उसका आभास फिर दिखाई दिया है। 'स्कन्दगुप्त' में भी उसी की प्रतिध्वनि है। प्रसाद के नाटकों के अतिरिक्त सांस्कृतिक जागरण की ओजमयी कृतियाँ भारतीय साहित्य में ढूँढे भी

नहीं मिलती। छायावादी युग की अस्पष्ट, अमूर्त किन्तु निरूढ़ शृंगारिकता के प्रभाव के कारण जयशंकरप्रसाद की 'हिमाद्रतुंग शृंग' से पुकारने वाली 'स्वयंप्रभा और समुज्ज्वला भारती' अन्य आधुनिक कवियों को प्रभावित नहीं कर सकी। डॉ० फ्रायड के अचेतन मनोविज्ञान के प्रभाव से सचेतन होकर हमारे अधिकांश युवक कवियों की कुण्ठित वासना शृंगार के ही गीत गाकर अपने जीवन की व्यर्थताओं को भुलाती रही है। जयशंकरप्रसाद के नाटकों का ओजस्वी स्वर केवल दिनकर के काव्यों में सुनाई दिया। प्रसाद के नाटक और दिनकर के काव्यों के अतिरिक्त हमारे समस्त साहित्य में सांस्कृतिक और सामाजिक जागरण की ओजस्वी कृतियां दुर्लभ हैं। संस्कृत काव्य में तो वीर रस बहुत कम है। कालिदास, भवभूति, श्रीहर्ष, बाण आदि में शृंगार और करुण की ही प्रधानता है। हिन्दी के इतिहास में जो वीर काव्य मिलता है उसमें व्यक्ति के वीरत्व की अतिरंजित प्रशंसा अधिक है। सामाजिक जागरण और सांस्कृतिक उत्कर्ष की भूमिका में शक्ति की सृजनात्मक परम्परा का अभाव सा ही है। इसके अतिरिक्त इस काव्य के रूप में परुषा वृत्ति के आधार पर शब्दों का मुखर ओज ही अधिक है, भाव का गम्भीर तेज कम है। वीर गाथा काल के काव्यों में यही व्यक्तिवाद और मुखरता प्रधान है। भूषण का काव्य रीतिकाल के लिए अपवाद होते हुए भी उसी परम्परा में है। आधुनिक युग के वीर-रस प्रधान महाकाव्य तथा राष्ट्रीय जागरण की कविताओं में भी यही मुखरता अधिक है। वैखरी की मुखरता आत्मिक दुर्बलता की प्रतिक्रिया है, यह मनोविज्ञान का एक सरल सत्य है। पश्यन्ती और मध्यमा की भूमि में सूक्ष्म, गंभीर और आन्तरिक ओज का अन्तर्निहित सार ही सांस्कृतिक शक्ति-काव्य को प्राण और रूप प्रदान कर उसे पराशक्ति के पीठ पर प्रतिष्ठित कर सकता है।

अध्याय ४३

शिवम् की सृजनात्मक परम्परा

आत्मदान की सृजनात्मक परम्परा शिवं का सक्रिय रूप है। किन्तु इस परम्परा का निर्वाह सन्तति और परिवार तक ही सीमित नहीं है। आत्मभाव एक अनन्त वृत्ति है, अतः उसकी कोई सीमा नहीं हो सकती। व्यावहारिक सीमा की दृष्टि से भी सन्तति और परिवार केवल उसके आरम्भ-बिन्दु हैं। इन बिन्दुओं पर केन्द्रित वृत्तों की परिधि क्षितिज के समान अनन्त और व्यापक है। अखिल विश्व और समस्त समाज इस परिधि के क्रोड़ में समा सकता है। व्यावहारिक दृष्टि से आत्मदान में एक घनिष्ठ आत्मीयता की भावना अपेक्षित है। अतः सन्तति और परिवार के क्षेत्र में यह सहज सम्भव है। किन्तु इस क्षेत्र के बाहर इस भावना का विस्तार शिवं की पूर्णता का मार्ग है। **सन्तति और परिवार से आरम्भ होने वाली सृजनात्मक परम्परा समाज में व्याप्त होकर व्यक्ति की पूर्णता और समाज के मंगल की विधि बनती है।** आत्मभाव वह अनन्त विभूति है जो सरस्वती के कोष की भाँति बाँटने से बढ़ती है। वेदान्त के ब्रह्म की भाँति वह अपने में पूर्ण होते हुये भी तथा अनेक बार पूर्ण रूप से प्रदान किये जाने पर भी पूर्ण ही बनी रहती है। 'पूर्ण' अनन्त के स्वरूप की संज्ञा है। बाँटने से उसकी प्रचुरता में न्यूनता नहीं आती। यदि यह कहें कि इसके विपरीत बाँटने से उसकी समृद्धि होती है तो अनुपयुक्त न होगा। 'पूर्णता' प्रचुरता और समृद्धि की एक तात्विक और तार्किक मर्यादा है। व्यवहार और अनुभव की दृष्टि से विभाजन के द्वारा इस आत्म-विभूति की समृद्धि जीवन का एक ऐसा तथ्य है, जो हमारी सांस्कृतिक क्रियाओं को सार्थकता प्रदान करता है। पूर्णता में समृद्धि की कल्पना से अपूर्णता का जो आभास होता है, वह बुद्धि के तर्क की विवशता है। दूसरी ओर उस पूर्णता में समृद्धि का अनुभव अनुभूति की वास्तविकता है। ब्रह्म के मूल अर्थ में वर्द्धनशीलता का भाव अनुभूति की इसी वास्तविकता का द्योतक है।

अस्तु आत्मदान के द्वारा आत्मविभूति की समृद्धि संस्कृति के शिवं की जीवन में स्फूर्ति है। यह स्पष्ट है कि आत्मदान की जिस सृजनात्मक परम्परा में शिवं की प्रतिष्ठा होती है उसका सांस्कृतिक क्षेत्र प्राकृतिक क्षेत्र की अपेक्षा अधिक व्यापक

है। सृजन का प्राकृतिक क्षेत्र तो औरस सन्तति तक ही सीमित है। प्रत्येक मनुष्य के अस्तित्व में किसी न किसी सूत्र और दिशा से सृजन का प्राकृतिक आधार प्रकृति-सिद्ध है। किन्तु सूर्य के प्रकाश की भाँति सृजन का प्राकृतिक सूत्र और उसकी दिशा एक ही हो सकती है। उस एक सूत्र के सम्बन्ध में सृजन के प्राकृतिक पक्ष का महत्व भी कम नहीं है। प्रकृति संस्कृति का आधार है। आधार के स्वस्थ, सुदृढ़ और समृद्ध होने पर ही वह आधार संस्कृति के भव्य प्रसाद की भूमिका बन सकता है। केवल सृजन का औरस सम्बन्ध प्राकृतिक आत्मदान की एक मर्यादा है। जन्म के बाद आत्मदान का प्राकृतिक क्षेत्र भी सांस्कृतिक क्षेत्र के समान ही मुक्त और व्यापक हो जाता है। किन्तु प्रकृति की अपनी एक मर्यादा है। प्रकृति स्वस्थ जीवन और सांस्कृतिक निर्माण का आधार मात्र है। प्रकृति को एक स्वगत मर्यादा देकर विधाता ने संस्कृति के विस्तार के लिये अनन्त सम्भावनाओं का अवकाश दिया है। प्रकृति की आत्मगत मर्यादा जीवन के स्वास्थ्य, शान्ति आदि का अनन्त स्रोत है। एक ओर जहाँ प्रकृति की अपेक्षायें निरन्तर बनी रहती हैं, वहाँ दूसरी ओर उनकी तृप्ति की मर्यादा बहुत सीमित है। प्राकृतिक अपेक्षाओं के निरन्तर बने रहने के कारण संस्कृति की प्राकृतिक भूमिका जूट की जमीन की भाँति नित्य नई होती रहती है। प्रकृति के धर्मों की निरन्तरता में पलने वाली यह नवीनता ही प्रकृति और संस्कृति का सेतु है। **संस्कृति के मंगल और सौन्दर्य में यह नवीनता का बीज ही आनन्द का अनन्त स्रोत है।** मनोविज्ञान इस नवीनता को रुचि और आकर्षण का मुख्य सूत्र मानता है। कला और काव्य में भी इस नवीनता को सौन्दर्य का स्रोत मानते हैं। माघ का 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' तथा मतिराम का 'ज्यों ज्यों निहारियें नेरे, ह्वै नैनन त्यों त्यों खरी निकसै सी निकाई' और सुमित्रानन्दन पंत का 'पुनः पुनः प्रिय पुनः नवीन' सौन्दर्य में नवीनता के रहस्य के उद्घाटन के ही प्रमाण हैं। वेद अखिल भारतीय वाङ्मय का आदि स्रोत है तथा भारतीय संस्कृति का मूल आधार है।

ओंकार को वेद का सार माना जाता है। साहित्य और शास्त्र की परम्पराओं में ब्रह्मा का आदि वचन होने के कारण ओंकार को मंगल-मूलक माना जाता है। 'प्रणव' ओंकार की प्राचीन संज्ञा है। ओंकार को वेदों का सार माना जाता है। गीता में 'प्रणवः सर्ववेदेषु'[४५] कहकर भगवान ने वेद में ओंकार को अपनी विभूति बताया है। प्रणव की व्युत्पत्ति में नवीनता का ही बीज है। प्रकर्ष रूप से नवीनता

के भाव प्र+नव की प्रणव संज्ञा है। प्रणव वेदों का ही क्या वाङ्मय की मुख्य विभूति है। माण्डूक्य उपनिषद् में ओंकार को चतुष्पाद माना गया है और ओंकार के समान आत्मा को भी चतुष्पाद मानकर उसके रूपों की व्याख्या की गई है। ओंकार की चतुर्थ मात्रा अथवा अमात्रिक चतुर्थ भाग आत्मा के तुरीय रूप और परावाक् के तुल्य है। उसकी प्रथम मात्रा कण्ठस्थानीया अकार, वहि:प्रज्ञा आत्मा और वैखरी वाक् के तुल्य है। शेष दो मात्राओं को आत्मा तथा वाक् के शेष दो रूपों के समकक्ष माना जा सकता है। ओंकार, वाक् और आत्मा की यह चतुष्पाद समानता निराधार ऊहा मात्र नहीं है। इसका एक सांस्कृतिक रहस्य है। ओंकार वाङ्मय का सार है। वाङ्मय वाक् रूप है। वाक् और वाङ्मय में चिदात्मा की यह अभिव्यक्ति होती है। आत्मा की विभूति ही वाक् रूप से स्फुटित होकर वाङ्मय में व्याप्त है। वाक्, वाङ्मय और आत्मा नित्य होते हुये भी नित्य नवीन है। सनातन होते हुए भी उनकी नव नव रूपों में अभिव्यक्ति होती है। यह अभिव्यक्ति ब्रह्म के संवर्धन और पूर्ण की समृद्धि के समान ही है। यही अभिव्यक्ति जीवन और संस्कृति में नवीनता का सूत्र और आनन्द का स्रोत है। प्रकृति और सर्ग के क्रम की परिवर्तनमयी नवीनता एक बाह्य गति है। अपने एकान्त रूप में यह गति वस्तुत: नवीनता की संज्ञा की अधिकारिणी नहीं है। नवीनता वस्तु और प्रकृति के परिवर्तन का रूप अवश्य है किन्तु वह चेतना की अवगति में ही स्फुटित होता है। अत: प्रकृति और सर्ग के क्रम की नवीनता भी आत्मा की अवगति पर आश्रित है। किन्तु आत्मा के स्वरूप में इस नवीनता के भाव और अनुभूति दोनों का निधान है। समुद्र अथवा सरोवर की भाँति आत्मा के स्वरूप में निरन्तर नवीनता की लहरें स्पन्दित और आलोकित होती रहती हैं। लहरों के स्पन्दन और आलोकन समुद्र की भाँति ही आत्मा से अभिन्न हैं। शब्द—ब्रह्म, आत्मा, और परावाक् के अद्वैतभाव का यही अभिप्राय है। अपने नित्य अखण्ड अद्वैतभाव में सर्वदा स्थित रहते हुए भी परावाक् और पराआत्मा अनायास ही नित्य नवीन रूपों में स्फुटित होती रहती है। रूपों की इस नवीनता के साथ साथ आत्मा के सनातन भाव में ही नवीनता का एक अखण्ड स्रोत प्रवाहित रहता है जिसे अनुभूति में ही जाना जा सकता है। वस्तुत: आत्मा के सनातन स्वरूप की यही निगूढ़ नवीनता व्यंजना के अखिल रूपों की अजस्रधारा का मूल स्रोत है। प्रकृति के रूपों की नवीनता इसी का आधार प्राप्त कर सार्थक होती है। संस्कृति के रूपों में इस नवीनता की और भी सम्पन्न अभिव्यक्ति होती है।

प्रकृति की अपेक्षाओं की स्वगत मर्यादा और उसके रूपों की सीमित नवीनता सांस्कृतिक निर्माणों के महत्व के स्रोत खोलती है। इन सांस्कृतिक निर्माणों का आधार और उपदान बनकर तथा अपनी मर्यादा से इनके लिये अवकाश प्रदान कर प्रकृति कृतार्थ होती है। **संतति के प्राकृतिक सृजन के बिन्दु से आरम्भ होकर सांस्कृतिक सृजन की परम्परा के क्षितिजों का विस्तार अनन्त जीवन में होता है।** सृजन के प्राकृतिक धर्म में आत्मदान की परिधि सबसे अधिक सीमित है, किन्तु संतति के सृजन में भी यह परिधि बिन्दु मात्र नहीं है। मिथुनों के द्व्यणुक से मानो प्रत्यक्ष त्रसरेणु की सृष्टि होती है। यह जीव-जगत के सृजन की त्रिपुटी है। वस्तु जगत के निर्माणों में सहयोग का क्षेत्र अधिक व्यापक है। इस सहयोग में आत्मदान की दिशायें अधिक हो जाती हैं तथा सृजन के सौन्दर्य और आनन्द की समृद्धि होती है। सृजन की प्राकृतिक भूमि से उठकर इस सहयोग की दिशायें और सम्भावनायें और अधिक व्यापक हो जाती हैं। आत्मिक सहयोग, जिसे हम समझने के लिए मानसिक सहयोग कह सकते हैं, दिक् काल आदि के प्राकृतिक नियमों से आबद्ध नहीं है। जिस प्रकार मन और आत्मा अपनी क्रिया में स्वतंत्र है, उसी प्रकार उनकी क्रिया का क्षेत्र भी मुक्त और असीम है। सृजन के इस आत्मदान का अनुयोग आत्मभाव की दृष्टि से प्राकृतिक निर्माणों में भी हो सकता है। सांस्कृतिक पक्ष में यह सन्तति के सृजन में भी सम्भव है तथा वस्तुओं के निर्माण में भी सम्भव है। यह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में हो सकता है। सीमित होते हुये भी प्रत्यक्ष रूप अप्रत्यक्ष के असीम और अलक्ष्य गौरव को ग्रहण करने में सहायक होता है। मनुष्यों के जीवन तथा संस्कृति, साहित्य आदि के रूपों में जहाँ सृजन के उपादान पूर्णतः प्राकृतिक नहीं होते अथवा यों कहिये प्राकृतिक की अपेक्षा आत्मिक तथा मानसिक अधिक होते हैं, वहाँ आत्मदान की सीमायें और सम्भावनायें वस्तुतः असीम हो जाती हैं। यहीं संस्कृति, काव्य, कला, अध्यात्म आदि का मुक्त और अनन्त तथा अनन्त सौन्दर्यमय क्षेत्र है। **इसी क्षेत्र में औरस और पारिवारिक सम्बन्ध के बिन्दुओं से उठकर आत्मदान के क्षितिज सामाजिक जीवन के अनन्त गगन में विस्तीर्ण होते हैं।** इसी क्षेत्र में औरस और पारिवारिक सम्बन्ध के बिन्दु से सामाजिक मंगल का सिन्धु उमड़ता है।

सामाजिक क्षेत्र में भी आत्मदान के शिवं की परम्परा का रूप भी वही होता है जो संतति और परिवार के सम्बन्ध में होता है। औरस संतति और समाज के

सम्बन्ध में रक्त और शरीर की आत्मीयता के अतिरिक्त और कोई अन्तर नहीं है। यह केवल एक प्राकृतिक अन्तर है। मनुष्य का स्वभाव प्रकृति से अधिक प्रभावित होने के कारण ही औरस सम्बन्ध का इतना अधिक महत्व है। इतना अवश्य है कि आत्मीयता का प्राकृतिक आधार होने के कारण औरस सम्बन्ध मानसिक आत्मीयता के लिए एक सहज अवलम्ब बन जाता है। साथ ही वह प्रकृति के साथ सांस्कृतिक भावों के सहज समन्वय का आधार भी बन जाता है। किन्तु यदि प्राकृतिक औरस सम्बन्ध सांस्कृतिक भावों तथा मानसिक आत्मीयता के विस्तार में बाधक बनता है तो सभ्यता के लिए दुर्भाग्य की बात है। वस्तुतः औरस सम्बन्धों से उत्पन्न संकोचों का कारण अर्थ व्यवस्था और प्राकृतिक सुविधाओं के वितरण में विषमता है। यह आशा की जा सकती है कि धीरे धीरे इस विषमता के दूर होने पर मनुष्य के स्वभाव के सांस्कृतिक स्रोत खुल जायेंगे। आर्थिक और सामाजिक समता का सूर्योदय होने पर मनुष्य के मन के संकुचित कमल खिल जायेंगे और सांस्कृतिक भावों का आमोद मुक्त भाव से चतुर्दिशाओं में फैलने लगेगा। इस आशा में केवल एक ही आशंका है, वह यह है कि विज्ञान और व्यापार के प्रभाव से आधुनिक सभ्यता के दृष्टिकोण में आर्थिक और भौतिक उपकरणों का इतने अतिरंजित अनुपात में आदर हो रहा है कि एक प्रकार की विषमता दूर होने पर एक दूसरी उससे भी कठिन विषमता उत्पन्न हो जायेगी। इस विषमता का मिटाना और भी अधिक कठिन होगा, क्योंकि पहली विषमता की भाँति इस विषमता को मिटाने में मनुष्य की कोई प्राकृतिक प्रेरणा सहायक न होगी। इन दो विषमताओं में मनुष्य की प्राकृतिक प्रेरणा की स्थिति एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत है। आर्थिक वितरण और व्यवस्था में जो विषमता है, उससे मनुष्य की प्राकृतिक आकांक्षायें कुंठित होती हैं और मनुष्य की प्रकृति ही उस मनुष्यता के विरुद्ध विद्रोह करती है। इसी विद्रोह के प्रभाव से विषमता के विरोधी आन्दोलन पल रहे हैं, और वह धीरे-धीरे मिट रही है। किन्तु विज्ञान और व्यापार के प्रभाव से जो एक नई विषमता उत्पन्न हो रही है वह प्राकृतिक आकांक्षाओं को कुंठित करने के स्थान पर उन्हें अतिरंजित प्रोत्साहन दे रही है। इस प्रोत्साहन के कारण मनुष्य की प्राकृतिक प्रेरणा इस विषमता को बढ़ाने में ही सहायक होगी। इस विषमता को मिटाकर सांस्कृतिक संतुलन स्थापित करने के लिये मनुष्य जाति को शिक्षा द्वारा चेतना के जागरण का मार्ग अपनाना होगा। विषमता के बढ़ते हुए वातावरण में इस मार्ग

का बनाना और सार्थक होना दोनों ही बहुत कठिन हैं। इस कठिनता के दो मुख्य कारण विचारणीय हैं। एक तो यह कि प्रकृति के भोगों में एक स्वाभाविक आसक्ति है। शरीर और मन दोनों का स्वभाव इस आसक्ति से आबद्ध है। प्रकृति की प्रेरणाओं की आधुनिक अतिरंजनाओं से इस आसक्ति का बन्धन और दृढ़ हो रहा है। ऐसी परिस्थिति में किसी भी शिक्षा के द्वारा सांस्कृतिक संतुलन की सफल चेतना का जागरण बहुत कठिन होगा। दूसरे प्रकृति के भोग स्वभाव से ही स्वार्थमय हैं। समस्त भोगों की संवेदना और अनुभूति का केन्द्र अहंकार है। आर्थिक व्यवस्था की स्थिति में जो क्लेश रहता है उससे जहाँ एक ओर अहंकार को तीव्र आघात पहुँचता है, वहाँ दूसरी ओर दूसरों के क्लेश की संवेदना से सहानुभूति उत्पन्न होती है। सहानुभूति करुणा का ही एक भाव है। आत्मभाव अथवा प्रेम उसका मर्म है। यह सत्य है कि अधिक क्षीणता की अवस्था में मनुष्य निष्कर्म हो जाता है। 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्' क्षीणता की इन्हीं चरम अवस्थाओं में लागू होता है। अन्यथा क्षीणता और क्लेश की सहनीय और माध्यमिक अवस्थाओं में संवेदना तथा करुणा ही जाग्रत होती है। यही संवेदना शोषितों के संगठन की प्रेरणा और उनके विद्रोह की शक्ति बनती है। जहाँ प्राकृतिक आकांक्षाओं की कुंठा में यह क्रांतिमुखी सम्वेदना पलती है, वहां प्राकृतिक भोगों की अतिरंजना से एक अतिरंजित अहंकार की वृद्धि होती है। अतिशय भोगमुखी सभ्यता इस अहंकार के अत्यन्त सीमित रूप को दृढ़ बनाती है। दम्पति अथवा प्रेमियों के मिथुन इस अहंकार की इकाई बन गये हैं। इन मिथुनों में भी परस्पर संघर्ष दिखाई देता है। कारण यह है कि वस्तुतः प्रकृति के अहंकार की इकाई व्यक्ति ही है। **प्रकृति के अहंकार और भोग की आकांक्षा को सीमित करने पर ही सामाजिक सम्बन्धों की सांस्कृतिक भूमिका बनती है। इन सम्बन्धों में आदान के मोह के स्थान पर प्रदान की उदारता मनुष्य का धर्म बनती है। प्रकृति के उपादान इस प्रदान के विषय बनते हैं। यही प्राकृतिक प्रदान सांस्कृतिक आत्मदान का आधार और सूत्र बनता है।** संतति और परिवार के सीमित क्षेत्रों में प्राकृतिक भोगों की मर्यादा के आधार पर ही प्राकृतिक और सांस्कृतिक आत्मदान का वृक्ष सभ्यता की भूमि पर सामाजिक चेतना के जागरण के द्वारा प्राकृतिक और सांस्कृतिक आत्मदान का क्षेत्र कितना ही बढ़ाया जा सकता है। सामाजिक मंगल की समृद्धि का यही आशामय मार्ग है। किन्तु आधुनिक युग में ऐतिहासिक आर्थिक

विषमताओं के निवारण के साथ-साथ एक नई और कठिनतर विषमता का जो रूप बढ़ रहा है, उसे देखते हुए इस आशा के मार्ग में अनेक आशंकायें खड़ी हो जाती हैं। ज्यों-ज्यों प्राचीन आर्थिक विषमतायें दूर हो रही हैं त्यों-त्यों क्लेशजन्य समवेदना और सहानुभूति का प्राकृतिक आधार मिट रहा है। अतः सभ्यता के विकास के साथ आत्मदान के सांस्कृतिक भावों का आधार ही अधिक महत्वपूर्ण बनता जायेगा, किन्तु इन आधारों के उपयोग के लिए उदार चेतना के जागरण की आवश्यकता होगी। बौद्धिक क्षेत्र में इस उदार चेतना की महिमा दिन-दिन अधिक विशुद्ध रूप में हमारे सामने आ रही है।

किन्तु दूसरी ओर प्राकृतिक भोगों की अतिरंजना जिस विजृम्भित अहंकार का पोषण कर रही है वह इस उदार चेतना के बिल्कुल विपरीत है। इसी विरोध के कारण आधुनिक शिक्षा की समस्त बौद्धिक व्याख्यायें निष्फल हो रही हैं। शिशु-पालन का भार सरकार द्वारा ले लेने पर आत्मदान का औरस आधार भी न रहेगा। औरस आधार का रक्त-सम्बन्ध तथा क्लेश की समवेदना में प्राकृतिक और सांस्कृतिक दोनों ही क्षेत्रों में आत्मदान के विस्तार के लिए एक प्राकृतिक आधार था। इन दोनों आधारों के न रहने पर प्राकृतिक आत्मदान का तो महत्व ही कम हो जायेगा। इसका महत्व तो मुख्यतः अभाव में ही है। अभावों के न रहने पर प्राकृतिक आत्मदान में उपादान का महत्व न होकर आन्तरिक और आत्मिक भावना का महत्व ही अधिक होगा। यह भावना एक सांस्कृतिक भाव है, अतः विषमताओं और अभावों के न रहने पर तथा शिशु की असमर्थता का महत्व भी कम हो जाने पर आत्मदान का सांस्कृतिक भाव ही अधिक महत्वपूर्ण रह जायगा। समाज में से अज्ञान और अंधकार मिटने पर प्रौढ़ों के सम्बन्ध में सांस्कृतिक आत्मदान के भी कुछ पक्ष, जो आजकल महत्वपूर्ण हैं, विलीन हो जायेंगे। बालकों की शिक्षा का भी सरकार की ओर से प्रबन्ध होने पर शिक्षकों के अतिरिक्त अन्य लोगों के लिए आत्मदान का यह क्षेत्र भी बन्द सा हो जायेगा। **इस प्रकार सभ्यता के आधुनिक विकास की गति में प्राकृतिक आत्मदान का महत्व बहुत कम हो जायेगा और सांस्कृतिक आत्मदान के क्षेत्र बहुत सीमित हो जायेंगे।** शासन और श्रम की व्यवस्था में अपने कर्त्तव्य का पालन उसका एक सामान्य रूप रह जायगा। यह कर्त्तव्य जीविका के प्रतिदान के साथ होगा। दूसरे इसमें वैज्ञानिक और व्यापारिक सभ्यता के यान्त्रिक बन्धन, विवशता और एकरसता रहेगी। इन सबके प्रभाव

से वह कर्त्तव्य-पालन एक नियमित किन्तु नीरस व्यापार बन जाएगा। इस नीरसता के निवारण के दो ही मार्ग हो सकते हैं, एक तो प्राकृतिक भागों के अतिरंजित रूपों की मादकता, दूसरे सांस्कृतिक भावों का स्वतंत्र और असीम उल्लास। सभ्यता के विकास की गति में जिस प्रकार प्राकृतिक आत्मदान का महत्व कम हो रहा है तथा सांस्कृतिक आत्मदान के क्षेत्र सीमित हो रहे हैं, उसे देखते हुए यही प्रतीत होता है कि इस नीरसता के निवारण का पहिला मार्ग ही अधिक प्रचलित रहेगा। प्रकृति के भोगों की आधुनिक अतिरंजना में इस पहिले मार्ग की एक सहज प्रेरणा रहेगी। यह प्रेरणा और सांस्कृतिक आत्मदान के क्षेत्रों का सीमित होना दोनों पहिले मार्ग के प्रचार में ही सहायक होंगे। **ऐसी स्थिति में साहित्य कला आदि के क्षेत्रों में सख्य और सहयोग का भाव ही सांस्कृतिक आत्मदान के विकास का एक मात्र सम्भव मार्ग रह जायगा।** सृजनात्मक परम्परा के सूत्र के बिना यह भी अहंकार और विलास की अतिरंजनाओं के कारण असफल रहेगा अतः सरकार द्वारा शिक्षा और चिकित्सा का प्रबन्ध होने पर भी शिक्षा और सेवा के क्षेत्र में मुक्त रूप से सांस्कृतिक आत्मदान की भावना का संवर्द्धन ही भावी मनुष्य को प्रकृति की अतिरंजना के उन्माद से बचाने का एक मात्र मार्ग है। संतति और परिवार के औरस सम्बन्धों का महत्व कम हो जाने के कारण विस्तृत सामाजिक क्षेत्र में शिक्षा की सृजनात्मक परम्परा तथा सेवा की स्नेहमयी पद्धति के निस्सीम विस्तार की सम्भावनायें भावी समाज में विकसित हो सकेंगी। इन सम्भावनाओं को सत्य और सार्थक बनाने के लिए हमें अपने प्राकृतिक भोगों की अतिरंजित आकांक्षा को सीमित, अपने अहंकार को मर्यादित तथा आत्मभाव की सांस्कृतिक चेतना को विकसित बनाना होगा। यह विकास ही भविष्य में व्यक्ति के आनन्द और समाज के मंगल का मार्ग होगा। यह विकास हमारे अब तक विदित सभी सांस्कृतिक रूपों से भिन्न और अधिक समृद्ध होगा। प्राकृतिक विषमताओं और असमर्थताओं के न रहने के कारण इस आत्मदान में अनुग्रह का वह भाव नहीं रहेगा जिससे हमारी सभ्यता अभी मुक्त नहीं हो पा रही है। इसमें नेतृत्व और महत्ता का वह दर्प भी न रहेगा जिसे हमारी सभ्यता अभी तक बड़ी श्रद्धा से पूजती आई है। **इस नवीन आत्मदान का आधार वह स्वतंत्र और समतापूर्ण आत्मभाव होगा जिसे पूर्व का अध्यात्मवाद दर्शन का चरम तत्व मानता आया है। इस स्वतन्त्रता और समता के आत्मभाव में ही सच्चे साम्यवाद और जनतंत्रवाद का आनन्दमय**

साम्राज्य स्थापित होगा। इसी आत्मवाद की समृद्धि में कला और संस्कृति के अनन्त सौन्दर्य और मंगल के अजस्र स्रोत प्रवाहित होंगे। इन्हीं प्रवाहों के नैसर्गिक कूलों पर सौन्दर्य और श्रेयमयी सभ्यता के तीर्थ निर्मित होंगे।

शिवम् का स्वरूप सृजनात्मक है। एक सृजनात्मक परम्परा के द्वारा ही शिवम् जीवन और समाज की निरन्तर विभूति बन सकता है। सौन्दर्य शास्त्र की दृष्टि से सौन्दर्य का स्वरूप भी सृजनात्मक है। किन्तु शिवम् और सुन्दरम् के सृजनात्मक स्वरूप में एक अन्तर है। **सौन्दर्य को सृजनात्मक कहने की अपेक्षा सृष्टि कहना अधिक उचित है।** सौन्दर्य के रूप में चेतना की सृजनात्मक वृत्ति सफल होती है। किन्तु सौन्दर्य के इन फलों में सृजन के बीज नहीं होते। सौन्दर्य की सृष्टि स्वयं एक परम्परा हो सकती है किन्तु सौन्दर्य का स्वरूप स्वयं इस परम्परा की विधायक नहीं है। **वस्तुतः सौन्दर्य की परम्परा सृष्टियों की परम्परा है।** इन परम्पराओं के स्रोत पृथक पृथक विधाताओं की प्रतिभा में हैं। इन प्रतिभाओं की स्वतंत्र सृजनात्मक वृत्ति के कारण अन्य शक्ति-बिन्दुओं के आत्मदान की प्रेरणा का अनुयोग इनके कृतित्व में अधिक नहीं है। **सौन्दर्य की ये कृतियां निर्बीज फलों की भाँति सृजन की परम्पराओं का विधान नहीं करती।** सौन्दर्य के आस्वादन से हमें आनन्द प्राप्त होता है, उस आनन्द में हम विभोर हो जाते हैं किन्तु उसमें हमें सौन्दर्य के सृजन की प्रेरणा नहीं मिलती। कला के अनुरागी बनकर हम कला के स्रष्टा नहीं बन जाते, यदि क्रोचे के मत के समान हम कला के आस्वादन को ही सौन्दर्य की सृष्टि मानें तो दूसरी बात है। **किन्तु कला के आस्वादन का यह रूप स्वयं सौन्दर्य की सृष्टि होते हुए भी कला की पूर्व सृष्टि से भी अधिक निर्बीज होती है।** कला की प्रथम सृष्टि आस्वादन के आनन्द की सृष्टि अवश्य करती है किन्तु आस्वादन के आनन्द की सृष्टि अन्य किसी सृष्टि की विधायक नहीं होती। इस प्रकार यदि कला-कृतियों और उनके आस्वादन को सौन्दर्य की सृष्टि मानें तो सौन्दर्य की सृजनात्मक परम्परा इन्हीं दो चरणों में समाप्त हो जाती है। **अतः यह कहना अनुचित नहीं है कि अनुभूति और कला-कृति दोनों के रूप में सौन्दर्य स्वयं एक सृष्टि है, किन्तु वह सौन्दर्य के सृजन की परम्परा की प्रेरणा नहीं बनती। परम्परा के निर्माण के अर्थ में सौन्दर्य सृजनात्मक नहीं है। सृष्टि होते हुए भी सौन्दर्य स्रष्टाओं की सृष्टि नहीं है। इसके विपरीत शिवम् दोनों ही अर्थों में सृजनात्मक है।** वह आत्मदान के द्वारा दूसरे की चेतना में एक अपूर्व भाव की

सृष्टि है। किन्तु चेतना में भाव की यह सृष्टि कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि की भाँति निर्बीज नहीं वरन् सबीज होती है। वस्तुतः वह स्रष्टाओं की सृष्टि है। इस स्रष्टाओं की सृष्टि में शिवम् की सृजनात्मक परम्परा निरन्तर प्रगतिशील रहती है। सौन्दर्य के आस्वादन के विपरीत शिवम् के आत्मदान के लाभ को प्राप्त कर हमें शिवम् के सृजन की प्रेरणा मिलती है। कलाकृतियों का आस्वादन करके हमें कलाकार बनने की कामना नहीं होती किन्तु शिवं का प्रत्येक रूप हमें आत्म-निर्माण तथा आत्म-निर्माण की परम्परा को आगे बढ़ाने की प्रेरणा देता है। **इस प्रकार स्रष्टाओं की सृष्टि होने के कारण शिवम् का सृजनात्मक रूप सौन्दर्य की भांति संस्कृति की परम्परा ही नहीं वरन् संस्कृति की परम्परा का विधायक भी है।**

प्राकृतिक जीवन में नैसर्गिक सृजन का रूप स्वाभाविक और अचेतन होते हुये भी शिवम् की इस सृजनात्मक परम्परा के अनुरूप है। वनस्पतियों की सृष्टि के फल सृजन की अनन्त परम्पराओं के वाहक हैं। वनस्पतियों की यह परम्परा ही पशुओं और मनुष्यों के जीवन में समृद्ध हुई है। शिव की पौराणिक कथा में काम का प्रसंग शिवम् के साथ सृजनात्मक परम्परा के सम्बन्ध का ही द्योतक है। जिस स्थूल अर्थ में शैव धर्म की लिंग-पूजा की व्याख्या की जाती है उस रूप में भी वह सृजनात्मक परम्परा का ही प्रतीक है। यदि काश्मीरी शैव धर्म के अनुसार इस प्रतीक की व्याख्या विश्व सृष्टि के रूप में की जाये तो शिव का सृजनात्मक रूप और भी अधिक व्यापक रूप में स्फुटित होता है। शिव की शक्ति सृजनात्मिका शक्ति है। उसके विमर्श से ही विश्व सृष्टि होती है। यह शक्ति शिव से अभिन्न है। सुन्दरी होने के साथ साथ वह शिव भी है। इसीलिये उसी सृष्टि के सौन्दर्य में सृजन की अमृत परम्परा भी निहित है। सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होने के साथ-साथ वह आत्मदानी स्रष्टाओं की भी सृष्टि है। इसीलिये ईश्वर का काव्य ही आदि और सर्वश्रेष्ठ शिव काव्य है। इस अर्थ में ब्रह्म के लिये (जो शिव भी है) 'कवि' की औपनिषदी संज्ञा अत्यन्त उपयुक्त है। अन्य प्रतिभाशाली कवियों की कृतियाँ भाव, रूप और तत्व तीनों ही दृष्टियों से शिव के सृजनात्मक धर्म का सन्निधान करके उभय अर्थ में सृजनात्मक बन सकती हैं। समाज के जीवन के साथ एक व्यापक समात्मभाव इसकी भूमिका है। तत्व की दृष्टि से जीवन की सृजनात्मक परम्परा का सन्निधान सौन्दर्य के रूप को सृजन के शिव तत्व से समन्वित करता है। **रूप की दृष्टि से प्रसाद और माधुर्य के साथ-साथ ओज का उत्कर्ष**

व्यापक समात्मभाव की भूमिका में जीवन की सृजनात्मक परम्परा को प्रगतिशील संवाहिनी बनाता है। यह स्पष्ट है कि शिवम् की यह सृष्टि केवल प्राकृतिक नहीं है। प्राकृतिक सृजन की परम्परा इसका आधार मात्र है इसकी भूमिका पर ही सांस्कृतिक सृजन की परम्परायें स्थापित होती हैं। किन्तु सृजन की सांस्कृतिक परम्पराओं में प्राकृतिक भूमिका के समन्वय के लिये प्रकृति का संस्कार अपेक्षित है। शिव की कथा में काम का प्रसंग जहाँ एक ओर संस्कृति की सृजनात्मक परम्परा में प्राकृतिक सृजन के निमित्ति के रूप में काम के ग्रहण का सूचक है, वहाँ दूसरी ओर काम-दहन का प्रसंग उस प्राकृतिक धर्म के संस्कार का द्योतक भी है। आत्मा के समृद्ध संस्कारों की विभूति प्राप्त करके ही काम का प्राकृतिक सृजनधर्म संस्कृति की सृजनात्मक परम्परा की समुचित भूमिका बन सकता है। शिव की तपस्या और उनका काम-दहन तथा शिव की प्राप्ति के लिये पार्वती का तप पुरुष और स्त्री दोनों के पक्ष में काम-संस्कार की साधना के संकेत हैं। **शिव की तपस्या की पूर्ववर्तिता इस सत्य का निर्देशन करती है कि काम के इस संस्कार में पुरुष का नेतृत्व संस्कृति का प्रथम मंत्र है।** काम के अतिचार और उच्छृंखलता का आरोपण पुरुष पर ही अधिक किया जा सकता है। पुरुष-तंत्र समाज का इतिहास इस आरोपण की यथार्थता को प्रमाणित करता है। प्राकृतिक सृजन के धर्म और उत्तरदायित्वों के सम्बन्ध में पुरुष की स्वच्छन्दता, नारी के मातृत्व की दुर्बलतायें आर्थिक और सामाजिक तंत्रों पर पुरुष का एकाधिकार आदि कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिन्होंने काम के सम्बन्ध में पुरुष के अतिचार को अमर्यादित बनाया। विलासी जीवन की अकल्पनीय अतिरंजनाओं के दिव्य स्वर्ग को पृथ्वी पर साकार बनाने वाले राजेन्द्रों और सामन्तों के इतिहास में पुरुषों के इस अतिचार को लोम हर्षक उदाहरण मिल सकते हैं। साधारण सामाजिक जीवन भी अतिरंजित विलास के इस स्वर्ग की छाया से प्रभावित है। **इस दृष्टि से शिव के अनुरूप संयम और साधना के द्वारा पुरुष की मर्यादा का नेतृत्व ही संस्कृति के शास्त्र का अनुशासन-सूत्र है।** किन्तु मंगलमयी संस्कृति के निर्माण का यह एक ही पक्ष है। पार्वती की तपस्या का दूसरा पक्ष इस निर्माण की विधि को पूर्ण बनाता है। नारी भी प्रकृति की पुत्री है। यदि चाणक्य-नीति का 'कामश्चाष्ट–गुणस्मृतः' का आरोप गलत भी हो तो भी प्राकृतिक काम की प्रबलता विशेषतः मातृत्व के पूर्व स्त्री में भी पुरुष के ही समान होती है। स्त्री का मातृत्व उसके काम की मर्यादा का एक प्राकृतिक तंत्र

है। फिर भी उसके समुचित संस्कार के लिये स्त्री के लिये भी संयम और साधना अपेक्षित है। पार्वती की तपस्या स्त्री के लिये अभीष्ट इसी साधना का संकेत है। इसी साधना के द्वारा संस्कृत नारी संस्कृत शिव की अनुरूप सहधर्मिणी बन सकती है। इस साधना के पीठ पर ही दोनों का परिणय प्राकृतिक जीवन में संस्कृति का संयम है। कार्तिकेय के समान ओजस्वी और असुरजयी कुमारों की परम्परा इसी संयम के अवगाहन का पुण्य फल हो सकती है। **साधना के संस्कारों के उत्तराधिकारी ओजस्वी कुमार ही संस्कृति आतंकभूत तारकों का अन्त करके विश्व को संस्कृति के उन्मुक्त विकास के योग्य बना सकते** हैं। अतिचार की अनीति अत्यन्त सूक्ष्म व्यापक और दृढ़ है। उसके स्थूल रूपों के उन्मूलन के बाद भी अनीति के तारकों के वंशधर छद्म-साधना के द्वारा युग युग में अनर्थ के सुरक्षित त्रिपुरों का निर्माण करते रहते हैं। एक जाग्रत जन-अभियान के द्वारा लोकमंगल के पाशुपत से ही इन त्रिपुरों का विनाश और उद्धार सम्भव है। आसुरी अनीति रक्त बीज की दुरुच्छेद्य परम्परा है। ओजस्वी कुमारों और जन-अभियानों की एक निरन्तर सजग और सृजनात्मक परम्परा की इस अनीति के संघर्ष में लोकमंगल की परम्परा को सुरक्षित और संवहित कर सकती है।

काव्य में इस परम्परा का त्रिविध सन्निधान ही काव्य को वस्तुतः सांस्कृतिक और मांगलिक रूप देने में समर्थ है। भाव की दृष्टि से एक व्यापक समात्मभाव इस काव्य के सौन्दर्य और मंगल का मूल स्रोत है। तत्व की दृष्टि से सांस्कृतिक जीवन की सृजनात्मक परम्परा का सन्निधान ही समात्मभाव के मंगलमय स्रोत का प्रवाह है। प्रसाद और माधुर्य के साथ ओज की प्रमुखता इस मांगलिक काव्य के प्रवाह की गति है। **इस प्रकार भाव, रूप और तत्व इन तीनों विमाओं में शिव काव्य में संस्कृति की सृजनात्मक परम्परा का स्वरूप पूर्ण होता है।** शिव सुन्दर भी हैं। उनकी सृजनात्मक शक्ति का नाम सुन्दरी है। अतः मंगल की सृजनात्मक परम्परा कलात्मक सौन्दर्य के विपरीत सौन्दर्य की सृष्टि की परम्परा भी है। ओजस्वी कुमारों के यौवन, रूप और संस्कृति में शिव-सुन्दर बनकर संस्कृति की परम्परा में शिवम् और सुन्दरम् की समन्वित सृष्टि बनता है। **भारतीय काव्य में शिव-कथा की उपेक्षा के कारण शिवम् की सृजनात्मक परम्परा बहुत अल्प परिमाण में मिलती है।** कथा का आधार शिव कथा के लिये आवश्यक नहीं है किन्तु केवल सिद्धान्त-तत्वों का आधार लेकर भी शिव काव्य को रूप देने वाली कोई रचना

संस्कृत अथवा हिन्दी के काव्य में नहीं मिलती। कथा काव्य में राम और कृष्ण का ही प्रभुत्व अधिक रहा है। राम और कृष्ण के जीवन में उनके पराक्रम ही प्रधान हैं; सृजनात्मक परम्परा का अधिक महत्व नहीं है। इसके अतिरिक्त दोनों के ही जीवन-वृत्त में साधना का कोई विशेष स्थान नहीं है। राम को मर्यादा पुरुषोत्तम अवश्य कहते हैं किन्तु वह मर्यादा उनके शील की सन्दिग्ध मर्यादा है। कृष्ण के चरित्र में इस शील की मर्यादा का भी कोई महत्व-पूर्ण स्थान नहीं है, वरन् इसके विपरीत गोपियों के साथ रासलीला और सोलह हजार रानियों के साथ विवाह साधना से विपरीत दिशा का संकेत करता है। संस्कृत तथा हिन्दी काव्य में जिन अन्य कथा प्रसंगों का अवलम्ब लिया गया है उनमें भी संस्कृति की सृजनात्मक परम्परा का कोई महत्व-पूर्ण स्थान है। वाल्मीकि रामायण में राम लक्ष्मण आदि के जन्म और उनकी शिक्षा के प्रसंग में तथा सीता के द्वितीय निर्वासन के बाद लव-कुश की शिक्षा के प्रसंग में जीवन की सृजनात्मक परम्परा का सन्निवेश मिलता है। वाल्मीकि के बाद कालीदास के काव्य में सौन्दर्य की ही सृष्टि अधिक है। काव्य के रूप में भाषा के माधुर्य और अलंकारों के प्राचुर्य में तथा काव्य के तत्व में प्रकृति और शृंगार के वर्णन में यह सौन्दर्य की सृष्टि साकार हुई है। यद्यपि कालिदास की तीनों प्रधान रचनाओं में जीवन जी सृजनात्मक परम्परा के चित्रण के लिये पर्याप्त अवकाश था फिर भी शृंगार और सौन्दर्य के प्रभाव के कारण उन्होंने उसका यथोचित उपयोग नहीं किया। 'कुमारसम्भव' महाकाव्य में उन्होंने शिव और पार्वती की तपस्या में सृजनात्मक परम्परा की साधनात्मक भूमिका अवश्य प्रस्तुत की है, यद्यपि इस भूमिका में भी उनकी शृंगारमयी रुचि का प्रभाव स्पष्ट है। 'कुमारसम्भव' का उत्तरार्द्ध चाहे कालिदास की रचना हो अथवा न हो किन्तु यह स्पष्ट है कि कार्त्तिकेय के जन्म की कथा के पौराणिक चमत्कार तथा शृंगार की प्रधानता के कारण वे कुमारसम्भव की कथा की सृजनात्मक सम्भावनाओं को सफल नहीं बना सके। यदि चाहते तो वे कुमारसम्भव के ओजस्वी आख्यान को विक्रमादित्य के पराक्रमी चरित्र का प्रतीक बना सकते थे। रघुवंश की कथा तो सूर्यवंशी राजाओं की सृजनात्मक परम्परा का ही इतिहास है। उसके आरम्भिक-सर्गों में रघु और आज़ के विक्रमों में इस परम्परा का उत्तम निर्वाह मिलता है। किन्तु अज-विलाप के बाद उसमें शृंगार की ही प्रधानता आ जाती है और अन्ततः रघुवंश का अन्त अग्निवर्ण के अतिरंजित विलास और क्षय में होता है। लव-कुश

के बाद रघुवंश में कोई महत्वपूर्ण राजा नहीं हुआ इसलिए यदि कालिदास चाहते तो लव-कुश के तेजस्वी शासन में जीवन की सृजनात्मक परम्परा का उत्कर्ष दिखाकर काव्य को एक ओजस्वी संदेश के साथ समाप्त कर सकते थे। लव-कुश की कथा के समान ही शाकुन्तल-भरत के बाल्यकाल को लेकर भी उसी परम्परा का संदेश साहित्य में अमर बनाया जा सकता था। प्रेम और श्रृंगार की प्रधानता होने के कारण दुष्यन्त और शकुन्तला के पुर्नमिलन में नाटक का अन्त उचित ही है। किन्तु उस मिलन के पूर्व भी जिस प्रकार वी० शान्ताराम ने अपने 'शकुन्तला' नामक चित्रपट में किया है, लव कुश के समान भरत की शिक्षा के प्रसंग में सृजनात्मक परम्परा को भी यथोचित महत्व दिया जा सकता था। विक्रमादित्य के चरित्र को लेकर भी उर्वशी के साथ उनकी प्रेम कथा का ही नाटक कालिदास हमें दे सके। कालिदास के बाद के प्रसिद्ध महाकाव्यों में भी सृजनात्मक परम्परा के तत्व का कोई विशेष महत्व नहीं है।

हिन्दी काव्य में संस्कृति की सृजनात्मक परम्परा का प्रायः अभाव है। वीरगाथा काल के कुछ काव्यों में वीरों के पराक्रम का वर्णन अवश्य है किन्तु उसमें भी सृजनात्मक परम्परा का महत्व बहुत कम है। वीरगाथा काल के बाद तो भक्ति और रीति काव्य का युग है जिसमें अलौकिक और लौकिक रूपों में श्रृंगार की ही प्रधानता है। राम और कृष्ण के अवतार भक्ति काव्य की परम्परा के आधार हैं। राम और कृष्ण दोनों के रूप में सौन्दर्य की ही प्रधानता है। यद्यपि दोनों के जीवन पराक्रम से पूर्ण है फिर भी तुलसी और सूर के काव्य में 'कोटि मनोज लजावन हारे' राम और 'स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान' कृष्ण के रूप में सौन्दर्य की ही प्रधानता है। भक्ति सम्प्रदायों में भी उनके रूप और सौन्दर्य की ही महिमा अधिक है। सूर के सूर सागर में श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध की रास और विरह की कथा का ही विस्तार अधिक है। कृष्ण कथा के अन्य गायकों ने भी प्रेम और श्रृंगार के इन्हीं प्रसंगों का विस्तार किया है। राम कथा में राम के जन्म की लौकिक महिमा अलौकिकता में तिरोहित हो गई है और उनके पराक्रम उनके दिव्य चमत्कार बन गये हैं। सीता का द्वितीय निर्वासन राम के शील के अधिक अनुरूप न होने के कारण लव कुश के कथा प्रसंग को तुलसीदासजी ने छोड़ ही दिया है। राम और कृष्ण की बाल-लीला के प्रसंग में सूर और तुलसी ने वात्सल्य का विपुल वर्णन किया है। किन्तु यह वात्सल्य लालन का मोह

है। इसमें जीवन के निर्माण का प्रेम और प्रेरणा नहीं है। रीतिकाल का काव्य तो स्पष्ट रूप से श्रृंगार और विलास का काव्य है, उसमें ओजमयी सृजनात्मक परम्परा के लिये कोई अवकाश नहीं है। रीतिकाल के काव्य में नारी का मातृत्व पूर्णतः विलुप्त हो गया है। कवियों और पुरुषों की दृष्टि में वह केवल प्रेयसी रह गई है। रीति-काव्य में इस प्रेयसी का वर्णन भी काम-सूत्र की नायिकाओं के अनुरूप है। रीति काल के वात्सल्य में भी विलास है। बिहारीलाल का 'लरिका लैवे के मिसन, छिगुनी तनिक छुवाय' इसका उदाहरण है। उपनिषदों के युग में 'किं प्रजया वा करिष्यामः' कहकर एकांगी अध्यात्म के साधकों ने सृजनात्मक परम्परा की उपेक्षा का जो सूत्रपात किया था तथा बुद्ध ने जिसे अपने गृहत्याग में चरितार्थ किया था, जीवन के एक महान सत्य की वही उपेक्षा रीतिकाल में अध्यात्म और वैराग्य के स्थान पर अतिरञ्जित विलास में चरितार्थ हुई। उपनिषदों के एकांगी विलास की परम्परा ने भारतीय जीवन के इतिहास में सृजनात्मक परम्परा को समुचित रीति से प्रतिष्ठित नहीं होने दिया।

तत्व की दृष्टि से सृजनात्मक परम्परा से रहित होने के कारण संस्कृत महाकाव्यों तथा हिन्दी के भक्ति और रीति-काव्य में भाव और रूप की दृष्टि से भी उसका समुचित सन्निधान सम्भव न था। अतः अधिकांश काव्य में प्रसाद और माधुर्य की ही प्रधानता है। ओज का योग वीर रस के प्रसंग में कहीं कहीं मिलता है। हिन्दी काव्य में वह भी भाव का ओज न होकर महाप्राण वर्गों की परुषता का मुखर ओज अधिक है अथवा दर्पोक्ति की अतिरंजना है। भक्ति और रीति काव्य में तो माधुर्य का ही एकरस प्रवाह है।

आधुनिक हिन्दी काव्य के आरम्भ में सामाजिक क्रान्तियों और राष्ट्रीय जागरण के प्रभाव के कारण कुछ सामाजिक चेतना अवश्य दिखाई देती है। किन्तु खड़ी बोली के आरम्भ का यह काव्य ओज और माधुर्य दोनों से रहित है। गद्य के अधिक निकट होने के कारण उसमें प्रसाद की ही प्रधानता है। हरिऔध के 'प्रिय प्रवास' में कृष्ण चरित का सामाजिक रूप है। मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में भक्ति काव्य और रीति काव्य दोनों के संस्कारों का संकर है। राम और कृष्ण की कथाओं में सृजनात्मक परम्परा की सम्भावना न होने के कारण खड़ी बोली के आरम्भिक काव्य में उसका सन्निधान अकल्पनीय था। छायावाद का

काव्य तो कल्पना का नन्दनवन है जिसकी संकीर्ण वीथियों में केवल प्रेयसी अप्सराएँ ही विहार करती हैं। शताब्दियों के विदेशी शासन से पराभूत भारतीय समाज की तत्कालीन परिस्थितियों में कल्पनाशील युवकों की कुण्ठित भावनाएँ रीतिकाल के संस्कार तथा रविन्द्रनाथ के रहस्यवाद और अंग्रेजी के रोमान्टिक कवियों के प्रभाव से छायावाद के भावुक काव्य में साकार हुई। छायावाद के चिर कुमार कवियों के लिए प्रेयसी के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में नारी की कल्पना करना सम्भव न था। यद्यपि सुमित्रानन्दन पंत ने 'देवि! माँ! सहचरि! प्राण!' कह कर एक सूत्र में नारी के व्यक्तित्व के विविध पक्षों का आमंत्रण किया है, किन्तु सामान्यतः छायावाद के काव्य में और विशेषतः उनके काव्य में, नारी के इन विविध रूपों की समुचित स्थापना नहीं है। सुमित्रानन्दन पंत ने नारी की मुक्ति का आह्वान भी किया है। (मुक्त करो नारी को......बन्दिनी सखी प्यारी को)। किन्तु नारी के मुक्त और गौरवमय रूप की कोई कल्पना वे प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। मुक्ति के आह्वान में भी बन्दिनी नारी का 'सखी प्यारी' रूप ही उनके ध्यान में रहा है। नारी की मुक्ति का सर्वोत्तम रूप उसके मातृत्व का मान है। संतति के जीवन-निर्माण में अपने भाव और अध्यवसाय का सहयोग देकर ही पुरुष नारी की स्वतंत्रता को एक सामाजिक सत्य बना सकता है। प्रेम की स्वतंत्रता वास्तविक स्वतंत्रता का एक अत्यन्त अपूर्ण और उच्छृंखल रूप है। वैधानिक स्वतंत्रता अन्य समस्त स्वतंत्रताओं की आवश्यक भूमिका है। किन्तु अपने आप में वह एक अर्थ-हीन प्रत्याहार है। मातृत्व के गौरव का समुचित आदर न कर पा सकने के कारण सामान्यतः हिन्दी के और विशेषतः रीतिकाल तथा छायावाद के कवि नारी के गौरव और जीवन की सृजनात्मक परम्परा को काव्य में आकार नहीं दे सके। नारी के प्रति प्रेयसी के दृष्टिकोण के अतिरिक्त भाषा में माधुर्य की प्रधानता रीति-काव्य और छायावाद की एक और समानता है। सृजन की शिव परम्परा का निर्वाह काव्य के भाव और रूप में प्रसाद और माधुर्य के साथ ओज की अपेक्षा करता है। छायावाद के बाद के कवियों में भी छायावादी युग के प्रेम, शृंगार, कल्पना और माधुर्य के संस्कार प्रबल रहे। हिन्दी काव्य के उदयाचल पर 'दिनकर' के उदय से भाषा के भाव और शैली में नव जागरण के ओज का आविर्भाव हुआ। दिनकर का आलोक स्वच्छ होते हुए भी समकालीन हिन्दी कवियों को अधिक प्रभावित नहीं कर सका। यह 'दिनकर' का दोष नहीं, हिन्दी काव्य के

पूर्व संस्कारों का प्रभाव है। भाषा और भाव में ओज का सन्निधान करते हुए भी 'दिनकर' अपने काव्य में सृजनात्मक परम्परा के तत्व का सन्निधान नहीं कर सके। उसके लिए उन्हें कोई उपयुक्त कथानक अथवा विषय नहीं मिले। फिर भी 'दिनकर' के प्रकाश में हिन्दी कविता करवट बदल रही है। स्वतंत्र भारत के कवि निर्माण के रूपों के प्रति सजग हो रहे हैं।

अध्याय ४४

शिवम् की साधना का मूर्त्त रूप

पिछले प्रकरणों में शिवम् का जो निरूपण किया गया है, उसमें शिवम् के स्वरूप तथा जीवन में उसके अन्वय की सामान्य रूपात्मक परिस्थितियों का ही विवेचन मुख्यतः हो सका है। **चेतना के भाव के रूप में आत्मदान शिवम् का स्वरूप है। दूसरों के सृजनात्मक और सांस्कृतिक विकास में जब हम समात्मभाव पूर्वक अपनी चेतना के भाव का योग देते हैं तभी सापेक्ष अर्थ में शिवम् का उदय होता है।** विश्व के लौकिक और सांस्कृतिक मंगल का यही मूल सूत्र है। किन्तु समात्मभाव की जिस आत्मिक स्थिति में शिवम् का आत्मभाव सार्थक और पूर्ण होता है उसके अनेक अन्तर्भाव हैं। **उन अन्तर्भावों का बीज समात्मभाव के 'सम्' में निहित है। 'सम्' समानता, सामंजस्य संतुलन आदि का द्योतक है।** स्वतन्त्रता सामान्यतः समत्व का और विशेषतः समानता का मूलभूत सिद्धान्त है। दोनों एक दूसरे से इतने अभिन्न हैं कि उनमें अन्योन्याश्रय सा प्रतीत होता है। समता के भाव के बिना स्वतन्त्रता निरर्थक है और स्वतन्त्रता के बिना समता असम्भव है। जिस आलोकदान को शिवम् की रूपात्मक साधना का प्रथम चरण माना गया है, वह चेतनाओं की विषमता के अर्थ में उपकार अथवा अनुग्रह नहीं है। इस विषमता के उदय होने के बाद ही समाज में असमानता अहंकार और अधिकार के भाव तथा तंत्र विकसित हुये और सभ्यता एक संकट के मार्ग में अग्रसर होने लगी, जिसका परिणाम आज की विनाशात्मक सम्भावनाओं में दिखाई दे रहा है। इन्हीं सम्भावनाओं की आशंका करके वेदों के विधाताओं ने 'समानी वः आकूतिः समाना हृदयानि वः' की मंगलमयी भावना प्राचीन संस्कृति में प्रतिष्ठित की थी। इसी वैदिक भावना की प्रेरणा से उपनिषदों की शिक्षा में ऋषियों ने 'सहनौ अवतु, सहनौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै; तेजस्वि नावधीतमस्तु भा विद्विषावहै' की साम्य और सहयोग-मूलक भावना स्थापित करने का उद्योग किया था। उपनिषदों में ब्रह्मतत्व की गोपनीयता और अधिकारियों की कठोर परीक्षाओं से यही संकेत मिलता है कि उपनिषद् काल की शिक्षा में भी यह साम्य खंडित होने लगा

था। उक्त प्रार्थना में साम्य की कामना के साथ आशंकाओं का बीज भी वर्तमान है। उपनिषदों के बाद के वृद्धों और गुरुओं की अधिकार और गौरव की अभिलाषा से यह साम्य उत्तरोत्तर भंग होता गया। **स्वतन्त्रता साम्य की आत्मा है। अतः साम्य के भंग होने पर यह स्वतंत्रता भी सुरक्षित न रह सकी। समाज की अन्तर्गत व्यवस्था में इस स्वतंत्रता की मन्दता ही अन्ततः राजनीति और इतिहास में हमारी स्वतंत्रता की निरन्तर हानि का मूल कारण बनी।** समाज और संस्कृति पर वार्धक्य के शासन तथा दोनों के यौवन की कुण्ठा का भी यही मूल कारण है। अतः समता और स्वतन्त्रता के कूलों में ही आत्मदान के शिवम् की मंगलमयी धारा प्रवाहित होती है। स्नेह, सहयोग, सद्भाव आदि सब इसी प्रवाह की तरंगें हैं जो उसकी गति का संकेत करती हैं। प्राकृतिक प्रवृत्तियों की सांस्कृतिक मर्यादा स्वतन्त्रता और समानता का सहज परिणाम है। यह मर्यादा व्यक्ति और समाज के कल्याण का अखिल-कामप्रद मंत्र है। इस मर्यादा के संस्कार ही प्रवृत्तियों के अतिचारों को सीमित कर प्रवृत्तियों के उन्नयन के द्वारा सांस्कृतिक मूल्यों में उनके अन्वय को सम्भव बनाते हैं। मर्यादा का यह मूल मंत्र अतिचार, आग्रह, आरोपण, प्रचार, अंध-विश्वास आदि सभी उत्पाती प्रेतों का संस्कृति के पुण्य क्षेत्र से निष्कासन करता है। इस निष्कासन से पवित्र होकर ही जीवन का क्षेत्र संस्कृति के पुण्य पर्वों के नव-नव वसन्तों के आगमन के योग्य बनता है।

संस्कृति के मंगल की ये रूपात्मक परिस्थितियाँ जीवन के सौन्दर्य के पुष्पों को प्रफुल्लित करती हैं। इन्हीं पुष्पों के गर्भ में शिवम् की मूर्त्त सफलता के बीज अन्तर्निहित रहते हैं। **संस्कृति का मंगल जीवन की एक अमृत परम्परा है। अतः यह स्पष्ट है कि उसका रूप सृजनात्मक है।** संस्कृति और उसका मंगल कोई जड़ प्रत्यय नहीं है और न वह कोई स्थिर सत्ता है। वह एक गत्यात्मक परम्परा है, जो सृजनात्मक विधान के द्वारा ही नित्य नवीन बनी रहती है। प्रकृति के क्षेत्र में सृजनात्मक परम्परा के द्वारा सौन्दर्य के नव नव बसन्तों की परम्परा अक्षुण्ण रहती है। सृजन के क्रम में ही सांस्कृतिक परम्परा के स्रोतों में भी नित्य नवीन जलों का आगमन होता है जो प्रकृति और संस्कृति दोनों के वासन्ती उद्यानों को ही नहीं वरन् जीवन उद्योग के खेतों और अध्यात्म के वनों को भी निरन्तर समृद्ध बनाते रहते हैं। सृजनात्मक परम्परा में ही प्रकृति के समान संस्कृति का भी अमृत धर्म सार्थक होता है। मनुष्य जीवन की परम्परा सृजन के प्राकृतिक

धर्म से ही अविच्छिन्न है। **किन्तु संस्कृति की सृजनात्मक परम्परा मनुष्य के स्वतन्त्र उद्योग और अध्यवसाय से ही सुरक्षित और समृद्ध होती है।** मनुष्य के इस अध्यवसाय का रूप सदा सांस्कृतिक मंगल के अनुरूप नहीं रहा; इसीलिए संस्कृति की परम्परा में अनेक बार और अनेक प्रकार के विक्षेप आते रहे हैं। इन विक्षेपों का मूल सांस्कृतिक मंगल की उन सामान्य और रूपात्मक मर्यादाओं के उल्लंघन में हैं जिनका संकेत पिछले प्रकरणों में किया गया है। इन मर्यादाओं की भूमिका में ही जीवन के उक्त रूपों में सांस्कृतिक मंगल के तत्व मूर्त्त होते हैं। सांस्कृतिक मंगल के इन तत्वों में शरीर के सुख और हित से लेकर समाज की सुव्यवस्थाओं, सम्पन्नताओं और आध्यात्मिक अध्यवसायों तक के समस्त मूल्य समाहित हैं। इन तत्वों का सन्निधान मंगल के उक्त रूपों को मूर्त्त बनाता है। इन्हीं तत्वों में समता, स्वतंत्रता आदि के सूक्ष्म रूप साकार होते हैं तथा इनके सामान्य सिद्धान्त नव-नव आकारों में समृद्ध होते हैं।

मंगल के सूक्ष्म और सामान्य रूपों को जीवन में मूर्त्त बनाने का तथा शिवम् की सृजनात्मक परम्परा को समृद्ध बनाने का प्रथम धर्म व्यक्तित्व निर्माण है। का मनोविज्ञान और दर्शन दोनों की दृष्टि से व्यक्तित्व एक अत्यन्त सम्पन्न कल्पना है। बाह्य दृष्टि से व्यक्तित्व शरीर की इकाई में सीमित रहता है। किन्तु जिन आध्यात्मिक मूल्यों से मानवीय व्यक्तित्व समृद्ध होता है उसके क्षितिज अत्यन्त विस्तृत और व्यापक हैं। वस्तुतः देह व्यक्तित्व की इस समृद्ध कल्पना का एक प्राकृतिक आश्रय है। इस आश्रय के बिन्दु से सांस्कृतिक व्यक्तित्व की परिधियाँ आध्यात्मिक मूल्यों के विस्तृत क्षितिजों का स्पर्श करती हैं। देह की सृजनात्मक परम्परा एक सहज प्राकृतिक धर्म का निर्वाह है। किन्तु मनुष्य के जीवन में देह का विकास भी पशुओं के विकास के विपरीत जन्म में पूर्ण नहीं होता। पशुओं के शिशुओं की तुलना में मनुष्य के शिशु की असमर्थता मनुष्य के शारीरिक विकास को भी सामाजिक उत्तरदायित्व बना देती है। इस शारीरिक विकास के साथ ही साथ मनुष्य का मानसिक और आध्यात्मिक विकास भी होता है। मनुष्य का सांस्कृतिक विकास इन दोनों के द्वारा ही पूर्ण होता है। इन दोनों विकासों की गति का यौगपद्य समाज की समस्याओं को जटिल बना देता है किन्तु इस जटिलता में ही संस्कृति की सम्भावनायें सम्पन्न होती हैं। शिवम् के आत्मदान का योग तो प्राकृतिक सृजन में भी अपेक्षित है, किन्तु यह आत्मदान स्वाभाविक है। सम्भवतः

प्रकृति में तो यह एक अचेतन धर्म है। किन्तु मनुष्य के जीवन में काम के पारस्परिक व्यापार की सुखमय सम्वेदना से युक्त होकर यह सचेतन और प्रिय बन गया है। इसकी प्रियता के आकर्षण ने ही मनुष्य को, विशेषतः पुरुष को, भ्रान्त किया, जिसके कारण वह अपने सांस्कृतिक उत्तरदायित्वों का सदा सफलता पूर्वक निर्वाह नहीं कर सका। प्राकृतिक सृजन का प्रमुख भार नारी के ही अधिकार में आया, अतः मातृत्व का गौरव उसकी सहज सांस्कृतिक मर्यादा बन गया। इस प्राकृतिक सृजन में पुरुष का सहयोग एक निमित्त मात्र है। पुरुष के इस नैमित्तिक धर्म में भी प्रियता का सन्तोष और अनुराग है। मातृत्व का प्राकृतिक बन्धन शिशु के पालन को भी नारी का सहज अधिकार बना देता है। **प्राकृतिक बन्धन न होने के कारण इस सृजन और पालन के सम्बन्ध में पुरुष ने अपने उत्तरदायित्व के बन्धन को सम्पूर्णता के साथ न समझा और न स्वीकार किया तथा न उसका निर्वाह** किया है। मुख्य रूप से वह आर्थिक उपयोग और सामाजिक सुरक्षा को ही इस सम्बन्ध में अपना धर्म मानता रहा है। इन दोनों की भी व्यापक और वास्तविक कल्पना उसके मन में न रही, अतः इनके भी आंशिक निर्वाह से वह सन्तुष्ट रहा। इनके उपेक्षित अंशों का भार नारी और सन्तान वहन करती रही। नारी और सन्तान के प्रति अपने व्यापक उत्तरदायित्वों को स्पष्टतः न समझने और स्वीकार करने के कारण पुरुष की शक्ति और प्रतिभा को बहुत कुछ स्वतन्त्रता मिली। **इस स्वतंत्रता के अवकाश में ही पुरुष के अतिचारों, उसकी उच्छृंखलताओं आदि की अमर बेलें उत्पन्न हुई तथा सामाजिक और ऐतिहासिक शक्तियों के चारवायु से ये अमर बेलियाँ सांस्कृतिक जीवन के समस्त उद्यानों और बनों पर छाने लगी।** आज उनकी अतिरंजित वृद्धि से जीवन के उद्यान और वन आच्छादित हो गये हैं तथा प्रत्यक्ष तक सीमित हमारी दृष्टि इन अमर-बेलियों की समृद्धि को ही जीवन का बसन्त समझ रही हैं।

सांस्कृतिक जीवन के इन अनर्थों का प्राचीनतम मूल यही है कि सृजन और पालन के सम्वन्ध में प्रकृति ने पुरुष को जो स्वतन्त्रता दी उसका सदुपयोग पुरुष ने इनके सांस्कृतिक पक्षों के निर्वाह में अधिक नहीं किया। सन्तान के स्वास्थ्य की चिन्ता तो पुरुष प्रायः करता है यद्यपि सन्तान के गौरव के साथ-साथ आत्म गौरव का दर्प भी इसकी प्रेरणा है। वस्तुतः सन्तान के अस्तित्व में ही वह अपने पौरुष और आत्मगौरव की सफलता मानता है। यह पूर्णतः उचित है। आत्म-

गौरव की व्यापक सामानता में पुरुष के आत्मगौरव का भी समान स्थान है। सन्तान के अस्तित्व और स्वार्थ में उसके आत्मगौरव का अहंकार एक विस्तार का ही संस्कार प्राप्त करता है। किन्तु इसके आगे भी इस विस्तार की सम्भावनायें हैं और समाज की सांस्कृतिक समृद्धि के लिये वे अपेक्षित हैं। इन विस्तारों में अस्वास्थ और रोग की स्थिति में सन्तान की शुश्रूषा सबसे प्रथम है। सन्तान के सम्बन्ध में अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता तथा संयुक्त परिवार की सुविधाओं और सीमाओं के कारण पुरुष इस सम्बन्ध में अपने कर्त्तव्य के प्रति बहुत उदासीन रहा है। शुश्रूषा के लिये स्त्री की उपयुक्तता की धारणा पुरुष की इस उदासीनता का मौलिक कारण नहीं थी। यह धारणा भ्रम-पूर्ण होने के साथ-साथ उसकी वासना का विक्षेप भी है और इस विक्षेप के कारण ही उसका विलम्बित विचार उसकी स्वाभाविक उदासीनता का समाधान बन गया है। शुश्रूषा के लिये आन्तरिक, स्नेह, सहानुभूति, सद्भाव, सहिष्णुता, उदारता, विनय और सेवा के भाव अपेक्षित हैं। इनके होने पर पुरुष की शुश्रूषा भी उतनी ही मृदुल, प्रिय और शान्तिदायक हो सकती है जितनी कि स्त्री की शुश्रूषा। नारी का मातृत्व केवल अपने प्राकृतिक स्वभाव के कारण ही शुश्रूषा के अधिक उपयुक्त नहीं है। इस मातृत्व की भूमिका में मन की उक्त विभूतियों का उत्कर्ष उसे सम्भव बनाता है। इनमें कोई भी भाव ऐसा नहीं है जिसका विकसित करना पुरुष के लिए सम्भव न हो और जिसका विकास पुरुष के व्यक्तित्व की सांस्कृतिक समृद्धि के लिये हितकर न हो।

स्वास्थ्य और शरीर के अतिरिक्त व्यक्तित्व के विकास में अन्य सभी सांस्कृतिक मूल्यों का स्थान है। व्यक्तित्व की दृष्टि से इन मूल्यों के विकास का अभिप्राय मन और आत्मा की समृद्धि है। मानसिक विकास में बुद्धि और भावना का विकास तो स्पष्ट है। भावना में श्रेय और सौन्दर्य दोनों का विकास सम्मिलित है। आत्मा के विकास में इन सबके अतिरिक्त और भी कुछ तत्व हो सकते हैं जिनका स्पष्ट निरूपण करना कठिन है किन्तु इसका एक रूप अत्यन्त स्पष्ट है और यही रूप मानसिक और आत्मिक विकास का मूलमन्त्र है। **वह रूप चेतना की स्वच्छता, उसका जागरण और उसकी स्फूर्ति है। चेतना आत्मा का स्वरूप है, जो मन और बुद्धि को प्रकाशित करता है।** अतः चेतना की स्वच्छता उसके जागरण और उसकी स्फूर्ति में ही मन, बुद्धि और भावना की विभूतियों का संपादन

हो सकता है। वस्तुतः यह शिवम् की साधना में सत्य की भूमिका है। शिवम् की साधना के प्रथम चरण के रूप में जिस आलोकदान का पीछे विवेचन किया गया है वह कर्त्ता के कर्त्तव्य की दृष्टि से शिवम् किन्तु ग्राहक की दृष्टि से सत्य के आलोक का ही आरम्भ है। **सन्तान तथा अन्य बालकों के जीवन में सत्य के जागरण में योग देना शिवम् की साधना का प्रथम चरण है।** उपनिषदों के 'सहवीर्यं करवावहै' के अनुरूप समानता और स्वतन्त्रता की भावना से ज्ञान का जागरण विकासशील व्यक्तित्वों में सत्य की सुदृढ़ पीठिका का निर्माण करता है। सत्य के इसी सुदृढ़ पीठ पर श्रेय और संस्कृति का प्रासाद निर्मित होता है। **सांस्कृतिक मूल्यों के संस्कार मनुष्य में जन्मजात नहीं होते, अतः गुरुजनों का आत्मदान ही बालकों के व्यक्तित्व को इन मूल्यों के संस्कारों से सम्पन्न बनाने में समर्थ है।** किन्तु साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि बालकों के व्यक्तित्व में एक विकासशील वृत्ति अन्तर्निहित रहती है। वे गुरूजनों के आलोकदान के अनुग्रह को एक निष्क्रिय आदान के रूप में ग्रहण नहीं करते वरन् अपनी सक्रिय चेतना की चेष्टा में अन्वित करके उसे आत्मसात् करते हैं। **वस्तुतः ज्ञान के तत्वदान की अपेक्षा अवगति की शक्ति को स्फुरित करके गुरूजनों का आलोकदान अधिक कृतार्थ होता है।** इसी स्वच्छ और सक्रिय ज्ञान के प्रकाश में श्रेय और सौन्दर्य के रहस्य विकासशील व्यक्तित्वों की चेतना में आलोकित होते हैं।

श्रेय और सौन्दर्य के लोक में आकर व्यक्तित्व का सामाजिक रूप स्फुटित होता है। सत्य की एकान्त साधना की कल्पना की जा सकती है। **किन्तु श्रेय और सौन्दर्य का स्वरूप ही सामाजिक है।** सामाजिक सम्बन्धों और व्यवहारों में ही सौन्दर्य साकार होता है तथा श्रेय चरितार्थ होता है। बालकों के व्यक्तित्व में श्रेय की भावना का जागरण उसी आत्मदान की वृत्ति का स्फुरण है जिसके द्वारा उन्हें अपने सांस्कृतिक व्यक्तित्व के विकास की प्रेरणा मिलती है। **अतः स्पष्ट रूप से आत्मदान के द्वारा बालकों के व्यक्तित्व में श्रेयोमयी वृत्तियों का जागरण ही स्रष्टाओं का सृजन है।** आत्मदान का शिवम् नव नव व्यक्तित्वों में अपनी विभूति का विस्तार करके अपनी परम्परा को अमर बनाता है। स्वतन्त्रता और समानता पूर्वक आलोकदान करके बालकों की चेतना में सत्य के प्रकाश में श्रेय, सौन्दर्य, स्नेह, सद्भाव, शील, सत्य, सेवा, विनय आदि के संस्कार जागरित करके उनके व्यक्तित्व को समृद्ध बनाने में ही बड़ों का कर्त्तव्य सफल है। भारतीय

संस्कृति की परम्परा में वात्सल्य का बहुत महत्व है। भगवान के बालरूप की उपासना हमारे धर्म की एक विशेषता है। सामाजिक जीवन के व्यवहार में भी इस वात्सल्य का फल दिखाई देता है। भारतीय परिवारों में बच्चों के लाड़-प्यार की कमी नहीं वरन् उसका आधिक्य ही है। हमारे साहित्य में, विशेषतः भक्ति-काव्य में, इस वात्सल्य की प्रचुरता है। सूर और तुलसी का वात्सल्य वर्णन हिन्दी काव्य की विभूति है। **किन्तु इस वात्सल्य की कई सीमाएँ हैं।** एक तो यह वात्सल्य का भाव शिशुकाल तक ही सीमित है। कैशोर की उठती हुई अवस्था में स्नेह और सम्मान के साथ जीवन के गौरव-पूर्ण विकास के लिए जो प्रेरणा चाहिये वह हमारे सामाजिक जीवन में कहाँ है ? दूसरे इस वात्सल्य में लालन का भाव अधिक है, बालक के जीवन में विकास के ओजस्वी संस्कारों की प्रेरणा कम है। बालक के सौन्दर्य और उसकी लीलाओं में संतति-लाभ के सुख-सौभाग्य का विमोह अधिक है, नवोदित व्यक्तित्व के उज्ज्वल भविष्य की योजनाएँ कम हैं। सुकुमार कैशोर वय में कंस, चाणूर आदि का मर्दन करने वाले श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में यशोदा की भावना "जाने कहा मेरो कुंज-बिहारी" इस लालन में मोह के अधिक्य का एक श्रेष्ठतम उदाहरण है। काव्य में जो वात्सल्य का वर्णन हमें प्राप्त है उसमें एक अलौकिकता की तीसरी सीमा और है। उसका सम्बन्ध मुख्यतः राम-कृष्ण के अवतारों से है। दिव्य होने के कारण काव्य का यह वात्सल्य समाज का प्रतीक नहीं बन सकता। बालगोपाल की मूर्त्तियों की भक्त परिवारों में जीवित बालकों से अधिक शुश्रूषा होती रही है। लाड़-प्यार और लालन के साथ साथ दूसरी ओर बालकों का ताड़न और तिरस्कार वात्सल्य के मूल को ही खण्डित करता रहा है। **इस सम्पूर्ण विडम्बना का कारण यही है कि बालकों के व्यक्तित्व के स्वतन्त्र और आदरपूर्ण विकास की भावना समाज और साहित्य की परम्परा में प्रतिष्ठित न हो सकी।** आधुनिक हिन्दी काव्य में वात्सल्य के वर्णन का अभाव भी उक्त तथ्य का समर्थन करता है। अत्यन्त अल्प परिमाण में जो कुछ वात्सल्य का वर्णन आधुनिक हिन्दी काव्य में मिलता है, वह भी सूर और तुलसी के वात्सल्य के अनुरूप लालन में ही परि समाप्त है। डा० देवराज के 'जीवन रश्मि' नामक कविता संग्रह में तथा निरंकार देव 'सेवक' के 'मुन्ना के गीत' आदि ग्रन्थों में जो वात्सल्य की रचनाएँ मिलती हैं वे भारतीय समाज के परिचित पुत्रोत्सव की ही प्रतिध्वनि है। **बाल्य तथा कैशोर में स्वतन्त्रता और सम्मानपूर्वक व्यापक**

सांस्कृतिक विभूतियों से सम्पन्न व्यक्तित्व के विकास की प्रेरणाएँ समाज और साहित्य दोनों में ही बहुत कम हैं।

सन्तान के जीवन में व्यक्तित्व के समृद्ध विकास की प्रेरणाओं का सन्निधान शिवं की सृजनात्मक परम्परा का एक बहुत सीमित अर्थ है। अत्यन्त निकट और आत्मीय होने के कारण संतान के विकास में शिवम् की साधना सहज और स्वाभाविक है। किन्तु शिवम् के आत्मदान का कर्तृत्व और उसकी सृजनात्मक परम्परा इसी में परिसमाप्त नहीं है। **अतः विस्तृत समाज में शिवम् की साधना ही संस्कृति के धर्म को पूर्ण बनाती है।** समाज में व्यवहार और सृजनात्मक परम्परा दोनों ही रूपों में शिवम् की यह पूर्णता चरितार्थ होती है। शिवम् का आत्मदान सांस्कृतिक जीवन का एक सनातन और सार्व-भौम धर्म है। समाज में जितने व्यापक रूप में हम इसका निर्वाह कर सकें उतना ही हमारा शिव-धर्म का पालन अधिक पूर्ण होगा। **यथा-सम्भव सभी व्यक्तियों के प्रति स्वतन्त्रता और समानता की भावना इस धर्म का प्रथम चरण है।** इस प्रथम चरण में ही मानवीयशील की मर्यादायें इतनी दृढ़ हो जाती हैं कि वे समस्त अतिचारों और उच्छृंखलताओं की अर्गला वन जाती हैं। शिव धर्म के इस प्रथम चरण में ही मनुष्यत्व की अपार विभूतियाँ उद्घाटित होती हैं। मनुष्यत्व की इस मौलिक मर्यादा का उल्लंघन ही इतिहास के समस्त अत्याचारों तथा अतीत और भविष्य के विनाशक युद्धों के लिये उत्तरदायी है।

शिवं के आत्मदान की पूर्णता अपनी ओर से स्वतंत्रता और समानता के निर्वाह मात्र में नहीं है। किसी भी व्यक्ति के कर्त्तृत्व में शिवम् का धर्म पूर्ण नहीं होता। समाज की सापेक्षता के कारण समाज की समग्र व्यवस्था में ही शिवम् का वास्तविक रूप प्रतिष्ठित होता है। अतः व्यक्तिगत निर्वाह के अतिरिक्त स्वतन्त्रता और सम्मान के सामाजिक संरक्षण तथा अतिचार के निरोध में आत्मदान का शिवम् समाज में चरितार्थ होता है। **सामाजिक निर्माण और सामाजिक सुरक्षा शिवम् के सामाजिक रूप के दो प्रमुख अंग हैं।** निर्माण उसका भावात्मक पक्ष है और सुरक्षा उसका निषेधात्मक पक्ष है। सुरक्षा की निषेधात्मक भूमिका निर्माण के लिये आवश्यक है। सुरक्षा का अर्थ अपनी लौकिक स्थिति को सुदृढ़ बनाकर अनीति और अतिचार के प्रतिकार को निश्चित बनाना है। अनीति और अतिचार के अधिक उग्र होने पर इस सुरक्षा के लिये संघर्ष और युद्ध की भी आवश्यकता हो सकती है। अहिंसा

जीवन का सार्वभौम सत्य है। समाज में सार्वभौम न होने पर वह अर्थहीन हो जाता है। सार्वभौम न होने पर वह अर्थहीन ही नहीं, किन्तु असमर्थ भी हो जाता है। उग्र, सचेतन और संगठित अनीति के लिये अहिंसा एक अत्यन्त मृदुल और सन्दिग्ध उपचार है। अहिंसा की अपूर्णता शक्ति की उपेक्षा में है। **उसकी एकांगिता और निषेधात्मकता अत्याचारियों के प्रति अतिशय करुणा तथा उनके अत्याचारों से पीड़ित सज्जनों और असहायों के प्रति निर्मम क्रूरता में है। अहिंसा एक क्रूर भ्रांति की वेदी पर एकांगी सत्य के प्रति जीवन के सम्पूर्ण सत्य का बलिदान है।** अहिंसा के मसीहा जहाँ अत्याचारियों के प्रति इतने करुण हैं कि उनके क्रूर से क्रूर अतिचार का प्रतिकार भी उन्हें मान्य नहीं है और वे सज्जनों के सद्भावपूर्ण संगठन की शक्ति से भी उनके अतिचार की गति को रोकना उचित नहीं समझते, वहाँ दूसरी ओर वे सज्जनों के श्रेय, सम्मान और शान्ति की ओर से इतने उदासीन हैं कि अत्याचारों की वेदी पर बलिदान के उपदेशों के अतिरिक्त उन्हें वे सद्भावपूर्ण संगठन के बल का आश्वासन देना भी आवश्यक नहीं समझते। **अत्याचारियों की ओर से उनकी अहिंसा शक्ति के प्रति संस्कृति का आत्मसमर्पण है। दूसरी ओर सज्जनों की ओर से उनकी अहिंसा शक्ति के प्रति अत्यन्त विराग है। अहिंसा का यह आत्मविरोधी दृष्टिकोण स्पष्टतः एक छल है, जो एक धर्म-भीरू, अर्ध-निद्रित और दुर्बल समाज में ही सफल हो सकता है। जीवन के लौकिक और सांस्कृतिक श्रेय के प्रति सजग होने पर कोई भी समाज इस छल को सहन नहीं कर सकता।** चीन की क्रान्ति और उसका राष्ट्रीय जागरण इस सत्य का जीवन्त प्रमाण है। चीन का उद्धार और जागरण अहिंसा के बल पर नहीं शक्ति के बल पर हुआ है। इसीलिये नवीन क्रान्ति के बाद चीन निर्माण के पथ निरन्तर प्रगति कर रहा है। भारतीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन केवल अहिंसा के बल पर नहीं वरन् सन् ४२ के आन्दोलन में प्रमाणित देश की जागरण शील शक्ति के प्रति अंग्रेजों के उदार और विवेकशील दृष्टिकोण के साथ कुछ अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के संयोग से सफल हुआ है। अहिंसा ने इस पराजित जाति को आत्मबल देकर जागरण का पथ प्रशस्त किया इसमें सन्देह नहीं। यह विवशता की स्थितियों में अहिंसा का उत्तम उपयोग है। किन्तु यह अहिंसा-दर्शन की पूर्णता प्रमाणित नहीं करता।

समाज का जागरण और संस्कृति की प्रगति शक्ति की प्रेरणा से ही सम्भव है। प्रकृति के निरन्तर विकास में शक्ति के ही स्रोत प्रसारित होते हैं। 'सुरक्षा'

शक्ति का निषेधात्मक धर्म है जिसको आवश्यक बनाने का उत्तरदायित्व उन पर है जो मानव होकर भी क्रूरता में दानव को लज्जित करते हैं और दूसरों के विकास का अवरोध करने में ही शक्ति का सदुपयोग मानते हैं। शक्ति का दुरुपयोग करने वाले स्वयं भी अपने विकास में शक्ति का उपयोग न कर सके इसे इतिहास प्रमाणित करता है। प्रकृति और संस्कृति दोनों में शक्ति का स्वरूप सृजनात्मक है। चेतना के उज्ज्वल आलोक में यह शक्ति विकास का पथ प्रशस्त करती है। 'प्रेम' ज्ञान से आलोकित शक्ति का संबल है। प्रेम में चेतना का ज्ञान मानवता का धर्म बनता है। 'शक्ति' उस प्रेम की ही निर्माण और सुरक्षा की क्षमता है। **ज्ञान, शक्ति और प्रेम के समन्वय में ही मानवीय संस्कृति की कल्पना पूर्ण होती है।** इन्हीं के पुनीत संगम पर संस्कृति का अक्षयवट स्थापित हो सकता है। भारतीय संस्कृति में ज्ञान का आलोक और प्रेम का माधुर्य बहुत है किन्तु शक्ति की उपेक्षा के कारण दोनों एकांगी और अपूर्ण रहे। असफलता और असमर्थता के कारण दोनों में कोई भी जागरण और विकास का पथ प्रशस्त न कर सका। **शक्ति की यह उपेक्षा भारतीय संस्कृति का मूल स्वरूप नहीं है।** ऋग्वेद में, विशेषतः इन्द्र के मन्त्रों में, शक्ति का आमंत्रण है। वेद-मंत्रों के गायक दीर्घायु और स्थिर अंगों की कामना करते थे। उपनिषदों के वेदान्त तथा जैन और बौद्ध धर्म के एकांगी अध्यात्म के आरम्भ से शक्ति का तिरोधान आरम्भ हो गया । वेदान्त के मायावाद, जैन और बुद्ध धर्मों की अहिंसा तथा वैष्णव धर्मों के आडम्बर के कारण शक्ति का बीज-मंत्र सफल न हो सका। **इतने विशाल और समृद्ध देश का विडम्बनामय इतिहास इसी का परिणाम है। इन त्रिविधि भ्रान्तियों के वात्याचक्र में शक्ति का वह मौलिक सन्देश भी तिरोहित हो गया जो भारतीय शक्ति-दर्शन की परम्परा में सुरक्षित है।** सिंहवाहिनी भगवती दुर्गा का स्वरूप शक्ति की साधना का सुन्दर और समग्र प्रतीक है। दुर्गा सप्तशती में देवताओं के सामूहिक तेज से भगवती दुर्गा के उदय में सज्जनों के सद्भाव पूर्ण, निर्भीक और श्रेयोमय संगठन का संकेत है। वर्षारम्भ की शक्ति-पूजा यही प्रमाणित करती है कि शक्ति की साधना ही भारतीय संस्कृति का मूलमन्त्र है। यही मूलमंत्र मानवीय संस्कृति का आधारभूत सत्य भी है। एकांगी अध्यात्म और अहिंसा तथा धर्म के अतिरंजित आडम्बर के चकाचौंध में यह सत्य विलुप्त हो गया है। **किन्तु इस सत्य के उद्घाटन के बिना स्वतंत्र भारत का जागरण और विकास संभव नहीं है।** शैव दर्शन के अनुसार शिव के

साथ शक्ति की अभिन्नता यही संकेत करती है कि शक्ति की साधना के बिना जीवन के श्रेय का सम्पादन और संरक्षण सम्भव नहीं है। **आलोकदान की उदार शिक्षा के साथ शक्ति के सम्पादन की प्रेरणा ही बालकों को व्यक्तित्व के विकास को पूर्ण बना सकती है।** सन्तान के अतिरिक्त समाज में शिक्षा और शक्ति का यह समन्वित आचार ही युवकों और प्रौढों का सदाचार है। यही सदाचार मानव धर्म का शील है। इसी सम्पन्न शील में प्रेम का व्यापक अर्थ सफल होता है।

ज्ञान, शक्ति और प्रेम के त्रिपाद गायत्री मंत्र की साधना ही श्रेयोमयी संस्कृति का राजमार्ग है। इस मंत्र का पुरश्चरण व्यक्तिगत साधना अथवा सन्तान की शिक्षा में ही पूर्ण नहीं होता। समाज की व्यवस्था तथा समाज के आधार और व्यापार में चरितार्थ होकर ही यह सफल होता है। अतः समाज को लौकिक और भौतिक व्यवस्थाओं तथा समाज के निर्माणों में इस साधना का समन्वय आवश्यक है। आत्मदान का शिवम् भौतिक वस्तुओं के निमित्तों में ही साकार होता है तथा सामाजिक व्यवहार में ही चरितार्थ होता है। अतः मंगलपूर्ण समाज के व्यापार और व्यवहार में उसका अन्वय आवश्यक है। भौतिक वस्तुओं की समृद्धि अपने आप- में मंगलमयी नहीं है। इसी सत्य की उपेक्षा आधुनिक सभ्यता की विडम्बना वन रही है।

सामाजिक संस्थायें भी मानव के त्रिविध विकास की वास्तविक साधक न होने पर निष्फल हैं। केवल उत्पादन और वितरण के सिद्धान्त ही व्यापार का पूर्ण रूप नहीं है और उनमें मानवीय अहित के छिद्र हो सकते हैं। यांत्रिक व्यापार और यांत्रिक सभ्यता में वस्तुओं का उत्पादन आत्मदान के शिवम् से रहित होने के कारण उदासीन और आयासमय हो गया है तथा व्यक्तिवाद और प्रकृतिवाद के प्रचार के कारण सामाजिक व्यवहार में समात्मभाव के शिवम् और सुन्दरम् की सम्भावनायें मन्द होने लगी हैं। **इस दृष्टि से पूँजीवाद और साम्यवाद के फलों में अधिक अन्तर नहीं है।** दोनों की उत्पादन प्रणाली यांत्रिक होने के कारण उत्पादन एकांकी का आयास है जिसके श्रम में श्रेय और सौन्दर्य का समन्वय सम्भव नहीं है। **जनतंत्र और साम्यवाद दोनों ही प्रणालियों में शासन की सार्वभौम प्रभुता में व्यक्ति का गौरव विलीन होगया है।** वस्तुओं के वैभव और प्रवृत्तियों के रंजन में मनुष्य का कुंठित अहंकार अपना परितोष खोज रहा है। किन्तु सभ्यता की यह गति मरू-मरीचिका है। **समात्मभाव के अतिरिक्त मनुष्य के स्थाई आनन्द और मंगल का**

कोई दूसरा स्रोत नहीं है। इसी मूल स्रोत से आत्मदान के रूप में शिवम् सफल होता है और आकृति की अभिव्यक्ति के रूप में सौन्दर्य साकार होता है। दोनों का मूल स्रोत समान होने के कारण दोनों का समन्वय सम्भव ही नहीं, स्वाभाविक है। **शिवम् और सुन्दरम् के इस समन्वय में ही इस सत्य की पूर्णता है। इसी पूर्णता में संस्कृति की साधना सफल होती है।** इसी सफलता में निहित निर्माण के बीज जीवन और संस्कृति के विकास को एक अमृत परम्परा का रूप देते हैं। इन बीजों का आत्मदान मांगलिक परम्पराओं को चिरन्तन बनाता है। अभिव्यक्ति का सौन्दर्य बनकर इसी के वासन्ती पुष्प संस्कृति के अभिनव वसन्तों का स्वागत करते हैं। इन्हीं बीजों का आत्मदान रस से आप्लुत फलों में मूर्त्त होकर श्रेय और सौन्दर्य की साधना को सार्थक बनाता है। संस्कृति और साहित्य में साकार होकर यही साधना उन्हें जीवन का वरदान बनाती है।

भारतीय काव्य में लोक-मंगल की भावना का सन्निधान पर्याप्त मात्रा में मिलता है। किन्तु मंगल की यह कल्पना अत्यन्त सीमित और अपूर्ण है। इसका कारण कवियों की दृष्टि का ही संकोच नहीं है वरन् इसके साथ-साथ भारतीय संस्कृति की परम्परा का दोष भी है। ऋग्वेद के युग में भारतीय जीवन उल्लास, उत्साह, ओज और आनन्द से पूर्ण था। ऋग्वेद के समृद्ध जीवन में प्रायः जीवन के सभी मूल्यों को पर्याप्त महत्व दिया गया था। शिव साधना के जिन तत्वों का पीछे निर्देश किया गया है उनमें अधिकांश तत्व उस प्राचीन संस्कृति की कल्पना में सन्निहित थे जिस समात्मभाव को हमने श्रेय और सौन्दर्य का मूल माना है वह ऋग्वेद के मंत्रों की रचना, पाठ और भावना में मिलता है। ऋग्वेद के मंत्र लोक-मानस से प्रसूत भावगीत हैं, उनका पाठ भी सामूहिक रूप से होता था। "समानी वः आकूतिः समाना हृदयानि वः" में ऋग्वेद का समात्मभाव युग की सामाजिक अकांक्षा के रूप में व्यक्त हुआ है। जिस आलोकदान को हमने शिव की साधना का प्रथम चरण माना है वह 'सहवीर्यं करवावहै' में उपनिषद् काल की शिक्षा की उदार भावना में व्यक्त हुआ है। ज्ञान के साथ साथ शक्ति और प्रेम की साधना भी वैदिक युग में पाई जाती है, किन्तु उपनिषद् काल के बाद एकांगी अध्यात्म और अहिंसा के प्रभाव से शक्ति की साधना उपेक्षित हो गई। शक्ति से रहित होकर ज्ञान और प्रेम अपूर्ण, अरक्षित और दीन हो गये। दर्शन और भक्ति में ज्ञान और प्रेम अध्यात्म के अतिरञ्जित रूप बन कर विकसित हुए।

शक्ति के बिना जीवन के यथार्थ की भूमि से उनका सम्पर्क कम हो गया और दोनों अलौकिकता के अनुरागी बन गये। भक्ति और नीति के काव्यों में ज्ञान और प्रेम के इस अपूर्ण रूप का प्रभाव स्पष्ट है। उपनिषदों के एकांगी अध्यात्म में भी ऋषियों के वास्तविक जीवन में बहुत कुछ स्वस्थ सम्पर्क शेष थे। वाल्मीकि और कालिदास के काव्य में तत्कालीन जीवन की यथार्थताओं का सम्पर्क बहुत कुछ मिलता है। उसमें जीवन के श्रेयोमय तत्त्वों का भी बहुत कुछ सन्निधान है। संस्कृति की सृजनात्मक परम्परा के कुछ संकेत वाल्मीकि रामायण के लव-कुश प्रसंग में तथा रघुवंश के आरम्भिक सर्गों में मिलते हैं। शक्ति-साधना की परम्परा तो न जाने कितने पहले मन्द हो गई थी। अतः राम और कृष्ण के ओजस्वी चरित्रों में भी उसकी प्रधानता न रही। रघुवंश के आरम्भिक सर्गों में युवराजों के वर्णन में संतति के व्यक्तित्व-निर्माण और उसके गौरव के कुछ संकेत अवश्य मिलते हैं। किन्तु कालिदास के समय से ही काव्य पर कामशास्त्र का प्रभाव दिखाई देता है और उसमें शृंगार का अनुराग बढ़ता जाता है। शृंगार के साथ कल्पना और अभिव्यक्ति का चमत्कार मिलकर काव्य को एक मनोविलास बना देते हैं। यद्यपि भारवि, श्री हर्ष और माघ के काव्य में जीवन के गम्भीर सत्यों का सन्निधान है फिर भी उनमें कल्पना और अभिव्यक्ति के कौशल का ही दृष्टिकोण प्रधान है। जीवन के निर्माण, कल्याण और सुरक्षा की व्यापक पीठिका संस्कृत के किसी भी महाकाव्य में नहीं मिलती।

हिन्दी काव्य को आध्यात्मिक संस्कृति और शृंगार के संस्कार उत्तराधिकार में मिले। पराधीनता के युग में अध्यात्म ही एक अवलंब था। यद्यपि भक्तिकाल के पूर्व कुछ दरबारी कवियों ने कुछ पराक्रमी राजाओं की वीर गाथाओं का वर्णन किया, किन्तु उसमें जातीय ओज की अपेक्षा व्यक्तियों की वीरता और कीर्ति का अतिरंजित वर्णन अधिक है। विदेशियों के साथ भारतीय राजाओं के संघर्ष में राष्ट्रीय सुरक्षा की अपेक्षा वीरता का व्यक्तिगत दर्प अधिक था। इसीलिये अन्ततः वे पराजित हुए। देश की पराजय के बाद अध्यात्म का ही अवलम्ब शेष रह गया, जो सन्तों की वाणी और भक्ति काव्य में मुखरित हुआ। जीवन से समन्वित न होने के कारण वह अध्यात्म स्वयं ही एकांगी और अपूर्ण था। पराधीनता के युग में उस अध्यात्म के आडम्बर में बहिष्कृत शृंगार ने भक्ति के छद्म-वेष में प्रवेश किया। रीति काव्य में शृंगार का मनोविलास ही काव्य का सर्वस्व बन गया।

हिन्दी के छायावादी काव्य में भी रीतिकाल के रस-शृंगार की ही छाया है। भाषा और शैली की नवीनता होते हुए भी दोनों के तत्त्व में बहुत कुछ समानता है। पराधीनता के कारण उत्पन्न हुई सामाजिक स्थितियों में जो मानसिक कुण्ठाएँ पैदा हुईं उनकी प्रतिक्रिया काल्पनिक शृंगार में होना स्वाभाविक था। राष्ट्रीय जागरण के युग में ओज और उत्साह की कुछ स्फुट रचनाएँ अवश्य रची गईं किन्तु व्यक्ति अथवा समाज के निर्माण की कोई समग्र योजना कविता में साकार नहीं हुई। उस समय एक स्वतन्त्रता ही हमारा लक्ष्य थी। अतः किसी रचनात्मक योजना की प्रतिष्ठा काव्य में कोई दूरदर्शी कवि ही कर सकता था। प्रतिभा होते हुए भी ऐसी दूरदर्शिता कोई कवि न दिखा सके।

वस्तुतः **सांस्कृतिक समृद्धि और सामाजिक निर्माण की कोई समग्र और व्यवस्थित योजना भारतीय कवि-चेतना में आरम्भ से ही नहीं रही।** कालिदास के समय से ही अभिव्यक्ति और अलंकार का कौशल काव्य का मुख्य लक्षण बन गया। इसीलिये विषय और कथानक के चुनाव को कवियों ने कोई विशेष महत्व नहीं दिया। जिन कथानकों को उन्होंने ग्रहण भी किया उनमें भी उन्होंने वर्णन के कौशल को ही अधिक महत्व दिया, किसी सांस्कृतिक प्रयोजन और जाति-निर्माण की भावना के लिये उसका उपयोग नहीं किया। सामाजिक और सांस्कृतिक निर्माण की प्रेरणा बनने योग्य अनेक कथानक इस पराक्रमी देश के समृद्ध इतिहास में भरे हुए हैं। किन्तु अभी तक उनमें बहुत कम की ओर कवियों की दृष्टि गई है। लोक-मंगल की ओर कवियों की उदासीनता का यह पर्याप्त प्रमाण है। जिन कथाओं का ग्रहण किया गया है उनमें राम-कृष्ण की कथाएँ प्रधान हैं। श्रीकृष्ण के जीवन में पराक्रम की प्रधानता होते हुए भी कृष्ण-काव्य में शृंगार की ही प्रधानता है। राम के चरित्र का चित्रण इससे अधिक व्यापक रूप में हुआ है। 'रामचरितमानस' में तुलसीदासजी ने रामकथा के निमित्त से पारिवारिक सम्बन्धों का एक उत्तम आदर्श प्रस्तुत किया है। किन्तु उसमें एक तो राम को भगवान मानने के कारण अलौकिकता की छाया है; दूसरे सामाजिक निर्माण और सुरक्षा की अपेक्षा उसमें नैतिक आदर्श का आग्रह अधिक है। सूर का सूरसागर तो गोपियों के निशिदिन बरसने वाले विरहाश्रुओं से ही परिपूर्ण है। कृष्ण के जीवन में जो सामाजिक श्रेय और सुरक्षा के तत्व थे उनके लिये उसमें अवकाश नहीं। सामाजिक श्रेय और सुरक्षा के प्रति जागरण का सर्वोत्तम काव्य हमें जयशंकरप्रसाद की प्रतिभा के वरदान के रूप में

मिलता है। जयशंकरप्रसाद की 'कामायनी' में आदि मानव की कथा को लेकर मनुष्य के सांस्कृतिक निर्माण की एक सूक्ष्म किन्तु, समृद्ध कल्पना मिलती है। यद्यपि 'कामायनी' के मनु में मनुष्य के श्रृंगार और अहंकार की वे दुर्बलताएँ स्पष्ट हैं जिनसे हम सभ्यता और काव्य में बहुत परिचित हैं, फिर भी उसके उत्तरार्ध में सांस्कृतिक साधना का एक अध्यवसाय दिखाई देता है। 'कामायनी' में जीवन की सृजनात्मक परम्परा का संकेत भी मिलता है, यद्यपि उसके विकास का अवकाश कामायनी के कवि को नहीं मिला। 'कामायनी' आदि मानव का काव्य है, इसमें मानव की प्राकृतिक प्रेरणाओं और सांस्कृतिक सम्भावनाओं का चित्रण है। संस्कृति की सृजनात्मक परम्परा का सूत्र 'कामायनी' के अन्त में मनु के शिव-दर्शन के बाद ही ग्रहण किया जा सकता था। 'कामायनी' का अन्त इस सृजनात्मक परम्परा की भूमिका है। इसी भूमिका को ग्रहण कर 'पार्वती महाकाव्य' में सृजनात्मक परम्परा का विकास समाज और संस्कृति के व्यापक क्षेत्र में किया गया है। जातीय जागरण और सुरक्षा के रूप में सांस्कृतिक श्रेय की प्रेरणा प्रसादजी के नाटकों में भी प्रचुर मात्रा में मिलती है। 'कामायनी' के पिछले सर्गों में सामाजिक व्यवस्था और व्यापारिक विधि के रूप में भी लौकिक श्रेय के संकेत मिलते हैं। 'कामायनी' एक सूत्र-काव्य है, अतः उसमें ये संकेत सूत्रों के रूप में ही मिलते हैं। उनके विस्तार का अवकाश 'कामायनी' की योजना में नहीं है। प्रसाद के अतिरिक्त हिन्दी के छायावादी काव्य में रीति-काव्य के अनुरूप प्रेम और श्रृंगार की ही प्रधानता है, यद्यपि उस पर रहस्यवाद की छाया है। श्रेय के भाव छायावादी काव्य में कुछ सुन्दर कल्पनाओं के रूप में ही मिलते हैं। वैसे भाव निराला में एक ओजस्वी रूप में मिलते हैं। छायावाद के कल्पनाशील काव्य की प्रतिक्रिया आधुनिक युग में प्रगतिवाद में हुई। प्रगतिवाद के पीछे साम्यवाद की क्रान्तिमयी प्रेरणा है। इस क्रान्ति में अतीत के प्रति विद्रोह अधिक है, भविष्य की रचनात्मक प्रेरणा कम है। अत्यन्त अर्वाचीन काव्य में विद्रोह की ध्वनियों के साथ सृजनात्मक भाव भी मुखरित हो रहे हैं। जयशंकरप्रसाद के काव्य की ओजस्वी शैली तथा उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक भावना सबसे अधिक स्फुट रूप में 'दिनकर' के काव्य में विकसित हुई है। इसीलिये प्रसाद के बाद आधुनिक हिन्दी काव्य का नेतृत्व 'दिनकर' को प्राप्त हुआ। 'दिनकर' की प्रेरणा के प्रकाश में हिन्दी काव्य की सरिता में नवीन ओज और सौन्दर्य के अनेक नीरज विकसित हो रहे हैं।

सामाजिक श्रेय और संस्कृति के सम्बन्ध में अनीति और अत्याचार से सुरक्षा का प्रश्न भारतीय कवियों की आत्मा को कभी गम्भीरता के साथ स्पष्ट न कर सका। वस्तुतः सुरक्षा की यह भावना लौकिक काव्य के आरम्भ के पूर्व ही लुप्त हो चुकी थी। उत्तर वैदिक काल में होने वाली एकांगी अध्यात्म की क्रान्ति और उसके प्रचार ने इस सुरक्षा की भावना के पुनर्जागरण की सम्भावनाओं को बहुत मन्द बना दिया था। अशोक के शासन काल में उसके एशियाव्यापी प्रचार तथा शंकराचार्य के द्वारा वेदान्त-डिंडिम की भारतव्यापी घोषणा से यह सम्भावना और भी मन्द हो गई। शंकराचार्य के बाद होने वाले भक्तिमूलक आन्दोलनों तथा उनसे प्रभावित भक्ति काव्य के प्रचार ने एकांगी अध्यात्म की भ्रान्ति को रूढ़ बनाने में सहायता की। स्वतन्त्रता का राष्ट्रीय आन्दोलन भी उसी एकांगी अध्यात्म और अहिंसा की भूमिका में आयोजित हुआ था, अतः उससे प्रेरित और प्रभावित काव्य में भी सांस्कृतिक श्रेय की सुरक्षा की भावना कोई महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त न कर सकी। अनीति और अत्याचार के प्रसंग में सबसे अधिक अरक्षित स्त्री और बालक होते हैं। अरक्षा की अवस्था में सबसे अधिक अहित बालकों का हुआ है और सबसे अधिक अत्याचार नारी को सहन करने पड़े हैं। **किसी कारण भी हो हमारे समाज में इन दोनों के ही जीवन गौरव, विकास, संरक्षण आदि को समुचित महत्व न दिया जा सका।** महाभारत के इतने प्राचीन काल में ही द्रौपदी के चीर-हरण, सात महारथियों के द्वारा अकेले अभिमन्यु के वध तथा अश्वत्थामा के द्वारा रात्रि के अकाल में द्रौपदी के सोते हुए पाँच पुत्रों की हत्या आदि प्रसंगों में हमें इस दिशा में अपने प्राचीन समाज के पतन के संकेत मिलते हैं। मुसलमानों के अत्यन्त अपमान पूर्ण अत्याचारों के कारण राजपूत काल में और विशेषतः राजपूतों में नारी की मर्यादा को लेकर सम्मान की भावना अवश्य जागरित हुई थी, किन्तु अन्ततः वह भी मन्द हो गई। एक मात्र चित्तौड़ में इस मर्यादा का विजय-स्तम्भ हमारे आत्म गौरव की समाधि के रूप में शेष रह गया। किन्तु बालकों के सम्मान और उनकी सुरक्षा का भाव दिव्य वात्सल्य के अनुरागी देश में जागरित न हो सका। हकीकतराय की हत्या और गुरु गोविन्दसिंह के पुत्रों के जिन्दा दीवार में चुने जाने के बाद भी हमारे भक्तिलीन समाज में इस सम्बन्ध में कोई चेतना जागरित नहीं हुई। **किन्हीं कारणों से ही हो, किन्तु हमारे समाज में व्यक्तिगत सुख, श्रेय और शान्ति की भावना रूढ़ हो गई थी; अतः सामाजिक चेतना सदा मन्द रही।**

सामाजिक चेतना की मन्दता के कारण ही इतना बड़ा देश इतने अधिक काल तक पराधीन रहा जिसका विश्व के इतिहास में कोई उदाहरण नहीं है तथा इतने असह्य अत्याचारों को इतनी व्यापक और गम्भीर सीमा तक सहता रहा। भारत के विभाजन की भूमिका में स्त्रियों और बालकों के प्रति होने वाले घोर अत्याचारों से अविचलित रहने वाले समाज और उसके नेतृत्व का यही विधान है। जिस समाज का यह इतिहास है, उसके कवियों से हम क्या आशा कर सकते हैं। कवि संसार का सबसे अधिक सुरक्षित और सबसे भीरु प्राणी है। उसकी इसी भीरुता के कारण कविता अनेक बार कल्पना के स्वप्न लोकों में पलायन करती रही है। एकांगी अध्यात्म के समान जीवन की कठोर यथार्थताओं से अपनी आँख मूँद कर वह सौन्दर्य के स्वप्न देखती रही है। चन्दबरदाई के समान योद्धाओं के साथ युद्ध में जाने वाले वीर कवि विरले ही हुये हैं। स्वप्न-लोकों का विहारी कवि क्रांति से कितना डरता रहा है इसका प्रमाण काव्य का समस्त इतिहास है। अभिव्यक्ति के सौन्दर्य लोकों में कुछ क्रांतियाँ अवश्य हुई हैं किन्तु जीवन की क्रान्ति का सन्देश काव्य में बहुत कम मिलता है। अपने सुरक्षित स्वप्न-लोक में प्रायः कवि इतिहास के गौरव और सौन्दर्य के ही गीत गाता रहा है। क्रांति का आवाहन करने वाले आधुनिक कवि भी क्रान्ति का सजीव रूप अपने काव्य में प्रस्तुत नहीं कर सके।

इस सबका कारण समाजिक अनीति और अत्याचार के प्रति समान्यतः हमारे समाज की, और विशेषतः कवियों की, उदासीनता है। **अनन्त अत्याचारों और असंख्य पराक्रमों के इस देश में इस उदासीनता का मूल जाति की निश्चेष्टता में नहीं वरन् प्रतिभाओं और नेताओं की विचित्र नीति में है।** जिन प्रतिभाओं और नेताओं ने उत्तर वैदिक काल में एकांगी अध्यात्म का प्रचार किया उनके वंशधर संस्कृति की इस गम्भीर समस्या के प्रति सजग नहीं हो सके। राम और कृष्ण के पराक्रमी चरित्र को लेकर भी वे शक्ति और सुरक्षा की दिशा में देश के जागरण का निर्देश नहीं कर सके। इस दृष्टि से शिवम् की भावात्मक साधना की प्रतिष्ठा भारतीय काव्य में कम ही मिलती है। **जयशंकरप्रसाद के नाटकों के अतिरिक्त इसका परिचय अन्यत्र दुर्लभ है।** इस दिशा में हमारी राष्ट्रीय चेतना मन्द होने के कारण प्रसाद के नाटकों की प्रेरणा न तो हमारे उदासीन समाज में किसी स्फूर्ति का संचार कर सकी और न युवक कवियों की प्रतिभा को ही इस

ओर सचेत कर सकी। युगों से इस दिशा में उदासीन समाज की चेतना को 'पार्वती' महाकाव्य में आसुरी अनीति और अत्याचारों की गंभीर भूमिका में शक्ति और सुरक्षा तथा एक अभयपूर्ण संस्कृति के निर्माण की ओजस्वी योजना की ओर ध्यान देने की भी रुचि नहीं है। इस सम्बन्ध में प्रतिभा और नेतृत्व के अधिकारियों की भावना और दृष्टिकोण भी अपनी सनातन परम्परा के अनुरूप उदासीन और उपेक्षामय है। ज्ञात नहीं कि भविष्य में अपने श्रेय और सुरक्षा के प्रति जागरित होकर समाज कवियों की प्रतिभा को प्रेरित करेगा अथवा कोई जाग्रत प्रतिभा अपने प्रकाश से समाज की पलकें खोलेगी।

अध्याय ४५

शिवम् और क्रान्ति

पिछले प्रकरण में शिवम् की जिस भावात्मक साधना का संकेत किया गया है वह एक प्रगतिशील परम्परा है। जीवन स्वभाव से ही गतिशील है। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की व्यवस्था काल-क्रम की व्यवस्था के अन्तंगत है। हमारा अतीत इतिहास बनकर स्मृति की धारणा में सुरक्षित रहता है और दूसरी ओर कल्पना भविष्य का विधान करती है। परम्परा का संरक्षण करते हुए भी जीवन प्रगति के मार्ग में अग्रसर होता है। **इस प्रगति का रूप विकास है। विकास जीवन के रूप और तत्व की समृद्धि है। विकास की परम्परा में नवीन तत्वों और रूपों का उदय होता है।** प्रकृति के तत्व तो नियत हैं। विधाता ने उनकी कभी सृष्टि की हो किन्तु भौतिक तत्व की सृष्टि मनुष्य का अधिकार नहीं। वह केवल तत्व के संयोग से नये मिश्रण और विशेषतः नये रूप रचता है। यही रूप-रचना उसकी भौतिक सृष्टि है। किन्तु चेतना के लोक में मनुष्य नये भाव-तत्व और नये रूप दोनों की रचना करता है। चेतना अनन्त होने के कारण मनुष्य की यह भाव और रूप की सृष्टि भी अनन्त है। मनुष्य की यह भाव-सृष्टि चिन्मय होते हुई भी भौतिक उपकरणों और लौकिक व्यवहारों में साकार होती है। **प्रकृति और चेतना के इसी संगम में सौन्दर्य और संस्कृति का उदय होता है। सौन्दर्य सृष्टि है तथा संस्कृति सृजनात्मक होने के साथ-साथ सृजन की प्रेरणा भी है।** अतः एक सृजनात्मक परम्परा में ही जीवन का सांस्कृतिक विकास अक्षुण्ण रहता है। सृजन का यह रूप बड़ा व्यापक है। भौतिक रूपों और कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि की ओर तो मनुष्य की रुचि बहुत रही है। **किन्तु सृजन का सर्वोत्तम रूप स्रष्टाओं का सृजन है।** प्रकृति के क्षेत्र में सृष्टि के इसी रूप के आधार पर जीवन और मनुष्य जाति की परम्परा चल रही है। मनुष्य के जीवन में चेतना का अधिक विकास हुआ है और इसके आरम्भिक जीवन काल में चेतना के इस विकास की अवधि बहुत है। इसलिए मनुष्य के जीवन में चेतना के सांस्कृतिक निर्माण का महत्व बहुत है। इस सांस्कृतिक निर्माण में बालक की स्वभाव से विकासशील चेतना

के जागरण में बड़ों के आत्मदान का अनुयोग अपेक्षित है। मातृत्व के सहज वन्धन के कारण नारी अपने इस उत्तरदायित्व का निर्वाह अधिक निष्ठा के साथ करती आई है। **प्राकृतिक सृजन में निमित्त मात्र होने के कारण पुरुष को जो स्वतन्त्रता और अवकाश मिले उनका उपयोग सांस्कृतिक सृजन में सहयोग देने की अपेक्षा पुरुष ने अपनी प्रवृत्तियों के रंजन में अधिक किया। भौतिक रूपों और कलात्मक सौन्दर्य के सृजन में उसकी जितनी रुचि रही उतनी रुचि स्रष्टाओं के सांस्कृतिक निर्माण में नहीं रही।** स्रष्टाओं का सांस्कृतिक निर्माण केवल सौन्दर्य के रूपों की रचना नहीं है उसमें आत्मदान के शिवं का भावयोग भी अपेक्षित है। शिवं की अपेक्षा मनुष्य की रुचि सुन्दरम् में अधिक रही है। उसकी सभ्यता और कला का विकास इसका प्रमाण है। सुन्दरं अभिव्यक्ति है। वह मनुष्य के प्राकृतिक स्वभाव के अधिक निकट है। **शिवं साधना है। साधना स्वभाव की अपेक्षा आत्मा का अध्यवसाय अधिक है।** साधना के लिए प्रकृति की मर्यादा अपेक्षित है। इसीलिए 'संयम' साधना का आरम्भिक तंत्र है। इस मर्यादा के द्वारा ही व्यक्ति और समाज के सांस्कृतिक विकास का पथ प्रशस्त हो सकता है।

समाज के इस सांस्कृतिक विकास में श्रेय और सुरक्षा की समस्या प्रधान है। वुद्धि और कल्पना के उत्कर्ष तथा इनसे प्रसूत साधन-तंत्रों के सहयोग से मनुष्य की, विशेषतः पुरुष की, अनीति और अतिचार की क्षमता वहुत बढ़ गई है। आत्मरक्षा में असमर्थ होने के कारण स्त्री और बालक पुरुष के अतिचारों की यातना युगों से सहते आये हैं। पुरुष के अतिचार के अतिरिक्त उसके अधिकार और शासन की भावना भी सामाजिक श्रेय और सुरक्षा के साथ-साथ सांस्कृतिक विकास में बाधक रही है। जिन व्यक्तियों और वर्गों के हाथ में अधिकार और शासन के तंत्र आ गये उन्होंने सब प्रकार के छल-वल से उन्हें अनन्त काल तक वनाये रखने का प्रयत्न किया। समाज में परम्पराओं के रूढ़ होने का यही मुख्य कारण है। किसी कारण भी हो शिक्षा और ज्ञान का समाज में इतना मुक्त प्रचार नहीं हुआ है कि साधारण जन अपने को उन छलों की प्रवंचना से वचा सकें जिनका प्रयोग अधिकार-प्राप्त लोग अपनी सत्ता वनाये रखने के लिए करते हैं। यदि साधारण जनों में इस प्रवंचना के मर्म को समझने की क्षमता होती तो धार्मिक आडम्वर, शोषण-पूर्ण

व्यापार और वैभव पूर्ण राजतंत्रों की परम्पराएँ पिछले युगों में शताब्दियों तक न चलती रहती। आज सर्वोदय की धारणा संस्कृति का एक सरल सत्य बन गई है। किन्तु अभी भी वह कुछ आदर्शवादी नेताओं की कल्पना मात्र है। एक ओर साधारण जनता में जागरण की कमी और दूसरी ओर अधिकार-प्राप्त लोगों के द्वारा भ्रान्ति की प्राचीन परम्पराओं का पोषण इस कल्पना को सत्य बनाने में बाधक है और न जाने कब तक रहेगा। एक ओर जहाँ प्रगति की कामना मनुष्य में स्वाभाविक है वहाँ दूसरी ओर उसके स्वभाव में एक रूढ़िवादी तत्व भी है जिसके कारण वह निस्सार हो जाने पर भी प्राचीन परम्पराओं से लिपटा रहता है। इस रूढ़िवादिता का एक कारण ज्ञान के आलोक की कमी भी है। सत्य का स्वच्छ दर्शन होने पर जब जीवन और चेतना का समृद्ध रूप स्पष्ट होता है तो मनुष्य निस्सार रूढ़ियों से बँधा नहीं रहता क्यों कि उसके सामने प्रगति का मार्ग खुलजाता है। रूढ़ियों से लिपटे हुए और सत्ताधारियों के भ्रान्ति चक्रों में भटकते हुए साधारण जनों के लिए ये दोनों ही बातें साधारणतः संभव नहीं हैं। इसीलिए मनुष्य के सांस्कृतिक विकास में प्रतिभा, नेतृत्व और क्रान्ति की आवश्यकता होती है।

प्रतिभा चेतना की अद्भुत समृद्धि है। वह क्रान्तदर्शिनी होने के कारण क्रान्तिकारी होती है। शंकराचार्य ने कवि को 'क्रान्तदर्शी' कहकर 'सर्वदृक्' बताया है।[४६] 'क्रान्त' अतीत को कहते हैं, जो व्यतीत हो चुका है। क्रान्त का दर्शन केवल अतीत के यथार्थ का परिज्ञान नहीं है, वह उसके सत्य का सम्यक बोध भी है। सत्य अखण्डित है। अतः एक व्यापक दृष्टि के द्वारा ही अतीत के सत्य का निर्देशन भी सम्भव है। भविष्य की संभावना ही अतीत के असत्य का अनावरण कर सकती है। अतः समग्र सत्य का द्रष्टा ही अतीत के असत्यों को अनावृत करके भविष्य की संभावनाओं का मार्ग आलोकित करता है। **जो चेतना जीवन के इस समग्र सत्य को जितनी पूर्णता और स्पष्टता के साथ ग्रहण कर सकती है वह उतनी ही प्रतिभाशाली है। प्रतिभा से प्रकाशित चेतनाएँ ही संस्कृति के नयन हैं।** वे ही विकास के मार्ग में उसकी दिशा का संकेत करते हैं। अतः समाज के नेतृत्व का मौलिक श्रेय इन प्रतिभाओं को ही प्राप्त है। यदि समाज की व्यवस्था में कुछ मध्यवर्ती लोगों के सत्ता और अधिकार के स्वार्थ बाधक न हों तो मनुष्य के सांस्कृतिक विकास के लिए इन प्रतिभाओं का आलोकमय नेतृत्व ही पर्याप्त है। इनकी दृष्टि में ही

वह दिव्य प्रेरणा है जो मनुष्य के अज्ञान को विच्छिन्न करके उसे आलोक के मार्ग में अग्रसर कर सकती है। 'सौन्दर्य लहरी' में शक्ति के निमेष और उन्मेष से प्रलय और उदय की कल्पना[४७] तथा भामती के मंगल में ब्रह्म के वीक्षित से पंच-भूतों के उदय की कल्पना[४८] चेतना की दृष्टि की सृजनात्मक शक्ति का संकेत है। प्रतिभा की दृष्टि एक सृष्टि है और सृजनात्मक है। वह समाज के जीवन में नये आलोक का विस्तार करके निस्सार रूढ़ियों के असत्य का उद्घाटन कर प्रगति का पथ प्रकाशित कर सकती है। किन्तु एक ओर सत्ताधारियों के स्वार्थ और अधिकार की दुर्दमनीय आकांक्षाएँ और दूसरी ओर कुछ अतिचारियों के आतंक मिलकर समाज में एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं जिसके धूमिल वातावरण में प्रतिभा का प्रकाश लोक मन तक नहीं पहुँच पाता। आलोक के ग्रहण के लिए लोचन तो चाहिए। प्रतिभा आलोक दे सकती है दृष्टि नहीं। दृष्टि तो जन-मन को अपनी जाग्रत चेतना ही से प्राप्त होगी। जीवन के समग्र सत्य को प्रकाशित करने वाली प्रतिभा दुर्लभ है और उससे भी अधिक दुष्कर जन-मन में उसके आलोक के ग्रहण के योग्य दृष्टि का उदय है। प्रतिभा उदासीन तो नहीं होती। चेतना की सजगता उसका लक्षण है। लोकहित की भावना उसकी व्यापक दृष्टि में समाहित है। इतना अवश्य है कि वह स्वार्थ, अधिकार और शासन की भावना से प्रेरित होकर प्रचलित अर्थ में नेतृत्व को नहीं अपना सकती। यही क़ारण है कि संसार का कोई प्रसिद्ध शासक उदार अर्थ में प्रतिभाशाली नहीं हुआ और कोई वस्तुतः उदार प्रतिभा नेता न बन सकी। जितने प्रतिभाशाली नेता हुए हैं उनका नेतृत्व जीवन के समग्र सत्य को खण्डित करके ही सम्भव हो सका है। अपनी महत्ता का आरोपण और खण्डित सत्य का प्रचार इन प्रतिभाओं की दो मुख्य अपूर्णताएँ हैं। एकांगी अध्यात्म, संन्यास और वैभव के नेतृत्व मनुष्य के अज्ञान, परिग्रह और दीनता को चकित करके अधिक प्रभावशाली रहे हैं। इन नेतृत्वों की भ्रान्ति में भटकता हुआ समाज अपने सांस्कृतिक विकास के पथ पर सदा भ्रष्ट होता रहा है।

प्रतिभा और नेतृत्व दोनों का कर्त्तव्य समाज का जागरण और उसके सांस्कृतिक विकास में योग है। प्रतिभा तो सदा जीवन के समग्र अथवा आंशिक सत्य का उद्घाटन करती है। किन्तु नेतृत्व की दुर्बलताएँ सामाजिक चेतना के जागरण में सबसे अधिक बाधक होती हैं। राजाओं की सेना की भांति नेताओं के अनुचरों

का एक वर्ग बन जाता है। **नेतृत्व की कल्पना ही भेद और विषमता पर आधारित है। अतः वह स्वतंत्रता और संस्कृति के समग्र सत्य का खण्डन करती है।** प्रतिभा चेतना की समृद्धि की विभूति है। श्रेष्ठता के दंभ से उसके सत्य की समग्रता खण्डित हो जाती है। नेतृत्व स्पष्ट रूप से श्रेष्ठता का दम्भ और व्यवहार है। अतः वह असत्य पर आधारित है। इन दुर्बलताओं के कारण नेतृत्व संस्कृति के विकास में बाधक है। क्रान्ति की घोषणा करते हुए भी वह अपने अधिकार और सत्ता को सुरक्षित रखने के लिए निस्सार रूढ़ियों का पोषण करता है। किसी क्रान्ति का पक्षपाती होते हुए भी नेतृत्व अपनी सत्ता के मोह में उस क्रान्ति को ही रूढ़ बना देता है। रूढ़ि का विरोध करने वाली क्रान्ति एक प्रतिक्रिया है जो विरोध में ही सार्थक होती है। विरोध-मूलक होने के कारण वह प्रायः निषेधात्मक होती है। निषेधात्मक होने के कारण ही वह रूढ़ि बन जाती है। **वास्तविक क्रान्ति जीवन की निरन्तर प्रगतिशील धारा है जो नदी की धारा के समान अपने प्रवाह के वेग से अपने स्वरूप को स्वच्छ रखती है।** अनीति के आरूढ़ होने पर प्रगति के लिए विरोध और विनाश भी आवश्यक हो सकता है। किन्तु सांस्कृतिक प्रगति का वास्तविक रूप निर्माण ही है। अनीति से जीवन की सुरक्षा के साथ-साथ समाज के स्वास्थ्य, शिक्षा, श्रेय और सौन्दर्य के विकास की रचनात्मक योजना ही वास्तविक प्रगति है। **जागरूक स्रष्टाओं के सृजन से ही इस रचनात्मक क्रान्ति की परम्परा अमर हो सकती है।** स्रष्टाओं के सृजन के लिए विशेषतः पुरुष का आत्मदान के प्रति अनुराग अपेक्षित है। आत्मदान के शिवं के द्वारा ही सांस्कृतिक प्रगति की साधना सफल हो सकती है। शक्ति के द्वारा समाज की सुरक्षा तथा आत्मदान की प्रेरणा की स्फूर्ति के समन्वय में ही सांस्कृतिक प्रगति पूर्ण होती है।

इस संबन्ध में इतना कहना होगा कि नेताओं की अपेक्षा साधारण पुरुष शिवम् में सहयोग के इस उत्तरदायित्व को अधिक सफलता और सद्भावना के साथ निभाता आया है। नर के स्वभाव में शिवम् का प्राकृतिक समवाय न होते हुए भी मानुषिक काम की तन्मय आत्मीयता और उसके साथ उद्भुत होने वाले पारिवारिक प्रेम की भूमिका में उसके सांस्कृतिक जीवन में आत्मदान के शिवम् का बहुत कुछ विकास हुआ है। पत्नी और सन्तान के प्रेम तथा परिवार के पालन में श्रम, त्याग और सेवा के द्वारा वह जीवन में अपने शिवम् का बहुत कुछ प्रमाण देता रहा है। पारि-

वारिक जीवन की जिन परिस्थितियों को पुरुष ने स्वीकार किया उनके व्यावहारिक उत्तरदायित्व को वह बहुत कुछ निष्ठा और सफलता के साथ निभाता आया है। **आदिम काल से यदि स्त्री का जीवन समर्पण और सेवा के द्वारा घर के भीतर पति और परिवार के पालन में बीता है, तो पुरुष का जीवन घर के बहार पत्नी और परिवार के पोषण के लिए श्रम और कष्ट उठाते, संकट और आपदाएँ झेलते तथा उनकी रक्षा के लिए संघर्ष और संगठन करते बीता है।** यह संभव है कि पुरुष ने अपने स्वाभाविक अहंकार के कारण पारिवारिक जीवन में कुछ अधिकारों का आरोपण तथा कुछ विशेष सुविधाओं की आकांक्षा की हो। यह भी संभव है कि उसकी कुछ धारणाएँ जाने अनजाने कुछ अत्याचार का भी कारण बनी हों। यह भी संभव है कि समाज के कुछ उच्छृंखल सदस्यों का अनर्गल व्यवहार अरक्षितों के लिए आतंक और अत्याचार का कारण बना हो। किन्तु इस सबके मूल में नर की अहंकारमयी प्रकृति के अतिरिक्त उसकी सांस्कृतिक चेतना के समुचित विकास अभाव भी है। सांस्कृतिक चेतना का विकास मनुष्य के आत्म-जागरण से होता है। यह आत्म-जागरण मनुष्य का व्यक्तिगत और सामाजिक उत्तरदायित्व है। किन्तु चेतना का विकास बड़े विवेकमय, निर्भीक और दृढ़ अध्यवसाय का फल है। इसके लिए शिक्षा और अवकाश चाहिए। आदिम काल में जन-साधारण की शिक्षा के लिए अधिक सुविधाएँ नहीं थी। एक दृष्टि से शिक्षा के इतिहास को मानवीय चेतना के विकास का इतिहास कहा जाय तो अनुचित न होगा। आधुनिक युग के महान् विचारक शिक्षा के क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी थे। शिक्षा मानवीय संस्कृति का तंत्र है। शिक्षा की प्रणाली में मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना सामाजिक रूप में अपने विकास का पथ खोजती है। किन्तु यह पथ की खोज स्वयं बहुत कुछ शिक्षा पर निर्भर होती है। **तात्पर्य यह है कि चेतना का जागरण स्वयं अपना साध्य और दूसरी ओर स्वयं अपना साधन है।** अतः यह समझना आवश्यक है कि आदिम और मध्य युगों में जब मानवीय चेतना आज के समान इतनी विकसित थी, उस समय इस विकास का अभाव स्वयं अपने विकास में बाधक रहा। अतः यह स्वभाविक ही था कि मनुष्य के शिक्षा संबन्धी दृष्टिकोण और उसकी सांस्कृतिक चेतना का विकास धीरे-धीरे और बहुत मन्द गति से हुआ है। चेतना के विकास की इस आत्मगत बाधा के साथ-साथ मनुष्य के व्यावहारिक जीवन तथा सामाजिक व्यवस्था की परिस्थितियाँ कठिनाइयाँ पैदा करती रही हैं। जागरण के पूर्व जीवन

का संरक्षण और पोषण आवश्यक है। मनुष्य के शिशु की असमर्थताओं तथा उसके विकास की भौतिक अपेक्षाओं के कारण स्त्री-पुरुष दोनों का बहुत कुछ समय और श्रम परिवार की बाह्य व्यवस्थाओं को जुटाने और संभालने में ही लग गया। मानवीय परिवार के पालकों के इस उत्तरदायित्व ने उनके जीवन को बहुत कुछ व्यस्त बना यिदा। इस व्यस्तता में अवकाश का अभाव सांस्कृतिक चेतना के जागरण में दूसरी बाधा बन गया। **आदिम काल से लेकर आज तक साधारण लोगों का जीवन तो परिवार के पोषण के साधनों को जुटाने में ही बीतता रहा है।** आज भी साधारण लोग जीविका तथा जीवन के साधनों को जुटाने में ही जीवन अर्पित कर रहे हैं। **यही कारण है कि प्राचीन काल में तथा मध्ययुग में संस्कृति और समाज के अधिकांश नेता वे ही लोग हुए हैं जो एकाकी जीवन, संन्यास, गृह-कलह, महत्वाकांक्षा आदि किसी भी कारण के संयोग से चिन्तन और नेतृत्व के लिए अवकाश पा सके। भारतीय जागरण का आरम्भ और विकास दोनों ही अधिक अंश में इन्हीं मुक्त पुरुषों की देन है।** वेदों के निर्माता मंत्रदृष्टा ऋषि थे; उन ऋषियों में बहुत से गृहस्थ थे। किन्तु जीवन के संबन्ध में कुछ त्यागमयी धारणाओं के द्वारा उन्होंने अपने जीवन को सरल और उत्तरदायित्व को हल्का बना लिया था। फिर भी इन ग्रहस्थ ऋषियों का विचार इतना क्रान्तिकारी नहीं है। वैदिक विचार की परम्परा में उपनिषदों की अन्तर्मुखता के अतिरिक्त और कोई क्रान्ति की धारा नहीं है। भारतीय विचार क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित करने वाले सभी महान् नेता आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से समृद्ध और वृत्ति से संन्यासी, अतएव जीवन के भार से पूर्णतः मुक्त, थे। राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, शंकराचार्य, सूर, तुलसी, दयानन्द, विवेकानन्द, गान्धी और जवाहरलाल तक हमारी क्रान्ति के पीछे यही सिद्धान्त कार्य कर रहा है। सुकरात, ईसा, कान्ट आदि अनेक पश्चिमी नेताओं के सम्बन्ध में भी यह उतना ही सत्य है। मुहम्मद साहब, मार्क्स और फ्रायड के जीवन में यदि यह इतना लागू नहीं होता तो दूसरी ओर यह भी सत्य है कि मार्क्स और फ्रायड की क्रान्ति सांस्कृतिक की अपेक्षा प्राकृतिक जीवन की क्रान्ति अधिक है। मार्क्स और फ्रायड का उदय निःसन्देह हमारी सामाजिक व्यवस्था में अर्थ और काम के क्षेत्र में पुरातन काल से चले आने वाले दमन की प्रतिक्रिया है। इन दोनों के विचारों ने जहाँ एक ओर अर्थ और काम के क्षेत्र में होने वाले दमन से मुक्ति का द्वार खोला वहाँ दूसरी ओर दमन की प्रतिक्रिया के रूप में अर्थ और काम के एक अतिरंजित जीवन

को समर्थन और पोषण भी दिया। आधुनिक साहित्य में दोनों के प्रभाव तथा आधुनिक जीवन के वैभव और विलास में इसका प्रमाण मिल सकता है। यह वस्तुतः अर्थ और काम के क्षेत्र में दमन की प्रतिक्रिया का स्वाभाविक परिणाम है। इस प्रतिक्रिया का उद्देश्य तो मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन में अर्थ और काम की स्वस्थ व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त करना ही है। किन्तु सत्य यह है कि इन क्रान्तियों की प्राकृतिक सीमा में इनके सांस्कृतिक समन्वय की पर्याप्त प्रेरणाएँ नहीं हैं। मनुष्य के सत्ता और स्वास्थ्य से अर्थ और काम का घनिष्ठ संबन्ध होने के कारण ये क्रान्तियाँ इतनी दूर-व्यापी हुई हैं। प्रकृति के इस जागरण में सांस्कृतिक चेतना का संस्कार मिलने पर ये क्रांतियाँ अपने उद्देश्य में सफल हो सकती हैं। इतना अवश्य कहना होगा कि इन क्रांतियों के कठोर सत्य ने मनुष्य के इतिहास में युगों से पलती हुई अनेक भ्रांतियों को खंडित कर दिया है तथा सामाजिक व्यवस्था में पैदा हुई अनेक विषमताओं को एक कड़ी चुनौती दी है। इस अभ्रान्त चुनौती की चपेट में हमारी समस्त प्राचीन व्यवस्था के जर्जर मूल कांप उठे हैं और सभ्यता एक नये निर्माण की दिशा खोज रही है।

इसके पहले पूर्व और पश्चिम में जितनी भी क्रान्तियाँ हुईं उन सबका उद्देश्य मुख्यतः सांस्कृतिक था। धर्म, ज्ञान, आचार आदि इन क्रांतियों के प्रमुख क्षेत्र थे। वैदिक युग की विचारधारा में इतनी अधिक क्रान्ति नहीं थी क्योंकि उस विचार धारा के निर्माता एक सरल पारिवारिक जीवन व्यतीत करते थे। उपनिषद् काल में कदाचित् सामाजिक और राजनीतिक स्थिति में शान्ति और निर्द्वन्द्वता होने के कारण आध्यात्मिकता और अन्तर्मुखता का अनुपात कुछ बढ़ गया। महावीर और बुद्ध की सन्यास-मुखी विचार-धारा ने इसे ऐसी प्रबल प्रेरणा दी कि ढाई हजार वर्षों से यह पूर्व-एशिया की चेतना को शासित कर रही है। पारिवारिक व्यस्तता में सुरक्षा और शान्ति का भी अभिलाषी मानव इसे अपनी श्रद्धा का बल देता आया है। **जीवन के पारिवारिक उत्तरदायित्वों से अपने को मुक्त करके इन विरागी विचारकों ने जो जीवन-दर्शन जनता के सामने रखा उसका अपूर्ण रहना स्वाभाविक था। साधारण मनुष्य के पारिवारिक जीवन की कठिनाइयों का समाधान अथवा उसकी अपेक्षाओं का समाहार इसमें संभव नहीं था।** जीवन के सभी उत्तरदायित्वों को वे त्याग चुके थे और जो अल्प अपेक्षाएँ उनके जीवन में शेष रह गयी थी उनकी व्यवस्था उनके नेतृत्व में अनायास समाहित हो गयी थी। अतः जीवन के साधन-

पक्ष के महत्व को वे पर्याप्त गौरव नहीं दे सके। इसका परिणाम एकांगी अध्यात्म का प्रतिपादन और प्रचार हुआ। जीवन से अतीत इस अध्यात्म को भारतीय मुनियों और मनीषियों ने इतनी ऊँचाई पर पहुँचा दिया कि साधारण जनता की दृष्टि उससे चकाचौंध हो गयी। इनके त्याग और वैराग्य के सामने लोगों को अपना लौकिक जीवन तुच्छ और हेय प्रकट होने लगा। महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण, गान्धी, जवाहरलाल आदि के राजसी और वैभवमय पूर्व जीवन के साथ तीव्र विरोध और महान अन्तर रखने के कारण इनके त्याग की महिमा और भी दीप्त हो उठी। **इसी दीप्ति के चकाचौंध में भारतीय जनता युगों से जीवन के भ्रान्त पथ में भटक रही है।** यह चकाचौंध उसकी दृष्टि को इतना तिलमिलाता रहा है कि वह आँख खोलकर न अपने लोक जीवन के गौरव को ही पहचान सकी और न संन्यासियों के एकांगी अध्यात्म की अपूर्णताओं को ही परख सकी।

विश्व के, तथा विशेषत: भारतवर्ष के, इतिहास में धर्म, संस्कृति और विचार के क्षेत्र में इन्हीं अद्भुत राज-पुरुषों का नेतृत्व रहा है। शंकराचार्य, विवेकानन्द, ईसा आदि की भाँति जिनके पास राजसी कुलीनता की कीर्ति नहीं थी उसे उनके ओजस्वी व्यक्तित्व और उनकी वर्चस्वी प्रतिभा ने पूरा किया। त्याग, वैराग्य और प्रतिभा के संयोग से अपूर्ण होते हुए भी इनका दर्शन और नेतृत्व इतना प्रभावशाली बन गया कि आज भी लोक का मानस इनके प्रभावों से मुक्त होकर जीवन का एक स्वतंत्र सन्तुलित और समन्वित दृष्टिकोण अपनाने में समर्थ नहीं है। साधारण लोगों की जो भौतिक और पारिवारिक कठिनाइयाँ उनकी चेतना के जागरण में पहले बाधक थी वे ही अब भी बाधक बनी हुई हैं। इन्हीं कठिनाइयों ने इन राजर्षियों के नेतृत्व को अवसर दिया। शिक्षा, विचार और जागरण की कमी के कारण साधारण जनता संस्कृति के इतिहास में किसी देवदूत की अनुयायी बनकर चलने में ही अपनी कृतार्थता मानती आयी है। भारत की संस्कृति सबसे प्राचीन, दृढ़ और प्रभावशाली है। इसलिए यह अनुगमन की भावना भारतीयों में सबसे अधिक रही है। इसी कारण जीवन की परिस्थितियों में छिपी हुई आशंकाओं तथा बाहरी आतंकों से उत्पन्न होने वाली समस्याओं को अभ्रान्त रूप में समझने में वह इतनी कम जागरूक रही है। **संसार के अन्य किसी भी देश में राजर्षियों का इतना दीर्घ और प्रभावशाली नेतृत्व नहीं रहा।** दूसरे देशों के मनीषियों में वैभव के त्याग की भूमिका न होने के कारण न उनके विचार ने और न

अनेक व्यक्तित्व तथा जीवन ने जनता को इतनी प्रबलता के साथ प्रभावित किया और न वे उसके मन में लोक-जीवन के प्रति विरक्ति का भाव ही उत्पन्न कर सके। भारत के एकांगी अध्यात्म ने और प्रणेताओं के राजसी प्रभाव ने भारतीय जनता की लोक-संग्रह भावना को इतना दुर्बल बना दिया कि वह अपने आतंक-पूर्ण इतिहास में न कभी सजग और संगठित होकर अपने लौकिक स्वार्थों की रक्षा के लिए उद्यत हुई और न कभी अनीति से क्षुब्ध होकर उसके प्रतिरोध के लिए संगठित क्रान्ति की योजना बना सकी। दूसरे देशों के नेतृत्व में त्याग और वैराग्य का चकाचौंध न होने के कारण इन देशों की जनता का लोक-संग्रह का भाव कुंठित नहीं हुआ। **धर्म का साम्राज्य समाप्त होने के बाद योरोपीय देशों में राजनीतिक उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का उत्साह इसी अकुंठित परिग्रह भावना से उदित हुआ था। भारतवर्ष की ऐतिहासिक पराजय इसी कुंठित परिग्रह भावना का फल है।** यद्यपि यह सत्य है कि परिग्रह की मानवीय मर्यादा ही नवीन संस्कृति का आधार बनेगी। किन्तु इस मर्यादा के संतोष में लौकिक जीवन के गौरव और साधारण जीवन-धर्मों के महत्व का समुचित समन्वय होगा। **यह भी सत्य है कि पश्चिम के इसी परिग्रह-प्रेम ने साम्राज्यवाद का रूप लेकर विश्व-शान्ति के लिए सबसे बड़े संकट को उत्पन्न किया है।** तात्पर्य यह है कि पूर्व का त्यागपूर्ण और एकांगी अध्यात्म ही पूर्व की असफलता रहा और दूसरी ओर पश्चिम का उत्साह-पूर्ण परिग्रहवाद सफल रहा। किन्तु यह सफलता और असफलता एक दृष्टि से है और दूसरी दृष्टि से इसे पूर्ण बनाने की आवश्यकता है। इस पूर्ति के लिए पूर्व को अपने आध्यात्मिक संस्कारों में परिग्रह की मर्यादा और उसके गौरव का समन्वय करना होगा। दूसरी ओर पश्चिम को एक असाधारण त्याग का दृष्टिकोण अपनाकर अपने साम्राज्यवादी इतिहास का परिशोध करना होगा तथा अपने परिग्रह की इस मर्यादा को एक अपूर्व अध्यात्म से अनुप्राणित करना होगा। तभी पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों की ध्रुवाएँ एक अपूर्व सन्तुलन प्राप्तकर विश्व को शान्ति की प्रेरणा दे सकेंगी।

संस्कृति के इस सन्तुलित और समन्वित दृष्टिकोण में जनमानस के साथ पूर्ण सम्वादिता होगी तथा लोक-जीवन की पारिवारिक और व्यवहारिक परिस्थितियों के साथ इसकी पूर्ण संगति होगी। नयी सभ्यता का यह रूप जन-जागरण से उत्पन्न तथा जन-चिन्तन के द्वारा प्रतिष्ठित होगा। जिस प्रकार लोक-संस्कृति के उत्सवों

में शिवम् और सुन्दरम् का पूर्ण समन्वय है, उसी प्रकार इस लोक-चिन्तन में सत्य के पूर्ण रूप का उद्भावन होगा। आर्थिक और राजनीतिक साम्राज्यवाद की भाँति जब बौद्धिक और सांस्कृतिक साम्राज्यवाद तथा सामान्तवाद का अन्त होगा तभी लोक-मानस में पूर्ण और स्वस्थ संस्कृति का राज-कमल विकसित होगा। इस नवीन संस्कृति की क्रांति के लिए औद्योगिक सहकार की भाँति बौद्धिक सहयोग तथा सहचिन्तन को शिक्षा के बीज-मंत्र के रूप में प्रतिष्ठित करना होगा। शिक्षा, साहित्य, राजनीति आदि के क्षेत्र में प्रचार और आरोपण का जो अपार महत्त्व बढ़ गया है उसके स्थान पर विचार के स्वतंत्र विकास तथा मानसिक सहयोग की प्रणाली को आदर देना होगा।

मानवीय जीवन और संस्कृति की जिस सृजनात्मक और प्रगतिशील परम्परा का निर्देश इस प्रकरण के आरम्भ में किया गया है उसकी स्वच्छ दृष्टि उदार और उज्ज्वल प्रतिभा ही प्रदान करती है। मानवीय चेतना के ज्योतिर्मय कमल में प्रतिभा के इस समग्र रूप के दल धीरे-धीरे विकसित हो रहे हैं। प्रतिभा के अनुरूप उदार होने पर सामाजिक और राजनीतिक नेतृत्व भी इसमें सहायक हो सकता है। सहायक ही नहीं वरन् प्रतिभा की दृष्टि को जीवन के सांस्कृतिक विकास में चरितार्थ करने में नेतृत्व का एक व्यावहारिक उपयोग है। **यह स्पष्ट है कि अधिकार, सत्ता और शासन के मोह से मुक्त होने पर ही यह नेतृत्व समाज का उपकारक हो सकता है।** अन्यथा एक ओर क्रान्ति का उद्योग करते हुए भी दूसरी ओर वह एक रूढ़िका प्रतिष्ठापन करता है। ऐतिहासिक क्रान्तियों में प्रायः यही हुआ है। विनाशात्मक होने के साथ-साथ रचनात्मक होने पर क्रान्ति प्रगति का पथ प्रशस्त कर सकती है। विनाश के लिए अनीति के प्रति असहिष्णुता, अमर्ष और क्रूरता भी अपेक्षित है; किन्तु दूसरी ओर प्रगति का द्वार खोलने के लिए हृदय का उदार विस्तार अपेक्षित है। **विनाश की क्षमता को एक अर्थ में हम शक्ति कह सकते हैं। हृदय की उदारता स्पष्टतः प्रेम है। प्रतिभा का आलोक मूलतः ज्ञान है। वह सांस्कृतिक जीवन की एक स्वच्छ दृष्टि है।** ज्ञान से आलोकित होने पर शक्ति के द्वारा होने वाला विनाश भी श्रेय के लिए ही होता है और वह प्रेम, मोह अथवा दुर्बलता नहीं बन पाता। **शक्ति से समन्वित ज्ञान ही संस्कृति को प्रकाश देने में समर्थ होता है तथा शक्ति से युक्त प्रेम ही पूर्ण होता है।** इसीलिए दिव्य और महान् चरित्र में शक्ति और प्रेम दोनों का समन्वय मिलता है। भवभूति के 'वज्रादपि

कठोराणि मृदूनि कुसमादपि' का यही मर्म है। दुर्गा सप्तशती में भगवती दुर्गा के चरित्र में 'चित्ते कृपा समर निष्ठुरता च' का भी यही रहस्य है। अनीति के दलन में राम और कृष्ण के अवतारों तथा दुर्गा के पराक्रमों में सज्जनों के प्रति उदार प्रेम की करुणा और आततायियों के प्रति वज्रकठोर शक्ति का समन्वय महत्त्वपूर्ण है।

नेतृत्व की अपेक्षा क्रान्ति और प्रगति दोनों में प्रतिभा का सहयोग साहित्य, दर्शन, कला और काव्य के माध्यम से अधिक होता है। अपनी उदारता और स्वच्छता के कारण प्रतिभा सत्ताकामी नेतृत्व में अधिक रुचि नहीं रखती। साहित्य और कला के रूपों में सभी समान रूप से प्रभावशाली नहीं होते। **साहित्य में दर्शन जीवन की दृष्टि है। प्रायः प्रतिभा दर्शन के दृगों से ही अपने आलोक को प्रकाशित करती है।** संगीत, भाव और रागात्मिका वृत्ति का समन्वय होने के कारण कला के रूपों में काव्य का प्रभाव अधिक रहा है। आधुनिक युग में कहानी और उपन्यास का प्रभाव अधिक बढ़ रहा है। साहित्य के सभी रूपों में जीवन की आकृतियों की व्यंजना होती है। अपने रूप और युग की वृत्ति के अनुरूप साहित्य के सभी रूप अपना महत्व रखते हैं, फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि काव्य के रूप और व्यंजना में एक ऐसी विशेषता है जिसके कारण उसमें हृदय के मर्म को स्पर्श करने की अद्भुत शक्ति है। आधुनिक युग को छोड़कर प्राचीनकाल और मध्य-युग में साहित्य में काव्य की ही प्रधानता रही है। **संगीतमय शब्द समात्मभाव का सर्वोत्तम माध्यम होने के कारण श्रेय और सौन्दर्य के समन्वय का सर्वोत्तम सूत्र है। हृदय के मर्म को स्पर्श करके काव्य जीवन की तत्व-दृष्टि को प्रेरणा की स्फूर्ति देता है।** काव्य के प्रभावशाली रूप में समाहित होकर क्रान्ति और प्रगति की कल्पनायें समाज की सक्रिय शक्तियाँ बन सकती हैं। इस दृष्टि से काव्य के इतिहास पर विचार करने से जीवन के श्रेय और सत्य के साथ कवि-प्रतिभाओं के सम्पर्क की व्यापकता और गम्भीरता का ज्ञान हो सकता है। इतिवृत्तों, प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन तथा कुछ सामाजिक स्थितियों और चरित्रों के चित्रण में ही कवि-कर्म पूर्ण नहीं है। व्यंजना का चमत्कार तथा अलंकार का सौन्दर्य और भी कम महत्वपूर्ण है। **आकृति का विस्तार और उसकी गम्भीरता ही काव्य का सर्वोत्तम मानदंड है।** इस दृष्टि से विचार करने पर विदित होगा कि क्रान्ति और प्रगति की अपेक्षा परम्परा, प्रकृति और सौन्दर्य के प्रति कवियों की प्रतिभा का अनुराग अधिक रहा

है। वाल्मीकि रामायण के अन्त और रघुवंश के आरम्भिक सर्गों के अतिरिक्त जीवन की सृजनात्मक परम्परा का सन्निधान काव्य में दुर्लभ है। संस्कृत और हिन्दी के महान् कवियों में जीवन के यथार्थ का ग्रहण बहुत सम्पन्न रूप में मिलता है। वाल्मीकि और कालिदास में भारत की सुन्दर प्रकृति के चित्रण अवलोकनीय हैं। दोनों में भारतीय संस्कृति की तत्कालीन स्थितियों का प्रभावशाली चित्रण मिलता है। किन्तु कामसूत्र और काव्य-शास्त्र के प्रभाव से कालिदास से ही शृंगार और अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का अनुराग बढ़ता दिखाई देता है। इस प्रकार कालिदास के बाद काव्य में परम्परा और भी अधिक निर्जीव हो जाती है तथा शृंगार और सौन्दर्य का अनुराग ही बढ़ता जाता है। भवभूति और भारवि को छोड़कर कालिदास के बाद के संस्कृत काव्य में इस प्रवृत्ति का विकास स्पष्ट है। क्रान्ति और प्रगति की सशक्त और सृजनात्मक परम्परा के सूत्र तो वाल्मीकि और कालिदास में भी नहीं मिलते। **वस्तुतः क्रान्ति और प्रगति की क्षमता भारतीय संस्कृति की चेतना में उत्तर वैदिक काल में ही मन्द हो चली थी।** अधिकार सत्ता और शासन के अभिलाषी नेतृत्व की परम्परा उत्तरोत्तर प्रबल होती गई। समाज और संस्कृति में आध्यात्मिक और धार्मिक परम्पराओं का पिष्टपेषण होता रहा। कला और काव्य प्रमुखतः सौन्दर्य के साधक बनकर धार्मिक और राजनीतिक नेतृत्व का अलंकरण करते रहे। राजसत्ता, धर्म और कला के संयोग से वैभवपूर्ण वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा हुई। राम और कृष्ण राजकुल के वंशधर ही नहीं थे, धर्म-परम्परा में उनकी प्रतिष्ठा भी राजाओं के ही अनुरूप है। क्रान्ति और प्रगति की प्रतिभा से अपरिचित जनता दोनों की समान भाव से पूजा करती रही है। उन दोनों की दया पर ही उसका जीवन निर्भर रहा है।

नेतृत्व की सत्ता और उसके वैभव की पूजा एक दीर्घ परम्परा के कारण इतनी दृढ़ हो गई थी कि वाल्मीकि और जयशंकरप्रसाद के बीच में कोई भी ऐसी क्रान्तिदर्शी प्रतिभा उत्पन्न न हो सकी जो जनता को आत्मगौरव, जागरण और प्रगति का संदेश दे सकती। हिन्दी के आरम्भिक युग के वीर काव्य राजाओं के वीरत्व की ही गाथायें हैं; उनमें जनता के गौरव और जागरण का मन्त्र नहीं है। इसीलिए पराधीनता के उस आरम्भिक युग में भी कोई काव्य स्वाधीनता की क्रान्ति का शंखनाद न बन सका। **भक्ति काव्य में वीरगाथाओं के राजाओं**

का स्थान भगवान ले लेते हैं । किन्तु जनता के जीवन के लिए दोनों का फल समान है । अपनी दीनता और हीनता में संतुष्ट रहकर राजा और भगवान दोनों के ऐश्वर्य की पूजा तथा उनकी अपार विभूति से कुछ प्रसाद पाने की अभिलाषा ही जनता की एक मात्र कामना रह गई थी । परम्परा के गौरव और अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का सन्निधान करके काव्य जनता की इस भ्रान्ति का पोषण करता रहा । रीतिकाल में परम्परा जड़ हो जाने के कारण प्राचीन परम्परा का सूत्र भी विच्छिन्न हो गया और राजाओं के अनुकरण से भगवान शृंगारिक नायक-नायिकाओं के प्रतीक बन गये । परम्परा जीवन का यथार्थ है । जीवन के यथार्थ से दूर होकर कविता कल्पना का चमत्कार बनी । शृंगार और अभिव्यक्ति में प्रकृति और सौन्दर्य ही कविता के सर्वस्व रह गये । इन्हीं संस्कारों को लेकर आधुनिक युग का छायावादी काव्य उदय हुआ । **छायावाद के शृंगार और सौन्दर्य के वातावरण में प्रसाद की क्रान्तिदर्शिनी प्रतिभा का उदय भारतीय काव्य के इतिहास में अपूर्व है । प्रसाद के नाटकों में जातीय जागरण का जो उदात्त स्वर सुनाई पड़ता है वह पूर्वकाल के काव्य में दुर्लभ है ।** यद्यपि प्रसाद की क्रान्ति का यह स्वर भी राज्य-क्रान्ति के रूप में ही है फिर भी उनके नाटकों में जागरण के व्यापक सूत्र विद्यमान हैं। 'कामायनी' महाकाव्य में प्रकृति और परम्परा की भूमिका पर सांस्कृतिक साधना और प्रगति का अर्थगर्भित प्रतीक ही उन्होंने प्रस्तुत किया है । **परम्परा और प्रगति का जो अद्‌भुत समन्वय जयशंकरप्रसाद में मिलता है वह भारतीय काव्य में अत्यन्त दुर्लभ है । इस दृष्टि से प्रसाद की प्रतिभा तुलसी और रवीन्द्र से भी अधिक उदात्त और उज्ज्वल है ।** प्रसाद की क्रान्तिदर्शी प्रतिभा का आलोक लेकर 'दिनकर' हिन्दी काव्य के क्षितिज पर उदित हुए । उनके 'रश्मिरथी' में प्राचीन इतिहास का एक उदात्त चरित्र अंकित है । 'कुरुक्षेत्र' में रूढ़ियों से प्रसूत समस्याओं का गंभीर मन्थन है । उसमें क्रान्ति के बीज हैं । प्रगतिवादी काव्य के विद्रोह और अन्य कवियों की विधायक कल्पना के समन्वय से काव्य और संस्कृति के क्षेत्र में एक स्वस्थ, समृद्ध और प्रगतिशील परम्परा का विकास होगा, ऐसी आशा करना युग की संभावनाओं और कवि-प्रतिभा की क्षमताओं के अनुरूप है ।

सुन्दरम्

अध्याय ४६

रूप और सौन्दर्य

कला और संस्कृति में सौन्दर्य का महत्वपूर्ण स्थान है। 'कला' संस्कृति का एक प्रधान अंग है तथा सौन्दर्य कला का सार है। वहुत कुछ कल्पना की सृष्टि होने के कारण कला में 'सत्य' का स्थान संदिग्ध रहता है। 'श्रेय' के साथ कला का सम्वन्ध भी वहुत विवादग्रस्त है। किन्तु संस्कृति और कला के प्रसंग में 'सौन्दर्य' की महिमा सभी को मान्य है।

सौन्दर्य का आकर्षण सहज होने के कारण सामान्यत: सभी उससे परिचित हैं। सौन्दर्य का मनुष्य की आत्मा से कुछ ऐसा आन्तरिक सम्वन्ध है कि सौन्दर्य के अनुभव, आस्वादन और आनन्द के लिये उसके स्वरूप का परिचय आवश्यक नहीं है। **समझने की अपेक्षा सौन्दर्य आस्वादन की वस्तु अधिक है।** हम सौन्दर्य के लक्षणों को न समझने पर भी उस पर मुग्ध होते हैं और उसे सराहते हैं।

सराहने की अपेक्षा सौन्दर्य को समझना अधिक कठिन है। सौन्दर्य का सम्मोहन मनुष्य के मन पर सौन्दर्य के सहज प्रभाव के रूप में प्रकट होता है। किन्तु सौन्दर्य को समझना एक बौद्धिक व्यापार है। सौन्दर्य कहाँ तक बुद्धि का विषय है और किस सीमा तक विश्लेषण के द्वारा उसके स्वरूप को समझा जा सकता है, यह संदिग्ध है। फिर भी मनुष्य जैसा बौद्धिक प्राणी सौन्दर्य के केवल सहज सम्मोहन से संतुष्ट नहीं रह सकता। जहाँ तक सम्भव रहा है, उसने सौन्दर्य के स्वरूप का विश्लेषण किया है। सौन्दर्य-शास्त्र इसी विश्लेषण का परिणाम है।

मनुष्य की चेतना के इतिहास में साधारण जनों में सौन्दर्य का सम्मोहन, कलाकारों के द्वारा कलाकृतियों में सौन्दर्य का सर्जन और विचारकों द्वारा सौन्दर्य के स्वरूप का विश्लेषण--ये तीनों व्यापार समानान्तर गति से चलते रहे हैं। इन तीनों व्यापारों में परस्पर तथा इनमें एक व्यापार के अन्तर्गत भी प्राय: मतभेद रहता है। कुछ लोग अपनी रुचि के अनुसार जिस वस्तु को सुन्दर मानते हैं, उसे दूसरे लोग सुन्दर नहीं मानते। कलाकृतियों में सौन्दर्य को साकार करने की प्रणालियाँ इतिहास

में बदलती रही हैं। **किन्तु सौन्दर्य के विचारकों में सबसे अधिक मतभेद है।** दर्शन के सिद्धान्तों की भाँति सौन्दर्य की परिभाषायें भी असंख्य हैं। साधारण जनों की सौन्दर्य-विषयक धारणाओं तथा कलकारों की कृतियों के सौन्दर्य के स्वरूप में प्रायः बहुत समानता मिलती है। इसके विपरीत विचारकों में सौन्दर्य के सम्बन्ध में सबसे अधिक मतभेद मिलता है।

इस मतभेद के बीच सौन्दर्य की भारतीय धारणा एक अत्यन्त मान्य सिद्धान्त का संकेत करती है। **इस सिद्धान्त का सूत्र संस्कृत भाषा के 'रूप' शब्द में निहित है।** संस्कृत सहित्य में 'रूप' शब्द का प्रयोग प्रायः 'सौन्दर्य के पर्याय के रूप में होता है। कालिदास ने अपने काव्य में अनेक स्थानों पर 'रूप' शब्द का प्रयोग 'सौन्दर्य' के अर्थ में किया है। 'कुमार सम्भव' में मदनदहन के बाद शिव को प्रसन्न करने में असफल रहने पर पार्वती अपने 'रूप' (अर्थात् सौन्दर्य) की निन्दा करती हैं (निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती—सर्ग ५—१) 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में शकुन्तला के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहा है कि 'मानो विधाता ने विश्व के समस्त रूप (अर्थात् सौन्दर्य) के संचय से शकुन्तला की रचना की है' (रूपोच्चयेन विधिना मनसा कृता नु—अंक-२) 'सौन्दर्य के पर्याय के रूप में 'रूप' शब्द का यह प्रयोग सौन्दर्य के मर्म का गम्भीर संकेत करता है। संस्कृत जैसी गम्भीर भाषा में शब्दों का प्रयोग आकस्मिक नहीं है। संस्कृत भाषा के शब्द विषयों और तत्वों के यदृच्छागत प्रतीक मात्र नहीं हैं, वरन् वे अत्यन्त सार्थक प्रतीक हैं। उनमें गम्भीर सिद्धान्तों के तत्व समाहित हैं। 'सौन्दर्य के पर्याय के रूप में 'रूप' शब्द का प्रयोग भी संस्कृत भाषा की इस अर्थ-सम्पन्नता का द्योतक है। **कदाचित 'रूप' में 'सौन्दर्य' का गूढ़तम रहस्य निहित है।**

'सौन्दर्य' के पर्याय के रूप में 'रूप' शब्द का प्रयोग सबसे अधिक सीमित है। एक प्रकार से जिस 'सौन्दर्य' के लिए 'रूप' का प्रयोग होता है वह भी सौन्दर्य का एक विशेष और सीमित रूप ही है। प्रायः मनुष्यों, विशेषतः स्त्रियों, के सौन्दर्य के लिए 'रूप' शब्द का प्रयोग काव्य और लोक-व्यवहार में अधिक प्रचलित है। अन्य पदार्थों के सौन्दर्य के लिए भी 'रूप' का प्रयोग सम्भव और समीचीन है, किन्तु व्यवहार में वह अधिक प्रचलित नहीं है। 'सौन्दर्य' और 'रूप' दोनों के व्यापक अर्थ का अनुसंधान करने पर 'रूप' और सौन्दर्य का पर्याय-भाव अधिक व्यापक रूप में प्रमाणित हो सकेगा तथा सौन्दर्य का अधिक व्यापक रहस्य प्रकट होगा।

व्यापक अर्थ में सौन्दर्य मनुष्य अथवा स्त्रियों अथवा पदार्थों की सुषमा तक ही सीमित नहीं है, वह काव्य एवं कला की रचनाओं का भी लक्षण है। कलात्मक कृतियों में सौन्दर्य का व्यापक रूप मिलता है। 'कला' सौन्दर्य की रचना है। मनुष्यों और पदार्थों का सौन्दर्य भी कला के सौन्दर्य से पूर्णतः भिन्न नहीं है। **दोनों में सौन्दर्य का एक सामान्य लक्षण खोजा जा सकता है।** सभी कलाएँ दृश्य रूप की रचना नहीं हैं। काव्य का सौन्दर्य पूर्णतः दृश्य नहीं है। मनुष्यों का सौन्दर्य भी उनके दृश्य रूप में ही समाप्त नहीं हो जाता। यद्यपि सामान्यतः मनुष्यों के दृश्य रूप में ही हम सौन्दर्य देखते हैं, किन्तु मनुष्यों के सौन्दर्य का भी एक सूक्ष्म और दृश्येतर पक्ष है जिसे हम सौन्दर्य का भाव-पक्ष कह सकते हैं। मनुष्यों के सौन्दर्य का यह दृश्येतर भावपक्ष कलात्मक सौन्दर्य के साथ उसकी समानता के सामान्य सूत्र का संकेत करता है।

व्यापक अर्थ में 'सौन्दर्य' केवल 'दृश्य रूप' नहीं है। इसी प्रकार व्यापक अर्थ में 'रूप' भी केवल दृश्य रूप अथवा आकार नहीं है। **व्यापक अर्थ में 'रूप' शब्द अंग्रेजी के 'फ़ौर्म' (Form) का समानार्थक है।** अंग्रेजी का 'फ़ौर्म' अभिव्यक्ति के सभी प्रकारों को अपनी व्यापक परिधि में समाहित कर लेता है। पदार्थों तथा कलाकृतियों की अभिव्यक्ति के सभी रूप इसके अन्तर्गत आजाते हैं। **'वस्तु-तत्व' से भिन्न अभिव्यक्ति के समस्त रूप 'फ़ौर्म' (Form) के द्वारा लक्षित होते हैं।** संस्कृत का 'रूप' शब्द भी व्यापक अर्थ में अभिव्यक्ति के इन समस्त रूपों को लक्षित करता है और इस प्रकार वह अंग्रेजी के 'फ़ौर्म' का समानार्थक बन जाता है। इस व्यापक अर्थ में 'रूप' अथवा 'फ़ौर्म' का प्रयोग सुन्दर पदार्थ अथवा कृतियों तक ही सीमित नहीं है, वरन् वह सभी पदार्थों को अपनी परिधि में समाहित करता है। सत्ता तथा अभिव्यक्ति के सभी प्रकारों का कोई रूप होता है, उन सबकी कोई 'फ़ौर्म' (Form) होती है। उदाहरण के लिए प्रत्येक वस्तु का एक 'आकार' होता है। इस 'आकार' को हम 'रूप' (Form) का अल्पतम रूप मान सकते हैं। यह आकार वस्तु की रूपरेखा मात्र है। वर्ण (रंग), कान्ति आदि इस आकार के अन्तर्गत 'रूप' (Form) के अन्य अतिरिक्त अतिशय हैं। वस्तुओं, चित्रों, शरीर, संगीत आदि में विन्यास की लय में 'रूप' (Form) की अन्य विधाएँ प्रकट होती हैं। भौतिक वस्तुओं का रूप 'चाक्षुष' होता है। संगीत का लयात्मक रूप 'श्रव्य' है। चित्रकला, संगीत, काव्य आदि कलाओं के 'रूपों' (Forms) में ऐन्द्रिक पक्ष

के अतिरिक्त एक मानसिक पक्ष भी होता है। दृश्य अथवा चाक्षुष रूपों में मनुष्य देह के समान कुछ रूपों (Forms) में विशेष रूप से सौन्दर्य की स्थापना की जाती है। इसी विशेष प्रयोग में 'रूप' शब्द 'सौन्दर्य' का पर्याय बना है।

रूप के इन व्यापक और विशेष प्रयोगों का परिक्षण करने पर 'रूप' और 'सौन्दर्य' के पर्याय भाव का रहस्य अधिक प्रकट हो सकता है। व्यापक और सामान्य प्रयोग में 'रूप' को अंग्रेजी के 'फ़ौर्म' (Form) का समानार्थक मानकर उसको अभिव्यक्ति का माध्यम कहा जा सकता है। कोई भी भौतिक सत्ता अथवा मानसिक तत्व (Matter) जिस माध्यम के द्वारा अपने को व्यक्त करता है उसे 'रूप' (Form) कह सकते हैं। अभिव्यक्ति के ये रूप ऐन्द्रिक और मानसिक दोनों प्रकार के होते हैं। भौतिक और प्राकृतिक पदार्थों में तथा मूर्ति-कला में अभिव्यक्ति के रूप ऐन्द्रिक होते हैं। संगीत का रूप श्रव्य है। काव्य का रूप प्रधानतः मानसिक है। साधारणतः इन सभी ऐन्द्रिक और मानसिक रूपों को 'सुन्दर' नहीं माना जाता। अतः 'सौन्दर्य' के साथ 'रूप' का पर्याय भाव इस व्यापक और सामान्य प्रयोग में प्रकट नहीं है।

व्यापक अर्थ में अंग्रेगी के 'फ़ौर्म' के समानार्थक सभी 'रूप' सुन्दर नहीं माने जाते। संस्कृत के 'रूप' शब्द के समान अंग्रेजी के 'फ़ौर्म' में सौन्दर्य का भाव स्पष्ट नहीं है। **रूप-मात्र को 'सुन्दर' मानने पर समस्त सत्ता और अभिव्यक्ति को सुन्दर मानना होगा। यह सौन्दर्य का सबसे व्यापक भाव है।** दूसरी ओर 'सौन्दर्य' के स्पष्ट पर्याय के अर्थ में 'रूप' का सीमित प्रयोग सुन्दर प्राकृतिक पदार्थों, विशेषतः मानुषी आकृतियों, तक ही सीमित है। इन दो सीमाओं के बीच 'रूप' (Form) के अन्य ऐन्द्रिक तथा मानसिक भेद आते हैं। भौतिक पदार्थों तथा मूर्त्तकलाओं के रूप चाक्षुष होते हैं। दर्शनों में रूप को चाक्षुष ही माना गया है। चाक्षुष क्षेत्र से आगे बढ़ने पर 'रूप' अंग्रेजी के 'फ़ौर्म' (Form) की व्यापकता की ओर बढ़ने लगता है। संगीत का रूप श्रव्य है। काव्य का रूप प्रधानतः मानसिक है। ऐन्द्रिक रूपों में भी कुछ मानसिक रूप का समवाय रहता है। चाक्षुष रूपों की परिधि को 'आकार' कहते हैं। आकार में 'रूप' एक रूप-रेखा मात्र रह जाता है। अल्पनाओं (Designs) में आकार मात्र में भी सौन्दर्य प्रकट होता है। मानुषी देह में चाक्षुष रूप का क्षेत्र सवसे अधिक सीमित हो जाता है। किन्तु भाषा और व्यवहार में इसी सीमित प्रयोग में 'रूप' शब्द सौन्दर्य का पर्याय बना है। **मानुषी**

देह के सौन्दर्य का विश्लेषण करने पर 'रूप' शब्द के साथ 'सौन्दर्य' के पर्याय भाव का मर्म तथा सौन्दर्य के स्वरूप का रहस्य दोनों एक साथ प्रकट होंगे।

प्राकृतिक पदार्थ होने के कारण मनुष्य की देह भी एक चाक्षुष रूप के आकार में व्यक्त होती है। देह का यह आकार रूप-रेखा मात्र नहीं है। इस आकार के अन्तर्गत वर्ण और कान्ति की छवि से आच्छादित मांस-तत्व का विन्यास निहित है। पशुओं की तुलना में इस देह-विन्यास में 'अतिशय' दिखाई देता है। वर्ण का अतिशय जिन पशु-पक्षियों के रूप में हमें दिखाई देता है उन्हें भी हम सुन्दर कहते हैं। मनुष्य की देह में गठन का भी अतिशय है। मनुष्य, विशेषतः स्त्रियों के कपोल, बाहु, वक्ष, जघन आदि में इस गठन में अतिशय का अंश स्पष्ट है। इस अतिशय को हम 'रूप का अतिशय' कह सकते हैं। **यह 'रूप का अतिशय' ही सौन्दर्य का मर्म है और इसी मर्म के सूत्र से 'रूप' शब्द 'सौन्दर्य' का पर्याय बना है।** देह के गठन में वर्तुल मांस-पेशियों के विन्यास की लय 'रूप के अतिशय' की वृद्धि करती है। विस्तार और विन्यास के रूप में 'रूप का यह अतिशय' अन्य कला-कृतियों में भी मिल सकता है। संगीत का स्वर-संतान और स्वर-विन्यास इस अतिशय का एक उदाहरण है, जो संगीत में सौन्दर्य को समाहित करता है। इसके अतिरिक्त 'रूप' के विस्तार और विन्यास में रचनात्मकता, निरूपयोगिता आदि के रूप में भी 'अतिशय' मिलता है। **इस प्रकार रूप के 'अतिशय' के उत्तरोत्तर जटिल रूपों के द्वारा प्रकृति और कला का सौन्दर्य समृद्ध होता है।**

संस्कृत के 'रूप' का प्रमुख और प्रसिद्ध भाव सौन्दर्य ही है। काव्य और लोक-व्यवहार दोनों में ही 'रूप' का प्रयोग 'सौन्दर्य' के अर्थ में ही अधिक होता है। अंग्रेजी के 'फ़ौर्म' (Form) और संस्कृत के 'आकार' के भाव 'रूप' में अन्तर्निहित होते हुए भी स्पष्ट नहीं हैं; वे कुछ पुनर्विचार के द्वारा ही स्पष्ट होते हैं। किन्तु वस्तुतः इन तीनों शब्दों और भावों में एक अन्तरंग सम्बन्ध है। संस्कृत के 'रूप' शब्द के व्यापक अर्थ में यह सम्बन्ध सन्निहित है। सौन्दर्य के अर्थ में 'रूप' का प्रयोग काव्य और लोक-व्यवहार दोनों में प्रसिद्ध ही है। सौन्दर्य के अतिरिक्त 'रूप' का जो भाव अंग्रेजी के 'फ़ौर्म' (Form) के द्वारा निर्दिष्ट होता है, वह भी संस्कृत के 'रूप' शब्द के द्वारा लक्षित होता है। 'रूप' के इस भाव का भी सौन्दर्य से गहरा सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध इतना घनिष्ट है कि मूलतः 'रूप' (Form) और 'सौन्दर्य' एक दूसरे के पर्याय दिखाई देते हैं। 'फ़ौर्म' (Form) से लक्षित होने

वाले 'रूप' में ही सौन्दर्य का मर्म निहित है। इसी मर्म के सूत्र से 'रूप' और 'सौन्दर्य' एक दूसरे के पर्याय बने हैं। कला और काव्य के सौन्दर्य का विवेचन करने पर सौन्दर्य का यह मर्म अधिक स्पष्ट रूप में प्रकट होगा।

अंग्रेजी के 'फ़ौर्म' (Form) में 'सौन्दर्य' के भाव का स्पष्ट संकेत नहीं है फिर भी वह संस्कृत के उस 'रूप' से अधिक व्यापक है, जो 'सौन्दर्य' का पर्याय है। 'सौन्दर्य' के लिये जिस 'रूप' का प्रयोग होता है, वह मानुषी आकृतियों तक ही सीमित है। प्रायः स्त्रियों के सौन्दर्य के लिये 'रूप' शब्द का प्रयोग अधिक हुआ है। मनुष्यों अथवा स्त्रियों का सौन्दर्य सम्पूर्णतः दृश्य नहीं है। उसका एक अलक्ष्य भाव-पक्ष भी है, किन्तु प्रायः उसे हम दृश्य-रूप में ही समझते हैं। **'रूप' का यह सीमित प्रयोग दर्शनों के अनुरूप है। न्याय दर्शन में रूप को चाक्षुष गुण मान गया है। 'रूप' वस्तुओं का वह गुण है, जिसका ग्रहण चक्षुओं के द्वारा होता है।** यह मूर्त्त वस्तुओं का दृश्य-रूप है। 'सौन्दर्य' का पर्याय 'रूप' दर्शन के इस चाक्षुष रूप का ही विस्तार है। किन्तु सौन्दर्य केवल चाक्षुष अथवा दृश्य नहीं है। कलाओं का सौन्दर्य इससे अधिक व्यापक है। **सौन्दर्य की इस व्यापकता का अनुसंधान करने पर विदित होगा कि अंग्रेजी के 'फ़ौर्म' (Form) के समानार्थक 'रूप' में सौन्दर्य की व्यापक व्याख्या का सूत्र सन्निहित है।** 'सौन्दर्य' के समानार्थक 'रूप' तथा दर्शनों के 'चाक्षुषरूप' में आकार अथवा आकृति की दिक्-गत सीमाओं का स्पष्ट संकेत नहीं है, किन्तु कुछ कलाओं में यह 'आकार' भी सौन्दर्य का अभिन्न अंग है। अंग्रेजी के 'फ़ौर्म' (Form) में इस आकार का भी अव्यक्त संकेत है। अंग्रेजी के 'फ़ौर्म' (Form) के व्यापक अर्थ के अनुसार 'रूप' का अर्थ-निर्धारण करने पर सौन्दर्य के व्यापक रूप की अधिक संगत व्याख्या हो सकती है तथा संस्कृति, काव्य और लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध सौन्दर्य के अर्थ में 'रूप' शब्द का प्रयोग अधिक सम्पन्नता के साथ प्रमाणित हो सकता है।

स्त्रियों अथवा पुरुषों के सौन्दर्य के अर्थ में 'रूप' शब्द का प्रयोग सबसे अधिक सीमित है। यह दर्शनों के चाक्षुष 'रूप' को सुन्दर और असुन्दर दो भागों में विभाजित करता है। **किन्तु 'रूप' के इस सीमित प्रयोग में भी कलात्मक सौन्दर्य का मूल सूत्र सन्निहित है। मनुष्यों के सौन्दर्य की सबसे अधिक सामान्य परिभाषा 'रूप के अतिशय' (Excess of Form) के द्वारा की जा सकती है और यही परिभाषा कलाओं के व्यापक सौन्दर्य की व्याख्या भी कर सकती है।** इस प्रकार

मनुष्यों के सौन्दर्य के सामान्य अर्थ में 'रूप' शब्द के प्रयोग की संगति कलात्मक सौन्दर्य के साथ मिल जाती है।

मनुष्यों का सौन्दर्य यदि प्रधानतः चाक्षुष अथवा दृश्य रूप ही माना जाय, तो वह दर्शनों के चाक्षुष रूप का एक सीमित प्रयोग है। इस प्रयोग में 'रूप' के सुन्दर और असुन्दर दो विभाग हो जाते हैं। फिर भी इतना स्पष्ट है कि सौन्दर्य रूप (Form) ही है, यद्यपि सभी रूप सुन्दर नहीं हैं। चाक्षुष 'रूप' के रहस्य का अधिक सूक्ष्म अनुसंधान करने पर 'रूप' (Form) के सामान्य स्वरूप में सौन्दर्य का व्यापक रहस्य मिल सकता है। सौन्दर्य का यही रहस्य कलात्मक सौन्दर्य का विवरण भी कर सकेगा। **मनुष्यों के सौन्दर्य के अर्थ में 'रूप' का साधारण प्रयोग तथा 'चाक्षुष रूप' के अर्थ में उसका दार्शनिक प्रयोग, ये दोनों ही सीमित होते हुए भी सौन्दर्य के मूल मर्म पर ही अवलम्बित हैं।** इन प्रयोगों की सीमितता सौन्दर्य के सामान्य सिद्धान्त को खण्डित नहीं करती, वरन् एक दृष्टि से उसे अधिक प्रखर बना देती है।

सौन्दर्य 'रूप' (Form) की अभिव्यक्ति है। इस सामान्य 'रूप' (Form) में ही सौन्दर्य का मूल रहस्य निहित है। सामान्यतः 'रूप' को हम अभिव्यक्ति का माध्यम कह सकते हैं। विषय की दृष्टि से अभिव्यक्ति विषय की सत्ता और उसके स्वरूप का प्रकाशन है। इस प्रकाशन के द्वारा ही विषयों की सत्ता और उनके स्वरूप की अवगति होती है। यह सत्य है कि इस अवगति में ही ये सत्ता और स्वरूप कृतार्थ होते हैं, अतः यह अवगति अभिव्यक्ति का अभिन्न पक्ष है। फिर भी इस अवगति की प्रक्रिया और इसका आश्रय इस अभिव्यक्ति में अस्पष्ट रूप में अन्तर्निहित रहते हैं, वे प्रकट और स्पष्ट नहीं रहते। अस्तु, अभिव्यक्ति के भाव का मुख्य भार विषय की सत्ता और उसके स्वरूप तथा उनके प्रकाशन की ओर रहता है। विषय की सत्ता और उसके स्वरूप में भी सत्ता की अपेक्षा विषय का स्वरूप इस अभिव्यक्ति में अधिक प्रधान और प्रखर रहता है। अवगति के आश्रय की भाँति विषय की सत्ता को भी अन्तर्निहित मानना ही अधिक उचित है। एक प्रकार से विषय के स्वरूप की स्थिति भी अस्पष्ट, अनिश्चित और अन्तर्निहित ही रहती है। **वस्तुतः व्यक्त 'रूप' के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से विषय की सत्ता और उसके स्वरूप को समझना कठिन है। अभिव्यक्त 'रूप' ही विषय की सत्ता का प्रमाण और उसके स्वरूप का विवरण बनता है।**

अस्तु, विषयों की अवगति में अभिव्यक्ति का 'रूप' ही प्रखरता से प्रकाशित होता है। स्थूल विषयों की अवगति साधारण जनों के लिए सहज होती है, अतः 'चाक्षुष रूप' लोक के अनुभव में प्रमुख बन जाता है। **दर्शनों का 'चाक्षुष रूप' इस लोक-साधारण अनुभव का प्रखरतम 'रूप' है। सामान्य और व्यापक अर्थ में 'रूप' सूक्ष्म और स्थूल सभी प्रकार की सत्ताओं की अभिव्यक्ति का माध्यम है।** दर्शनों का 'चाक्षुष रूप' और मनुष्य के सौन्दर्य का पर्याय 'रूप' ये दोनों ही उक्त व्यापक रूप के उत्तरोत्तर सीमित प्रयोग हैं। किन्तु इन सीमित प्रयोगों में भी 'रूप' के सामान्य भाव का सूत्र अक्षुण्ण बना रहता है। दूसरी ओर 'चाक्षुप रूप' तथा अभिव्यक्ति के सामान्य रूप इन दोनों में सौन्दर्य का भाव खोजा जा सकता है। इस प्रकार 'रूप' के व्यापक और सीमित प्रयोग की संगति सम्भव हो सकती है तथा इस संगति में 'रूप' और 'सौन्दर्य' के पर्याय-भाव का रहस्य भी मिल सकता है।

हमने ऊपर 'रूप' (Form) को व्यापक अर्थ में 'अभिव्यक्ति का माध्यम' और 'सौन्दर्य' को 'रूप का अतिशय' कहा है। इसका यह अभिप्राय समझा जा सकता है कि अतिशय से रहित 'रूप' (Form) में सौन्दर्य नहीं होता तथा सामान्यतः 'रूप' सौन्दर्य का पर्याय नहीं। वस्तुतः 'रूप का अतिशय' एक सापेक्ष भाव है। **मूलतः समस्त 'रूप' (Form) अतिशय ही है और समस्त रूप (Form) सौन्दर्य का पर्याय है।** किन्तु साधारण अनुभव और व्यवहार में अधिक प्रचलित हो जाने के कारण सामान्य 'रूप' (Form) में अतिशय का भाव तथा सौन्दर्य सामान्यतः विदित नहीं होता। 'रूप के अतिशय' के अधिक समृद्ध रूप ही प्रायः प्रभावशाली होते हैं। सबसे अधिक प्रभावशाली होने के कारण ही मनुष्यों का 'रूप' सौन्दर्य का पर्याय बना। किन्तु वस्तुतः समस्त 'रूप' (Form) ही एक प्रकार का 'अतिशय' (Excess) है। विषय अथवा वस्तु की सत्ता अथवा उसके स्वरूप की दृष्टि से अभिव्यक्ति एवं उसका रूप (Form) दोनों ही एक प्रकार के अतिशय हैं। **विषय की सत्ता और स्वरूप अपने आप में ही पूर्ण और पर्याप्त माने जा सकते हैं। इस प्रकार अभिव्यक्ति और उसका रूप (Form) दोनों ही 'अतिशय' बन जाते हैं।**

दूसरी ओर जीवन में उपयोगिता की दृष्टि से भी अभिव्यक्ति का 'रूप' (Form) एक प्रकार का अतिशय ही ठहरता है। उपयोगिता एक तात्विक दृष्टि है। उसका प्रयोजन वस्तु की सत्ता, उसके तत्व और स्वरूप से अधिक होता है।

अभिव्यक्ति का 'रूप' (Form) उपयोगिता की दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखता। जीवन के रक्षण और भोजन के प्रसंग में यह बात सरलता से स्पष्ट हो जाती है। जीवन का रक्षण जीवन की सबसे अधिक मौलिक उपयोगिता है। भोजन उस रक्षण का साधन है। रक्षण के दृष्टिकोण से भोजन केवल पोषक-तत्व का ग्रहण है। यही ग्रहण 'आहार' का मूल भाव है। यह आहार भोज्य पदार्थ की सत्ता का हरण ही नहीं, उसके रूप (Form) का भी विनाश है। केवल रक्षण की दृष्टि से भोज्य पदार्थ के 'रूप' (Form) का कोई महत्व नहीं है। इन पदार्थों के भक्षण में हम इनके 'रूप' (Form) का विनाश करते हैं। सभ्यता एवं संस्कृति के विकास में, विशेषतः भारतवर्ष में, भोज्य पदार्थों में जिन समृद्ध रूपों का सन्निधान हुआ है, उनकी भोजन रक्षण और पौषण की दृष्टि से कोई उपयोगिता नहीं है। **अतः उपयोगिता की दृष्टि से इन रूपों (Forms) को 'अतिशय' कहा जा सकता है।** रूपों के इस अतिशय में ही हम भोजन का सौन्दर्य मानते हैं यद्यपि भोजन की उपयोगिता उसके तत्वों में ही निहित रहती है। यह भी संकेत किया जा सकता है कि रूपों के इस अतिशय में ही सौन्दर्य की समृद्धि प्रकट होती है और यह सौन्दर्य ही संस्कृति का अलंकार है।

इस प्रकार वस्तु की सत्ता और जीवन की उपयोगिता दोनों की दृष्टि से अभिव्यक्ति के 'रूप' (Form) को सामान्यतः 'अतिशय' कहा जा सकता है। चाहे अधिक परिचय और प्रचलन के कारण सभी पदार्थों के सामान्य रूप में हमें सौन्दर्य दर्शन न हों, किन्तु सौन्दर्य के अधिक प्रखर और मान्य रूपों में 'रूप' के इस 'अतिशय' में ही सौन्दर्य का रहस्य मिलेगा। यदि वस्तु की सत्ता और जीवन की उपयोगिता की दृष्टि से समस्त 'रूप' (Form) अतिशय है तो व्यापक अर्थ में 'रूप' (Form) को 'सौन्दर्य' का पर्याय कहा जा सकता है। सौन्दर्य के अधिक प्रसिद्ध रूपों में सौन्दर्य की यह परिभाषा अधिक मान्य रूप में चरितार्थ होती है। जीवन के इतिहास और कला के क्षेत्र में समस्त रूपों (Forms) में सौन्दर्य प्रकाशित होता है। कला के सम्बन्ध में तो यह स्पष्ट है कि 'रूप' (Form) मात्र की रचना 'सौन्दर्य' की अवगाहक होती है। **'कला' रूप (Form) की रचना है।** कला ही रचनात्मक रूप को नवीनता देती है। इस नवीनता में रूप का सौन्दर्य निखर उठता है और प्रभावशाली बन जाता है। रचनात्मकता और रूप की नवीनता सौन्दर्य का कितना सूक्ष्म एवं गम्भीर रहस्य है, यह इसी से प्रकट होता है कि संस्कृति के इतिहास तथा

कला दोनों में अधिक परिचय से सौन्दर्य की अनुभूति मन्द होने लगती है। किन्तु दूसरी ओर रूप का सौन्दर्य अमृत भी है। जीवन तथा कला के अनेक रूपों के स्थायित्व में हमें रूप के सौन्दर्य के इस अमृतत्व का आभास मिलता है।

'सौन्दर्य' कला की अपेक्षा अधिक व्यापक है। कला रूप के सौन्दर्य की रचना है। किन्तु समस्त रूप (Form) में रचना का संयोग सम्भव नहीं है। मनुष्य-कृत रूपों को ही रचनात्मक कहा जा सकता है। यह समस्त रचना मनुष्य की कला है। किन्तु मनुष्य-कृत रूपों के अतिरिक्त हम विश्व के उन रूपों में भी सौन्दर्य देखते हैं जो मनुष्य की रचना नहीं हैं। आकाश, पर्वत, नदी, वन, वृक्ष, बादल, आदि भी हमें सुन्दर जान पड़ते हैं। उनके सौन्दर्य का रहस्य भी उनके रूप (Form) में ही निहित है, यद्यपि यह रूप प्रकट में किसी की रचना नहीं है। रचनात्मकता मनुष्य-कृत रूपों के सौन्दर्य का मर्म अवश्य है। वह इतनी महत्वपूर्ण जान पड़ती है कि मनुष्य ने विश्व के उन रूपों में भी इसका अन्वय कर लिया है, जो उसकी रचना के फल नहीं है। विश्व के इन रूपों को वह ईश्वर की रचना मानता है। शैव-दर्शन में ईश्वर की इस रचनात्मक शक्ति को 'कला' कहते हैं। इस कला-शक्ति की 'सुन्दरी' संज्ञा सार्थक और उपयुक्त है।

अस्तु, मनुष्य की कला तथा व्यापक विश्व दोनों के ही क्षेत्र में हमें सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। मूलतः यह सौन्दर्य अंग्रेजी के 'फ़ौर्म' (Form) के समानार्थक व्यापक 'रूप' का लक्षण है। यह व्यापक रूप विश्व के विषयों और कलाकृतियों दोनों में ही अभिव्यक्त होता है। वस्तुतः यह व्यापक रूप (Form) उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम है। रूप के माध्यम से ही विश्व के विषय और कला की कृतियाँ अवगति का विषय बनती हैं। पदार्थों की सत्ता और जीवन के अस्तित्व की दृष्टि से अभिव्यक्ति का यह समस्त रूप सामान्य अर्थ में अतिशय है, क्योंकि उपयोगिता के लिए पदार्थों का सम्पूर्ण महत्व उनके तत्व में ही निहित है। इस सामान्य 'रूप' (Form) में भी सौन्दर्य का दर्शन सम्भव है। दिव्य कला-शक्ति और लौकिक कला की रचनाओं में सौन्दर्य का यह व्यापक रूप घटित होता है। सामान्य 'रूप' (Form) मात्र में भी सौन्दर्य के दर्शन हो सकते हैं, क्यों कि विषयों की सत्ता और जीवन के अस्तित्व की दृष्टि से समस्त रूप (Form) ही अतिशय हैं। किन्तु रूप के अतिशय के कुछ प्रखर रूपों में सौन्दर्य के दर्शन अधिक स्पष्ट होते हैं।

कलाकृतियों का विश्लेषण करने पर विदित होगा कि उनमें रूप के अतिशय का भाव अनेक प्रकार से समाहित रहता है। **प्रथमतः कलात्मक रूपों की रचना उपयोगिता की दृष्टि से नहीं होती। अतः इन रूपों को अतिशय मान सकते हैं। इन रूपों की रचना का कलात्मक कर्म ही अपने आप में एक अतिशय है।** जीवन के अस्तित्व और उपयोगिता की दृष्टि से वह आवश्यक नहीं है। **द्वितीयतः रचना-कर्म के अतिरिक्त इस कर्म के फल-भूत 'रूप' (Form) भी अतिशय ही हैं। जीवन में उनका उपयोग आवश्यक नहीं है। जीवन के अस्तित्व और उसकी उपयोगिता के अतिरिक्त रूप के अतिशय का तीसरा रूप 'रूप' (Form) के विस्तार में मिलता है।** रूप का यह विस्तार संगीत के स्वर-संतान में सबसे अधिक स्पष्ट प्रकट होता है। इसीलिए संगीत कला का सबसे अधिक प्रिय और प्रचलित रूप है। नृत्य, काव्य आदि कलाओं में भी रूप के उक्त तीनों प्रकार के अतिशय की अभिव्यक्ति मिलती है।

मनुष्य की कला-कृतियों के अतिरिक्त विश्व के प्राकृतिक विषयों में जहां हमें अधिक स्पष्ट रूप में सौन्दर्य का अनुभव होता है, वहाँ भी उसका आधार 'रूप का अतिशय' ही है। समस्त भौतिक विश्व ही रूपात्मक है। यदि उपयोगिता की तात्विक दृष्टि के अनुकूल समस्त रूप को अतिशय मानें, तो विश्व के समस्त रूपों में सौन्दर्य का दर्शन होगा। यह सम्भव है और यही सम्भावना कला-शक्ति की 'सुन्दरी' संज्ञा को सार्थक बनाती है। किन्तु समस्त विश्व के समस्त रूपों में सौन्दर्य का दर्शन 'अतिशय' के आधार पर ही होगा अर्थात् पदार्थ के रूपों में अतिशय का भान होने पर ही उनमें सौन्दर्य का अनुभव होगा। इसीलिये जहां यह 'अतिशय' का भान अधिक स्पष्ट होता है, वहीं विश्व अथवा प्रकृति के रूपों में हमें सौन्दर्य अधिक स्पष्ट दिखाई देता है।

विश्व के रूपों में 'अतिशय' का द्वितीय रूप अधिक प्रखर होता है। विश्व के रूपों का रचनात्मक कर्म संदिग्ध होने के कारण 'अतिशय' का प्रथम रूप उनमें स्पष्ट नहीं रहता। विश्व के भौतिक रूपों के प्रधानतः चाक्षुष होने के कारण उनमें अतिशय का तीसरा रूप भी नहीं निखरता। चाक्षुष रूप एक आकार में सीमित रहते हैं, जो इन रूपों की मर्यादा बन जाता है। 'अतिशय' के सीमित हो जाने के कारण आकार में सौन्दर्य का निम्नतर रूप प्रकट होता है। चाक्षुष रूपों का आकार उनकी रूप-रेखा मात्र होता है। चित्रकला में रूप-रेखा और अल्पना

सौन्दर्य का अल्पतम रूप मानी जाती है। चाक्षुष रूपों के आकार की मर्यादा में सीमित 'रूप' (Form) के अन्तर्गत कान्ति और वर्ण 'रूप के विस्तार' के अर्थ में 'अतिशय' की सृष्टि करते हैं। इन्हीं कान्ति और वर्ण के वैभव के कारण पुष्पों तथा रंजित मेघों में प्रकृति का सौन्दर्य सामान्यतः अधिक स्पष्ट रूप में विदित होता है। मनुष्य के सौन्दर्य के अर्थ में भी 'रूप' का रहस्य बहुत कुछ कान्ति के वैभव में प्रकट होता है। यह 'कान्ति' आकार की मर्यादा के अन्तर्गत रूप के विस्तार के अर्थ में 'रूप का अतिशय' है। इसी आधार पर मनुष्य के सौन्दर्य के पर्याय के अर्थ में 'रूप' का प्रचलन हुआ है।

किन्तु, विश्व अथवा प्रकृति के रूपों में सामान्यतः उपयोगिता से सम्बन्धित 'रूप का अतिशय' ही अधिक स्पष्ट रहता है। जब तक हम प्रकृति के रूपों को उपयोगिता से दूर रखते हैं, तभी तक हमें उनमें सौन्दर्य दिखाई देता है। उपयोगिता का तात्विक दृष्टिकोण आते ही रूप के अतिशय का आभास नष्ट हो जाता है और सौन्दर्य की अनुभूति मन्द हो जाती है। **प्राकृतिक सौन्दर्य के आकर्षण का रहस्य निरुपयोगी रूप के अतिशय में निहित है।** जीवन के नागरिक उपकरणों की तुलना में वन्य प्रकृति के उपकरण 'हमें' अधिक निरुपयोगी प्रतीत होते हैं। इसीलिए 'हमें' उनमें सौन्दर्य दिखाई देता है। उन वन्य प्रदेशों के निवासी उपयोगिता का दृष्टिकोण रखने के कारण प्रकृति में वह सौन्दर्य नहीं देखते, जो हमें दिखाई देता है। निरुपयोगी दृष्टिकोण के कारण ही दर्शकों के लिए वे पर्वतीय और ग्रामीण स्थल सुन्दर बन जाते हैं, जो वहां के निवासियों के लिये अभिशाप होते हैं। कान्ति और वर्ण की विभूति के अतिरिक्त निरुपयोगी 'रूप का अतिशय' ही फूलों और रंगीन मेघों को अधिक सुन्दर बनाता है। फलों की अपेक्षा फूल और काले बादलों की अपेक्षा रंगीन बादल अधिक निरुपयोगी, अतः अधिक सुन्दर होते हैं।

विश्व के भौतिक विषयों में चाक्षुष रूप का सौन्दर्य ही प्रधान है। इसीलिए दर्शनों में चक्षु-इन्द्रिय से ग्राह्य गुणों को ही 'रूप' माना है। अंग्रेजी के 'फ़ौर्म' (Form) का समानार्थक 'रूप' चाक्षुष रूप की अपेक्षा अधिक व्यापक है। वह श्रव्य शब्दों का आकार भी है। संगीत की लय में श्रव्य रूप का सौन्दर्य प्रकट होता है। नदियों, निर्भरों, पक्षियों आदि के शब्द में निरुपयोगी रूप का सौन्दर्य ही प्रमुख होता है। 'रूप' के विस्तार का सौन्दर्य उनमें अधिक नहीं निखरता। 'रूप' के विस्तार का सौन्दर्य मनुष्य के संगीत में अधिक समृद्ध होता है।

रस, गन्ध और स्पर्श के गुणों में सौन्दर्य की अपेक्षा संवेदना का सुख (अथवा दुःख) अधिक प्रकट होता है। इसीलिये सौन्दर्य के प्रसंग में इनका विवरण कम मिलता है। सौन्दर्य में भी अनुभूति का अन्तर्भाव रहता है, किन्तु भाषा के व्यवहार में सौन्दर्य का वस्तुगत भाव ही प्रमुख है। **सौन्दर्य अनुभूति का नहीं वरन् वस्तु का गुण है। उसकी अनुभूति को हम 'आनन्द' की संज्ञा दे सकते हैं।** किन्तु रस, गन्ध और स्पर्श की सम्वेदना मूलरूप में अनुभवगत एवं आत्मगत है। इसीलिये सौन्दर्य की इन गुणों से अधिक संगति नहीं है। मनुष्य की इन्द्रियों में आँख और कान की वनावट अधिक जटिल और विकसित है। चाक्षुष रूप और शब्द में समृद्धि की सम्भावना अधिक होने के कारण ही कदाचित ये इन्द्रियाँ अधिक विकसित हुई हैं। ऐन्द्रिक और भौतिक दोनों ही कारणों से चाक्षुष रूप और शब्द ही कलात्मक सौन्दर्य में प्रधान रहे हैं। विश्व और प्रकृति के रूपों में शब्द के 'रूप' में अतिशय की अधिक सम्भावना नहीं है। अतः उसमें चाक्षुष रूप का सौन्दर्य ही प्रमुख है। मनुष्य की कला में शब्द के अन्तर्गत रूप के विस्तार की अनन्त सम्भावना होने के कारण संगीत सौन्दर्य की सर्वोत्तम विभूति बन गया है। फिर भी भारतीय संस्कृति में चाक्षुष रूप और शब्द के सौन्दर्य के साथ-साथ रस और गंध के सौन्दर्य का वहुत कुछ समन्वय किया गया है।

मनुष्य की देह के सौन्दर्य के अर्थ में 'रूप' का प्रयोग सौन्दर्य की उक्त धारणाओं के अनुकूल ही होता है। **'रूप के अतिशय' के तीनों ही रूप मनुष्य के सौन्दर्य में न्यूनाधिक मात्रा में मिलते हैं।** प्रजनन के प्रसंग द्वारा हम मनुष्य की सत्ता में भी रचनात्मकता मान सकते हैं। मनुष्य लौकिक अर्थ में मनुष्य की रचना है। स्रष्टा (माता-पिता) के अपने अस्तित्व की दृष्टि से वह सृजन एक प्रकार का अतिशय ही है। दूसरे पशुओं की तुलना में मनुष्य के रूप (देह के आकार) में 'रूप' का अतिशय भी वहुत है। मनुष्य के चर्म की कान्ति, सिर के केश, तथा कपोल, वक्ष, बाहु, जंघा आदि की मांस-पेशियाँ रूप के इस अतिशय के उदाहरण हैं। इनका कोई प्रकट उपयोग समान्यतः विदित नहीं है। देह के अन्तर्गत, विशेषतः आनन की परिधि में भाल, भ्रुवा, नेत्र, नासिका, अधर आदि के आकार के निरुपयोगी पक्षों में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा निरुपयोगिता के भाव के साथ सौन्दर्य के घनिष्ट सम्बन्ध को प्रमाणित करती है। तीसरे कान्ति, केश और मांस-पेशियों में 'रूप के विस्तार' के अर्थ में भी 'रूप का अतिशय' भी प्रकट होता है। नारी के 'रूप' (Form) में

'रूप का यह विस्तार' अधिक प्रकट और प्रखर है। कान्ति और केश के अतिरिक्त उनके कपोल, वक्ष, नितम्ब, जघन आदि के वर्तुल विस्तार उनकी देह में सौन्दर्य की समृद्धि करते हैं। तीनों ही रूपों में 'रूप का अतिशय' मनुष्य के सौन्दर्य के अर्थ में 'रूप' के सीमित प्रयोग की सार्थकता को सिद्ध करता है। **पुरुष की अपेक्षा नारी के रूप में 'रूप का अतिशय' अधिक होने के कारण नारी की 'सुन्दरी' संज्ञा सार्थक है तथा कला एवं काव्य में नारी के सौन्दर्य की प्रधानता उचित है।**

किन्तु 'रूप' (Form) केवल चाक्षुष नहीं है। ऐन्द्रिक क्षेत्र में भी चाक्षुष रूप के अतिरिक्त शब्द की लय का आकार भी रूप की व्यापक परिधि में समाहित है। संगीत का स्वर-सन्तान रचना, उपयोगिता और विस्तार तीनों ही दृष्टियों से रूप का अतिशय है। ऐन्द्रिक क्षेत्र के बाहर अंग्रेजी के 'फ़ौर्म' के अर्थ में 'रूप' के अन्तर्गत काव्य आदि कलाओं की रचना में अभिव्यक्ति के रूप एवं उसके अतिशय को भी सम्मिलित किया जा सकता है। ऐन्द्रिक रूप से भेद करने के लिये हम इसे 'मानसिक रूप' कह सकते हैं। इस मानसिक रूप में ऐन्द्रिक रूप के उपकरणों का भी अन्तर्भाव रहता है, किन्तु रूप का अतीन्द्रिय पक्ष ही इसमें प्रधान होता है। शब्द के माध्यम की सार्थकता के कारण काव्य-कला में 'मानसिक रूप' का 'अतिशय' सबसे अधिक रहता है। कलाओं में काव्य की सर्वाधिक सम्पन्नता का यही रहस्य है। काव्य में रूप के अतिशय के अलंकार आदि वाह्य उपकरणों के अतिरिक्त अभिव्यक्ति की भंगिमाओं के अनन्त और अनिर्वचनीय अतिशय समाहित रहते हैं, जो काव्य के सौन्दर्य को उत्तरोत्तर उत्कृष्ट बनाते हैं।

अस्तु, अंग्रेजी के 'फ़ौर्म (Form) के समानार्थक एवं व्यापक रूप की कई कोटियाँ हैं। रूप की इन विभिन्न कोटियों के अन्तर्गत समान सूत्र का अनुसंधान करके 'रूप के अतिशय' की विभिन्न श्रेणियों में 'सौन्दर्य' का रहस्य मिल सकेगा। सौन्दर्य का यही रहस्य संस्कृत भाषा में व्यवहृत 'रूप' और 'सौन्दर्य' के पर्याय-भाव को प्रमाणित कर सकेगा। इस व्यापक अर्थ में 'रूप' पदार्थों अथवा विषयों की अभिव्यक्ति का व्यापक माध्यम है। 'अभिव्यक्ति' पदार्थों अथवा विषयों का प्रकाशन है। अवगति में प्रतिबिम्बित होकर यह अवगति कृतार्थ होती है। इस अवगति में ही अभिव्यक्ति के रूप में 'सौन्दर्य' साकार होता है। यद्यपि भाषा के व्यवहार में सौन्दर्य वस्तुओं का गुण प्रतीत होता है फिर भी अवगति से भिन्न उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। व्यापक अर्थ में रूप (Form) सभी भौतिक और मानसिक

विषयों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। यदि इस व्यापक अर्थ में 'रूप' को 'सौन्दर्य' का पर्याय माना जाय तो सभी भौतिक पदार्थों एवं भाषा आदि की सभी अभिव्यक्तियों को सुन्दर मानना होगा। वस्तुतः अभिव्यक्ति के समस्त रूपों में कुछ न कुछ सौन्दर्य अवश्य होता है तथा व्यापकतम अर्थ में 'रूप' शब्द 'सौन्दर्य' का पर्याय है। किन्तु सामान्यतः यह समझना कठिन है। **अतः 'रूप का अतिशय' सौन्दर्य की अधिक मान्य परिभाषा है।** उपयोगिता का सम्बन्ध वस्तु के तत्व से होने के कारण एक प्रकार से समस्त रूप (Form) ही अतिशय है, अतएव समस्त रूप सुन्दर है। किन्तु जिस रूप में यह अतिशय अधिक प्रखर और स्पष्ट प्रतीत होता है उसे सुन्दर मानने में कम कठिनाई होती है। उपयोगिता के अतिरिक्त रचना, विस्तार और विन्यास में रूप का उत्तरोत्तर वर्धमान अतिशय सौन्दर्य को अधिक समृद्ध रूपों में अभिव्यक्त करता है।

व्यापक 'रूप' के अनेक भेदों में 'आकार' सबसे सरल है। अल्पनाओं (Designs) और भौतिक पदार्थों में यह 'आकार' ऐन्द्रिक होने के कारण अधिक स्पष्ट होता है; वैसे भाषा आदि की अभिव्यक्तियों का भी आकार होता है। यह आकार वस्तु अथवा विषय के विन्यास की रूप-रेखा मात्र है। भौतिक अथवा प्राकृतिक पदार्थों के 'आकार' की रूपरेखा शून्य नहीं होती, उसके बीच में वर्ण, कान्ति आदि का रूप भरा रहता है। इन पदार्थों का सौन्दर्य आकार एवं चाक्षुष रूप का संयुक्त फल है। दृश्य पदार्थों में आकार और चाक्षुष रूप अभिन्न रहते हैं। अल्पनाओं (Designs) में भी केवल आकार नहीं होता; आकार की रूप-रेखा के बीच चाक्षुष रूप रहता है। किन्तु अल्पना में आकार की रूप-रेखा ही प्रधान रहती है। इसी प्रकार भौतिक और दृश्य पदार्थों में वर्ण, कान्ति आदि का रूप ही प्रधान रहता है। दृश्य अथवा चाक्षुष रूप की अपेक्षा 'ऐन्द्रिक रूप' अधिक व्यापक है। संगीत और काव्य के स्वर-विन्यास का आकार भी इसके अंतर्गत है। वह 'श्रव्य रूप' है। ऐन्द्रिक रूपों में दृश्य और श्रव्य रूप ही प्रमुख होते हैं। काव्य, संगीत आदि कलाओं में ऐन्द्रिक रूप के अतिरिक्त 'रूप' का एक मानसिक पक्ष भी होता है। इसे रूप का भाव-पक्ष कह सकते हैं। किसी सीमा तक काव्य, संगीत आदि कलाओं में ऐन्द्रिक और मानसिक दोनों प्रकार के रूपों का संगम होता है। ऐन्द्रिक अथवा दृश्य रूपों में भी रूप के भाव-पक्ष का समन्वय रहता है, यद्यपि वे प्रधानतः ऐन्द्रिक ही प्रतीत होते हैं। ऐन्द्रिक रूप में भी मानसिक रूप के समन्वय

से युक्त काव्य ग्रादि कलाग्रों का रूप सबसे ग्रधिक व्यापक है। ऐन्द्रिक ग्रौर चाक्षुष रूप उसकी ग्रपेक्षा सीमित है। 'ग्राकार' ग्रल्पतम रूप का उदाहरण है।

ग्रभिव्यक्ति के माध्यम की दृष्टि से 'रूप' का प्रयोग 'रूप' (Form) के उक्त सभी भेदों में संगत है। किन्तु 'सौन्दर्य' के ग्रर्थ में इनके लिए 'रूप' का प्रयोग कुछ विचारणीय है। रूप-मात्र में सौन्दर्य की प्रतीति कठिन है। 'रूप के ग्रतिशय' को ग्रधिक सरलता से 'सौन्दर्य का पर्याय माना जा सकता है। रूप की भाँति ग्रतिशय के भी ग्रनेक ग्रर्थ हैं। **प्राकृतिक उपयोगिता की दृष्टि से 'रूप' का निरूपयोगी पक्ष 'ग्रतिशय' कहा जा सकता है। रूप का यह ग्रतिशय सौन्दर्य का मर्म है।** प्राकृतिक पदार्थों में हमें तभी सौन्दर्य दिखाई देता है जबकि उनके प्रति हमारा निरुपयोगिता का दृष्टिकोण रहता है। उन्हीं पदार्थों के उपयोगी बन जाने पर उनका सौन्दर्य तिरोहित हो जाता है। संध्या के बादल, इन्द्रधनुष, उषा, चाँदनी, पुष्प ग्रादि इसी ग्राधार पर सुन्दर दिखाई देते हैं। उपयोगिता का प्रयोजन न होने के कारण हमें ग्राम, वन, समुद्रतट, रेगिस्तान ग्रादि सुन्दर जान पड़ते हैं। किन्तु उनके निवासियों को वे इतने सुन्दर नहीं लगते, क्योंकि इनके साथ उनका सम्बन्ध उपयोगिता का होता है। फलों की ग्रपेक्षा पुष्प ग्रधिक निरुपयोगी ग्रौर ग्रधिक सुन्दर होते हैं। मनुष्य देह में मुख, ग्राँखें, भाल, कपोल, नासिका, कान ग्रादि ग्रंगों में निरुपयोगी पक्ष सौन्दर्य के प्रमुख ग्राश्रय हैं।

रूप का विस्तार ग्रौर विन्यास भी ग्रतिशय के ग्रन्तर्गत है। निरुपयोगिता के ग्रतिरिक्त इनके ग्रर्थ में भी ग्रतिशय का प्रयोग किया जा सकता है। विस्तार रूप के ग्राकार का प्रस्तार ग्रथवा परिमाण का उत्कर्ष है। संगीत का स्वर-संतान प्रस्तार का उदाहरण है। पुष्पों, पशुग्रों ग्रौर पक्षियों, बादलों ग्रादि के वर्ण (रंग) की प्रभा रूप के परिमाण का उत्कर्ष है। **पुरुष ग्रथवा स्त्री के कपोल, बाहु, वक्ष ग्रादि की मांस-पेशियों की पृथुलता में निरुपयोगिता, ग्राकार के प्रस्तार ग्रौर परिमाण के उत्कर्ष इन तीनों प्रकार के ग्रतिशय का समन्वय है।** काव्य के गठन में भी ग्रभिव्यक्ति के रूप का ग्रतिशय रहता है। व्यंजना, ग्रलंकार ग्रादि इस ग्रतिशय के ही रूप हैं। विस्तार का ग्रतिशय रूप के ग्राकार का प्रस्तार ग्रथवा परिमाण का उत्कर्ष है। यह ग्रतिशय की परिमाण-गत धारणा है। **'विन्यास' रूप (Form) की समग्रता का ग्राकार है। वह समग्र रूप के गठन का गुण है।** संगीत की लय, राग के विधान, चित्र की योजना, मूर्ति की ग्राकृति, काव्य की

व्यंजना आदि के समग्र रूप की रचना को 'विन्यास' कहा जा सकता है। यह विन्यास रूप के विधायक तत्वों की एक विलक्षण भंगिमा है। **इसकी समग्रता अपने आप में एक अतिशय है जो इन तत्वों से अतिरिक्त है।** यह इन तत्वों का संकलन मात्र नहीं है। इस विन्यास में ही रूप की विशेषता रहती है और यह सौन्दर्य का विशेष लक्षण है। विस्तार के अतिशय इस विन्यास के विधायक बन कर ही सौन्दर्य के उपकरण बनते हैं। संगीत की लय, पुरुष के सुगठित शरीर और स्त्री के वर्तुल अंगों के सौन्दर्य का रहस्य विन्यास के अतिशय में ही निहित है। 'लय' इस विन्यास का सामान्य लक्षण है। आकार की एक रूपता का खण्डन करके अंगों के आकारों का एक विलक्षण सामंजस्य इस लयात्मक सौन्दर्य का रहस्य है। **चाक्षुष रूपों में इसी रहस्य के आधार पर स्त्री की देह सर्वाधिक सौन्दर्य की निधान बनी है।**

निरुपयोगिता, विस्तार और विन्यास के अनुकूल 'रूप का अतिशय' प्रकृति और कला दोनों के सौन्दर्य की व्याख्या कर सकता है। 'सौन्दर्य' कला की अपेक्षा अधिक व्यापक है। 'कला' सौन्दर्य की रचना है। सौन्दर्य कलाकृतियों के अतिरिक्त विश्व और प्रकृति में भी व्याप्त है। उपयोगिता की भाँति सत्ता को ही पर्याप्त मानने पर 'रचना' भी एक 'अतिशय' बन जाती है। निरुपयोगिता और सत्ता दोनों ही दृष्टियों से कला में रूपों की रचना एक अतिशय सिद्ध होती है। इस अतिशय में ही कला का सौन्दर्य है। विस्तार में विन्यास का अतिशय इस सौन्दर्य को समृद्ध करता है। **चतुर्विध अतिशय से युक्त होने के कारण ही कला का समृद्ध सौन्दर्य मानवीय संस्कृति की अनमोल विभूति बनता है।** प्रकृति के त्रिविध अतिशय से युक्त सौन्दर्य को रचनात्मकता के अतिशय से सम्पन्न बनाने के लिए ही विश्व को ईश्वर की रचना माना जाता है। शैव तंत्रों में विश्व की सृजनात्मिका शक्ति का नाम ही 'कला' है। इस 'कलाशक्ति' को 'सुन्दरी' कहते हैं। इसका 'सुन्दरी' नाम रूप के चतुर्विध अतिशय में सौन्दर्य के रहस्य का संकेत करता है।

व्यापक 'रूप' (Form) के सभी भेदों में रूप के उक्त चतुर्विध अतिशय के आधार पर हम सौन्दर्य का रहस्य खोज सकते हैं। इसी रहस्य के आधार पर व्यापक अभिव्यक्ति का माध्यम 'रूप' शब्द 'सौन्दर्य' का पर्याय बना। ऐन्द्रिक रूपों में रूप का यह अतिशय और तद्गत सौन्दर्य अधिक स्पष्ट और सुग्राह्य होता

है। ऐन्द्रिक रूपों में भी चाक्षुष रूप अधिक प्रभावशाली है। इसीलिये दर्शनों में भी रूप को चाक्षुष ही माना गया और दृश्य पदार्थों में सौन्दर्य की धारणा अधिक परिचित एवं मान्य रूप से प्रतिष्ठित हुई। दृश्य पदार्थों में सौन्दर्य की धारणा सीमित होने के कारण ही नारी-देह में सौन्दर्य की कल्पना केन्द्रित हुई। तथा 'रूप' शब्द 'सौन्दर्य' का रूढ़ पर्याय बना। किन्तु नारी देह के अतिरिक्त अन्य दृश्य पदार्थों में भी रूप के चतुर्विध अतिशय के आधार पर हम सौन्दर्य का संगत अन्वय कर सकते हैं। अतीन्द्रिय रूपों में सौन्दर्य की इस परिभाषा के घटित होने पर व्यापक अर्थ में भी 'रूप' (Form) सौन्दर्य का पर्याय बन जाता है।

अन्त में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'रूप के अतिशय' के उक्त रूपों का समुचित सामंजस्य ही सौन्दर्य का विधायक है। 'रूप के विस्तार' के जो रूप रचनात्मकता अथवा निरुपयोगिता का खण्डन करते हैं, वे सौन्दर्य को भंग करते हैं। निरुपयोगिता के प्रसंग में यह विचारणीय है कि किसी प्रकार हानिकारक होने पर 'रूप का विस्तार' निरुपयोगी नहीं रहता, अतः वह सौन्दर्य का विघात करता है। कैंसर आदि में मांस-पेशियों का विस्तार इसी कारण कुरूपता का कारण बनता है। रूप की व्यवस्था के सामंजस्य को भंग करना भी एक प्रकार की हानि करना है। अतः वर्ण, स्वर आदि किसी भी रूप का ऐसा विस्तार भी सौन्दर्य का विघातक है। सामंजस्य रूप के विस्तार अथवा अतिशय की ऐसी मर्यादा है जो रूप के अंगों के अतिशय को सौन्दर्य का विधान प्रदान करती है तथा साथ ही सौन्दर्य की रक्षा भी करती है। **प्राकृतिक प्रयोजन की दृष्टि से निरुपयोगी होते हुए भी सौन्दर्य की निरुपयोगिता आत्मघाती नहीं है। अपने स्वरूप की रक्षा को तो सौन्दर्य का प्रयोजन मानना होगा।** अतः सामंजस्य की मर्यादा के अन्तर्गत ही रूप के अतिशय अनन्त सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं।

अस्तु, सामान्यतः 'रूप' (Form) अथवा 'रूप का अतिशय' (Excess of Form) ही सौन्दर्य का मूल स्वरूप है। ऐन्द्रिक और मानसिक दोनों ही रूपों में रूप का अतिशय' सौन्दर्य को प्रकाशित करता है। दर्शन के 'चाक्षुष रूप' में यह 'रूप का अतिशय' मूर्त्त कलाओं को जन्म देता है। मनुष्य की देह के सौन्दर्य के अर्थ में 'रूप' का प्रयोग इसी चाक्षुष रूप का सीमित किन्तु सार्थक प्रयोग है। रचना और प्रभाव दोनों ही दृष्टियों से मनुष्य के रूप का सौन्दर्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। नारी के रूप में 'रूप' के निरुपयोगी अतिशय के अर्थ में सौन्दर्य

की विपुल विभूति साकार हुई है। मूर्ति कलाओं में रूप के ऐन्द्रिक अतिशय सौन्दर्य की सृष्टि करते है। संगीत में शब्द के सूक्ष्म माध्यम में ऐन्द्रिक और मानसिक रूप का समृद्ध संगम होता है। काव्य में ऐन्द्रिक रूप के योग से मानसिक रूप के जटिल अतिशय कला के सबसे अधिक समृद्ध रूप का निर्माण करते हैं। काव्य की यही समृद्धि विधाता के अर्थ में 'कवि' के प्राचीन प्रयोग को सार्थक बनाती है।

अध्याय ४७

कला और सौन्दर्य

सौन्दर्य का प्रयोग अनेक स्थितियों और धरातलों में होता है। सम्भव है सौन्दर्य का कोई सामान्य स्वरूप हो जो इन सब स्थितियों में और धरातलों में व्याप्त हो। किन्तु इन स्थितियों और धरातलों में अभिव्यक्त होने वाले सौन्दर्य के रूपों में जो भेद किया जाता है उसका आधार क्या है, इस पर भी विचार करना आवश्यक है। हम प्रकृति के दृश्यों को देखते हैं और उनमें सौन्दर्य का अनुभव करते हैं। यह सौन्दर्य के अनुभव का एक धरातल है। यदि प्रकृति का यह सौन्दर्य दर्शन एकान्त में सम्भव हो, जैसा कि कुछ लोगों का मत है, तो जब हम प्रकृति के सौन्दर्य से प्रभावित होकर दूसरों को अपने इस अनुभव में भाग लेने के लिए आमन्त्रित करते हैं; यह सौन्दर्य की दूसरी स्थिति है जो पहली स्थिति से भिन्न है। ये दोनों स्थितियाँ सौन्दर्य के दर्शन से सम्बन्ध रखती हैं। एक तीसरी स्थिति सौन्दर्य का सृजन है, जिसमें कुछ लोग अनुकृति और दूसरे कृति का गौरव देखते हैं। सौन्दर्य के सृजन में कलात्मक चेतना अधिक सक्रिय होती है और वह सौन्दर्य के उन रूपों के अनुरूप रूपों की रचना करती है जिनके दर्शन में पहिले उस सौन्दर्य का अनुभव हुआ था। सौन्दर्य का सृजन पूर्णतः दर्शन पर आधारित नहीं है। सृजन के कुछ मौलिक रूप भी हैं, जिनमें दर्शन का आधार अल्प अथवा नगण्य है और कलात्मक चेतना अधिक सक्रिय होती है। सौन्दर्य का यह सृजनात्मक रूप प्रायः 'कला' कहलाता है। प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन की भाँति कला के सौन्दर्य का दर्शन और अनुभावन सौन्दर्य की एक भिन्न स्थिति है। प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन में भाग लेने के आमन्त्रण की भाँति कलात्मक सौन्दर्य के अनुभावन में भाग लेने के लिए भी हम प्रायः दूसरों को आमंत्रित करते हैं। सौन्दर्य के एकान्त और सामूहिक अनुभावन भिन्न होंगे; यदि इन दोनों स्थितियों में कोई मौलिक और मनोवैज्ञानिक भेद है। सौन्दर्य के इस दर्शन, सृजन और विभाजन के अतिरिक्त उसका एक रूप प्रदर्शन भी है। यह प्रदर्शन एक का प्रदर्शन और दूसरे का दर्शन है। किन्तु प्रदर्शन और दर्शन की स्थिति एक दूसरे से भिन्न है। दर्शन का कर्त्ता सौन्दर्य को

केवल एक अनुभावन की वस्तु मानता है, वह उसके प्रति किसी अधिकार का अनुभव नहीं करता। प्रदर्शन का कर्त्ता सौन्दर्य को अपना अधिकार और अपनी विभूति मानता है। सुन्दरी स्त्रियों के रूप-दर्प और उनकी शृंगार सज्जा में यह प्रदर्शन का सौन्दर्य प्रायः देखा जाता है। इस प्रदर्शन के सौन्दर्य में कला की सृजनात्मक वृत्ति भी अन्तर्निहित है। संगीत, नृत्य और नाटक में सृजन का प्रदर्शन के साथ संयोग अधिक स्पष्ट है। ये तीनों ही कला के रूप हैं। इनमें सृजन का सौन्दर्य स्पष्ट है। कोई आत्मलीन कलाकार एकान्त में भी नर्तन और गायन करते हैं, किन्तु प्रदर्शन इन कलाओं का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है। इन कलाओं में सृजन और प्रदर्शन की क्रिया एक साथ होती है। अतः प्रदर्शन इनके स्वरूप का अंग प्रतीत होता है। चित्र और मूर्तिकला में भी प्रदर्शन होता है। आधुनिक कलाकारों की कृतियों की प्रदर्शनियाँ होती हैं। किन्तु इन कलाकारों का सृजन और प्रदर्शन पृथक-पृथक क्रियायें हैं, जो भिन्न-भिन्न कालों में होती हैं। **सौन्दर्य के सृजन, प्रदर्शन और अनुभावन की ये स्थितियाँ जीवन और अनुभावन की कुछ असाधारण अवस्थायें हैं जिनमें हम अपने सामान्य जीवन और व्यवहार की तुलना में कुछ विशेषता और नवीनता का अनुभव करते हैं।** इस असाधारण स्थितियों के अतिरिक्त सौन्दर्य का एक ऐसा रूप भी है जिसमें दर्शन, सृजन और प्रदर्शन तीनों ही सम्मिलित हैं तथा जो हमारे सामान्य जीवन और व्यवहार के साथ एकाकार हो गया है। महान और प्रसिद्ध कलाओं के अतिरिक्त लघुतर और उपयोगी कलाओं का सौन्दर्य के इस रूप में विशेष योग है। निकटता और निरन्तर परिचय के कारण सौन्दर्य के इस रूप में हमें नवीनता का अनुभव कम होता है। इसका अभिप्राय यही है कि इस सौन्दर्य का भाव हमारे जीवन और व्यवहार में मिलकर उनके साथ एक हो जाता है, अतः वह जीवन और व्यवहार के समान ही साधारण बन जाता है। सौन्दर्य के इस रूप में दर्शन, सृजन और प्रदर्शन प्रायः पृथक-पृथक दिखाई देते हैं, किन्तु सामान्यतः इसमें इन तीनों का संगम रहता है। इसका कारण हमारे जीवन और व्यवहार की सामाजिक स्थिति है। इस सामाजिक स्थिति में दर्शन कलाकार के चिन्तन के समान एकाकी नहीं होता। इसके सृजन में भी सहयोग रहता है और प्रदर्शन तो स्वरूप से ही सौन्दर्य की सामाजिक स्थिति है। **इस सामाजिक स्थिति में सौन्दर्य एकान्त अनुभव अथवा सृजन की वस्तु नहीं है वरन् वह सामाजिक समात्मभाव की सम्भूति, सहयोग की कृति और साहचर्य का आनन्द है।**

सौन्दर्य की इन सभी स्थितियों में हम किसी न किसी रूप में सौन्दर्य का अनुभव और प्रयोग करते हैं। प्रश्न यह है कि क्या सौन्दर्य का कोई ऐसा सामान्य स्वरूप है जो इन सब स्थितियों और रूपों में व्याप्त हो। सौन्दर्य के इस सामान्य स्वरूप की इन विशेष रूपों के साथ क्या संगति है, यह भी विचारणीय है। प्राय: इन प्रश्नों के समाधान में इन अनेक स्थितियों की रूपगत विशेषताओं की अवहेलना की जाती है। सोन्दर्य की असाधारण स्थिति की जीवन और व्यवहार के सामान्य भाव के साथ संगति इन समाधानों में दुर्लभ ही है। ग्रीक युग में कुछ विचारक सौन्दर्य को बाह्य और वास्तविक मानकर उसके वस्तुगत गुणों का अन्वेषण करते रहे। आधुनिक युग में फैकनर ने सौन्दर्य के इसी वस्तुगत रूप के निर्धारण का अभिनव प्रयत्न किया है। किन्तु आधुनिक युग में सौन्दर्य के आत्मगत रूप की धारणा अधिक प्रबल रही है। योरोप के आधुनिक दर्शन के आरम्भ से ही उदय होकर यह धारणा क्रोचे के अनुभूतिवाद में (जिसे अभिव्यक्तिवाद कहा जाता है) पर्यवसित हुई है। सौन्दर्य की अर्वाचीन धारणाओं को क्रोचे ने सबसे अधिक प्रभावित किया है। क्रोचे का कार्य सौन्दर्य-शास्त्र के इतिहास में एक क्रान्ति समझा जाता है। जिस प्रकार हीगल के अध्यात्मवाद से प्रभावित अभिनव अध्यात्मवाद इंगलैण्ड का महत्वपूर्ण दार्शनिक आन्दोलन था, उसी प्रकार क्रोचे के अनुभूतिवाद से प्रभावित सौन्दर्य शास्त्र की मान्यता भी वहाँ पल्लवित हुई। हीगल के अध्यात्मवाद का प्रसार और प्रवर्धन करने वालों में ब्रैडले और बोसान्क्वेट का नाम उल्लेखनीय है, उसी प्रकार क्रोचे के अनुभूतिवाद का प्रसार और प्रवर्धन करने वालों में कौंलिगवुड और कैरिट अग्रगण्य हैं।

वस्तुवादी और सहानुभूतिवादी दोनों ही धारणायें एकांगी प्रतीत होती हैं। एक सौन्दर्य को वस्तुओं का गुण मानकर उसके अनुभावन और सृजन में चेतना की सक्रियता और सृजनात्मकता के मूल्य का तिरस्कार करती है। दूसरी सौन्दर्य को पूर्णत: आत्मगत मानकर उसके वस्तुगत और स्वतंत्र स्वरूप की उपेक्षा करती है। वस्तुगत सौन्दर्य केवल ग्रहण का सौन्दर्य है। मनुष्य की चेतना केवल उसकी द्रष्टा है, सौन्दर्य के निर्माण में उसका कोई सक्रिय सहयोग नहीं है। सौन्दर्य की वस्तुवादी धारणा में कठिनाई यह है कि एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को सुन्दर और असुन्दर अथवा कम सुन्दर प्रतीत होती है। सौन्दर्य की धारणा में जो परिवर्तन होता है, उसकी व्याख्या क्या हो सकती है, यदि वस्तु के रूप और गुण

तथावत् रहते हों। जो वस्तु कुछ लोगों को असुन्दर प्रतीत होती है, वह दूसरों को कैसे सुन्दर लगती है ? यदि सौन्दर्य पूर्णतः पराधीन और विवशता का भाव है तो हमें उसमें स्वतंत्रता के आनन्द का अनुभव कैसे होता है ? दूसरी ओर अनुभूतिवादी व्याख्याओं की कठिनाई यह है कि जहाँ तक दर्शन का सम्बन्ध है, अनुभूति प्रत्येक वस्तु में सौन्दर्य का अनुभावन सम्भव बना देती है। इस प्रकार सुन्दर और असुन्दर अथवा कम और अधिक सुन्दर का भेद भी मिट जाता है। ये भेद हमारे साधारण अनुभव की वास्तविकतायें हैं, अतः इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्रोचे के अनुभूतिवाद में आन्तरिक अभिव्यक्ति में ही सौन्दर्य का स्वरूप पूर्ण हो जाता है; अतः बाह्य माध्यमों के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति एक गौण उपचार हो जाती है। इतना ही नहीं यह बाह्य अभिव्यक्ति आन्तरिक अनुभूति के साथ संगत भी नहीं है। आत्मगत अनुभूति का अनुवाद बाह्य उपकरणों में संभव नहीं है, अतः ये बाह्य अभिव्यक्तियां सौन्दर्य की आन्तरिक भावना को व्यक्त करने के स्थान पर उसे खंडित करती हैं। बाह्य अभिव्यक्तियों के समान ही साधारण जीवन में सौन्दर्य का व्यवहार भी असंगत हो जाता है। इस प्रकार सौन्दर्य एक असाधारण आत्मगत अनुभूति है, जो कला की बाह्य अभिव्यक्तियों और जीवन के सौन्दर्य व्यवहार की व्याख्या नहीं करती।

अतः यह विचारणीय है कि सौन्दर्य की विभिन्न स्थितियों में सौन्दर्य का रूप क्या है और सौन्दर्य का ऐसा स्वरूप क्या है जो सौन्दर्य की सभी स्थितियों और उसके सभी व्यवहारों की सन्तोषजनक व्याख्या कर सके। यदि सौन्दर्य की वस्तु-वादी और अनुभूतिवादी दोनों ही व्याख्यायें संतोषजनक नहीं है तो यह सम्भव है कि इन दोनों धारणाओं का समन्वय सौन्दर्य की कोई संतोषजनक व्याख्या बन सके। यह समन्वय कठिन अवश्य है किन्तु असम्भव नहीं है इसका कारण यह है कि सम्भवतः यह समन्वय ही हमारे जीवन की स्थिति और उसके व्यवहार का आधार है। इस समन्वय का सूत्र हमारे जीवन की सामाजिक स्थिति में है। यह स्पष्ट है कि इस समन्वय का रूप व्यापक होगा। इसके स्वरूप को सामंजस्य कहना अधिक उचित होगा क्योंकि इसकी व्यापकता में आन्तरिक और आत्मगत अनुभूति से लेकर सौन्दर्य की बाह्य अभिव्यक्ति और उसके सामाजिक व्यवहार तक का समाहार करना होगा। इस समाहार में संगति और सामंजस्य का सूत्र उक्त समन्वय का सबसे महत्वपूर्ण अंग होगा। **पिछले अध्यायों में इस समन्वय की धारणा को हमने**

समात्मभाव की सम्भूति कहा है। इस समन्वय की सबसे बड़ी ग्रावश्यकता यह है कि सौन्दर्य की ग्रन्य व्याख्यायें एकांगी हैं ग्रौर वे सौन्दर्य ही समस्त स्थितियों की व्याख्या नहीं करती। वस्तुवादी व्याख्याग्रों में चेतना की सक्रिय सृजनात्मक वृत्ति का पर्याप्त महत्व नहीं है। वे इसका समाधान नहीं करती कि सामान्यतः जो वस्तुयें ग्रसुन्दर प्रतीत होती हैं, वे किसी भाव-स्थिति में सुन्दर कैसे प्रतीत होने लगती हैं ? ग्रनुभूतिवादी व्याख्यायें सौन्दर्य की बाह्य ग्रभिव्यक्ति ग्रौर उसकी सामाजिक स्थितियों को पर्याप्त महत्व नहीं देती। बाह्य ग्रभिव्यक्ति कितनी महत्वपूर्ण है यह इसी से स्पष्ट है कि सभी कलाकारों ने ग्रपनी ग्रनुभूति को बाह्य ग्राकार दिया। दूसरे यह बाह्य ग्रभिव्यक्ति ही सौन्दर्य के सामाजिक महत्व का माध्यम है। व्यक्ति-गत ग्रनुभूति होते हुए भी सौन्दर्य केवल व्यक्तिगत नहीं है, जीवन की सामाजिक स्थितियों में सौन्दर्य का ग्रनुष्ठान सदा महत्त्वपूर्ण रहता है। व्यक्ति-निष्ठता सौन्दर्य का स्वभाव है, किन्तु स्वरूप नहीं। व्यक्ति के केन्द्र में उदय होकर सामाजिक समातमभाव के क्षितिजों पर उसका विस्तार होता है। इसी समात्मभाव में उसकी ग्रान्तरिक ग्रौर बाह्य ग्रभिव्यक्तियाँ स्पष्ट एवं साकार होती हैं। ग्रनुभूति की ग्रभिव्यक्ति समात्मभाव में संगति होने पर ही सौन्दर्य की ग्रन्य संगतियाँ सम्भव हो सकती हैं।

इसके ग्रतिरिक्त उक्त दोनों एकाँगी मतों में सौन्दर्य को एक ग्रसाधारण स्थिति माना जाता है। एक मत में इस ग्रसाधारणता के ग्राधार वस्तुग्रों के गुण हैं, दूसरे मत में इसका ग्राधार एक दुर्लभ ग्रात्मगत स्थिति है। ग्रनुभूतिवादी मत सिद्धान्ततः सौन्दर्य की भावना को सर्वदा ग्रौर सर्वत्र सम्भव मानता है। इस दृष्टि से उसकी सौन्दर्य-भावना व्यापक है। वस्तुवादी मत में इस प्रकार की व्यापकता सम्भव नहीं है। वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य वस्तुगत गुणों पर ग्राश्रित होने के कारण परतन्त्र है। ग्रतः वह जीवन की सभी स्थितियों में सम्भव नहीं हो सकता। सुन्दर ग्रौर ग्रसुन्दर का भेद वस्तुवादी मत में ग्रनिवार्य ग्रौर कठोर है। इस भेद की कठोरता सामान्य जीवन में सौन्दर्य के उदार ग्रौर व्यापक व्यवहार के साथ संगत नहीं है। ग्रनुभूतिवादी मत में सौन्दर्य वस्तु-निरपेक्ष होने के कारण सर्वदा ग्रौर सर्वत्र सम्भव है किन्तु ग्रनुभूति का जो स्वरूप उसे सम्भव बनाता है वह ग्रत्यन्त दुर्लभ है। न्याय दर्शन के निर्विकल्प प्रत्यक्ष की भाँति क्रोचे कलात्मक ग्रनुभूति के निर्विकल्पक रूप को समस्त ग्रनुभवों में साधारण ग्रौर व्याप्त मानते हैं। किन्तु

ऐसी निर्विकल्प अनुभूति का साक्षात्कार कठिन है। अनुमान पर अनुभूति को आश्रित करना न्याय की प्रमाण-विधि के विपरीत है। यदि यह निर्विकल्प अनुभूति सम्भव भी हो तो यह निःसंदेह अल्पस्थायी है। सम्भव है कलाकारों को यह स्थिति अधिक काल के लिए प्राप्त होती हो। कलाविधि के अतिरिक्त एक दूसरा प्रश्न अभिव्यक्ति के वाह्य माध्यमों और वाह्य व्यवहार की अनेक-रूपता के साथ इसकी संगति का प्रश्न है। अनुभूतिवादी इस संगति को नहीं मानते। इसीलिए कलाकृतियों की वाह्य अभिव्यक्ति उनकी दृष्टि में गौण है। प्रश्न यह है कि यदि यह संगति सम्भव नहीं है तो कलाकार इतनी तत्परता के साथ अपनी सौन्दर्यानुभूति को वाह्य माध्यम में अभिव्यक्त करने की साधना क्यों करता है। सत्य यह है कि **सामाजिक समात्मभाव में ही सौन्दर्य की कल्पना पूर्ण होती है। वस्तुतः उसी में उसका आरम्भिक उदय भी होता है। कलाकार की आन्तरिक** सौन्दर्यानुभूति भी **काल्पनिक समात्मभाव के रूप में होती है।** निर्विकल्प अनुभूति के विपरीत यह समात्मभाव बाह्यता और अनेकता के अन्तर्गत ही सम्भव होता है। अतः वाह्य माध्यमों में इसकी अभिव्यक्ति तथा सामाजिक जीवन में इसका व्यवहार इसके स्वरूप के साथ पूर्णतः संगत है।

कलाकार को कुछ विशेषता का गौरव देते हुए भी यह नहीं माना जा सकता कि कलाकार की सौन्दर्यानुभूति और सौन्दर्य के लोक-सुलभ व्यवहार में कोई मौलिक भेद है। स्वयं क्रोचे ने कला और सौन्दर्य के समस्त भेदों का निराकरण किया है। किन्तु दूसरी ओर जिस अनुभूति को उन्होंने सौन्दर्य का साधारण स्वरूप माना है, वह स्वयं दुर्लभ और असाधारण है। **सत्य यह है कि बाह्यता और अनेकता के साथ संगत समात्मभाव में ही सौन्दर्य की अनुभूति उदय होती है तथा इसी संगति की स्थिति में कलाकार बाह्य उपकरणों और माध्यमों में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करता है।** साधारण जन भी वाह्यता तथा अनेकता के साथ संगति की स्थिति में ही सौन्दर्य का व्यवहार करते हैं। यह सौन्दर्य की साधारण स्थिति है, जो कला की बाह्य अभिव्यक्ति और जीवन में सौन्दर्य के व्यवहार के साथ संगति है। **सौन्दर्य की वही धारणा सत्य है जो सौन्दर्य को चेतना की एक साधारण वृत्ति मानकर उसकी अभिव्यक्ति और व्यवहार के समस्त रूपों के साथ संगत होती है।** सौन्दर्य का यह रूप सामान्य होते हुए भी उसके विभिन्न रूपों में विशेषताओं को स्वीकार करना पड़ेगा। ये विशेषतायें सौन्दर्य के अनुभव, उसकी अभिव्यक्ति और

उसके व्यवहार के अन्य उपकरणों पर निर्भर होगी। किन्तु इन सभी विशेष रूपों में सौन्दर्य की उपस्थिति मानने पर इन उपकरणों को सौन्दर्य के सामान्य स्वरूप के साथ संगत मानना होगा। सौन्दर्य का ऐसा सामान्य लक्षण जो इनके साथ संगत नही है; सौन्दर्य की संतोषजनक व्याख्या नहीं है। साधारण जीवन और अनुभव में इनके साथ संगति की स्थिति में ही सौन्दर्य की अभिव्यक्ति और उसका व्यवहार होता है। सौन्दर्य का एक साधारण स्वरूप अवश्य है, किन्तु उसके रूपों के भेद भी सत्य हैं। ये भेद जिन उपकरणों पर निर्भर हैं उन्हें बताना होगा। किन्तु साथ ही सौन्दर्य के सामान्य स्वरूप के साथ इन उपकरणों को संगत मानना होगा। अन्यथा सौन्दर्य की भावना उक्त एकांगी मतों की भाँति ही संकुचित और सीमित हो जायेगी। जीवन के व्यवहार में सौन्दर्य एक अत्यन्त व्यापक भावना है, अतः यह संकोच सौन्दर्य का स्वरूप नहीं है वरन् एकांगी मतों का आग्रह है।

सौन्दर्य के सम्बन्ध में सबसे प्रथम और प्रमुख भेद कला और सौन्दर्य का भेद है। सौन्दर्य का प्रयोग सामान्यतः एक स्वतन्त्र और वास्तविक सत्ता के लिए किया जाता है। सौन्दर्य उस सत्ता का स्वरूप है। सौन्दर्य की सत्ता के सम्बन्ध में मनुष्य का कृतित्व आवश्यक नहीं; निसर्ग प्रकृति और मनुष्य की कृतियाँ दोनों में सामान्य रूप से सौन्दर्य की स्थिति है। किन्तु कला का सौन्दर्य मनुष्य की सृष्टि है। **कला मनुष्य की कृति का सौन्दर्य है। इसके विपरीत प्रकृति का सौन्दर्य उसके कृतित्व से स्वतन्त्र है। सौन्दर्य का दर्शन एक ग्रहणात्मक व्यापार है, उसका सृजन एक रचनात्मक क्रिया है।** सृजन में सौन्दर्य की चेतना अधिक सक्रिय होती है। किन्तु इन दोनों स्थितियों में सौन्दर्य का स्वरूप यदि समान है तो उनके भेदों का आधार क्या है? वस्तु-वादियों के अनुसार प्राकृतिक सौन्दर्य वस्तुओं के गुणों पर निर्भर है; मनुष्य उसका निष्क्रिय ग्राहक है। किन्तु सौन्दर्य के सृजनात्मक रूपों में सर्वत्र वस्तुगत गुणों का आधार ढूँढना कठिन है। चित्रकला और संगीत में प्राकृतिक गुणों का कुछ आधार अवश्य है, किन्तु वह इनके सौन्दर्य का सर्वस्व नहीं। काव्य में यह आधार सबसे कम है। भाव का सौन्दर्य प्रकृति का गुण नहीं, चेतना की स्वतन्त्र सृष्टि है। कविता में यह भाव का सौन्दर्य ही प्रधान है। मनुष्य की सहज प्रवृत्तियाँ प्राकृतिक आधार की अन्तिम सीमा है। यद्यपि अधिकांश काव्य और अधिकांश कला इसी सीमा के अन्तर्गत है; फिर भी कला का, विशेषतः काव्य का, मौलिक सौन्दर्य इस सीमा को पार करके

ही अपने स्वरूप में खिलता है। प्राकृतिक प्रवृत्तियों पर भी जब इन व्यापक क्षितिजों के रंजित मेघों की छाया पड़ती है तभी प्रवृत्तियों के जीवन में सौन्दर्य के संस्कार उदित होते हैं।

जहाँ वस्तुवादी कला के सृजनात्मक सौन्दर्य में भी प्रकृति के वस्तुगत आधार खोजते हैं, वहाँ अनुभूतिवादी प्राकृतिक सौन्दर्य में भी कला के सृजनात्मक धर्म का आरोपण करते हैं। क्रोचे के अनुयायी कौलिंगवुड का मत है कि सृजनात्मक कल्पना की दृष्टि से अनुभावन करने पर प्रत्येक वस्तु सुन्दर हो जाती है। यह कल्पना सत्य और असत्य के भेद से ऊपर है।[६०] बाह्यता और यथार्थता का अनुषंग इसमें नहीं रहता। सुन्दर पदार्थ स्वतन्त्र कल्पना की सृष्टि बन जाता है। प्राकृतिक सौन्दर्य की यह व्याख्या हमारे सामान्य अनुभव के साथ संगत नहीं है। हम प्रकृति के पदार्थों को अपनी सृष्टि नहीं मानते, फिर भी उनमें सौन्दर्य का दर्शन होता है। स्वयं कौलिंगवुड ने प्राकृतिक सौन्दर्य की व्याख्या एक दूसरे प्रकार से की है। उनकी दृष्टि में प्रकृति का सौन्दर्य कृति के विपरीत अ-कृति का सौन्दर्य है। अ-कृति होने के कारण ही हमें पर्वत, नदी, आकाश आदि सुन्दर प्रतीत होते हैं।[६१] यह विचारणीय है कि उनकी यह व्याख्या कलात्मक सौन्दर्य की सृजनात्मक व्याख्या के विपरीत है। इस आधार पर कला और प्रकृति के सौन्दर्य को स्वरूपतः भिन्न मानना होगा। किन्तु यदि हम कला और प्रकृति दोनों में सौन्दर्य की भावना करते हैं तो सौन्दर्य की दोनों कल्पनाओं में एक सामान्य लक्षण होना समीचीन है। कलात्मक सौन्दर्य और प्राकृतिक सौन्दर्य की विरोधी व्याख्याओं में क्रोचे के मत की दुर्बलता स्पष्ट हो जाती है। दोनों में ग्रहण और सृजन का भेद तो किसी सीमा तक मान्य है, फिर भी सौन्दर्य के एक सामान्य लक्षण की व्याप्ति आवश्यक है। क्रोचे की अनुभूति अथवा कौलिंगवुड की कल्पना प्राकृतिक सौन्दर्य की समीचीन व्याख्या नहीं है, क्यों कि प्राकृतिक सौन्दर्य में बाह्यता का अनुषंग हमारे अनुभव का साधारण सत्य है। वस्तुवादी मत कला के सृजनात्मक सौन्दर्य की समुचित व्याख्या नहीं करते। अनुभूतिवादी उसे पूर्णतः आत्मगत बना देते हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य न पूर्णतः वस्तुनिष्ठ है और न पूर्णतः हमारी चेतना की आत्मगत सृष्टि है। वह वस्तु के गुण, इन्द्रियों के धर्म और चेतना की क्रिया का संयुक्त फल है। वर्ण, रूप आदि की वैज्ञानिक व्याख्यायें इस सामंजस्य में सौन्दर्य के उदय का समर्थन करती हैं। वस्तुवादी व्याख्या में चेतना की क्रिया के लिए और अनुभूतिवादी व्याख्या में वस्तु की

बाह्यता के लिए स्थान नहीं है। समात्मभाव एक ओर चेतना का भाव है, उसमें ग्रहण और सृजन दोनों की सम्भावनायें हैं; दूसरी ओर बाह्यता और अनेकता से उसकी सहज संगति है। प्रकृति के एकान्त निरीक्षण में हम प्रकृति के साथ ही समात्मभाव उपस्थित करते हैं। अधिकांश काव्य में प्रकृति का मानवीयकरण इसका प्रमाण है। प्रकृति का सौन्दर्य हमें विभोर भी करता है किन्तु साथ ही हम उसके दर्शन में आत्मीयों के साहचर्य और सहयोग के लिए उत्कंठित हो उठते हैं। **प्रकृति दर्शन का यह लोक प्रिय रूप इस मत का समर्थन करता है कि समात्मभाव की स्थिति ही सौन्दर्य का मूल स्रोत है।**

प्रकृति के दर्शन का सौन्दर्य पूर्णत: आन्तरिक सौन्दर्य नहीं कहा जा सकता, क्यों कि उसमें बाह्य प्रकृति का अनुषंग स्पष्टत: रहता है। जो वस्तुएँ सहज रूप में सुन्दर प्रतीत नहीं होती, उनमें सौन्दर्य के अनुभावन में आत्मगत कल्पना का सक्रिय योग अधिक रहता है। इन वस्तुओं में सौन्दर्य की भावना सबके लिए समान रूप में नहीं होगी। किन्तु प्रकृति की अनेक वस्तुएँ सबको ही सुन्दर प्रतीत होती हैं। इनकी सौन्दर्य भावना में चेतना के साथ-साथ वस्तुओं के गुणों का भी योग रहता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वस्तुओं के गुणों का प्रभाव इन्द्रियों पर होता है। इन्द्रियों को जो सम्वेदनाएँ प्रिय लगती हैं उन्हें मन सुन्दर कहता है। प्रकृति के एकाकी दर्शन में सुख और शांति का अनुभव अधिक होता है। एकाकी मनुष्य प्रकृति के निरीक्षण की अपेक्षा प्रकृति में विश्राम अधिक करता है। जो प्रकृति के दर्शन में सौन्दर्य देखता है वह प्राय: प्रकृति के साथ साहचर्य और समात्मभाव का अनुभव करता है। अधिकांश कवि और कलाकार प्रकृति के साथ बंधु-भाव का अनुभव करते हैं। अंग्रेजी का प्रसिद्ध प्रकृति-कवि वर्ड्सवर्थ डैफ़ोडिल के फूलों के साथ नाचता है।[६२] सुमित्रानन्दनपंत वसंत की हरियाली में किसी को क्रीड़ा कौतूहल करते देखते हैं।[६३] उन्हें पेड़ की 'छाया' में सोती हुई दमयन्ती[६४] और ग्रीष्म की गंगा में लेटी हुई तन्वंगी तापस-बाला दिखाई देती है।[६५] चन्द्रमा और कमल में तो कवि प्रेयसी का मुख युगों से देखते आये हैं। **काव्य में प्रकृति का मानवीयकरण यही संकेत करता है कि प्रकृति में साहचर्य और समात्म-भाव के साथ ही कवि सौन्दर्य का अनुभव करता है।** मानवीयकरण के बिना भी साहचर्य और समात्मभाव संभव हैं, किन्तु प्रकृति में सौन्दर्य की भावना साहचर्य और समात्मभाव की स्थिति में ही होती है। **इसके बिना प्रकृति में जिसे हम सुन्दर**

कहते हैं वह केवल संवेदना की प्रियता है। जब दो आत्मीय जन समात्मभाव के साथ प्रकृति का दर्शन करते हैं तो उस प्रियता में सौन्दर्य का उदय होता है। समात्मभाव की चिन्मय स्थिति में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। यह अभिव्यक्ति आकृति की व्यंजना है। यह आकृति प्रकृति के परिमेय गुणों के अतिरिक्त एक अनभिधेय अंतर्भाव है। प्रकृति का अर्थ उसके परिमेय गुणों का यथार्थ है जो प्रियता की संवेदना उत्पन्न करता है। इस अर्थ में आकृति का आधान दर्शक अथवा दर्शकों की चेतना करती है और उस आकृति की चिन्मय अभिव्यक्ति में सौन्दर्य का उदय होता है। एकाकी के प्रकृति के साथ समात्मभाव में भी सौन्दर्य है, किन्तु एक से अधिक दर्शकों के साहचर्य और समात्मभाव में सौन्दर्य की समृद्धि होती है। हम एक दूसरे के सौन्दर्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति में भाग लेकर उसे समृद्ध बनाते हैं।

इस प्रकार विदित होता है कि प्रकृति के अनुकूल उपादानों में भी सौन्दर्य मनुष्य की सृजनात्मक चेतना का विधान है। सौन्दर्य की यह सृष्टि वस्तुओं की बाह्यता, यथार्थता और सगुणता का निराकरण करके कल्पना के आत्मलोक में उनका उन्नयन नहीं है वरन् उनकी बाह्यता, स्वतंत्रता और सगुणता को स्वीकार करते हुए साहचर्य और समात्मभाव की स्थिति में उनकी प्रियता में सौन्दर्य का विधान है। प्रकृति का यह सौन्दर्य न पूर्णतः वस्तुगत है और न एकान्ततः आत्मगत। वस्तुतः यह प्रकृति की वस्तुगत और प्रिय सत्ता में अन्तर्निहित आकृति की समात्मभाव की स्थिति में भावमयी व्यंजना है। प्राकृतिक सौन्दर्य की इस व्याख्या में प्रकृति के अ-कृत होने का प्रसंग नहीं आता जैसा कि कौलिंगवुड की व्याख्या में आता है। वस्तुतः अकृतत्व सौन्दर्य का आवश्यक अंग नहीं है। प्रकृति में जिसे उदात्त कहा जाता है (जैसे पर्वत, समुद्र, आदि) उसमें अकृतत्व अथवा अपने कृतित्व के अभाव का भाव अवश्य रहता है। यह अभाव भेद उत्पन्न करके उदात्त का उद्घाटन करता है। यह उदात्त सुन्दर नहीं है। इसमें भेद और भय है तथा हमारी तुच्छता है। अधिक परिचय और सम्पर्क के बाद जब इस उदात्त के साथ हमारा समात्मभाव स्थापित हो जाता है तो यही सुन्दर बन जाता है। इसी समात्मभाव के आधार पर ब्रजवासियों के लिए कालिन्दी के कूल, कदम्ब के वृक्ष, करील के निकुंज और वृन्दावन की वीथियाँ सुन्दर थे। अंग्रेजी की वह कहावत अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है कि अधिक परिचय से घृणा उत्पन्न होती है। अधिक परिचय घृणा का कारण नहीं

है किन्तु निकटता में उद्घाटित होने वाले भेद इसके कारण हैं। **प्रेम और सौन्दर्य का आधार समात्मभाव है। वह परिचय और घनिष्ठता से ही स्थापित होता है।**

प्राकृतिक सौन्दर्य की यह व्याख्या कलात्मक सौन्दर्य के पूर्णतः अनुरूप है। यद्यपि कलात्मक सौन्दर्य चेतना की स्वतन्त्र सृष्टि है, फिर भी यह सृष्टि निराधार नहीं होती। **प्राकृतिक और सामाजिक जीवन के उपकरणों से ही कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि होती है।** इसमें संदेह नहीं कि प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन में वस्तु-निष्ठता अधिक स्पष्ट होती है तथा चयन का क्षेत्र कम होता है। कलात्मक सौन्दर्य की वस्तुनिष्ठता इतनी स्पष्ट नहीं होती और चयन का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है। बाह्य उपादान की सम्वेदना बाध्यकारी न होने के कारण कला में ग्रहण की अपेक्षा सृजन की संभावना अधिक होती है। **सृजनात्मक वृत्ति की प्रधानता ही प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन से कलात्मक सौन्दर्य की मुख्य भेदक है।** किन्तु ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि ग्रहण प्रकृति के गुणों की संवेदना की प्रियता तक ही सीमित है। उसमें सौन्दर्य का उदय समात्मभाव की स्थिति में आकृति के अन्तर्भाव की व्यंजना के द्वारा ही होता है। **समात्मभाव की स्थिति में आकृति की व्यंजना ही कलात्मक सौन्दर्य का भी मूल है।** इतना अवश्य है कि कला में चेतना आकृति की व्यंजना में अधिक स्वतंत्र और सक्रिय होती है। किन्तु जिस प्रकार प्रकृति में सौन्दर्य का दर्शन पूर्णतः वस्तुनिष्ठ और ग्रहणात्मक नहीं है उसी प्रकार कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि भी पूर्णतः वस्तुगत आधार से रहित केवल आत्मगत सृष्टि नहीं है। बाह्य प्रकृति और जीवन के उपादानों से ही तत्व चयन कर समात्मभाव की स्थिति में जीवन की आकृति की व्यंजना कलात्मक सौन्दर्य को आकार देती है। **कलात्मक सौन्दर्य की यही व्याख्या सामान्य जीवन में सौन्दर्य के प्रयोग, कला की बाह्य अभिव्यक्ति, कला के सहकारी रूपों, लघुतर कलाओं, और कला के उपयोगी तथा व्यापारिक रूपों का समाधान करती है। कला की यह व्याख्या कला के रूप को व्यापक और साधारण मानकर उसके सौन्दर्य का मर्म उद्घाटित करती है।** वह क्रोचे की अनुभूति अथवा कौलिंगवुड की कल्पना के समान भावना की किसी असाधारण स्थिति पर निर्भर नहीं है। समात्मभाव की स्थिति में आकृति की व्यंजना मानवीय जीवन के संबन्धों में उतनी ही व्यापक और साधारण है जितना कि कला का सौन्दर्य है।

प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन और कलात्मक सौन्दर्य के सृजन के अतिरिक्त सौन्दर्य की एक और स्थिति है जिसे हम प्रदर्शन कह सकते हैं। प्रदर्शन कलात्मक सौन्दर्य की बाह्य अभिव्यक्ति है किन्तु इस अभिव्यक्ति में दर्शकों, श्रोताओं आदि की उपस्थिति का भाव रहता है। प्रदर्शन कला की सामाजिक अभिव्यक्ति है। विशेष रूपों में बाह्य अभिव्यक्ति एकांत भी हो सकती है, किन्तु प्रदर्शन के लिए सामाजिक वातावरण अपेक्षित है। कलात्मक सौन्दर्य के सृजन में समात्मभाव काल्पनिक भी हो सकता है। कलाकृति की रचना के समय तो प्राय: वह काल्पनिक होता है। प्राय: कलाकार रचनाएँ एकान्त में करते हैं, यद्यपि यह स्मरणीय है कि वे एकान्त-भाव में रचनायें नहीं करते। व्यावहारिक यथार्थ की दृष्टि से अकेले होते हुए भी वे मन के भाव से अकेले नहीं होते। किन्तु कला के प्रदर्शन की स्थिति में दर्शकों की उपस्थिति काल्पनिक नहीं, वास्तविक होती है। नाटक, संगीत, नृत्य आदि कला के प्रदर्शन के परिचित रूप हैं। चित्रकला आदि की भी प्रदर्शनियाँ होती हैं। कवि सम्मेलनों में कविता का भी प्रदर्शन होता है। प्रदर्शन का अभिप्राय केवल कलात्मक सौन्दर्य का सृजन नहीं है। सृजन के अतिरिक्त उपस्थित जनों के प्रति सौन्दर्य के संप्रेषण का भाव भी प्रदर्शन का मुख्य अंग है। कलात्मक सौन्दर्य का सृजन भी प्रदर्शन के समान बाह्य अभिव्यक्ति है, किन्तु दर्शकों की उपस्थिति की कल्पना उसमें आवश्यक नहीं है। प्रदर्शन में वह उपस्थिति कल्पना नहीं वरन् वास्तविकता है। दूसरी ओर प्रदर्शन में कला का एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न खड़ा होता है। दर्शक सौन्दर्य का अनुभावन किस रूप में करते हैं? यद्यपि प्रदर्शन की स्थिति में सामान्यत: यह समझा जाता है कि कलाकार कला के सृजन में ही तन्मय रहता है। यह तन्मयता सफल प्रदर्शन की वास्तविक स्थिति है किन्तु यह इतनी पूर्ण नहीं होती कि दर्शकों की उपस्थिति की चेतना के लिए उसमें स्थान न हो। और न इस सामाजिक चेतना का कला की सफल सृष्टि से कोई मौलिक विरोध है। स्वयं कलाकार और दर्शक इस बात की साक्षी देते हैं कि सामाजिक उपस्थिति के वातावरण में कला की जैसी अद्भुत सृष्टियाँ देखी गई हैं वैसी अन्यथा देखने में नहीं आती। चित्रकला का तो कुछ रूप ही ऐसा है कि उसका सृजन और प्रदर्शन दोनों एक साथ सम्भव नहीं हो सकते, किन्तु नृत्य, संगीत आदि के साथ सृजन और प्रदर्शन का यौगपद्य अधिक स्वाभाविक है। शिक्षण और सहयोग (तबला) की आवश्यकता के कारण इनके अभ्यास में भी एकान्त नहीं होता और

एक दृष्टि से अभ्यास भी प्रदर्शन ही होता है। विशेष अवसरों और समाहारों के अवसर पर प्रदर्शन की सामाजिक भूमिका विशाल हो जाती है। प्रायः देखा गया है कि इस विशाल भूमिका में कला की ऐसी अद्भुत सृष्टियाँ होती हैं जो कदाचित् ही एकान्त में सम्भव हों।

इससे यही प्रकट होता है कि सामाजिक समात्मभाव कला की **सृष्टि का प्रेरक और उसकी आवश्यक भूमिका है।** इस भूमिका में जीवन की आकृतियों की व्यापक व्यंजना कलात्मक सौन्दर्य का स्वरूप है। यह भ्रम है कि कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि एकान्त, व्यक्तिगत, आन्तरिक और आत्मगत अनुभूति में होती है तथा दूसरों की उपस्थिति कलाकार की तन्मयता को भंग करती है और सौन्दर्य के उत्कर्ष में बाधक होती है। समात्मभाव के द्वारा ही सामाजिक उपस्थिति सौन्दर्य के उत्कर्ष की साधक होती है। लोक-संगीत और लोक-नृत्य की सामूहिक प्रक्रिया में यह समात्मभाव सक्रिय और पूर्ण होता है। अन्य स्थितियों में यह इतना सक्रिय नहीं होता किन्तु आन्तरिक योग और अनुराग के रूप में आत्मिक भाव की दृष्टि से पूर्ण हो सकता है। पूर्ण रूप में समात्मभाव एक आत्मिक भाव ही है। बाह्य क्रिया से उसका विरोध नहीं है और सामान्यतः बाह्य क्रिया उसमें सहायक होती किन्तु आवश्यक नहीं। आन्तरिक समात्मभाव को भी भाव की दृष्टि से सक्रिय कह सकते हैं। इस समात्मभाव की पूर्णता ही कला की श्रेष्ठ सृष्टियों की भूमिका है। जहाँ इस समात्मभाव में अपूर्णता रहती है अर्थात् जहाँ सामाजिक उपस्थिति भेद और विक्षेप का कारण होती है वहां समात्मभाव को खंडित करने के कारण वह कला के श्रेष्ठ सृजन में बाधक होती है। प्रायः इसी दृष्टि से सामाजिक उपस्थिति को कलात्मक सौन्दर्य का बाधक माना जाता है। वस्तुतः समात्मभाव की भूमिका में ही जीवन की आकृतियों की व्यापक व्यंजना के द्वारा ही कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि होती है। नाटक की तो सामाजिक उपस्थिति के बिना कल्पना की ही नहीं जा सकती। एक विशाल सामाजिक भूमिका में ही नाटक के अभिनय का आयोजन होता है। रंगमंच शब्द में अभिनय के मंच की तुलना में रंग (सामाजिक उपस्थिति) को प्राथमिकता दी गई है। यद्यपि रंगमंच शब्द हिन्दी के आधुनिक प्रयोग में अंग्रेजी के स्टेज का समानार्थक हो गया है, किन्तु वस्तुतः वह उसका समानार्थक नहीं। स्टेज का समानार्थक केवल मंच है। रंग का अर्थ दर्शकों की सामाजिक उपस्थिति है। यौगिक होते हुए भी रंगमंच शब्द रूढ़ प्रतीत

होता है। योगरूढ़ तो वह निश्चय रूप से है। इसका कारण भी भारतीय नाट्य शास्त्र में अभिनेताओं के साथ दर्शकों के सहयोग और समात्मभाव की आधारभूत कल्पना है। इस समात्मभाव में विक्षेप अथवा बाधा होने पर अभिनेताओं और दर्शकों दोनों का रस भंग हो जाता है। ऐसी स्थिति में कला का सृजन और प्रदर्शन सफल और श्रेष्ठ नहीं होता। संस्कृत नाटकों की 'नान्दी' नाटक के आरम्भ में ही इस समात्मभाव की स्थापना का सूत्र है। **नाटक में जीवन के कलात्मक सौन्दर्य की सजीव, सक्रिय और साक्षात रूप में सृष्टि होती है।** उसमें समात्मभाव की संभावना अधिक होती है, चाहे वह लोक-संगीत और लोक-नृत्य के समान पूर्ण न हो। इसीलिए नाटक कला का सबसे अधिक लोकप्रिय रूप है। लोकप्रियता की दृष्टि से नृत्य और लोक-संगीत के बाद नाटक की ही गणना होती है। सभी देशों के साहित्य में नाटक अत्यन्त प्राचीन है और नाटककार ही महान् साहित्यकार माने गये हैं।

भारतीय काव्य शास्त्र में कला और काव्य का विवेचन भरत के नाट्य शास्त्र से ही प्रारम्भ होता है। वाल्मीकि की रामायण काव्य कृति की दृष्टि से आदि काव्य हो सकती है किन्तु इसमें संदेह नहीं कि नाटकों की परम्परा वाल्मीकि और भरत दोनों से अधिक प्राचीन है। मध्यकाल में भी नौटंकी, स्वाँग, रास, रामलीला आदि कला के नाटकीय रूप ही अधिक लोकप्रिय रहे हैं। **नाटक के स्वरूप में ही कई पात्रों के समन्वित अभिनय के कारण संगीत अथवा नृत्य के प्रदर्शन की अपेक्षा समात्मभाव अधिक रहता है।** इस समात्मभाव की अधिकता तथा नाटक के सौन्दर्य की सजीवता और सक्रियता के कारण भी दर्शकों के समात्म-भाव की संभावना नाटक में नृत्य अथवा संगीत के प्रदर्शन की अपेक्षा अधिक रहती है। कलाओं के साहित्यिक रूपों में नाटक में ये सम्भावना सबसे अधिक रहने के कारण नाटक साहित्य का अत्यन्त प्राचीन और लोकप्रिय रूप है। भरत के नाट्य शास्त्र से आरम्भ होकर भारतीय काव्य शास्त्र में रस का समस्त विवेचन नाटकीय स्थिति पर ही आश्रित है। कालिदास और प्रसाद प्राचीन संस्कृत और आधुनिक हिन्दी के दो महान कवि हैं, किन्तु दोनों की प्रतिभा नाटकों में ही सर्वोत्कृष्ट रूप में व्यक्त हुई है और नाटकों के कारण ही उनकी प्रतीष्ठा है। अंग्रेजी का महान कवि शेक्सपियर भी नाटककार है। **इतना अवश्य है कि समात्मभाव की पूर्ण स्थिति सामूहिक नृत्य अथवा संगीत में ही होती है, इसीलिए**

शिव-पार्वती का लास्य और श्री कृष्ण तथा गोप-गोपियों का रास कलात्मक सौन्दर्य के सर्वोत्तम रूप हैं, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि साहित्य के समस्त रूपों में नाटक इसके सबसे अधिक निकट है। इस निकटता के कारण ही नर्तन की वाचक नट् धातु से नाटक की उत्पत्ति हुई है। यह शब्द की उत्पत्ति इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन लोक-नृत्यों से ही नाटक का विकास हुआ है।

भारतीय काव्य-शास्त्र में इसका बहुत विवेचन किया गया है कि अभिनेता और दर्शक में किस रूप में कलात्मक सौन्दर्य अथवा रस का उद्भव होता है। रस के मूल आश्रय तो नाटक के मूल पात्र थे। अभिनेता और दर्शक उस रस का अनुभव किस रूप में करते हैं। रस को मनोवैज्ञानिक और व्यक्तिगत मानकर भारतीय आचार्य अनेक कठिनाइयों में पड़ गये। पात्रों के साथ एकात्मभाव में उत्पन्न होने वाले पातक से बचने के लिए साधारणीकरण का सिद्धान्त बना। डा० राकेश गुप्त ने बड़ी विदग्धता के साथ यह प्रमाणित किया है कि नाटक का आनन्द साधारणीकरण पर नहीं वरन् विशेषीकरण पर निर्भर करता है।[६६] साधारणीकरण की कल्पना मुख्यतः दर्शक के सम्बन्ध में ही की गई है किन्तु अभिनेता के पातक का समाधान क्या है? अभिनेता में साधारणीकरण का प्रयोग करने पर नाटक का आधार ही खण्डित हो जायेगा। नाटक का स्वरूप ही पात्रों के रूप और चरित्र की विशेषता पर निर्भर करता है। साधारणीकरण में ये विशेषतायें विलय हो जायेंगी और नाटक का रूप नष्ट हो जायेगा। ग्रीक के विचारकों ने नाटक के सम्बन्ध में अनुकरण का सिद्धान्त उपस्थित किया। नाटक में अनुकरण होता है, यह सत्य है। इस अनुकरण से एकात्मक भाव की स्थापना भी होती है, यदि हम इसका अर्थ व्यक्तित्व का विलय न समझें। **वस्तुतः जीवन और कला की सारी कठिनाइयाँ व्यक्तित्व को एक कठोर इकाई मान लेने से आरम्भ होती हैं।** इस मान्यता में एकात्मता के लिए तनिक भी अवकाश नहीं है। व्यक्तित्वों का एकीकरण एक मनोवैज्ञानिक असंभावना है। अनुकरण की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया अधिक जटिल है। व्यक्तित्वों का कठोर पार्थक्य और पूर्ण एकीकरण इन दोनों ही स्थितियों में अनुकरण सम्भव नहीं हैं। व्यक्तित्वों का सापेक्ष भेद उसमें रहता है। अभिनेता अपने व्यक्तित्व को कभी नहीं भूलता और न वह तथ्य को भूलता है कि मैं अभिनय कर रहा हूँ। दर्शक भी अभिनय को अभिनय ही समझते हैं। **अतः अभिनेता के अनुकरण और दर्शक के एकात्मभाव दोनों को**

समात्मभाव के रूप में समझने से नाटक के सौन्दर्य और रस की व्याख्या अधिक संतोषजनक रूप में हो सकती है। समस्त कठिनाइयों का मूल मनुष्य की चेतना को प्रकृति के नियमों के अनुसार समझने का प्रयत्न है। व्यक्ति की कठोर इकाई की कल्पना इसी प्रयत्न का परिणाम है। प्रकृति में इकाइयाँ कठोर हैं, अतः उनका एकात्मभाव सम्भव नहीं है। सचेतन एकात्मभाव की कल्पना भी हम एक नवीन किन्तु कठोर इकाई की स्थापना के रूप में करते हैं। यह चेतना के क्षेत्र में प्रकृति के नियमों का प्रयोग है। वस्तुतः चेतना एक स्वतन्त्र और व्यापक तत्त्व अथवा वृत्ति है। उसकी इकाई अथवा एकात्मता प्रकृति की भाँति कठोर नहीं है। अन्य वस्तुओं और व्यक्तियों के साथ समात्मभाव में ही उसका स्वरूप साकार और साक्षात् होता है। नाटक के अनुकरण (अभिनय) और दर्शन (प्रेक्षण) में यही समात्मभाव सौन्दर्य और रस का हेतु बनता है। वस्तुतः नाटक अनुकृति होने के साथ-साथ एक कृति भी है। समात्मभाव की भूमिका में कलाकार जीवन की आकूतियों की व्यंजना करते हैं। यह व्यंजना ही सौन्दर्य और रस की सृष्टि है। कुछ विद्वानों का मत है कि कला का दर्शक इस मौलिक सौन्दर्य की आत्मगत सृष्टि करता है। वह स्वयं कलाकार बन जाता है। इसी भाव से वह सौन्दर्य की सृष्टि द्वारा रस लाभ-करता है। इस मत में भी व्यक्तित्व की कठोर कल्पना और उनके एकीकरण की विरोधात्मक भूल है। सत्य यह है कि जिस प्रकार अभिनेता का मूल पात्रों के साथ एकीकरण न सम्भव है और न आवश्यक, उसी प्रकार कलाकार के साथ भी दर्शक अथवा पाठक का एकीकरण न सम्भव है और न आवश्यक है। मनुष्य की चेतना का यही स्वरूप है कि वह अपने प्राकृतिक व्यक्तित्व के आधार में रहते हुए भी अन्य चेतनाओं के साथ समात्मभाव में सौन्दर्य की सृष्टि और उसका अनुभव करती है। चेतना की समृद्धि का यही रूप है। यह समात्मभाव जीवन और कला की सभी स्थितियों और सभी रूपों में होता है। इसीलिए कला की भिन्न-भिन्न स्थितियों और उसके भिन्न-भिन्न रूपों में सौन्दर्य के रूप और रस के अनुभव का प्रकार भिन्न होता है। यह विविधता ही चेतना और कला की समृद्ध विभूति का रहस्य है। जीवन में इस समात्मभाव की स्थिति में आकूति की व्यंजना सौन्दर्य और रस की सृष्टि करती है। अभिनय और दर्शन में इस समात्मभाव की

स्थिति में क्रमशः एक एक विमा और बढ़ जाती है। जीवन और कला में सौन्दर्य का मूल स्वरूप समात्मभाव ही है, किन्तु विभिन्न स्थितियों में उसकी विमाओं के भेद से आकृति की व्यंजना और उसके अनुभावन का प्रकार भिन्न हो जाता है। यही जीवन और कला दोनों में सौन्दर्य के सृजन, अनुभावन, दर्शन, प्रदर्शन आदि में सौन्दर्य और रस के प्रकार में भेद तथा जीवन, कला, सौन्दर्य और रस की सम्पन्नता का रहस्य है।

अध्याय ४८

काव्य और सुन्दरम्

सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् को सामान्यतः मौलिक संस्कृतिक मूल्य माना जाता है। विचारकों ने तीनों के विविक्त स्वरूप के निर्धारण का प्रयत्न किया है। चाहे इन स्वरूपों का निर्धारण कितना ही कठिन हो किन्तु प्रायः इन्हें एक दूसरे से भिन्न माना जाता है। 'सत्यम्' शिवम् और सुन्दरम् से भिन्न है। 'शिवम्' का लक्षण सत्यम् और सुन्दरम् से पृथक है और 'सुन्दरम्' सत्यम् तथा शिवम् से विलक्षण है। **'सत्यम्' हमारी जिज्ञासा का समाधान है।** वह एक तटस्थ और निरपेक्ष तत्व है, जो अपने स्वरूप में ही मूल्यवान है। विज्ञान, तर्कशास्त्र और दर्शन उसी के अनुसन्धान के मार्ग हैं। मानवीय अनुभव के रूप में इस अवगति को सत्यम् का सामान्य लक्षण कह सकते हैं, जो उसके अनेक रूपों में व्याप्त है। **'शिवम्' हमारे आचार का लक्ष्य है।** मानवीय आचार सामाजिक है अतः 'शिवम्' एक सामाजिक मूल्य है। मानवीय आचार और सम्बन्धों में ही उसके स्वरूप की महिमा है। उनसे भिन्न इसके स्वरूप की कल्पना करना भी कठिन है। सामाजिक का अर्थ यह नहीं है कि उसमें व्यक्ति का कोई मूल्य और महत्व नहीं है। व्यक्तियों से ही समाज बनता है। व्यक्तियों के अतिरिक्त समाज के रूप और अस्तित्व की कल्पना करना कठिन है। किन्तु सामाजिक रूप में व्यक्तियों की इकाई अपने सीमित अहंभाव में ही पूर्ण नहीं रहती। व्यापक पारस्परिक सम्बन्धों में व्यक्तित्व एक अधिक सम्पन्न-पूर्णता प्राप्त करता है। सीमित अर्थ में व्यक्तित्व की कल्पना स्वार्थ-मय है। यह स्वार्थ प्रकृति का लक्षण है। मनुष्य के प्राकृतिक धर्मों में क्रियाओं के फल और हित स्वार्थमय हैं। सामाजिक सम्बन्धों के कुछ रूपों में इन स्वार्थों का विनिमय भी होता है। यह विनिमय एक मानसिक व्यापार है। प्राकृतिक धर्मों में विनिमय सम्भव नहीं है। वे पूर्णतः व्यक्तित्व और स्वार्थ में रूढ़ हैं। प्राकृतिक स्वार्थों के इस विनिमय में ही व्यक्तित्व अपनी संकुचित सीमा का अतिक्रमण करता है। विनिमय के मानसिक व्यापार में यह विस्तार स्पष्ट है। मानसिक और आत्मिक उपादानों के विनिमय और व्यवहार में व्यक्तित्व का ऐसा विस्तार होता

है कि वह अपने सीमित रूप में भिन्न प्रतीत होने लगता है। अहंकार का बिन्दु यदि पूर्णत: विलीन नहीं हो जाता तो भी उसका इतने व्यापक क्षितिजों में विस्तार हो जाता है कि उसकी समृद्धि में उसका मूल संकुचित भाव नगण्य-सा लगता है। मानसिक और आत्मिक व्यापारों के क्षेत्र में विनिमय का स्वरूप भी बदल जाता है। इसमें गणित के नियम लागू नहीं होते। प्रदान से हानि नहीं होती वरन् दाता और प्राप्तकर्त्ता दोनों की समृद्धि होती है। सरस्वती के कोष की विचित्रता का यही रहस्य है। पारस्परिकता और प्रदान दोनों ही इस मानवीय सम्बन्ध के रूप हैं। दोनों में भेद करना भी कठिन है। एक सापेक्ष भाव से ही हम इसमें 'स्व' और 'पर' का व्यवहार करते हैं तथा प्रदान और प्राप्ति की कल्पनायें स्थिर करते हैं।

व्यक्तित्व के प्राकृतिक और आत्मिक दो धरातलों को लेकर जीवन के शिवम् की कल्पना दो रूपों में की जाती है। इन्हें हम श्रेय के प्राकृतिक और सांस्कृतिक रूप कह सकते हैं। प्राकृतिक श्रेय को भारतीय दृष्टिकोण से 'प्रेय' कहना अधिक उचित है। संवेदना की प्रियता उसका लक्षण है। वह मनुष्य के शरीर और मन का स्वभाव है। यह प्राकृतिक प्रेय सांस्कृतिक श्रेय का स्वरूपत: विरोधी नहीं है; वह उसकी आवश्यक भूमिका है। किन्तु प्राकृतिक प्रेय जीवन के श्रेय का सर्वस्व नहीं है। भारतीय परम्परा में सांस्कृतिक श्रेय को ही शिवम् का मुख्य रूप माना है, इसलिए पुराणों में शिव के दिव्य रूप की कल्पना की गई है। तंत्रों में शिव को चिरानन्दमय माना गया है तथा उपनिषदों में 'अद्वैतम्' के साथ-साथ 'शिवम्' को ब्रह्म का लक्षण बताया गया है। आत्मा अथवा चेतना का यह क्षेत्र प्रकृति अथवा संवेदना के नियमों से अतीत है। उसमें प्रकृति के स्वार्थ की सीमाएँ भंग हो जाती हैं और अहंकार के पलकों पर विस्तार के क्षितिज खुल जाते हैं; 'स्व' और 'पर' का भेद कठिन हो जाता है; पारस्परिकता और प्रदान की सीमाएँ एक अपूर्व आत्मभाव में विलय होने लगती हैं। **यह आत्मभाव ही सांस्कृतिक शिवम् का मूल स्वरूप है।** वस्तुत: यही पूर्ण सत्य है। इसमें सुन्दरम् का भी समन्वय है। इसलिए पुराणों में शिव का स्वरूप अत्यन्त सुन्दर है। शिव के रूप के सम्बन्ध में जो भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं वे उनके उपकरणों पर आश्रित हैं। कालिदास का 'कुमार सम्भव' उन सब भ्रान्तियों का खंडन करता है। तन्त्रों में भी 'सुन्दरी' शिव की अभिन्न शक्ति है। आत्मभाव के शिवम् के इस रूप में सत्यम् और सुन्दरम् का भी समाहार है। व्यवहार में पारस्परिकता अथवा भाव और आनन्द की पारस्परिक समृद्धि इसका

लक्षण है। **किन्तु 'स्व' और 'पर' की व्यावहारिक सापेक्षता की दृष्टि से हम इसे 'आत्मदान' कह सकते हैं।** कहा जा चुका है कि आत्मा के क्षेत्र में 'दान' हानि नहीं, लाभ है; अतः यह आत्मदान आत्म-लाभ भी है। किन्तु सत्यम् और सुन्दरम् से भेद करने के लिए तथा व्यावहारिक दृष्टि से इसके सबसे महत्वपूर्ण पक्ष को स्पष्ट करने के लिए इसे आत्मदान कहना ही अधिक उचित है। **आत्मा का स्वरूप** चैतन्य है; **अतः अपनी सजग चेतना के द्वारा दूसरे के सचेतन जीवन के निर्माण** और **विकास में हम जितना योग देते हैं उतना ही हमारा जीवन शिवम् की साधना** से पूर्ण है। **सृजन जीवन का सबसे महत्वपूर्ण संस्कृतिक धर्म है। अतः दूसरों के** सृजनात्मक **जीवन में आत्मा के अध्यवसाय का सहयोग शिवम् की श्रेष्ठ साधना है।** पश्चिमी आचार शास्त्र के अनेक सम्प्रदायों में व्यक्तित्व की प्राकृतिक सीमा में ही पूर्ण मानकर संवेदनात्मक सुख को श्रेय का समानार्थक माना है। भारतीय धारणा के अनुसार इस प्राकृतिक श्रेय को प्रेय कहना ही अधिक उचित है। यह प्रेय पूर्णतः स्वार्थमय है। इसकी एक मर्यादामय भूमिका में जिन आत्मीय सम्बन्धों और साधनाओं का विधान किया जाता है उन्हीं को श्रेय कहना अधिक उचित है। वे ही शिवम् के रूप हैं। जिस प्रकार अवगति सत्य के अनेक रूपों का सामान्य लक्षण है, उसी प्रकार आत्मदान शिवम् के अनेक रूपों का सामान्य लक्षण है। **अवगति जिज्ञासा का सन्तोष और आत्मा का प्रसाद है।** इस प्रसाद में भी हम हर्ष आह्लाद अथवा आनन्द का मर्म खोज सकते हैं किन्तु अवगति का शुद्ध रूप एक उदासीन भाव से सत्य का अनुसंधान और उद्घाटन है। **शिवम् के आत्मदान का फल आनन्द है।** यहाँ कार्य-कारण सम्बन्ध की सीमा अतिक्रान्त हो जाती है। अतः आनन्द को आत्मदान का स्वरूप भी कह सकते हैं। दर्शनों में आत्मा का स्वरूप ही आनन्द है। आत्मा पूर्ण और आनन्दमय है। **'आत्मदान' आत्मा के पूर्ण प्रदान द्वारा (हानि के विपरीत) पूर्ण की समृद्धि है।** व्यवहारिक दृष्टि से सर्वथा आनन्द की समृद्धि आत्मदान का फल है।

सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् के विविक्त रूपों की धारणा में **'सत्यम्' का सामान्य स्वरूप अवगति और आत्मा का प्रसाद उसका फल है। 'शिवम्' का स्वरूप आत्मदान है तथा फल आनन्द है।** इस निर्धारण में सुन्दरम् का क्या स्वरूप है ? जिस प्रकार प्राकृतिक तथ्य से लेकर आध्यात्मिक सत्य तक सत्यम् के अनेक रूप हैं तथा जिस प्रकार ऐन्द्रिक प्रेय से लेकर आध्यात्मिक निःश्रेयस तक शिवम् के

अनेक रूपों की कल्पना की गई है उसी प्रकार सुन्दरम् के भी अनेक रूप मानवीय चेतना के इतिहास में प्रसिद्ध हैं। सुन्दरम् का दृश्य रूप सबसे अधिक लोक-विदित है। इसका कारण ऐन्द्रिक संवेदना का सहजभाव और संवेदनाओं के कुछ रूपों की स्वाभाविक प्रियता है। उषा, चन्द्रमा, पुष्प और इन्द्रधनुष को सभी सुन्दर कहते हैं। इन्द्रियों की संवेदना से निर्धारित ये सुन्दरम् के बाह्य और वस्तुगत रूप हैं। रूप और वर्ण इनकी प्रमुख विशेषतायें प्रतीत होती हैं। वर्ण को अधिकांश दार्शनिक पदार्थों का उपगुण मानते हैं। जिसका तात्पर्य यह है कि वह पूर्णतः वस्तुगत नहीं है, वरन् अंशतः संवेदना की क्रिया पर निर्भर है। आधुनिक विज्ञान और मनोविज्ञान वर्ण की इस आत्मगत धारणा का समर्थन करते हैं। रूप भी एक अर्थ में आत्म-सापेक्ष है। फिर भी वर्ण की अपेक्षा उसमें वस्तुगत धर्म अधिक है। इसलिये सौन्दर्य-शास्त्र के कुछ आचार्यों ने वस्तु व्यवस्था के उन आकारों के निर्धारण का प्रयत्न किया है जिनमें सौन्दर्य का सन्निधान प्रायः होता है। जिस प्रकार कुछ वर्ण अथवा वर्ण-योजनायें सामान्यतः सुन्दर प्रतीत होती हैं। उसी प्रकार आकार की कुछ व्यवस्थायें भी स्वभावतः सुन्दर लगती हैं। विद्वानों ने आकार की इन व्यवस्थाओं को सन्तुलन, संगति, लय, समानुपात आदि की योजनाओं के रूप में निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। यह स्मरण रखने योग्य है कि संवेदना की प्रियता के कारण सुन्दरम् के ये वस्तुगत रूप सुख के समानार्थक हैं।

यद्यपि वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह सत्य है कि सामान्यतः हम जिन वस्तुओं को सुन्दर मानते हैं, उनके जिन गुणों में सौन्दर्य का आधान होता है वे पूर्णतः वस्तुगत नहीं होते वरन् बहुत कुछ सीमा तक उनका आधार आत्मगत होता है, फिर भी साधारण व्यवहार में हम उन गुणों को वस्तुओं का गुण मानते हैं। गुणों की इस वस्तुनिष्ठता का आधार हमारी संवेदनाओं का बाह्य विक्षेप है। इसी विक्षेप के कारण जो गुण सौन्दर्य के लक्षण माने जाते हैं वे वस्तुओं में विद्यमान प्रतीत होते हैं। हमारी सम्वेदनाओं में बहुत कुछ समानता है इसलिए वस्तुओं के कुछ सामान्य रूपों में सौन्दर्य के लक्षणों का व्यवहार होता है। 'सुन्दर' पद का प्रयोग विशेषण के रूप में किया जाता है, जिसका अभिप्राय यह है कि सौन्दर्य किसी वस्तु का गुण है। सौन्दर्य का प्रयोग भी एक गुण के रूप में होता है। **वस्तुओं और व्यक्तियों के लिए सुन्दर का प्रयोग सौन्दर्य की वस्तुनिष्ठता का ही संकेत करता है।** नर-नारी एक दूसरे को सुन्दर मानते हैं। यह सौन्दर्य का वस्तुगत और व्यक्तिगत

रूप है जो जीवन में आकर्षण का विषय है। लोग सुन्दर वस्तुओं की कामना करते हैं और उनकी प्राप्ति से अपने को कृतार्थ मानते हैं। पुष्प, चन्द्रमा, उषा, इन्द्रधनुष आदि सबको सुन्दर लगते हैं। इतिहास में सुन्दर स्त्रियों के लिए युद्ध होते रहे हैं। आज भी पश्चिमी देशों में स्त्रियों की सौन्दर्य-प्रतियोगिता होती है, जिसमें सर्व श्रेष्ठ सुन्दरी को 'विश्व सुन्दरी' का पद मिलता है। **यह एक रोचक और विचारणीय स्थिति है कि इस सौन्दर्य प्रतियोगिता में सौन्दर्य का मानदंड व्यक्तिगत नहीं वरन् वस्तुगत होता है।** विश्व-सुन्दरी का निर्णय किसी निर्णायक की व्यक्तिगत रुचि पर निर्भर नहीं है। रोम के म्यूजियम में रखी हुई ग्रीस की प्रेम और सौन्दर्य की देवी वीनस की प्रतिमा के अंग-विन्यास के आधार पर विश्व सुन्दरी की श्रेष्ठता का निर्णय होता है। सौन्दर्य की श्रेणियों के सम्बन्ध में तो मतभेद हो सकता है, किन्तु अधिक और कम सुन्दर वस्तुएँ सभी सुन्दर कोटि में होती हैं और सामान्यतः लोग उनके सौन्दर्य को स्वीकार करते हैं। कुछ वस्तुओं और व्यक्तियों का सौन्दर्य इतना प्रवल होता है कि वे हमें अपना महत्व स्वीकार करने के लिए विवश कर देता है। यह ठीक है कि बिना व्यक्ति के (द्रष्टा के) सुन्दर वस्तुओं के सौन्दर्य का भी ग्रहण और स्वीकरण करने वाला कौन होगा? किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि द्रष्टा उन वस्तुओं के सौन्दर्य का सृजन करता है। व्यक्ति पर निर्भर होते हुए भी सौन्दर्य की विक्षेप बाह्य वस्तुओं और व्यक्तियों में ही होता है। **बाह्यता का अनुषंग और सुन्दर वस्तुओं के सम्बन्ध में सामान्य एकमत्य यही सूचित करता है कि सौन्दर्य द्रष्टा पर निर्भर नहीं वरन् वस्तुगत गुण है।**

यह सामान्य व्यवहार के अनुरूप दृश्य अथवा ऐन्द्रिक सौन्दर्य की स्थिति है। संवेदनाओं की गति बहिर्मुखी है। जैसा कठ उपनिषद् का वचन है 'विधाता ने हमारी इन्द्रियों की गति बहिर्मुखी बनाई है, इसीलिए मनुष्य बाहर की ओर देखता है अन्तरात्मा को नहीं देखता।[४९] इन्द्रियों की बहिर्मुखी वृत्ति के कारण ही सौन्दर्य का विक्षेप बाह्य वस्तुओं में होता है किन्तु साथ ही संवेदना चेतना का ही एक रूप है। सचेतन अनुभूति में ही सौन्दर्य का बोध होता है। यह विचार करना आवश्यक है कि इस सौन्दर्य की अनुभूति का रूप क्या है। यदि सौन्दर्य पूर्णतः एक वस्तुगत गुण है तो सौन्दर्य की अनुभूति का रूप सत्य की अवगति के समान तटस्थ और उदासीन होना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं है। सत्य की अवगति मात्र से हम सन्तुष्ट हो जाते हैं। उसका उद्घाटन मात्र हमारे

सन्तोष के लिए पर्याप्त होता है। इस अवगति की आवृत्ति की भी आवश्यकता हमें सामान्यतः नहीं होती। आवृत्ति का कोई व्यवहारिक प्रयोजन हो सकता है, किन्तु वह सत्य और अवगति के स्वरूप का आवश्यक अंग नहीं है। **सौन्दर्य की कहानी इससे भिन्न है। सौन्दर्य के बोध में अवगति के साथ-साथ अनुराग तथा आकर्षण होता है।** हम सुन्दर वस्तुओं को अपनाना चाहते हैं। इसके विपरीत सत्य के तत्वों के प्रति हमारा ऐसा मोह नहीं होता। हम सत्य की दृष्टि से वस्तुगत सत्ताओं और नियमों पर अधिकार नहीं चाहते। उपयोगिता की बात भिन्न है। किन्तु सुन्दर वस्तुओं के प्रति हमारा अनुराग और आकर्षण अधिकार की भावना से प्रेरित होता है। **सुन्दर के प्रति हमारे इस आकर्षण का रहस्य क्या है?** विश्लेषण करने पर इसमें दो तत्व दिखाई पड़ते हैं। एक तो हमारी ऐन्द्रिक संवेदना का तत्व है और दूसरा अनुभूति का तत्व है। बुद्धि चेतना का निष्पक्ष और उदासीन रूप है। अतः वह सत्य की अवगति मात्र से सन्तुष्ट हो जाती है। किन्तु सम्वेदना रागमयी है। सुखवाद उसके राग का सिद्धान्त है। संवेदना प्रियता की अभिलाषिणी है। अपने प्रिय मार्गों में पुनः पुनः विचरण करने में उसे सुख मिलता है। **सम्वेदना की इसी सुख-भावना के कारण 'सुन्दर' को 'रमणीय' का अभिधान मिला।** सम्वेदना परिचित रूपों में नवीन सौन्दर्य तथा नवीन रूप भी खोजती है। यह नवीनता भी उसके सुख का एक सूत्र है। 'पुनः-पुनः यन्नवता-मुपैतितदेवरूपं रमणीयतायाः' ऐसे ही प्रसंगों में सार्थक होता है। सौन्दर्य-बोध में संवेंदना की इस रमणीशीलता के कारण ही कुछ सम्प्रदायों में सौन्दर्य को सुख का समानार्थक माना है।

सौन्दर्य-बोध का दूसरा तत्व अधिक आत्मगत है। सामान्यतः हम इसे 'अनुभूति' कह सकते हैं। इस अनुभूति में भी सौन्दर्य के प्रति अनुराग और आकर्षण होता है, यद्यपि इस अनुभूति का रूप उतना सुखाभिलाषी और अधिकार-कामी नहीं होता। सौन्दर्य के समग्र बोध में संवेदना को छोड़कर चेतना का जो तत्व शेष रह जाता है, उसे हम 'अनुभूति' कह सकते हैं। प्रायः कुछ अतीन्द्रिय विषयों के सौन्दर्य की भी चर्चा होती है। इनके प्रसंग में हम इस अनुभूति के रूप को संवेदना से प्रथक करके समझ सकते हैं। कल्पना की शक्ति के द्वारा यह अनुभूति मानों अपने विषय में तन्मय हो जाती है। क्रोचे ने अनुभूति के इसी रूप को कला और सौन्दर्य का स्वरूप माना है। विषय के साथ आत्मीयता की भावना

कारण इस अनुभूति में एक आह्लाद का उदय होता है जो इन्द्रियों की सम्वेदना के सुख से भिन्न है। **संवेदना का सुख बाह्य आश्रय पर निर्भर करता है तथा स्वार्थमय है। सौन्दर्य की आन्तरिक अनुभूति का रूप स्वतन्त्र और स्वार्थरहित होता है। सम्वेदना के सुख को हम दूसरों को वितरित नहीं कर सकते। अनुभूति के आह्लाद को हम बाँटना चाहते हैं और बाँट सकते हैं।** वस्तुतः इस वितरण की कल्पना में ही आह्लाद का उदय होता है। हम अकेले भी सम्वेदना का सुख प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु आन्तरिक अनुभूति दूसरों के प्रति व्यक्त होने के लिए आकुल हो उठती है। एक दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि आन्तरिक अनुभूति का सचेतन रूप आन्तरिक अभिव्यक्ति है। क्रोचे ने कलात्मक सौन्दर्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति को एक रूप माना है। उन्होंने बाह्य अभिव्यक्ति को कला में एक गौण स्थान दिया है किन्तु वस्तुतः यह बाह्य अभिव्यक्ति भी आन्तरिक अभिव्यक्ति का ही बाह्य और सामाजिक आकार है। जीवन, कला और साहित्य में इसकी इतनी प्रचुरता है कि इसे गौण कहना अनुचित प्रतीत होता है। **बाह्य अभिव्यक्ति सौन्दर्यानुभूति का कितना आवश्यक अंग है यह इसी से विदित होता है कि विश्व के सभी महान् कलाकारों ने अपनी सौन्दर्यानुभूति को आकार दिया।** कलाकारों की भाँति ही साधारण जन भी अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए आकुल हो उठते हैं। उनकी अनुभूति अपनी विभूति में भाग लेने के लिए दूसरों को आमन्त्रित करती है। सौन्दर्य की अनुभूति के इस वितरण में ही आह्लाद है। वितरण से यह आह्लाद और बढ़ता है। सौन्दर्य की सम्वेदना की तुलना में उसकी अनुभूति के ये लक्षण विशेष महत्वपूर्ण हैं। अनुभूति चेतना का आन्तरिक रूप है। वह व्यक्तिगत प्रतीत होता है। कम से कम व्यक्ति में उसकी केन्द्रीयता स्पष्ट है, यद्यपि इस अनुभूति के क्षितिज व्यक्तित्व की सीमित परिधि को पार करते हुए दिखाई देते हैं। सौन्दर्य की अनुभूति में कल्पना प्रधान है। कल्पना का स्वरूप एकात्मता की स्थापना है। किसी भी रूप और भाव से तन्मय होकर कल्पना अनुभूति में सौन्दर्य का उदय करती है। इस तन्मयता को कुछ विद्वानों ने तादात्म्य अथवा समानुभूति माना है। प्रकृति और मनोविज्ञान दोनों के क्षेत्रों में तादात्म्य असम्भव है। समानुभूति भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अकल्पनीय है। दूसरे की अनुभूति को हम तद्रूप होकर आत्मसात् नहीं कर सकते। एक व्यक्तित्व दूसरे का स्थानापन्न नहीं बन सकता।

कदाचित् व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों ही दृष्टियों से यह अधिक संगत प्रतीत होता है कि अपने व्यक्तित्व में रहते हुए भी हम दूसरी वस्तुओं और दूसरे व्यक्तियों के साथ समात्मभाव का अनुभव करते हैं। सहानुभूति, समानुभूति आदि से भेद करने के लिए हम इसे 'सम्भूति' कह सकते हैं।

ऐन्द्रिक सम्वेदना की प्राकृतिक प्रियता के अर्थ में चाहे सौन्दर्य का बोध अकेले व्यक्ति में भी सम्भव हो, किन्तु चेतना की भावात्मक और सृजनात्मक वृत्ति के रूप में सौन्दर्य का बोध और उसकी अभिव्यक्ति इस समात्मभाव की संभूति के ही रूप में होती है। क्रोचे तथा उनके अनुयायियों ने जिस व्यक्तिगत अनुभूति अथवा उसकी समानार्थक अभिव्यक्ति या कल्पना को कलात्मक सौन्दर्य का स्वरूप माना है, वह सौन्दर्य के बोध और अभिव्यक्ति की वास्तविक स्थिति नहीं है, वरन् एक प्रत्याहार मात्र है। यदि संसार में एक ही व्यक्ति अकेला होता तो यह निश्चित है कि वह कलाकार अथवा कवि न होता। उसमें सौन्दर्य के बोध और अभिव्यक्ति की सम्भावना जाग्रत न होती। बृहदारण्यक उपनिषद् के आरम्भ में प्रजापति के एकाकीपन की विडम्बना इस सत्य को प्रमाणित करती है। एकाकीपन में उन्हें आनन्द न मिला। अतः उन्होंने मिथुन सृष्टि की रचना की[५०] और उसमें प्रवेश करके आनन्द का लाभ किया।[५१] **इस प्रवेश का तात्पर्य चेतना का समात्मभाव ही है** क्योंकि शंकराचार्यजी ने अपने भाष्य में आत्मा के स्थानान्तर, गमन आदि का निषेध किया है। कोई भी एकाकी व्यक्ति प्रजापति के समान अनुभव के द्वारा इस सत्य का साक्षात् कर सकता है। कलाकार को सौन्दर्य का एकान्त अनुभावक मानकर क्रोचे और उनके अनुयायियों ने कलाकार के साथ ही अन्याय नहीं किया वरन् कलात्मक सौन्दर्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में एक अयथार्थ धारणा भी प्रचलित की है। मनुष्यता और एकान्त दो विरोधी प्रत्यय हैं। एरिस्टोटिल ने कहा था कि जो अकेला रह सकता है, वह देवता अथवा राक्षस होगा। **निस्संदेह मनुष्यता का उदय चेतना के समात्मभाव से ही हुआ है, और यह समात्मभाव ही मानवीय संस्कृति, कला आदि का मूल आधार है। यही सौन्दर्य और आनन्द का स्रोत है।**

यह ध्यान रखना चाहिये कि यहाँ एकाकीपन से तात्पर्य बाह्य विविक्तता से नहीं है वरन् आन्तरिक और मानसिक एकान्त से है। यह मानसिक एकान्त मनुष्य को इतना असह्य है कि अकेला होने पर वह अपने आत्मीयों के साथ काल्पनिक साहचर्य से अपने को संतुष्ट करता है। कोई मनुष्य निकट न होने पर वह जड़

पदार्थों से अपना बन्धुत्व स्थापित है। आदिम वासियों में जो प्रकृति का मानवीयकरण मिलता है उसका कारण चाहे भय हो अथवा अलौकिकता की आस्था अथवा और कोई कारण हो, किन्तु इनमें कोई भी कारण काव्य में प्रचुर मात्रा में मिलने वाले प्रकृति के मानवीयकरण की व्याख्या नहीं कर सकता। काव्य की स्थिति में इन कारणों के लिए अवकाश नहीं है। काव्य में प्रकृति के मानवीय-करण का कारण कवि की अथवा कविता के पात्रों की प्रकृति के साथ साहचर्य की कामना है। मेघदूत के प्रवासी यक्ष की भाँति एकाकी होने पर मनुष्य अपने आत्मीयों के साथ काल्पनिक साहचर्य तथा प्राकृतिक पदार्थों के वास्तविक साहचर्य से अपना आश्वासन करता है। कला और काव्य के इतिहास में एकान्त भाव का कोई उदाहरण मिलना कठिन है। जिसे कुछ विद्वान तन्मयता अथवा तादात्म्य कहते हैं, वह कवि की चेतना अथवा भावना की एकांतिक अथवा व्यक्तिगत स्थिति नहीं है। समात्मभाव ही उस स्थिति का वास्तविक रूप है। **प्रकृति के पदार्थों और जीवन के पात्रों के साथ कवियों और कलाकारों का यही समात्मभाव कलात्मक अभिव्यक्ति की प्रेरणा बना है। कल्पना इस समात्मभाव की शक्ति है।** आत्मीय व्यवहारों में हम इसी के द्वारा साहचर्य के आनन्द और सौन्दर्य के बोध का लाभ करते हैं। एकान्त में यह कल्पना और भी प्रवल हो जाती है। मेघदूत का यक्ष इसका उदाहरण है। सम्भवतः कवियों और कलाकारों में यह एकान्त का भाव अधिक होता है। इसीलिए समात्मभाव की कल्पना द्वारा साहचर्य की सृष्टि करने की क्षमता अधिक होती है। काव्य-शास्त्र की परम्परा में कवि को 'प्रजापति' माना गया है। यह नितान्त उपयुक्त ही है। सम्भवतः कवि बच्चन का यह कथन सत्य है कि "नर-नारी से भरे जगत में कवि का हृदय अकेला।" किन्तु इस अकेलेपन में वह जिस एकान्त सृष्टि की रचना करता है वह विश्व के साथ आत्मभाव से परिपूर्ण है। मानसिक भाव से अकेला न होते हुए भी कवि को यह बाह्य एकान्त भी असह्य होता है और इसलिए वह "नीड़ का निर्माण फिर फिर" करता है।

सत्य यह है कि यह समात्मभाव ही कवि, कलाकार तथा सामान्यतः मनुष्य की चेतना की विभूति है। किसी भी स्थिति में वह इससे वंचित होने के लिए तैयार नहीं। यह समात्मभाव तन्मयता और तादात्म्य की एकांतिक और व्यक्तिगत अनुभूति से भिन्न है। कला और काव्य के क्षेत्र में ऐसी अनुभूति केवल एक

प्रत्याहार है। पूर्ण रूप में तो वह केवल समाधि में अल्प-काल के लिए संभव हो सकती है। एकान्त भाव में तो नहीं किन्तु व्यक्तिगत भाव में वह प्रत्यक्ष की उदासीन अवगति में होती है। अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में कलात्मक अनुभूति की एकांतता और व्यक्तिनिष्ठता की असत्यता और भी स्पष्ट हो जाती है। क्रोचे ने अनुभूति और अभिव्यक्ति को एकाकार माना है। स्मरण रखना चाहिये कि यह कलात्मक सौन्दर्य की आन्तरिक अभिव्यक्ति है, उसकी बाह्य अभिव्यक्ति को क्रोचे और उनके अनुयायी केवल एक उपचार मानते हैं। यह निश्चित कहना कठिन है कि क्रोचे की इस आन्तरिक अभिव्यक्ति का रूप क्या है। वस्तुतः क्रोचे की अनुभूति के रूप को भी समझना कठिन है। एकांतिक और व्यक्तिगत भावों में संवहनशीलता अथवा प्रेषणीयता नहीं होती। इस दृष्टि से क्रोचे का कलाकार लाईबनीज़ के वातायन-विहीन चिद् बिन्दुओं के समान है। किन्तु वस्तुतः जीवन का व्यवहार कला, काव्य शास्त्र, विज्ञान, दर्शन आदि सब प्रेषणीयता पर निर्भर हैं। समात्मभाव इसका आधार है। इस समात्मभाव का स्वरूप चेतनामय है। व्यक्तिनिष्ठ अनुभूति, तादात्म्य की समानुभूति आदि से भेद करने के लिए हम इसे संभूति कह सकते हैं। आत्मभाव की संभूति का यही रूप वस्तुतः अभिव्यक्ति के साथ एकाकार है। यह अभिव्यक्ति का वह रूप है जो चेतना में विवृत होने के साथ-साथ बाह्य रूप में भी साकार होता है। कलात्मक सौन्दर्य बोध के साथ बाह्य अभिव्यक्ति की संगति और दोनों की सार्थकता का सूत्र भी यही है। **इस समात्मभाव की संभूति में ही सौन्दर्य का उदय होता है तथा उसकी अभिव्यक्ति होती है।** बाह्य अभिव्यक्ति इसी चिन्मय अभिव्यक्ति का आकार है जो आन्तरिक अभिव्यक्ति के पूर्णतः अनुरूप न होने पर भी केवल उपचार नहीं है। समात्मभाव की संभूति में उदय होने पर ही सौन्दर्य की अनुभूति की अभिव्यक्ति सचेतन और स्पष्ट होती है। मुकुल की पंखुड़ियों की भाँति बाह्य अभिव्यक्ति में इस अनुभूति के अन्तर्भाव और अधिक स्पष्ट होते हैं। सौन्दर्य के चेतनामय तत्व और रूप वस्तुतः इन उभयविध अभिव्यक्तियों की प्रक्रिया में ही स्पष्ट और साकार होते हैं। समात्मभाव की संभूति और इन अभिव्यक्तियों से भिन्न एकान्त और व्यक्तिगतभाव में आन्तरिक अभिव्यक्ति के भी स्पष्ट होने की कल्पना असंगत है। ऐसी स्थिति में सौन्दर्य की अनुभूति की कल्पना भी केवल एक प्रत्याहार है।

अस्तु, हमारी दृष्टि में व्यक्तिगत अनुभूति, अभिव्यक्ति और समानुभूति

की अपेक्षा समात्मभाव की संभूति कलात्मक सौन्दर्य की व्याख्या का अधिक सही सिद्धान्त है। ये सभी सिद्धान्त चेतना में कला और सौन्दर्य का मूल खोजते हैं। इन में चाहे कोई भी सिद्धान्त कलात्मक सौन्दर्य की अधिक सही व्याख्या हो किन्तु ये सभी सिद्धान्त समान रूप से सौन्दर्य का स्वरूप आन्तरिक अथवा आत्मिक मानते हैं। इनके अनुसार सौन्दर्य कोई वस्तुनिष्ठ तत्व अथवा किसी वस्तु का गुण नहीं है वरन् वह चेतना का स्वरूप अथवा लक्षण है। यदि यह भी कहा जाय कि चेतना सौन्दर्य का सृजन करती है तो भी अनुपयुक्त न होगा। सौन्दर्य शास्त्र के आधुनिक विद्वान् कलात्मक चेतना को सृजनात्मक मानते हैं। क्रोचे के अनुसार वह अपने विषयों की रचना करके अपने को अभिव्यक्त करती है।[५२] क्रोचे के अनुयायी कौलिंगवुड ने उसे 'कल्पना' का नाम दिया है, जो इस दृष्टि से अधिक उपयुक्त है कि कल्पना में चेतना की सृजनात्मक शक्ति का स्पष्ट संकेत है। इसके अतिरिक्त क्रोचे की अनुभूति वाह्य विषयों के साथ हमारे व्यवहारिक सम्बन्ध को भी स्पष्ट नहीं करती। किन्तु 'कल्पना' में इस सम्बन्ध का भी स्पष्ट संकेत है। अध्यात्म-दर्शनों की भाषा में क्रोचे की अनुभूति आरोह-क्रम के अनुरूप है, यद्यपि इसमें आरोह के क्रम भी स्पष्ट नहीं है। कौलिंगवुड की कल्पना में आरोह और अवरोह दोनों क्रमों का समन्वय है। वस्तुतः कल्पना में आरोह अन्तर्निहित है और अवरोह स्पष्ट है। अतः वह व्यवहारिक प्रयोग के अधिक अनुरूप है। अन्य विद्वानों ने चेतना के रूपों का प्रयोग व्यवहारिक अर्थों में ही किया है।

लिप्स की समानुभूति चेतना का एक अन्य रूप है जिसमें विषय के साथ तादात्म्य को कलात्मक सौन्दर्य का मूल माना जाता है। लिप्स की समानुभूति और कौलिंगवुड की कल्पना वहुत कुछ समान है। दोनों में इतना अन्तर है कि लिप्स की समानुभूति का रूप मनोवैज्ञानिक है तथा कौलिंगवुड की कल्पना का आधार एकांतिक अध्यात्मवाद है। लिप्स की समानुभूति स्पष्टतः व्यक्तिगत है। क्रोचे की अनुभूति और कौलिंगवुड की कल्पना में व्यक्तित्व का रूप ढूँढना कठिन है। सौन्दर्य के रूपों को हम व्यक्तिगत चेतना की विशेष रचनायें मानें, यही उनमें एक मात्र सम्भावना है। किन्तु जिस एकान्त और कैवल्य में दोनों की चेतना सौन्दर्य की रचना करती है; उसमें उसकी विशेषता और उसके व्यक्तित्व का कोई घटक शेष नहीं रह जाता। बाह्य सृष्टि की अनेकरूपता के साथ संगति में ही इस व्यक्तित्व और विशेषता का रूप सम्पन्न होता है। दोनों की कलात्मक चेतना में इस संगति

का समुचित अन्वय नहीं है। फिर भी चेतना के इन सभी सौन्दर्य-विधायक रूपों में विषयों का प्रसंग है। सौन्दर्य को मुख्यतः आत्मगत मानते हुए भी वे उसे पूर्णतः आत्मगत नहीं मानते। पूर्णतः आत्मगत मानने पर उसकी चर्चा भी असंगत होगी। परिपूर्ण आत्मवाद पूर्ण मौन और पूर्ण अन्धकार में ही संगत हो सकता है, जो प्रकाश और अभिव्यक्ति-शील चेतना के पूर्णतः विपरीत है। किसी भी रूप में केवल वस्तु और विषयों के प्रसंग में ही फलित होने वाले कला-सिद्धान्त लोक-मन के अधिक अनुकूल होते हुए भी कलात्मक सौन्दर्य की समुचित व्याख्या नहीं करते। वस्तुतः ये सिद्धान्त कलात्मक सौन्दर्य के मूल मर्म को ही भूल जाते हैं। सभी सिद्धान्त अपनी विधायक कल्पना में लीन अथवा विषय-जगत् के साथ तादात्म्य में तल्लीन कलाकार की एकान्त स्थिति में ही सीमित हैं। किन्तु सत्य यह है कि ऐसी एकान्त स्थिति में कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि नहीं होती। इसीलिए हम अधिकांश कला और काव्य में देखते हैं कि एकाकीपन से आक्रान्त कलाकार वस्तुओं और विषयों को भी सचेतन व्यक्तित्व से सम्पन्न करके उनके साथ समात्मभाव की स्थापना करता है और इसी समात्मभाव में कलात्मक सौन्दर्य का उदय होता है।

यह समात्मभाव अनुभूति, समानुभूति अथवा कल्पना की भाँति आत्म-सीमित चेतना का अपने विषयों के साथ तादात्म्य नहीं है। यह चेतना के दो बिन्दुओं अथवा दो ध्रुवाओं का परस्पर संवाद है। चेतनाओं का यह संवाद ही समात्मभाव है। यह समात्मभाव विषयों के सामान्य प्रसंग तथा इस प्रसंग के अभाव में दोनों ही प्रकार से सम्भव है। इस प्रकार यह कला और सौन्दर्य की अधिक व्यापक व्याख्या है। कलाकार की आत्म-सीमित चेतना को सौन्दर्यानुभूति का केन्द्र मानने वाली व्याख्यायें या तो विषयों के साथ तादात्म्य में सौन्दर्य का मूल खोजती हैं या क्रोचे और कौलिंगवुड के समान आत्मलीन अनुभूति को ही कला का स्वरूप मानती हैं। **दोनों ही व्याख्यायें सौन्दर्य और कला के सामाजिक रूप का समाधान नहीं करती।** दो या अधिक व्यक्तियों के घनिष्ठ और आत्मीय सम्पर्क के समात्मभाव में, विना किसी विषय के उपादान के, केवल भावों की (मौन अथवा मुखर) अभिव्यक्ति में, जो सौन्दर्य का उद्घाटन होता है उसका समाधान इन व्याख्याओं में कहाँ है ? क्रोचे और कौलिंगवुड की व्याख्यायें मुख्यतः आत्मवादी हैं, किन्तु उनका आत्मवाद तात्विक अध्यात्मवाद की कोटि का है और जीवन अथवा कला के

व्यवहारिक रूप के साथ उसकी संगति नहीं है। विषयों के साथ तादात्म्य और सौन्दर्य का मूल मानने वाले सिद्धान्त चेतनाओं के सजीव और विषय-स्वतन्त्र संवाद की व्याख्या नहीं करते। इस तादात्म्य में हम अपने को विषयाकार बनाने की कल्पना करते हैं। यह तादात्म्य सचेतन व्यक्तियों के साथ भी सम्भव है किन्तु यह उन्हें भी विषय-कोटि में ले आता है। अतः यह चेतनाओं के विषय-स्वतंत्र समात्मभाव के सौन्दर्य की व्याख्या नहीं करता। **सत्य यह है कि हम अपने को विषय रूप मानने के स्थान पर अन्य विषयों में सचेतन व्यक्तित्व का आधान करके उनके साथ समात्मभाव की स्थापना में कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं।** जीवन के आत्मीय सम्बन्धों में यह समात्मभाव सहज और स्वाभाविक है। यह कलात्मक सौन्दर्य की ऐसी व्यापक व्याख्या है जिसकी उदार परिधि कला के समस्त रूपों को अपने अंचल में समेट लेती है। सचेतन व्यक्तित्व के समात्मभाव में किसी विषय-प्रसंग के बिना भी शुद्ध आत्म-संवाद में कलात्मक सौन्दर्य का मर्म उदय होता है।

यही कला का शुद्ध और सामान्य स्वरूप है। यह कला का अशुद्धतम आत्मिक रूप भी है, यद्यपि यह अन्य आत्मिक रूपों की भाँति एकांगी तथा प्रत्याहार-रूप नहीं है। साथ ही क्रोचे की अनुभूति के समान यह कलात्मक सौन्दर्य का ऐसा आरोह-रूप भी नहीं है, जिसके अवरोह क्रम की संगति कठिन हो। एक ओर जहां शुद्ध आत्मिक भावों के संवाद में कलात्मक सौन्दर्य का शुद्ध स्वरूप उदय होता है, वहाँ दूसरी ओर बाह्य विषयों के प्रसंग समात्मभाव में समाहित होकर इस सौन्दर्य को और भी समृद्ध बनाते हैं। यह समृद्धि शुद्ध आत्मिक भावों के संवाद के समात्मभाव की बाह्य विषयों और बाह्य अभिव्यक्तियों के साथ संगति का पूर्ण प्रमाण है। यही समात्मभाव अभिव्यक्ति का वास्तविक स्वरूप है। **इससे आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की अभिव्यक्ति की संगति है।** यह कहना उचित ही होगा कि समात्मभाव के विषय-प्रसंग में 'विषय', तथा बाह्य अभिव्यक्ति के प्रसंग में 'रूप' भी, आत्मभाव से अनुप्राणित हो जाते हैं। कवि और कालाकार के लिए कला के सभी उपकरण और उपादान आत्मीय बन्धु के समान बन जाते हैं और वह उनके साथ भी समात्मभाव का अनुभव करता है। पट्ट, तूलिका, वर्णों आदि के साथ चित्रकार तथा वाद्यों के साथ संगीतकार और शब्दों के साथ कवि जिस सजीव आत्मीय भाव का अनुभव करता है, उसे सहृदय समात्मभाव के द्वारा ही समझा जा सकता है।

यह जीवन और धर्म का वह आदिम सिद्धान्त नहीं है, जिसे समाज-शास्त्री जड़ पदार्थों में जीवत्व का आरोपण कहते हैं। उस आदिम सिद्धान्त का मूल भय और भेद में है, इसके विपरीत कला के समात्मभाव की प्रेरणा प्रेम और आत्मीय भाव में है। **वस्तुतः समात्मभाव, जीवन, संस्कृति और कला का वह व्यापक भाव है जिसमें जीवन के मांगलिक आदर्शों, संस्कृति की आनन्दमयी योजनाओं और कला के सौन्दर्य-विधान का सूत्र एकत्र निहित है। इसमें कला के समस्त रूपों और भेदों के समाधान की सम्भावना है।**

इसका एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पक्ष कलात्मक अनुभूति, तत्व, रूप और माध्यम सबकी संगति की स्थापना है। वस्तुतः कलात्मक अनुभूति का तत्व और अभिव्यक्ति इस समात्मभाव में ही एकाकार होते हैं। यह समात्मभाव एक साथ सौन्दर्य का तत्व और उसकी आन्तरिक अभिव्यक्ति है। बाह्य अभिव्यक्ति के रूपों और माध्यमों में भी यह व्याप्त होता है। इस व्याप्ति के द्वारा सौन्दर्य के सभी धरातलों में एक अपूर्व सामंजस्य स्थापित होता है। इससे क्रोचे के सिद्धान्त में पैदा होने वाली आन्तरिक और बाह्य अभिव्यक्ति की विषमता तो दूर होती ही है, साथ ही कला और काव्य के व्यक्त रूपों का महत्व भी प्रमाणित होता है। वे व्यक्त रूप अभिव्यक्ति के उपचार मात्र नहीं, वरन् उसके वास्तविक आकार हैं। **समात्मभाव के सिद्धान्त में रूप और माध्यम सौन्दर्य के तत्व के बहिर्गत और विरोधी उपकरण नहीं हैं, वरन् उसके अन्तर्गत अंग हैं।** यह समात्मभाव कलाकार के जीवन में इन अंगों और उपकरणों में भी व्याप्त होता है। वस्तुतः यह समात्मभाव ही साकृत और मूर्त्त व्यक्तित्व का वह रूप है जिसमें सौन्दर्य का स्वरूप और कला की कृतार्थता निहित है। इसी में जीवन का अनन्त सत्य, साकार और व्यक्त होता है। इसी में 'श्रेय' सुख और सौन्दर्य का स्रोत बनकर प्रवाहित होता है। इसी में जीवन शोपेनहावर की नियति और उसके निर्मम संकल्प के अत्याचार से मुक्त होता है। स्वतन्त्रता और सौन्दर्य का आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक समन्वय इसी में सम्भव है। **कला और सौन्दर्य की अनेक अशंतः सत्य परिभाषायें इसमें संगति और पूर्णता प्राप्त करती हैं।**

अनुभूति, समानुभूति अथवा समात्मभाव की संभूति में से किसी को भी हम कलात्मक सौन्दर्य का स्वरूप मानें, किन्तु इन सभी मान्यताओं में यह स्पष्ट है कि सौन्दर्य का स्वरूप आत्मगत है। चेतना के क्रिया के रूप में ही सौन्दर्य का

आविर्भाव होता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सौन्दर्य पूर्णतः आत्मगत है और वस्तु-सम्पर्क से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। क्रोचे के कलात्मक सौन्दर्य का स्वरूप सबसे अधिक आत्मगत है, किन्तु वे भी उसमें विषयों का प्रसंग मानते हैं, यद्यपि वे विषय चेतना की आत्मगत और स्वतंत्र सृष्टि हैं। कोलिंगवुड के अनुसार किसी भी विषय के प्रति कल्पनात्मक भाव उसे सुन्दर बना देता है। समात्मभाव की सम्भूति विषयों के विशेष प्रसंग के बिना भी सम्भव है। किन्तु प्रायः वह विषयों और क्रियाओं के अनुषंग में प्रतिफलित होती है। सौन्दर्य की अनुभूति के इन सभी रूपों में विषय का सम्पर्क होने पर भी यह प्रमाणित नहीं होता कि सौन्दर्य एक वस्तु-निष्ठ गुण है। जो सौन्दर्य का मूल चेतना के भाव में मानते हैं उनके अनुसार इस भाव से प्रत्येक वस्तु सुन्दर बन जाती है। इनके अनुसार संसार में कुछ भी असुन्दर नहीं है। जिन्हें असुन्दर कहा जाता है वे ऐसे पदार्थ हैं जिनके प्रति हमारा उदासीन भाव है। वस्तुओं में सौन्दर्य की सत्ता अथवा उसके अभाव का कोई प्रश्न नहीं है, क्योंकि सौन्दर्य वस्तु का गुण नहीं है। चेतना के अनुकूल भाव के प्रकाश में प्रत्येक वस्तु सुन्दर हो जाती है। जिन्हें कुरूप पदार्थ कहा जाता है, वे भी कला के उपादान बनकर सुन्दर लगते हैं। मैथिलीशरणगुप्त ने साकेत में कहा है कि चित्र में अंकित उलूक भी सुन्दर लगता है; यद्यपि उन्होंने इसका जो कारण दिया है वह पूर्णतः सत्य नहीं है। कुरूप और भीषण पदार्थ चित्र में निर्जीव होने के कारण सुन्दर नहीं प्रतीत होते वरन् कलात्मक अभिव्यक्ति से वे सुन्दर बन जाते हैं। गुप्तजी ने कुरुपता और भीषणता को पदार्थों का गुण मान लिया है। वस्तुतः यह पदार्थों के साथ हमारे सम्बन्ध के भाव हैं। जिन्हें हम कुरूप और भीषण मानते हैं, वे यदि क्रोचे और कौलिंगवुड के अनुसार अनुभूति अथवा कल्पना के विषय बन सकें तो वे भी सुन्दर प्रतीत होने लगें। हमारे अनुसार समात्मभाव की संभूति उन्हें भी सुन्दर बना देती है। प्राचीन मुनियों के आश्रम-वासी सिंह आदि भी उनके लिए सुन्दर होंगे। राक्षस आदि भी उन्हें सुन्दर प्रतीत होंगे जिनके साथ उनका समात्मभाव रहा होगा।

चेतना के भाव में ही सौन्दर्य का उदय होने के कारण पश्चिमी सौन्दर्यशास्त्र के आधुनिक विद्वानों में अधिकांश सौन्दर्य के आत्मगत मानते हैं। चेतना की व्यापक अनुभूति बनकर सौन्दर्य विश्व की विभूति बन जाता है। चेतना के भाव से प्रत्येक पदार्थ सुन्दरता के पद को प्राप्त कर सकता है। इसलिए कलाकार की तूलिका और कवि

की कल्पना का पारस स्पर्श पाकर प्रत्येक वस्तु सुन्दर बन जाती है। **सौन्दर्य की यह आत्मगत व्याख्या यदि सही भी हो तो भी पूर्ण नहीं है।** चाहे सौन्दर्य चेतना का भाव ही हो किन्तु वह पूर्णतः व्यक्तिगत भाव नहीं है और न सामान्यतः वस्तुओं के अभाव में उदित होता है। सौन्दर्य चिन्मय भाव है फिर भी हम प्रायः वस्तुओं में उसका विक्षेप करते हैं। सामान्य व्यवहार में हम वस्तुओं और व्यक्तियों को ही सुन्दर कहते हैं। यह सामान्य व्यवहार एक भ्रान्ति नहीं है, चाहे उसमें व्यक्त होने वाले सौन्दर्य की व्याख्या का कोई भी सिद्धान्त सही हो। सत्य यह है **कि सौन्दर्य का चिन्मय भाव भी वस्तुओं और व्यक्तियों के सम्पर्क में ही उदय होता है। अतः सौन्दर्य को केवल आत्मगत मानना उचित नहीं है।** चाहे चेतना का भाव प्रत्येक पदार्थ को सुन्दर बनाने की क्षमता रखता हो, फिर भी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए विषय का आधार आवश्यक है।

अब प्रश्न यह है कि इस विषय के साथ सौन्दर्य के चिन्मय भाव का क्या सम्बन्ध है? क्रोचे सौन्दर्य के विषय को अनुभूति का विषय मानते हैं। उनके मत में विषय की कोई स्वतन्त्र और बाह्य सत्ता नहीं है। कलात्मक चेतना अपनी स्वच्छन्द क्रिया के द्वारा अपने विषयों की सृष्टि करती रहती है।[५३] यह सृष्टि की अभिव्यक्ति है। क्रोचे के अनुसार कला के सौन्दर्य का यही रूप है। यह पूर्णतः आत्मिक और आन्तरिक क्रिया है, जिसका बाह्य विक्षेप क्रोचे की दृष्टि में उपचार मात्र है। कौलिंगवुड का मत भी क्रोचे के ही समान है। अनुभूति के स्थान पर वे कल्पना को सौन्दर्य का स्रोत मानते हैं। कल्पना और अनुभूति में केवल इतना अन्तर है कि कल्पना विषयों के कलात्मक अनुभावन के आरोह-क्रम का संकेत करती है। किन्तु एक ही अध्यात्मवाद से प्रेरित होने के कारण कौलिंगवुड भी अंततः कलात्मक सौन्दर्य के विषय को आत्म-प्रसूत ही मानते हैं। इन सिद्धान्तों में एक ओर से विषयों का प्रसंग मानकर दूसरी ओर से उनकी सत्ता का महत्व छीन लिया जाता है। **यह स्थिति वस्तुतः तात्विक अध्यात्मवाद का परिणाम है। जीवन की जिन यथार्थवादी स्थितियों में सौन्दर्य का उदय होता है उनकी व्याख्यायें सिद्धान्त नहीं करते।** कलाकार की व्यक्तिगत और असाधारण स्थिति इन धारणाओं की केन्द्र और परिधि दोनों है। कलाकार की स्थिति की भी व्याख्या ये सिद्धान्त कहाँ तक करते हैं, यह संदिग्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि कलात्मक अनुभूति और कल्पना की ये स्थितियाँ असाधारण और क्षणिक हैं जिनमें कलाकार बाह्य प्रतीत होने वाले

विषयों की आन्तरिक और आत्मिक सृष्टि करता है। क्रोचे और कौलिंगवुड के अनुसार कला का यही रूप है। किन्तु सामान्य अनुभव और व्यवहार में हम जो सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हैं, वह क्या सर्वथा इसी के अनुरूप होता है? क्या हम उस समय ऐसी ही असाधारण और क्षणिक स्थिति में पहुँच जाते हैं? क्या जीवन की अनेकरूपता और विषयों की बाह्यता के साथ भी सौन्दर्य की भावना सम्भव नहीं है? क्या सामान्यतः हमें इन्हीं के अन्तर्गत सौन्दर्य का साक्षात्कार नहीं होता? क्या अनेकरूपता, यथार्थ और बाह्यता का सौन्दर्य से मौलिक द्वेष है? क्या सौन्दर्य की सृष्टि के लिए क्रोचे की एकान्तिक अनुभूति में लीन हो जाना आवश्यक है अथवा कौलिंगवुड की कल्पना में विषयों का सत्य और असत्य से परे हो जाना आवश्यक है? क्या हमारे लौकिक व्यवहार में चेतना की निरपेक्ष और व्यक्तिगत केन्द्रीयता में ही सौन्दर्य का उदय होता है? क्या जीवन और कला में सौन्दर्य के रूप भिन्न हैं?

यद्यपि क्रोचे कला को चेतना की सबसे आदिम वृत्ति मानते हैं तथा व्यक्ति और समाज के शैशव में उसकी अभिव्यक्ति खोजते हैं किन्तु दूसरी ओर वे यह मानते हैं कि विज्ञान और दर्शन के विश्लेषण और उनकी बहुरूपता में कलात्मक चेतना की तन्मयता भंग हो जाती है। **क्रोचे का सिद्धान्त जगत के यथार्थ और समाज की अनेकता के सम्बन्ध में सौन्दर्य के व्यवहार की व्याख्या नहीं करता।** क्रोचे के सिद्धान्त के अनुसार विषयों की यथार्थता और सामाजिक अनेकरूपता के प्रसंग में सौन्दर्य का व्यवहार उपचार मात्र है। उनके मत में आन्तरिक अनुभूति की बाह्य अभिव्यक्ति जो कलाकृतियों में मूर्त्त होती है, वह भी उपचार ही है। कला और जीवन के समस्त व्यवहार को उपचार और महत्वहीन बना देना संस्कृति के सिद्धान्त की सत्यता में सन्देह उत्पन्न करता है। सत्य यह है कि जीवन और व्यवहार के साधारण रूपों की सन्तोषजनक व्याख्या न करने वाले अध्यात्मवाद मिथ्या हैं। यह सम्भव है कि प्रतीति ही सत्य न हो किन्तु सत्य के साथ हमारी सामान्य प्रतीति की संगति आवश्यक है। **अध्यात्म का वास्तविक सत्य वही है जो इस प्रतीति का आधारभूत और अन्तर्गत तत्व है तथा जो अपनी विभूति से प्रतीतियों को गौरवान्वित करता है।** ऐसी स्थिति में सुन्दरम् का सत्य-स्वरूप वही होगा जो हमारे साधारण व्यवहार और अनुभव के साथ संगत होगा।

कला और सौन्दर्य की अनुभूति इतनी असाधारण और अन्तर्मुखी नहीं है जितनी कि क्रोचे और उनके अनुयायियों को अभीष्ट है; और न जगत के बाह्य यथार्थ तथा समाज की अनेकरूपता का सौन्दर्य से कोई मौलिक द्वेष है। वस्तुतः कला और सौन्दर्य हमारे जीवन की नितान्त असाधारण स्थितियाँ नहीं हैं। वे सभ्यता के सभी युगों और रूपों में सामान्यतः व्याप्त हैं। हमारे साधारण जीवन में एक बड़े परिमाण में कला और सौन्दर्य की भावना अलक्ष्य रूप से ओत-प्रोत है। हमारे दैनिक जीवन में सौन्दर्य का तत्व समा गया है, वही जीवन और श्रम के भार को भी आनन्दमय बनाता है। महान् कला के ही लघु क्षण हमारे दैनिक व्यवहार की वस्तुओं और सम्बन्धों में साकार होते हैं। एक दृष्टि से समस्त विश्व ही दिव्य कला का विलास है। सभ्यता के विकास में वस्तुओं और व्यवहारों के सज्जा और सौन्दर्य में उसी दिव्य कला की किरणें प्रकाशित हुई हैं। चाहे बहिर्मुख आडम्बर के रूप में ही सही, सभ्यता के बाह्य रूपों में भी सौन्दर्य ही साकार हुआ है। इस सौन्दर्य के साक्षात्कार के लिए बाह्य यथार्थ और सामाजिक व्यवहार की अनेकता से उन्मुख होकर आन्तरिक कल्पना में तन्मय होना आवश्यक नहीं है। यह कहना अनुचित न होगा कि वस्तुतः इस अनेकरूपता में ही सौन्दर्य का उदय और उसकी समृद्धि सम्भव है। एकान्तिक और व्यक्तिगत अनुभूति की आत्मलीनता असाधारण और दुर्लभ तो है ही, उसमें वस्तुतः सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है यह भी संदिग्ध है। इस आत्मलीन सौन्दर्य का प्रमाण भी कठिन है। सौन्दर्य की इस असाधारण अनुभूति को प्राप्त करना ही इसका प्रमाण है। किन्तु सौन्दर्य का यह सिद्धान्त हमारे सामान्य व्यवहार और अनुभव की सौन्दर्य सम्बन्धी समस्त धारणाओं को अप्रमाणित करता है। क्रोचे ने संभवतः यह माना है कि हमारे समस्त व्यवहार और अनुभव में सौन्दर्य की यह मूल भावना किसी न किसी अंश में व्याप्त रहती है। किन्तु इन दोनों स्थितियों की संगति कठिन है। आन्तरिक, आत्मलीन और व्यक्तिगत सौन्दर्य की भावना साधारण व्यवहार की बहिर्मुखता और अनेकता में कैसे अन्वित हो सकती है, यह समझना कठिन है। दो स्थितियों की संगति उनके स्वरूप में साम्य होने पर ही हो सकती है। क्रोचे की कलानुभूति और जीवन के व्यवहार की स्थितियों में ऐसा कोई साम्य नहीं दिखाई देता।

यह संगति तभी सम्भव हो सकती है जब कि सौन्दर्य की भावना को विषयों की बाह्यता और व्यवहार की अनेकता में ही अनुस्यूत माना जाय। वस्तुतः इस

बाह्यता और अनेकता में ही सौन्दर्य की भावना प्रसूत होती है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार उपनिषदों के प्रजापति को इस बाह्यता और अनेकता के सृजन में ही सौन्दर्य का आनन्द प्राप्त हुआ था। इस बाह्यता और अनेकता की स्थिति में सौन्दर्य का भाव समात्मभाव की संभूति के रूप में ही उदय हो सकता है। एकान्त की व्यक्तिगत और आत्मलीन अनुभूति के साथ उसकी संगति नहीं है। समात्म-भाव अनेक चेतनाओं का संवाद है। यह चेतना की वह स्थिति है जब चेतना का एक बिन्दु अन्य बिन्दु अथवा बिन्दुओं के अस्तित्व को मान देता है तथा उसकी अथवा उनकी आन्तरिक और बाह्य विभूतियों में आत्मीय भावना से अपना गौरव मानकर हर्ष और समृद्धि का अनुभव करता है। यह समात्मभाव का एक ही पक्ष है। दूसरे पक्ष में चेतना का दूसरा बिन्दु इस मान की कल्पना से विनम्र और विद्रवित होकर करुणा से विभोर हो जाता है तथा अपनी आन्तरिक और बाह्य विभूति को पहिले बिन्दु की महिमा मानकर आनन्द और समृद्धि का अनुभव करता है। भाव के ये दोनों ही पक्ष समात्मभाव में भाग लेने वाले सभी बिन्दुओं में समान रूप से उदित होते हैं, इस भाव में साम्य का यही रहस्य है। एक अलक्ष्य व्यंजना के द्वारा चेतना के बिन्दुओं में परस्पर इन भावों का सम्वाद अथवा संप्रेषण होता है। वस्तुतः इस संप्रेषण में ही समात्मभाव साकार और सजीव होता है। यह समात्मभाव पूर्णतः आन्तरिक संवाद में विभोर चेतनाओं में भी सम्भव है। किन्तु क्रोचे की कलानुभूति की भाँति व्यवहार की अनेकता और विषयों की बाह्यता से खण्डित नहीं होता। व्यवहार की अनेकता में तो यह उदित ही होता है। विषयों की बाह्यता और अनेकता खण्डित करने के स्थान पर इसकी समृद्धि का निमित्त बनती है। वस्तुतः यह समात्मभाव जड़-विषयों को भी चेतना से अनुप्राणित कर आत्मीय भावना से समाहित करता है। एकाकी मन के भावों में विषयों के साथ समात्मभाव अधिक स्पष्ट और तीव्र होता है। अंग्रेजी और हिन्दी के छायावादी कवियों में प्रकृति के साथ समात्मभाव की वृत्ति अधिक व्यापक रूप में मिलती है। भारतवर्ष के प्राचीन जीवन और संस्कृति में पशुओं, वनस्पतियों तथा बाह्य प्रकृति के अन्य उपादानों के साथ समात्मभाव की वृत्ति एक व्यापक रूप में प्रतिष्ठित हुई थी। मानवीय सम्बन्ध और व्यवहार में समात्मभाव की सहज वृत्ति इस प्रतिष्ठा का पीठ थी। **यही कारण है कि भारतीय जीवन और संस्कृति में कला और सौन्दर्य की भावना इतने समृद्ध रूप में व्याप्त है।**

वस्तुतः कला और सौन्दर्य का वही स्वरूप वास्तविक है तथा वही सिद्धान्त समीचीन है जो हमारे जीवन और संस्कृति में व्याप्त कलात्मक सौन्दर्य की भावना के सभी रूपों, धरातलों और अभिव्यक्तियों की संगत और संतोषजनक व्याख्या कर सके। इस दृष्टिकोण से कलाकार की एकान्त और आत्मलीन अनुभूति अथवा कल्पना को कलात्मक सौन्दर्य का मूल स्वरूप मानकर कला और सौन्दर्य की भावना तथा अभिव्यक्ति के उन रूपों की समुचित व्याख्या नहीं की जा सकती जिनमें बाह्यता और अनेकता के प्रसंग उपनिबद्ध हैं। लोक-संगीत, लोक-नृत्य, कुल के सहयोग से सम्पन्न होने वाली उपयोगी कलायें, दैनिक व्यवहार की वस्तुओं में सौन्दर्य का समावेश तथा कलाओं की बाह्य अभिव्यक्ति और उन सबके सौन्दर्य के आस्वादन में सामाजिक तत्व का महत्व आदि ऐसी प्रमुख स्थितियाँ हैं, जिनमें बाह्य और अनेकता का प्रसंग स्पष्ट है। कलात्मक सौन्दर्य की एकान्त और आत्मगत कल्पना के आधार पर इनकी समुचित व्याख्या नहीं हो सकती। क्रोचे के कला सिद्धान्त के अनुसार ये सब उपचार मात्र हैं। किसी भी प्रेक्षक के मन में मूल कल्पना और सौन्दर्य के उद्भावन के ये निमित्त बन सकते हैं। कौलिंगवुड ने यह स्पष्ट किया है कि इन निमित्तों के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति मूल आन्तरिक रूप में ही सौन्दर्य की पुनः सृष्टि करता है। सौन्दर्य की कल्पनाओं और अनुभूतियों में उनकी व्यक्तिगत विशिष्टता और आत्मलीनता के कारण कोई सम्प्रेषण सम्भव नहीं है। मानो प्रत्येक व्यक्ति का एक अपना कला-लोक है जिसमें वह अकेला ही सौन्दर्य की कल्पना और उसका आस्वादन करता है। इस कला-लोक में बाह्यता और अनेकता का किंचित भी प्रसंग नहीं है। कलात्मक सौन्दर्य व्यक्ति की ऐसी अविभाज्य और आत्मिक संपत्ति है जिसमें बाह्य वस्तुओं का कोई योग नहीं है तथा अन्य व्यक्तियों का कोई सहयोग नहीं है। कलाकार और कलाकृतियों के अनुरागी इसी आन्तरिक और आत्मिक रूप में सौन्दर्य की सृष्टि और उसका आस्वादन करते हैं।

यदि कला और सौन्दर्य का यह सिद्धान्त वस्तुतः सत्य हो तो यह आवश्यक नहीं है कि ऊपर बाह्यता और अनेकता के प्रसंग से युक्त जिन कलात्मक स्थितियों का संकेत किया गया है उनके महत्व की रक्षा के लिए इस सिद्धान्त की सत्यता में सन्देह किया जाय अथवा इसके लिए किसी अन्य सिद्धान्त की उद्भावना की जाय। चेतना की जिस स्थिति के रूप में इस सिद्धान्त की स्थापना की गई है उसमें सत्य

और असत्य का प्रसंग अधिक समीचीन नहीं है । सत्य और असत्य का विवेक अथवा निर्णय यदि बाह्यता नहीं तो भेद और अनेकता के प्रसंग से अवश्य अनुबद्ध है । सत्य और असत्य का भेद उसकी एक कोटि है । प्रमाता और सत्य के निर्णयक सिद्धान्त का भेद उसकी दूसरी कोटि है । प्रमाता और सिद्धान्त सदा एक ही नहीं होते । कम से कम उनमें एक अन्तर्गत भेद तो होता ही है । सत्य और असत्य के विवेक तथा निर्णय में सामाजिक अनेकता भेद की दूसरी कोटि है । इस अनेकता में बाह्यता भी विभासित होती है । यदि सत्य में बाह्य यथार्थ को स्थान दिया जाय तो बाह्यता का प्रसंग और भी स्पष्ट है । यह भेद की चौथी कोटि है । इन सब के लिए क्रोचे के सिद्धान्त में कोई स्थान नहीं है । कौलिंगवुड ने स्पष्ट किया है कि कलात्मक कल्पना में सत्य और असत्य के भेद का प्रसंग नहीं होता । व्यक्तिगत और आत्मिक होने के कारण सत्य का निर्णायक कोई सामान्य सिद्धान्त भी नहीं हो सकता । इसी कारण सामाजिक प्रसंग में उसके संप्रेषण, समर्थन और समास्वादन का भी कोई प्रश्न नहीं उठता । **यह कला-लोक लाइबनीज के वातायन-विहीन चिद्बिन्दुओं के आत्मलीन विश्व के समान है ।** इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य की व्यक्तिगत अनुभूति ही एक मात्र प्रमाण हो सकती है । अनुभूति में तर्क अत्यन्त अनुपयुक्त है, किन्तु जीवन और विचार के व्यवहार में वह अनिवार्य है । कला और दर्शन के अनुभूतिवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन और व्याख्यान भी बुद्धि और तर्क की भाषा एवं शैली में हुआ है । अनुभूतिवादियों के विशाल ग्रन्थ विचार और व्यवहार की इस विवशता की विडम्बना है । **'अनुभूति' चेतना का अन्ततम मर्म है । जीवन की समस्त विभूतियाँ अनुभूति के रूप में ही प्रतिफलित होती हैं । कला और सौन्दर्य का भी यही मर्म है ।** यहाँ व्यक्तिगत और आत्मलीन अनुभूति की सीमा का उतना ही उल्लंघन करके जितना कि स्वयं अनुभूतिवादियों ने किया है, उनसे क्षमा मांगते हुए हमें केवल इतना ही विचार करना अभीष्ट है कि क्या वस्तुतः कला और सौन्दर्य की अनुभूति इतनी व्यक्तिगत और आत्मलीन होती है, जितनी क्रोचे और उनके अनुयायी मानते हैं ? क्या बाह्यता और अनेकता इसके लिए पूर्णतः उपेक्षणीय है अथवा यह इसमें बाधक है ? क्या यह सत्य नहीं है कि बाह्यता और अनेकता के प्रसंग ही कलात्मक सौन्दर्य के सृजन और आस्वादन को सम्भव बनाते हैं । क्या इनका कला और सौन्दर्य से कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है ? क्या यह कलात्मक सौन्दर्य के आन्तरिक और विधायक तत्व नहीं हैं ?

इन सब प्रश्नों के उत्तर में हमें मनुष्य के अन्तःकरण की भावना का ही प्रमाण मानना होगा। जीवन, संस्कृति और कला के प्रसंग के तर्क केवल सहकारी के रूप में ग्रहण किये जा सकते हैं। **बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रजापति की भाँति बाह्यता और अनेकता के अनुषंग से पूर्णतः रहित किसी भी मनुष्य अथवा कलाकार की कल्पना करना असंभव है।** वस्तुओं की बाह्यता और उनकी अनेकता से युक्त और सामाजिक अनेकता से रहित एकान्तवासी कलाकार अथवा मनुष्य की कल्पना अवश्य की जा सकती है। जन्म से ही ऐसा एकाकी रहकर कोई कलाकार तो क्या मनुष्य भी नहीं बन सकता। किसी दुर्भाग्य के संयोग से भेड़ियों में पलने वाले बच्चों के उदाहरण इसे प्रमाणित करते हैं। सामाजिक अनेकता के बीच पलने वाले किसी समय भी शरीर से अकेले होकर सम्भवतः मन से एकाकी नहीं रहते। मेघदूत के यक्ष के समान सभी विरही इस कथन के सत्य को प्रमाणित कर सकते हैं। मनुष्यों के अभाव में वे जड़-पदार्थों से आत्म-भाव स्थापित करके अपने एकान्त की शून्यता को खण्डित कर लेते हैं तथा मानसिक कल्पना से अपने आत्मीयों और बन्धुओं के साथ सान्निध्य का लाभकर अपने एकान्त की शून्यता को सम्पन्न बनाते हैं। तर्क और विवाद को छोड़कर कोई भी मनुष्य अल्पकाल के लिए भी अपने को एकाकी बनाकर अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति के द्वारा इस कथन की सत्यता और असत्यता को अपने लिए प्रमाणित कर सकता है। इसके समर्थन में कवि और कलाकारों के जीवन तथा उनकी कृतियों से अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। **वस्तुओं, विषयों, व्यक्तियों, आदि के साथ साहचर्य और समात्मभाव की प्रेरणा समस्त कला और काव्य के मूल्य में मिलती है।** यदि एकान्त और आत्मगत कल्पना में ही कला की पूर्णता है तो ज्ञात नहीं कलाकार और साधारण कलानुरागी जन सभी सामाजिक साहचर्य में कलात्मक सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने के लिए क्यों उत्सुक रहते हैं तथा अधिकांश लोग अपनी अभिव्यक्ति को साकार स्थायी रूप क्यों देते हैं। यह कलावृत्ति के ऊपर सामाजिक वृत्ति का आरोपण नहीं है वरन् कलावृत्ति के वास्तविक स्वरूप का प्रकाशन है। **व्यक्तित्वों की अनेकता में सम्भव होने वाले समात्मभाव में ही कलात्मक सौन्दर्य का बीज अंकुरित होता है।** बालक और बड़े सब अपने कृतित्व के सौन्दर्य में दूसरे का आत्मिक योग चाहते हैं। जहाँ साक्षात् साहचर्य और समात्मभाव की सम्भावना नहीं होती वहाँ दूरगत व्यक्तित्वों तथा दूर और निकट के पदार्थों के साथ काल्पनिक

समात्मभाव की प्रेरणा द्वारा कालिदास और उनके यक्ष की भाँति वह कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि करता है। **यह काल्पनिक समात्मभाव मिथ्या नहीं होता। व्यक्तियों के साथ सान्निध्य होने पर भी वह चेतना की कल्पना शक्ति के द्वारा ही सम्भव होता है।** जहाँ तक चेतना के केवल एक बिन्दु का सम्बन्ध है; काल्पनिक और वास्तविक सान्निध्य से प्रसूत समात्मभाव में ठीक उसी प्रकार कोई अन्तर नहीं है जिस प्रकार वन में विलाप करते हुए 'उत्तर रामचरित' के राम के भाव में सीता के सान्निध्य अथवा अभाव से कोई अन्तर नहीं पड़ता। कल्पना की सीता के साथ आलाप और विलाप में राम का वही भाव उदित होता है जो वास्तविक सीता की उपस्थिति में होता। एक बिन्दु के लिए तो उसमें संवाद और सम्प्रेषण भी प्राप्त हो जाता है। द्वितीय बिन्दु अथवा तृतीय प्रेक्षक की दृष्टि से इन दो बिन्दुओं के बीच वास्तविक सम्प्रेषण और संवाद का अभाव अवश्य होता है। वस्तुतः इन काल्पनिक साहचर्यों में वास्तविक साहचर्य की तीव्र कामना अन्तर्निहित रहती है और वही दोनों का विवेक भी करती है। **साहचर्य की कामना की तीव्रता कलात्मक सौन्दर्य को बड़ा प्रभावशाली बना देती है इसीलिए वियोग में अधिकांश कला और काव्य की प्रेरणा रही है।** क्रौंच मिथुन के वियोग ने आदि कवि की वाणी को आकार दिया। हिन्दी के छायावादी कवि पन्त ने अपने एकाकी जीवन में आदि कवि की करुणा के मर्म का अनुभव किया और वियोग में प्रथम कवि की वाणी का स्रोत पाया। **काल्पनिक साहचर्य्य और समात्मभाव की तीव्रता तथा व्यापकता ही अधिकांश कला और काव्य की प्रेरणा है।**

अस्तु कला और काव्य का उद्‌गम अथवा उसकी परिणति एकान्त और आत्मलीन अनुभूति अथवा कल्पना नहीं है। मूलतः काल्पनिक अथवा वास्तविक साहचर्य तथा समात्मभाव में ही कला का सौन्दर्य उदित और अभिव्यक्त होता है। यह साहचर्य और समात्मभाव वस्तुओं, पशुओं, पक्षियों, मनुष्यों आदि सबके साथ सम्भव हो सकता है। **अतः जहाँ यह मानना नितान्त आवश्यक है कि सौन्दर्य केवल वस्तुओं का गुण नहीं है वरन् मूलतः मानवीय चेतना की अभिव्यक्ति है वहाँ साथ ही यह भी सत्य है कि चेतना की यह अभिव्यक्ति वस्तुओं और व्यक्तियों के सान्निध्य और उनके साथ समात्मभाव के संवाद और सम्प्रेषण में ही सम्भव होती है। समात्मभाव का यह संवाद और सम्प्रेषण सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का आधार अथवा**

अनुषंग मात्र नहीं है, वह सौन्दर्य का आन्तरिक अंग और उसका विधायक तत्व है। समात्मभाव में चेतना की अभिव्यक्ति को मुख्यतः सौन्दर्य का स्वरूप इसलिये कहा जाता है कि वह किसी भी वस्तु, विषय और व्यक्ति को सुन्दर बनाने अथवा उसके सौन्दर्य को व्यक्त करने में समर्थ है। समात्मभाव की चेतना के इस प्रसाद से प्रत्येक वस्तु सुन्दर बन सकती है अथवा यों कह सकते हैं कि प्रत्येक वस्तु में सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने की सम्भावना अन्तर्निहित है। सामान्यतः वस्तुओं के परिवेश के बिना मनुष्य के अस्तित्व की कल्पना सम्भव नहीं है। किन्तु जिस प्रकार क्रोचे के मत में बाह्य वस्तुओं के प्रसंग से रहित आन्तरिक और आत्मलीन व्यक्तिगत चेतना की कल्पना की गई है, उसी प्रकार यदि हम दो या अधिक व्यक्तियों के ऐसे समात्मभाव की कल्पना कर सकें जिसमें कुछ काल के लिए (अधिक काल के लिए तो यह संभव नहीं) बाह्य वस्तुओं का चेतना से तिरोधान सम्भव हो तो चिद् बिन्दुओं के इस शुद्ध समात्मभाव में भी भाव का एक सूक्ष्म सौन्दर्य उदित होगा। शुद्ध समात्मभाव में उदित होने वाला यह सौन्दर्य वस्तुओं की बाह्यता और अनेकता से खण्डित नहीं होगा वरन् इसके विपरीत वस्तु और पदार्थ उस सौन्दर्य के आकार को अधिक स्पष्ट और सम्पन्न बनाने के साधन बनेंगे। निमित्त के अतिरिक्त पदार्थ समात्मभाव के सहयोगी भी बन सकते हैं। कालिदास के काव्य की प्रकृति इस समात्मभाव की सहयोगी है। **यह कालिदास के काव्य के सौन्दर्य का एक प्रमुख रहस्य है।**

मूलतः समात्मभाव ही कला और सौन्दर्य का मर्म है चाहे वह विशेष भाव-स्थितियों में सम्भव शुद्ध समात्मभाव हो अथवा बाह्यता और अनेकता से युक्त सामान्य समात्मभाव हो। शुद्ध समात्मभाव की स्थितियाँ जीवन में अल्प और असाधारण ही होती हैं। कला और सौन्दर्य की भावना उससे कहीं अधिक व्यापक है। **अतः बाह्यता और अनेकता से सम्पन्न समात्मभाव ही कला और सौन्दर्य का अधिक व्यापक और उपयुक्त लक्षण है।** चेतना के समात्मभाव को कलात्मक सौन्दर्य का लक्षण मानकर सौन्दर्य सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं और समस्याओं का भी समुचित समाधान किया जा सकता है। सौन्दर्य सम्बन्धी एक सामान्य धारणा यह है कि कुछ वस्तुओं में हमें सौन्दर्य दिखाई देता है और कुछ वस्तुओं में नहीं। यह विषयों के प्रसंग की बात है, किन्तु सौन्दर्य के व्यवहार का यह एक इतना साधारण तथ्य है कि इसकी व्याख्या अपेक्षित है। कुछ वस्तु-रूपों

में सौन्दर्य विशेषतः प्रस्फुटित होने के कारण सौन्दर्य-शास्त्र के कुछ सम्प्रदायों में सौन्दर्य के वस्तुगत गुणों का अनुसंधान हुआ है। कुछ प्राचीन ग्रीक विचारकों ने तथा कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने इसका प्रयत्न किया है। **यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि समात्मभाव चेतना का एक सक्रिय भाव है।** चेतना के उदासीन और निष्क्रिय रहने पर यह संभव नहीं हो सकता। चेतना की सक्रियता और समृद्धि में ही यह संभव होता है। इस सक्रिय समात्मभाव की परिधि में आकर प्रत्येक वस्तु, भाव, और व्यक्ति सुन्दर बन जाता है। सक्रिय समात्मभाव जितना समृद्ध होगा, सौन्दर्य की भावना भी उतनी ही व्यापक होती है। इसके मन्द संकुचित होने पर सौन्दर्य की भावना का क्षेत्र भी संकीर्ण हो जाता है। इस संकीर्णता की अवस्था में ही समात्मभाव की परिधि से बाहर होकर कुछ सुन्दर वस्तुएं असुन्दर हो जाती हैं। इस असुन्दर में कुरूप और उदासीन दोनों ही सम्मिलित है। उदासीन वे वस्तुऐं हैं जो समात्मभाव की परिधि के बाहर होने के कारण हमारी चेतना को आकर्षित नहीं करतीं, किन्तु साथ ही चेतना को क्षुब्ध नहीं करती। कुरूप वे वस्तुऐं हैं जो चेतना के अधिक संकोच के कारण तथा कुछ अपने ऐन्द्रिक गुणों के कारण चेतना को क्षुब्ध करती हैं। उदासीन और कुरूप की कोई निश्चित सीमा-रेखायें नहीं हैं। चेतना के संकोच और वस्तु के ऐन्द्रिक गुणों के पारस्परिक अनुपात पर ही यह निर्भर है कि कोई वस्तु उदासीन होगी या कुरूप। विभिन्न व्यक्तियों के लिए तथा एक ही व्यक्ति के लिए विभिन्न परिस्थितियों में उदासीन, कुरूप और कुरूप उदासीन हो सकता है। **इसी प्रकार समात्मभाव के विस्तार के द्वारा उदासीन और कुरूप सुन्दर बन सकता है।** उदासीन और कुरूप के विपरीत जो वस्तुएँ बरबस सुन्दर प्रतीत होती हैं, उनमें कुछ उनके ऐन्द्रिक गुणों से उत्पन्न होने वाली अनुकूल-वेदनीयता हमारी संकुचित चेतना को भी उदार और निष्क्रिय चेतना को भी सक्रिय बना देती है। इस प्रकार अपने गुणों के प्रभाव से ये विशेष वस्तुएँ सुन्दर बनती हैं। वस्तुगत गुणों का प्रभाव होने के कारण ही इनका सौन्दर्य सामान्य और सर्वग्राह होता है। इस वस्तुगत सौन्दर्य का प्रभाव इतना है कि कभी चित्त में खिन्न और उदासीन होने पर भी हम उसका प्रतिरोध नहीं कर सकते।

इस वस्तुगत सौन्दर्य में वस्तुओं के गुणों के प्रभाव की सक्रियता हमारे चेतना

की सक्रियता से अधिक होती है। इसीलिए हम उन्हें सुन्दर वस्तु के रूप में ग्रहण करते हैं। समात्मभाव की सक्रियता के द्वारा वस्तुओं और प्रकृति का यही रूप कवि और कलाकार की रचनाओं में सृजन बन जाता है। किन्तु यह सृजन का सौन्दर्य उन विशेष वस्तुओं तक ही सीमित नहीं है, जो ग्रहण में भी सुन्दर होती हैं। **कलाकार का समात्मभाव और उसकी सृजनात्मक शक्ति प्रत्येक वस्तु को सुन्दर बनाने में समर्थ है।** जहाँ इस समात्मभाव में संकोच होता है तथा सृजनात्मक शक्ति मन्द होती है वहीं असुन्दर से भिन्न सुन्दर पदार्थों की प्रतीति होती है। सौन्दर्य शास्त्र में इसी को प्राकृतिक अथवा नैसर्गिक सौन्दर्य कहा जाता है। **कौलिंगवुड ने नैसर्गिक सौन्दर्य का मूल रहस्य यह बताया है कि जिन वस्तुओं की हम स्वयं रचना नहीं करते वे हमें अस्रष्ट प्रतीत होती हैं।**[५४] **यही उनका सौन्दर्य है।** हमारी सृजनात्मक वृत्ति से उनका संश्लेष नहीं होता, यह तो कौलिंगवुड भी मानते हैं। किन्तु यह भावना कि इन्हें किसी ने नहीं बनाया सम्भवतः नैसर्गिक सौन्दर्य का आवश्यक अंग नहीं है। नैसर्गिक सौन्दर्य ग्रहण का सौन्दर्य है और वस्तुओं के विशेष गुणों का फल है। इसी प्रकार सभ्यता के प्राचीन रूप भी अपनी प्राचीनता के कारण नहीं वरन् ऐन्द्रिक गुणों के कारण तथा उनसे कुछ सम्बद्ध सुख की संवेदनाओं के कारण सुन्दर प्रतीत होते हैं। जीवन के रूप होने के कारण उनमें हमारा समात्मभाव भी नैसर्गिक सौन्दर्य की अपेक्षा अधिक जागरूकता के साथ व्याप्त होता है। प्राचीन सभ्यता के रूपों के प्रति इस समात्मभाव के जागरण का कारण सभ्यता के विकसित रूपों से हमारा असंतोष है। इस असंतोष का कारण सभ्यता के विकसित रूपों में समात्मभाव की सम्भावनाओं और अवसरों का मन्द होते जाना है। विकसित सभ्यता में संकुचित और असंतुष्ट समात्मभाव सभ्यता के प्राचीन रूपों में आत्म-प्रकाशन और आत्म-विस्तार का अवसर पाकर उनमें सौन्दर्य की सृष्टि करता है। **सभ्यता के प्राचीन रूपों का सौन्दर्य समात्मभाव का सृजनात्मक सौन्दर्य ही है।** ऐन्द्रिक सम्वेदनाओं के प्रभाव से ग्रहणात्मक सौन्दर्य के उपादान उनमें कम ही होते हैं। नैसर्गिक सौन्दर्य में भी समात्मभाव की सम्वेदना हो सकती है, किन्तु जहाँ किसी भी कारण से वह नहीं होती; वहाँ सौन्दर्य आत्मगत न होकर वस्तुगत और वस्तु के ऐन्द्रिक गुणों के प्रभाव से उत्पन्न होता है। वाह्य गुणों की अनुकूल-वेदनीयता का आकर्षण ही इस सौन्दर्य में अधिक होता है।

अस्तु, सौन्दर्य के अधिकांश रूपों में बाह्य विषय का प्रसंग तथा रूप में तत्व

समन्वित रहता है। किन्तु यह निश्चित है कि हमारा समात्मभाव संकुचित और हमारी सृजनात्मक भावना मंद होने पर ही अनुकूल-वेदनीयता के प्रभाव से वस्तुओं में असुन्दर से भिन्न वस्तुगत सौन्दर्य की प्रतीति होती है। अन्यथा समात्मभाव की सृजनात्मक शक्ति प्रत्येक वस्तु को सुन्दर बनाने में समर्थ है। अल्पकाल के लिए सापेक्ष दृष्टि से और प्रत्याहार के रूप में वस्तुओं के अभाव में भी शक्तियों के शुद्ध समात्मभाव में सौन्दर्य उदित हो सकता है। किन्तु यह जीवन की एक असाधारण स्थिति है, जिसमें शुद्ध भाव के सौन्दर्य और सौन्दर्य के शुद्ध भाव का आभास मिलता है। सामान्यतः वस्तुओं के प्रसंग में ही समात्मभाव और सौन्दर्य दोनों फलित होते हैं। किन्तु यह प्रसंग समात्मभाव और सौन्दर्य के मूलभाव में विक्षेप नहीं बनता वरन् उसे सम्पन्न बनाता है। यही सौन्दर्य का साधारण रूप है, जो व्यवहार में चरितार्थ होता है। इसी मूर्त्त और सजीव रूप में सौन्दर्य हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में प्रतिष्ठित है। सौन्दर्य का यही साधारण रूप कलाओं में भी साकार हुआ है। यद्यपि सौन्दर्य का मूल स्वरूप समात्मभाव ही है तथा बाह्य विषय उसके निमित्त मात्र हैं, फिर भी जीवन, संस्कृति और कलाओं में सामान्यतः समात्मभाव के रूप में अभिव्यक्त होने वाला सौन्दर्य इन निमित्तों के उपादान में ही आकार ग्रहण करता है। चित्रकला और संगीत के शुद्ध रूप-विधान और स्वर-विधान कला की शुद्ध रूपात्मक अभिव्यक्ति के उदाहरण हैं। किन्तु सामान्यतः ये दोनों कलाएँ रूप में तत्व को समाहित करके ही कृतार्थ होती हैं। तत्व के निमित्त में समात्मभाव का सौन्दर्य अधिक सहजता और सजीवता के साथ साकार होता है। प्रजापति की सृष्टि के समान कलाकार की साकार सृष्टि में कला का सौन्दर्य और समृद्ध होता है।

रूप और तत्व का यह समन्वय सभी कलाओं में उपलब्ध होता है किन्तु काव्य में इसका रूप सबसे अधिक पूर्ण और सम्पन्न है। शुद्ध स्वर-योजना अथवा अल्पना के रूप में संगीत और चित्रकला की कल्पना सम्भव है। वस्तुतः कुछ लोग इन रूपात्मक योजनाओं को ही इन कलाओं का शुद्ध रूप मानते हैं। इन रूपों में किसी चिन्मय भाव-तत्व अथवा बाह्य वस्तु-तत्व के संयोग की आवश्यकता नहीं है। **किन्तु काव्य का कोई ऐसा शुद्ध (तत्व-रहित) रूप कल्पनीय नहीं है। काव्य के स्वरूप में ही रूप और तत्व का समन्वय है।** इसीलिए भारतीय काव्य शास्त्र में शब्द और अर्थ के सहित भाव के रूप में काव्य की परिभाषा की गई है। 'शब्द' काव्य का रूप है

ग्रौर 'ग्रर्थ' उसका भाव-तत्व। शब्द ग्रौर ग्रर्थ की इस ग्रभिन्नता की उपमा कालिदास ने ग्रपने रघुवंश के मंगलाचरण में पार्वती ग्रौर परमेश्वर के ग्रभिन्न भाव से दी है। ग्रर्थ का मूल स्वरूप चिन्मय है। चेतना के भाव में ही ग्रर्थ के ग्रनेक रूपों का तात्पर्य है। प्रत्यक्ष ग्रौर कल्पना के बाह्य ग्रर्थ (विषय) भी चेतना के भाव बनकर ही साकार होते हैं। शब्द-दर्शन में शब्द ग्रौर ग्रर्थ की यह ग्रभिन्नता एकता की सीमा पर पहुँच गई है। शब्द को ब्रह्म स्वरूप मानकर शब्द-दर्शन में समस्त ग्रर्थ-जात को उसका (शब्द-ब्रह्म का) विवर्त्त माना है। शब्द-दर्शन में शब्द का मुखर रूप ग्रौर ग्रर्थ (विषय) के बाह्य उपादान दोनों एक चिन्मय भाव में एकाकार हो गये हैं। सुषुप्ति ग्रथवा समाधि, स्वप्न ग्रथवा कल्पना, जागृति ग्रथवा व्यवहार की ग्रवस्थाग्रों में पश्यन्ती, मध्यमा ग्रौर वैखरी वाणियों के भेद चिन्मय शब्द ग्रौर ग्रर्थ के ग्रद्वैत के व्याकरण के सापेक्ष सोपान हैं। शब्द ग्रौर ग्रर्थ के मूल स्वरूप के ग्रनुरूप काव्य का मूल स्वरूप भी चिन्मय भाव है। किन्तु यह चिन्मय भाव क्रोचे की ग्रनुभूति के समान एकान्त ग्रौर ग्रात्मगत भाव नहीं है। वह चिद् विन्दुग्रों के साहचर्य ग्रौर संप्रेषण में फलित होने वाला समात्मभाव है। यह समात्मभाव ही कला ग्रौर काव्य का मूल रूप ग्रौर मूल तत्व है। इसी भाव के प्रकाश में कला की रूपात्मक योजनायें सौन्दर्य की विधायक होती हैं तथा बाह्य विषयों ग्रौर माध्यमों के उपकरणों में साकार होती हैं। **इस समात्मभाव के रूप ग्रौर तत्व की एकात्मता में कलात्मक सौन्दर्य के उदय का सबसे निश्चित प्रमाण काव्य में मिलता है।** संगीत में इस प्रमाण का पूर्वाभास मिलता है। संगीत में शब्द के माध्यम का प्रयोजन भी सम्प्रेषण ही है। किन्तु ग्रर्थहीन शब्द की शुद्ध रूप-योजना को संगीत मानने पर सम्प्रेषण उतना ग्रावश्यक नहीं रहता। काव्य के ग्रर्थ-युक्त शब्द की सार्थकता सम्प्रेषण में ही है। कदाचित् सामाजिक सम्प्रेषण की ग्राकांशाग्रों में ही मनुष्य की सार्थक ग्रौर समृद्ध भाषा का विकास हुग्रा है। सम्प्रेषण मनुष्यों के सामाजिक व्यवहार का सापेक्ष धर्म है। समात्मभाव उसकी चिन्मयी स्थिति है। समात्मभाव की चिन्मयी स्थिति में संप्रेषण का व्यापार सम्पन्न होता है।

समात्मभाव में स्फुट होने वाला कलात्मक सौन्दर्य काव्य में सबसे ग्रधिक समृद्ध रूप में साकार होता है। संगीत तो काव्य का प्राण ही है। संगीत के स्वर के साथ-साथ चित्रकला के रूप-लावण्य, नृत्य की गति ग्रादि का समन्वय भी काव्य में संभव है ग्रौर संभव होकर काव्य के रूप को समृद्ध बनाता है। ग्रन्य कलाग्रों में

शुद्ध रूपात्मक योजना सम्भव भी है, किन्तु अर्थ-तत्व के उपादान के बिना काव्य की कल्पना सम्भव नहीं। अर्थ की व्यापक परिधि में बाह्य वस्तुओं, विषयों, घटनाओं, जीवन की स्थितियों आदि के सभी रूप समाहित हैं। इन्हीं बाह्य उपकरणों की स्थूलता में काव्य का सूक्ष्म भाव-रूप मूर्त्त होता है। यही कारण है कि जहाँ संगीत और चित्रकला शुद्ध रूपात्मक योजनाओं के रूप में भी सम्भव हुई हैं, वहाँ काव्य की रचना बाह्य विषयों, जीवन की स्थितियों और उसके वृत्तों के आधार पर ही हो सकी है। काव्य में जगत् और जीवन के उपकरणों के समाहार की क्षमता सबसे अधिक है। सार्थकता के अतिरिक्त काव्य की यह व्यापकता उसकी समृद्धि का एक प्रधान कारण है। अर्थ के व्यापक उपादान को समाहित करके समात्मभाव का सौन्दर्य काव्य की सृष्टि करता है। एक ओर अर्थ की सम्पन्नता अन्य कलाओं की तुलना में काव्य की विशेषता है। दूसरी ओर अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का समन्वय शब्द की अन्य सार्थक व्यवस्थाओं (विज्ञान, शास्त्र, दर्शन, आदि) से उसका भेद करता है। **इस अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से समन्वित होकर अर्थ 'आकूति' का रूप ग्रहण करता है।** जिस प्रकार समात्मभाव व्यक्तित्वों की केन्द्रित चेतना का पारस्परिक विस्तार है, उसी प्रकार आकूति व्यंजना की अनिश्चित परिधियों में अर्थ का विस्तार है। इस प्रकार समात्मभाव की चिन्मयी स्थिति और आकूति की अर्थमयी व्यंजना में पूर्ण संगति है। जिस प्रकार समात्मभाव में कला और काव्य के रूप एवं तत्व का समन्वय है, उसी प्रकार आकूति में भी काव्य की अर्थमयी व्यंजना के रूप एवं तत्व दोनों का समन्वय है। अन्य कलाओं की शुद्ध रूपात्मक योजनाओं में आकूति का यह विस्तार सम्भव नहीं है। वस्तुतः वे योजनायें विज्ञान और गणित के रूपों की यथार्थ व्यवस्थाएँ हैं। उन्हें वस्तुगत सौन्दर्य का रूप मानना अधिक उचित है, यद्यपि ऐसी स्थिति में इनका सौन्दर्य असुन्दर योजनाओं के भेद पर ही आश्रित हो सकता है। प्रत्येक वस्तु अथवा रूप-योजना को सुन्दर बनाने की क्षमता सौन्दर्य के आन्तरिक और आत्मगत भाव में ही हो सकती है। क्रोचे की अनुभूति ऐसा ही आन्तरिक और आत्मगत भाव है। वह एकान्त और व्यक्तिगत है। समात्मभाव चिद्‌बिंदुओं के साहचर्य और सम्प्रेषण तथा वस्तुओं, विषयों, व्यक्तियों आदि की बाह्यता और अनेकता में सम्पन्न होने वाला चिन्मय भाव है। आकूति की व्यापक व्यंजना का सौन्दर्य इस समात्मभाव में ही फलित होता है। प्रकृति के उपादान और रूप तथा गणित और विज्ञान के प्रत्यय यथार्थ

ग्रौर निश्चित होते हैं। ग्रनिश्चित विस्तार की व्यापकता इनके उद्देश्य की घातक है। चेतना के स्वतंत्र ग्रौर सृजनात्मक भाव में ही यह विस्तार सम्भव है। **ग्रतः ग्राकृति चेतना का ही भाव है। यह समात्मभाव में ही सम्पन्न होता है। चेतना की एकान्त ग्रौर व्यक्तिगत स्थिति में ग्राकृति के विस्तार** का न ग्रवकाश है **ग्रौर न ग्राधार है।** इसीलिए चेतना के व्यक्तिगत उपकरण ग्रथवा ग्रन्य कलाग्रों की शुद्ध रूपात्मक योजनायें भी इस समात्मभाव में समाहित होकर ही सौन्दर्य की विधायक बनती हैं। विज्ञान ग्रौर दर्शन के यथार्थ ग्रर्थ-तत्व तथा शुद्ध कलाग्रों की शुद्ध रूपात्मक योजनाएँ भी समात्मभाव के प्रकाश में सौन्दर्य की ग्राकांक्षा कर सकती हैं। किन्तु उनकी इस ग्राकांक्षा में कला ग्रथवा काव्य का पूर्णतः समन्वित रूप उदय नहीं होता। समात्मभाव में तो रूप ग्रौर तत्व का ग्रात्मगत समाधान है; किन्तु इन ग्रर्थ-तत्वों ग्रौर योजनाग्रों में रूप ग्रौर तत्व का समुचित समन्वय नहीं है। शुद्ध कलाग्रों की योजनाएँ यद्यपि रूपात्मक होती हैं, किन्तु प्राकृतिक माध्यम की नियमित व्यवस्था के ग्रर्थ में इस यथार्थ योजना को तत्व भी कहा जा सकता है। विज्ञान ग्रौर गणित के रूप भी इसी यथार्थता के ग्रर्थ में तत्व हैं। दोनों ग्रर्थ की नियमित कोटि में हैं। उनमें ग्राकृति की व्यापक व्यंजना नहीं है जो कलात्मक सौन्दर्य का रूप है तथा समात्मभाव के चिन्मय तत्व में जिसका ग्रनन्त स्रोत है। समात्मभाव के रूप ग्रौर तत्व के ग्रनुरूप ग्रर्थ-तत्व की व्यंजना काव्य की ग्राकृति में ही सम्भव होती है। **ग्रर्थ के तत्व में समात्मभाव की व्यापक ग्रभिव्यक्ति के रूप का सबसे सम्पन्न समन्वय होने के कारण काव्य कला का सबसे समृद्ध रूप है।**

जब तक शब्द का ग्रर्थ-तत्व ग्रवगति की परिधि में रहता है तब तक वह सत्य के ही ग्रन्तर्गत है। ग्रर्थ रूप में शब्द जिन विषयों, वस्तुग्रों, पदार्थों ग्रादि का ग्रभिधान करते हैं, वे भी सत्य की यथार्थगत कोटि में हैं। कलाग्रों के ग्रन्य रूपों का इस सत्य से कोई सम्बंध हो ग्रथवा न हो किन्तु काव्य से उसका ग्रनिवार्य सम्बंध है। **काव्य केवल रूपात्मक कला नहीं है। सत्य के उपादान के बिना काव्य का निर्माण नहीं हो सकता।** यदि हम काव्य को 'दृष्टि' भी मानें तो भी यह दृष्टि शून्य का स्वपन्न नहीं है। यह दृष्टि चेतना की वह सृजनात्मक क्रिया है जो ग्रतीत ग्रौर वर्तमान के सत्य को ग्रपनी परिधि में समाहित करके जीवन की भावी संभावनाग्रों के दिव्य क्षितिजों का उद्घाटन करती है। काव्य के जो सम्प्रदाय उसकी रूपात्मक रचना

को ही मुख्य मानते रहे हैं, वे भी शब्दों के अर्थ और जीवन के यथार्थ रूप में सत्य के उपादानों को ग्रहण करके ही अपने कल्पना के रूपों को आकार देते रहे हैं। किन्तु जिस प्रकार केवल रूपात्मक योजना काव्य का सर्वस्व नहीं है उसी प्रकार अर्थ अथवा सत्य का तत्व भी केवल अकेला काव्य के रूप का निर्माण नहीं करता। विज्ञान, दर्शन आदि में भी यही तत्व व्यक्त होते हैं। **ऐसी स्थिति में अभिव्यक्ति का रूप ही विज्ञान, दर्शन आदि से काव्य का विभेदक है।** इस अभिव्यक्ति को ही हम सुन्दरम् कह सकते हैं। काव्य की यह अभिव्यक्ति आकृति की व्यापक व्यंजना है। इसे कुछ भारतीय काव्य शास्त्र के आचार्य ध्वनि कहकर काव्य की आत्मा मानते हैं। भारतीय आचार्यों ने रस को ध्वनि का मुख्य लक्ष्य माना है। रस की कल्पना मनोवैज्ञानिक हो जाने के कारण व्यक्तिगत हो गई है। अतः आकृति में सन्निहित समात्मभाव और संप्रेषण के भाव ध्वनि की इस कल्पना में भली भाँति समाहित न हो सके। व्यक्तिगत सम्वेदनाओं में सीमित रस प्राकृतिक सुख और प्रेय की श्रेणी में है। समात्मभाव का रस व्यक्ति में सीमित नहीं वरन् व्यापक और समृद्धि-शील है। इसी रस की व्यंजना में आकृति का विस्तार अथवा ध्वनि का प्रसार सफल होता है। इस रस को हम आनन्द कह सकते हैं, किन्तु यह सौन्दर्य से अभिन्न है। **सौन्दर्य और आनन्द लावण्य और प्रसन्नता की भाँति अभिन्न हैं। इसी प्रकार समात्मभाव और आकृति भी अभिन्न हैं।** समात्मभाव और आकृति की एकता कला और काव्य के मर्म तथा उनकी विशेषता का उद्घाटन करती है। एक ओर जहां कलाओं के लिए विशेषकर काव्य के लिए सत्य का उपादान आवश्यक है, वहाँ दूसरी ओर आकृति ही उस उपादान में कलात्मक सौन्दर्य का आधान करती है। समात्मभाव इस आकृति का आत्मगत रूप है जो किसी भी उपादान तत्व को कलात्मक सौन्दर्य प्रदान करने में समर्थ है। संगीत तथा चित्रकला की केवल रूपात्मक योजनाओं तथा उदासीन उपादान तत्वों में यही सौन्दर्य का संचार करती है। इन रूपों अथवा तत्वों से संयुक्त समात्मभाव, जो स्वयं रूप और तत्व दोनों से समन्वित है, कला की केवल तीन विमाओं का निर्माण करता है। कला के जिन रूपों में रूप और तत्व तथा उपादान और आकृति का समन्वय होता है, उनमें कला की चारों विमाएँ पूर्ण होती हैं। यही कला का पूर्ण और समृद्ध रूप है। इसी समृद्ध रूप में सभी कलाओं की परम्परा वर्धित हुई है। काव्य में इस समन्वय और समृद्धि की सम्भावना सबसे अधिक है। शब्द की अद्भुद शक्ति में

तत्व और व्यंजना के साथ-साथ समात्मभाव की स्थापना की क्षमता भी अन्य माध्यमों की अपेक्षा अधिक है। समात्मभाव चेतनाओं का सामंजस्य है। शब्द में भी आकृति का आधान चिद् रूप में ही है। **अतः काव्य के रूप में कला की चारों विभाओं का सामंजस्य अनन्य एवं अपूर्व रूप में होता है। काव्य की महिमा का यह एक अत्यन्त निगूढ़ रहस्य है।** काव्य की इस महिमा का मर्म शब्द के माध्यम की सूक्ष्मता और उसकी सामर्थ्य में है। इस सूक्ष्मता के कारण ही शब्द के स्वरूप में रूप और तत्व का सर्वाधिक समन्वय है। अन्य कलाओं में ऐन्द्रिक संवेदना की प्रधानता के कारण यह समन्वय भी इतना परिपूर्ण नहीं है तथा समात्मभाव के साथ इतना घनिष्ठ समन्वय भी उनमें संभव नहीं है। जिस प्रकार मनुष्य की देह में आत्मा का चैतन्य और सौन्दर्य एक विलक्षण भाव में साकार होता है, उसी प्रकार शब्दों की देह में कला की आत्मा (समात्मभाव) का सौन्दर्य एक विलक्षण रूप में साकार होता है।

गद्य, विज्ञान, शास्त्र आदि के ऋजु अभिधान से भेद करने के लिए आकृति की व्यंजना को वक्रोक्ति कहा जा सकता है। किन्तु इस उक्ति की वक्रता को वैचित्र्य अथवा चमत्कार के समानार्थक मानना काव्य की रूपात्मक योजना को तत्व की अपेक्षा अधिक महत्त्व देना है। यह सत्य है कि काव्य का विशेषक आकृति ही है किन्तु आकृति के रूप में तत्व का पूर्ण समन्वय ही देह और आत्मा के समन्वय की भाँति काव्य में परिपूर्ण सौन्दर्य का प्रकाश करता है। वक्रोक्ति की वक्रता और उसके चमत्कार को अधिक महत्व देना इस समन्वय के सन्तुलन को भंग कर देता है। काव्य तथा अन्य कलाओं में भी व्यंजना की वक्रोक्ति का आदर्श प्रकाश-किरणों की ऋजु गति में अन्वित सूक्ष्म और अलक्ष्य वक्रता है। जिस प्रकार प्रकाश-किरणों की ऋजु गति में अन्वित सूक्ष्म वक्रता बाह्य सौन्दर्य के रूपों को अपनी पारदर्शिता के द्वारा प्रकाशित करती है, उसी प्रकार शब्दों के अभिधान की प्रसन्न ऋजु गति में अन्वित आकृति की अलक्ष्य व्यंजना काव्य के सौन्दर्य को आलोकित करती है। तुलसीकृत रामायण और कामायनी की भांति जिन काव्यों में रूप और तत्व, अर्थ और आकृति का परिपूर्ण समन्वय है, वे साहित्य की स्थायी और अनमोल निधियाँ हैं। मैथिलीशरण के काव्य की भाँति जिनमें आकृति की अल्पता है उनमें सौन्दर्य का आधान कम हो सका है। निराला के काव्य की भांति जिन काव्यों का तत्व और आकृति दोनों ही दुरूह हैं, उनमें सौन्दर्य का सहज स्फोट नहीं हो सका है। पंत के काव्य

की भाँति जहाँ अत्यन्त सचेतनता और सतर्कता से रूप और तत्व, अर्थ और आकृति का सूक्ष्म समन्वय हुआ है वहाँ भी काव्य का सौन्दर्य अधिक प्रसाधन से संजित आधुनिक युवती के सौन्दर्य की भाँति कृत्रिम हो गया है। उसमें वह स्वाभाविक सौन्दर्य नहीं है जो सहज और अनायास भाव से सम्पन्न समन्वय में सम्भव होता है। आधुनिक कवियों में प्रसाद के काव्य में यह समन्वय सबसे अधिक सहज भाव में सम्पन्न हुआ है। **अर्थ के आधान और व्यंजना की सहजता के साथ-साथ उनके काव्य में आकृति का विस्तार भी अधिक है। प्रसाद के काव्य की महिमा का यही रहस्य है। संस्कृत काव्य में कालिदास की कृतियों में यह समन्वय सबसे अधिक है। इसीलिए कालिदास संस्कृत के सबसे अधिक प्रिय और प्रसिद्ध कवि हैं।** विद्वानों की परम्परा में भारवि, श्रीहर्ष और माघ के अर्थ-गौरव को बहुत महत्व दिया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि इनके काव्य में अर्थ का आधान अधिक है तथा आकृति का विस्तार भी बहुत है। किन्तु निराला और केशव के काव्य की भाँति आकृति की यह व्यंजना दुरूह हो गई है। उसमें रूप और तत्व का सहज और स्वच्छ समन्वय नहीं हो सका है। व्यंजना का आयास अथवा आकृति की दुरूहता और तत्व में विच्छेद उत्पन्न करके उनके समन्वय को अपूर्ण रखती है। कालिदास में भी विशेषत: रघुवंश और कुमार सम्भव में अलंकार के आधिक्य ने काव्य के रूप और तत्व के इस समन्वय को असंतुलित बनाने का प्रयत्न किया है। **किन्तु उनके नाटकों में विशेषतः शाकुन्तल में यह समन्वय परिपूर्ण और स्वाभाविक है। इसीलिए शाकुन्तल काव्य का अनुपम रत्न है।** गेटे के शब्दों में शाकुन्तल वसन्त की सुषमा और स्वर्ग के सौन्दर्य का एकत्र सन्निधान है। काव्य के विशाल आकार में यह समन्वय सहज और पूर्ण रूप में वाल्मीकि के 'रामायण' और तुलसी के 'रामचरितमानस' में ही मिलता है। साहित्य के इतिहास में दोनों की महिमा का यही मर्म है। अंग्रेजी काव्य में इस समन्वय का सर्वोत्तम उदाहरण शेक्सपीयर की रचनाओं में मिलता है। स्वतन्त्रता के बाद के आधुनिक हिन्दी काव्य की दिशा जहाँ प्रगति-वाद, प्रयोग-वाद आदि काव्य के अनेक एकांगी रूपों की ओर है वहाँ कुछ अंशों में इस समन्वय का रूप भी निखर रहा है। पत्र, पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली स्फुट कविताओं में प्राय: यह समन्वय देखने को मिलता है। अर्थ और आकृति का परिमाण अल्प होते हुए भी अनेक कविताओं में न आकृति की दुरूहता है और न वक्रता की अधिकता तथा व्यंजना का आयास है। यह ठीक है कि

वाल्मीकि रामायण की भाँति विशाल आकार में रूप और तत्व का समन्वय आधुनिक काव्य में सुलभ नहीं है, किन्तु यह आशा की जा सकती है कि काव्य के समन्वित सौन्दर्य के ये आलोकमय दीपक ही अपनी साधना से हिन्दी काव्य के नवयुग के नव-प्रभात में किसी विशाल काव्य के प्रचुर-तत्व सूर्य का स्वागत करेंगे जो काव्य की नवीन सृष्टियों की अनन्त प्रेरणा रहेगा।

अध्याय ४९

काव्य और कला

सत्यं शिवं और सुन्दरम् की त्रिपुटी में सुन्दरम् का कला और काव्य के साथ अधिक घनिष्ठ और सीधा सम्बन्ध है। सत्यं कला और काव्य का उपादान है। किन्तु इनका स्वरूप उपादान पर निर्भर नहीं है। उपादान की दृष्टि से काव्य के जो भेद किये जाते हैं वे व्यावहारिक हैं तथा उनके भेदक सिद्धान्त कला के क्षेत्र से बाहर हैं। सत्य के अनेक रूपों में से किसी को भी उपादान बनाकर काव्य की रचना हो सकती है। **इससे स्पष्ट है कि काव्य का सामान्य स्वरूप उपादान पर निर्भर नहीं है। इसी प्रकार शिवम् काव्य का प्रयोजन हो सकता है किन्तु वह काव्य के स्वरूप का विधायक नहीं है।** सत्य के समान शिवम् के अनेक रूपों में से किसी को भी काव्य का लक्ष्य बनाया जा सकता है। प्रायः इन सभी रूपों को लक्ष्य बनाकर काव्य की रचनाएँ हुई हैं। रीति काल के रीति और शृंगार से लेकर भक्ति, वैराग्य और मोक्ष तक सभी को लक्ष्य बनाकर रची हुई कविताएँ संस्कृत तथा हिन्दी के साहित्य में मिलती हैं। इससे यही विदित होता है कि काव्य का स्वरूप सत्यम् और शिवम् से निरपेक्ष है।

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि सत्यम् के आधार अथवा शिवम् के लक्ष्य का कविता से कोई सम्बन्ध नहीं है। **कविता जीवन की वाणी है, अतः जीवन के तत्वों से ही उसके रूप का विधान होता है।** अभिप्राय केवल इतना ही है कि सत्यम् और शिवम् के किसी विशेष रूप से कविता का कोई विशेष अनुराग नहीं है। किसी भी रूप को लेकर कविता साकार हो सकती है। सत्यम् और शिवम् का कविता के साथ समवायी सम्बन्ध नहीं है। कविता की अपेक्षा उसके बाहर सत्यम् और शिवम् का विवेचन अधिक मिलता है। दर्शन-शास्त्रों में तथा तर्क और विज्ञानों में सत्य के निरूपण का विपुल प्रयास उपलब्ध होता है। धर्म-शास्त्रों और नीति-ग्रन्थों में शिवम् का प्रतिपादन मिलता है। प्रायः सत्यम् और शिवम् के ये स्वतंत्र निरूपण गद्य में हैं। किन्तु संस्कृत साहित्य की भाँति जहाँ ये पद्य में मिलते हैं वहाँ भी इनके पद्यात्मक रूप में कोई कवित्व का सन्देह नहीं करता। 'पद्य' गद्य का ही छन्दोबद्ध

रूप है। संगीत की लय के कारण उसमें जहाँ कहीं भी कुछ सौन्दर्य का आभास आगया है उसे कविता कहना कठिन है। यह केवल शब्दों के नाद का सौन्दर्य है जो किसी सीमा तक संगीत के अन्तर्गत आ सकता है, किन्तु यह कविता की कोटि में नहीं है। **'कविता' शब्द और स्वर के माध्यम से अर्थ और भाव की अभिव्यक्ति है।** इस अभिव्यक्ति में ही कविता का स्वरूप और सौन्दर्य है। यह अभिव्यक्ति कला के सामान्य सौन्दर्य का लक्षण है। कविता में वह सौन्दर्य शब्द और स्वर के माध्यम से अर्थ और भाव में अन्वित हो जाता है। अर्थ और भाव का क्षेत्र जीवन के समान ही व्यापक है। अतः इनका कोई भी रूप कविता का विधायक बन सकता है।

इतना अवश्य है कि अर्थ और भाव के तत्व के बिना जहाँ केवल स्वरों और वर्णों के संयोजन से संगीत और चित्रकला की रचना हो सकती है वहाँ अर्थ और भाव के बिना कविता की सृष्टि नहीं हो सकती। कला का सौन्दर्य भी पूर्णतः तत्व से निरपेक्ष नहीं है। किसी न किसी तत्व के माध्यम में ही वह साकार होता है, फिर भी कला का स्वरूप रूप-प्रधान ही है। **रूप की अभिव्यक्ति ही कला का सौन्दर्य है।** संगीत में तो स्वर के अतिरिक्त अन्य किसी भौतिक उपादान की भी अपेक्षा नहीं है। नृत्य-कला में स्वर के स्थान पर अंगों की गति उपादान अथवा माध्यम है। चित्रकला में वर्ण तूलिका, पट्ट आदि उपादानों की आवश्यकता होती है। किन्तु इनकी आवश्यकता चित्र की कल्पना को मूर्त्त आकार देने के लिए है। चित्र-कला का मूर्त्त आकार कलाकार का बाहरी कृतित्व है। आन्तरिक कृतित्व चित्र के रूप की मानसी कल्पना में है। इस मानसी कल्पना के लिए कोई भी उपादान अपेक्षित नहीं है। वह केवल चेतना का आन्तरिक रूप विधान है। यह एक संयोग की बात है कि आन्तरिक कल्पना की दृष्टि से चित्रकला संगीत की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और स्वतंत्र है तथा बाहरी अभिव्यक्ति की दृष्टि से वह इनकी अपेक्षा अधिक स्थूल और परतंत्र है। इस संयोग का कारण संगीत, नृत्य और चित्र की रचनाओं के स्वरूपों का प्राकृतिक भेद है। संगीत स्वर-सम्वेदनाओं का संयोजन है। श्रव्य रूप में शब्द क्षणिक है। इस क्षणिकता के कारण ही स्वरों की परम्पराएँ सम्भव हैं। इस स्वर-परम्परा के विधायक ध्वनियों के पूर्वापर क्रम हैं। सम्भव है संगीतकार इस परम्परा की भी मानसी कल्पना कर सकने में समर्थ हों और इसी कल्पना के द्वारा ये संगीत की रचनाएँ करते हों। किन्तु सामन्यतः स्वर और उसकी परम्परा की कल्पना कठिन ही है। इस कठिनाई के कारण ही प्रायः संगीत की रचना

और इसके अभ्यास का आनन्द दोनों ही स्वर के माध्यम से ही सम्भव होते हैं। स्वर ऐन्द्रिक क्रिया और संवेदना का एक भौतिक रूप है।

इसके विपरीत चित्रकला दृश्य रूपों का विधान है। श्रव्य रूपों की अपेक्षा दृश्य रूपों की मानसी कल्पना अधिक सहज है। इस कल्पना की आन्तरिक अभिव्यक्ति अथवा चेतना में इसके स्फोट के लिए बाह्य उपादानों की ही नहीं ऐन्द्रिक व्यापारों की भी अपेक्षा नहीं है। इसका कारण यह है कि हमारे मस्तिष्क का प्राकृतिक विधान ही ऐसा है कि हम दृश्य रूपों की मानसी कल्पना सुगमता से कर सकते हैं। इसका कारण सम्भवतः दर्शन और श्रवण के प्राकृतिक माध्यमों का भेद और मस्तिष्क के साथ उनका सम्बन्ध है। दर्शन का माध्यम प्रकाश है। प्रकाश प्रकृति के सत्व गुण का लक्षण है। दर्शनों के अनुसार प्रकृति के सत्व गुण में चेतना को प्रतिबिम्बित करने की क्षमता है। मस्तिष्क चेतना का आश्रय है। आधुनिक शल्य-विज्ञान के प्रयोगों से यह प्रमाणित भी हो रहा है। अतः प्रकृति का सत्वगुण हमारे मस्तिष्क का प्रमुख विधायक तत्व है। यह कल्पना ऊहा मात्र नहीं है। यदि सत्व से मस्तिष्क का निर्माण हुआ है तो प्रकाश के ग्रहण के उसका अधिक अनुकूल होना स्वाभाविक है। संभवतः हमारे मस्तिष्क के रूपों की मानसी कल्पना में अधिक समर्थ होने का कारण प्रकाश के साथ मस्तिष्क की यही घनिष्ठता है। संगीत की कल्पना अथवा उसका सृजन स्वरों के स्पन्दन के रूप में होता है। मस्तिष्क में इस स्पन्दन की सूक्ष्मताओं का ग्रहण करने की शक्ति बहुत है। इसी शक्ति के द्वारा स्वर के अनन्त संयोजनों और रागों के अनेक रूपों से संगीत का लोक सम्पन्न हुआ है। किन्तु मस्तिष्क में स्वर के स्पन्दनों की परम्पराओं के धारण और ऐन्द्रिक सम्वेदनाओं के अभाव में उसकी प्रकल्पना की शक्ति अधिक नहीं है। इसका परिणाम यह है कि संगीत की मानसी कल्पना और उसकी बाह्य अभिव्यक्ति दोनों का रूप और माध्यम प्रायः एक ही है। वह माध्यम स्वरों का श्रव्य रूप है। स्वरों की स्पन्दन परम्परा का उत्पादन और ग्रहण प्रकृति के माध्यम (आकाश) और मस्तिष्क में प्रकाश की अपेक्षा अधिक हलचल उत्पन्न करते हैं। इसके विपरीत प्रकाश की स्थिति ग्राह्य रूप में प्रकृति के माध्यम (आकाश) में अधिक सहज और साधारण है। उसके उत्पादन का प्रश्न बहुत कम उठता है। स्वरूपतः उसका उत्पादन और प्रसार बहुत शान्त है। मस्तिष्क के द्वारा उसका ग्रहण भी बहुत सहज और शान्त भाव से होता है। यह सहज भाव और शान्ति प्रकृति के मूल स्वरूप का सामान्य लक्षण

है। प्रकृति की इसी साम्य अवस्था में पुरुष (चेतना) के प्रतिबिम्ब से सर्ग का आरम्भ होता है। मस्तिष्क बुद्धि का आश्रय है। बुद्धि के उदय होने तक बाहरी हलचल और कोलाहल के उपकरण उत्पन्न नहीं होते। अतः यह अनर्गल ऊहा मात्र नहीं है कि जो मस्तिष्क चेतना तथा बुद्धि का आश्रय है तथा जीवन की सम्पूर्ण प्रेरणाओं का केन्द्र है उसकी क्रियाएँ पूर्णतः सहज और शान्त हैं। शरीर के अन्य व्यापार हमारे लिए सहज और शान्त प्रतीत होते हैं किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक यंत्रों के द्वारा उनकी हलचल को अंकित किया जा सकता है। हृदय की आवाज हमें सुनाई नहीं देती किन्तु यंत्र के द्वारा हम उसका स्पन्दन सुन सकते हैं। इस दृष्टि से भी स्वर-विधान की अपेक्षा रूप-विधान मस्तिष्क के अधिक अनुरूप है। आलोक के उत्पादन और ग्रहण में वह हलचल और कोलाहल नहीं है जो शब्द के उत्पादन और ग्रहण में है। इसीलिए रूप की मानसी कल्पना सहज ही संभव है। रूप का माध्यम आलोक है। विश्व के वातावरण में आलोक सदा ही वर्तमान रहता है। आलोक की यह स्थिति भी सम्भवतः रूप की मानसी कल्पना में सहायक होती है और उसे सहज बनाती है।

किन्तु शब्द की आकाश में स्थिति और मस्तिष्क के साथ उसका सम्बन्ध रूप से विपरीत है। कुछ दर्शनों के अनुसार शब्द आकाश का नित्य गुण है। किन्तु श्रवण-ग्राह्य रूप में वह सदा वर्तमान नहीं रहता। जिन सूक्ष्म स्पन्दनों के रूप में आकाश में शब्द सदा वर्तमान रहता है वे मानवीय इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते। स्पन्दनों में एक निश्चित तीव्रता से उत्पन्न ध्वनि को ही हम श्रवण द्वारा ग्रहण कर सकते हैं। यह ध्वनि एक स्फुट कोलाहल के रूप में होती है। बाहरी वातावरण के साथ-साथ हमारी इन्द्रियों और मस्तिष्क में भी एक व्यक्त हलचल पैदा होती है। शब्द का यही मुखर और ग्राह्य रूप है। परा, पश्यन्ती और मध्यमा के नाम से विदित शब्द के सूक्ष्म रूप मुखर और श्रवण-ग्राह्य नहीं हैं। वे ध्वनि-रूप नहीं वरन् अर्थ-रूप हैं। यह अर्थ-ध्वनियों द्वारा व्यंग्य शब्द एक चिन्मय तत्व है। इन्द्रियों और प्रकृति के तत्वों से पूर्णतः निरपेक्ष होने के कारण शब्द का यह रूप 'रूप' की अपेक्षा भी अधिक सूक्ष्म है। किन्तु संगीत की रचना शब्द के इस सूक्ष्म रूप से नहीं होती। **संगीत मुखर शब्द की कलात्मक योजना है।** कोलाहल और हलचल की क्रिया से युक्त होने के कारण इसका ग्रहण रूप के समान सहज नहीं है। आयास और विकास के आधिक्य के कारण

इसके ग्रहण की क्रिया रूप-ग्रहण के समान मस्तिष्क की शान्त विधि के अधिक अनुरूप नहीं है। कदाचित् इसीलिए प्राचीन 'श्रुति की परम्परा में लिपि का आविष्कार हुआ। सम्भवत: इसी कारण श्रुति-पाठ की अपेक्षा दृष्टि-पाठ की प्रथा अधिक प्रचलित हो चली। आधुनिक युग में भाषण की प्रथा राजनैतिक कारणों और एक मनोवैज्ञानिक भूल से अधिक चल पड़ी है। किन्तु उसका उपयोग अधिक नहीं। भाषणों के अभिप्राय का ग्रहण हम बहुत कम कर पाते हैं। समूह-मनोविज्ञान की एक दुर्बलता हमें समारोहों के अवसर पर व्यर्थ ही एकत्र कर लेती है। आधुनिक शिक्षा भी बहुत कुछ इसी कारण से निष्फल हो रही है। हम श्रवण की अपेक्षा दर्शन से अधिक समझते हैं। **दर्शन ही ज्ञान है। अंग्रेज़ी के साइन्स (सियांस) शब्द का मूल अर्थ ही देखना है।**

रूप और शब्द में एक और भेद है। रूप एक विस्तार है और शब्द एक परम्परा है। विस्तार दिक् का लक्षण है और परम्परा काल का क्रम है। विस्तारों का यौगपद्य संभव है किन्तु परम्परा का क्रम यौगपद्य का विरोधी है। यौगपद्य एक रूप-विधान के अंगों की एक काल में स्थिति है। इस यौगपद्य के कारण रूप-योजना में अंगों का सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ और उसका ग्रहण अधिक सहज होता है। इस यौगपद्य के कारण दीर्घकाल तक एक ही रूप योजना की दृष्टि के समक्ष अवस्थिति सम्भव है। इस स्थिरता के कारण रूप को मानस प्रत्यय में स्थायित्व मिलता है। इस यौगपद्य और आलोक के सम्बन्ध से रूप-ग्रहण की क्रिया सहज भी है। शब्द की योजना और उसके ग्रहण की क्रिया इसके विपरीत है। इसका कारण शब्द का क्रमिक रूप है। एक शब्द योजना के अंगों में यौगपद्य सम्भव नहीं है। किन्तु यौगपद्य के विना मस्तिष्क किसी समग्र योजना को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। इसलिए परम्परा के क्रम में प्राप्त होने वाले मुखर शब्दों की समग्रता का विधान मस्तिष्क को अपनी क्रिया के द्वारा करना पड़ता है। यों शब्द के ग्रहण में मस्तिष्क अधिक सक्रिय होता है किन्तु शब्द-योजना की समग्रता के ग्रहण में वैसा सहज भाव नहीं है जैसा रूप-योजना के ग्रहण में होता है। चेतना मस्तिष्क की शक्ति है। यौगपद्य चेतना की अभिव्यक्ति का लक्षण है। तभी वह नश्यमान् परम्पराओं में भी यौगपद्य का विधान करने में समर्थ है। रूप-योजना की संवेदना में सहज यौगपद्य होने के कारण उसका ग्रहण और उसकी कल्पना दोनों ही सहज हैं। शब्द एक नश्यमान् परम्परा है। कुछ दर्शनों में शब्द को नित्य माना गया है किन्तु वह शब्द

का मुखर रूप नहीं, कोई सूक्ष्म और तात्विक स्वरूप है। मुखर शब्द एक उत्पाद्य, अतः नश्यवान् परम्परा है। एक काल में एक ही ध्वनि की उत्पत्ति और उसका श्रवण होता है। अपर ध्वनि पूर्व ध्वनि को नष्ट कर उसका स्थान लेती है। इस प्रकार एक ध्वनि-योजना में मस्तिष्क इस योजना की अंगभूत एक ही ध्वनि का ग्रहण करता है। अंगी रूप में समग्र ध्वनि-योजना का विधान मस्तिष्क अपनी धारणा और चेतना की क्षमता के द्वारा करता है। श्रवण काल में ध्वनियों की परम्परा और श्रवण-संवेदनाओं के संस्कार ध्वनि-योजना की समग्रता के निर्माण में सहायक होते हैं। किन्तु यह प्रत्यक्ष की अवस्था में ही संभव होता है। कल्पना के काल में मस्तिष्क को ये सहायताएँ प्राप्त नहीं होतीं। अतः समग्र स्वर-योजना की मानसिक कल्पना रूप-योजना की कल्पना की अपेक्षा अधिक कठिन है। रूप-योजना की समग्रता के साक्षात् और सहज रूप में ग्रहीत होने के कारण उसकी कल्पना सहज है। आकाश में आलोक की चिरन्तन व्याप्ति इसमें और भी सहायक है। रूप की कल्पनाओं के सहज होने के कारण ही चित्र-कला प्रधान इटली के प्रसिद्ध कला शास्त्री क्रोचे ने कल्पना की सृजनात्मक क्रिया को कला का स्वरूप ही माना है। इसी कारण सामान्यतः मनुष्य को स्वर और संगीत की अपेक्षा रूप का आकर्षण अधिक है। इसीलिए हमारी सभ्यता के विकास में भी रूप के सौन्दर्य का ही विस्तार अधिक हुआ है। शब्द एक अमूर्त और अस्थायी गुण है। अतः इसका अनुराग मनुष्य के लिए श्रम साध्य है।

नृत्य में रूप और गति दोनों का संयोग है। अंगों की गति काल-क्रम की एक परम्परा है। अंग और मुख की मुद्राएँ रूप के आकार हैं। अतः नृत्य के दर्शन में रूप और गति दोनों की विशेषताओं का संकर है। यह संकर समन्वय बनकर दोनों की कलात्मक संगति का विधान करता है। किन्तु नृत्य में भंगिमाओं और गतियों की ही प्रधानता है। अतः नृत्य की कल्पना में रूप की सुविधा की तुलना में गति-क्रम की समग्रता की कठिनाई संगति के समान ही अधिक है। रूप और गति के मिश्रण के कारण नृत्य में जटिलता भी अधिक है। नृत्य की मुद्राओं के रूपों में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। अतः उसमें भी रूप के यौगपद्य की अपेक्षा गति की परम्परा का क्रम ही अधिक है। इन्हीं जटिलताओं के कारण नृत्य की मानसी कल्पना संगीत की अपेक्षा कठिन है। नृत्य की किसी एक मुद्रा की कल्पना अवश्य चित्र की कल्पना के समान ही सहज है। एक अन्तर अवश्य है कि संगीत

के स्वरों की अपेक्षा नृत्य की अंग गतियों की परम्परा अधिक स्थूल तथा स्थूलता के कारण अधिक सुग्राह्य है।

इस प्रकार मानसी कल्पना और अभिव्यक्ति की दृष्टि से चित्रकला, संगीत और नृत्य में अन्तर है। इन अन्तर का एक आधार इनकी अभिव्यक्ति के माध्यम के गुण भी हैं। चित्रकला की मानसी कल्पना सबसे अधिक सहज, किन्तु अभिव्यक्ति सबसे अधिक पराधीन है। इस अभिव्यक्ति के लिए अंगों की क्रिया के अतिरिक्त बाह्य उपादानों की भी आवश्यकता है। संगीत की मानसी कल्पना जितनी कठिन है उसकी अभिव्यक्ति उतनी ही सहज है। उसके लिए किसी बाह्य उपादान की अपेक्षा नहीं है, स्वर-उत्पादन की आंगिक क्रिया पर्याप्त है। **नृत्य एक जटिल कला है उसमें रूप और गति का मिश्रण है।** उसकी अभिव्यक्ति केवल अंगों के माध्यम से हो सकती है। रूप में स्वर की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक आकर्षण है। इसीलिए शुद्ध संगीत की अपेक्षा नृत्य अधिक रुचिकर होता है। शुद्ध संगीत केवल एक स्वर-योजना है, शब्द-योजना नहीं। वह वाद्य यंत्रों अथवा अलाप के समान अनर्थक किन्तु कलापूर्ण ध्वनियों में सम्भव होता है। उस्तादों के अलाप और केवल वाद्य संगीत के प्रति साधारण जनता की उपेक्षा शुद्ध संगीत की अ-लोक प्रियता का प्रभाव है। संगीत का माध्यम स्वर तीनों कलाओं के माध्यमों में सबसे अधिक सूक्ष्म है। माध्यम की सूक्ष्मता और कल्पना की कठिनाई के कारण शुद्ध संगीत सब से कम लोकप्रिय है। संगीत का जो लोक-प्रिय रूप है उसमें स्वर के साथ-साथ शब्द का भी समवाय है। उसमें ध्वनि के साथ-साथ भाव का भी समन्वय है। जनमानस में संगीत का प्रभाव इस संयोग के कारण अधिक होता है। भाव में स्थायी प्रत्यय की शक्ति है। मस्तिष्क की धारणा-शक्ति से वह स्थिर होकर कल्पना का सहज और स्थायी आधार बनता है। वस्तुतः इस संगीत में संगीत और काव्य का मिश्रण है। लोक गीतों में काव्य और संगीत के समन्वय का एक उत्तम रूप मिलता है। इसीलिए वे अधिक लोक प्रिय हैं।

भाव सम्पत्ति के स्थायित्व और उपादानों की सहजता के कारण काव्य कला का सर्वश्रेष्ठ रूप है। काव्य को यह श्रेष्ठता उसके माध्यम के कारण मिली है। चेतना के उत्कर्ष के अतिरिक्त भाषा मनुष्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। सम्भवतः चेतना की भाव-सम्पत्ति को रूप देने के लिए ही मनुष्य-जीवन में भाषा का विकास हुआ है। **भाषा ही मनुष्य की परिभाषा है।** भारतीय शब्द-दर्शन में चेतना के

साथ भाषा का सम्बन्ध बड़ी गम्भीरता के साथ व्यक्त हुआ है। शब्द दर्शन में शब्द को ब्रह्म माना गया है और शब्द-रूप वाक् की चार कोटियां स्थापित की हैं। ब्रह्म चिन्मय है। परावाक् का स्वरूप तो वेदान्त के ब्रह्म के समान ही चिन्मय है। मध्यमा और पश्यन्ती भी इस वाक् के आन्तरिक और चिन्मय रूप की कोटियां हैं। सम्भवतः परा का कैवल्य पश्यन्ती में चेतना के विशेष भाव-रूपों में विवर्तित होता है। मध्यमा में तो भाव सूक्ष्म और आन्तर विषयों का रूप ग्रहण करते हैं। वैखरी वाक् में मुखर वाणी के माध्यम में चिन्मय भाव-रूपों की अभिव्यक्ति होती है।

शब्द दर्शन में वाक् के चतुष्कोटि विधान के द्वारा चेतना के साथ मुखर वाणी के सम्बन्ध की स्थापना की गई है। इससे स्पष्ट है कि मुखर शब्द चेतना की भाव-सम्पत्ति की व्यंजना का ही साधन है। चेतना के 'भाव' अर्थ, आकृति और भावना के रूप में आन्तरिक आकार ग्रहण करते हैं। शब्द की नश्यमान् परम्परा में भाव-सम्पत्ति का स्थायित्व उसे एकता के सूत्र में आबद्ध करता है। चेतना के व्यापक आधार में विनष्ट शब्द के पूर्व-संस्कारों की आवृत्ति होती है और अपर शब्दों के अर्थ में उसका अन्वय होता है। इसी क्रम से शब्द और वाक्य में अर्थ का स्फोट होता है। शब्द परम्परा के नष्ट हो जाने पर ही उसकी अर्थ-परम्परा का अन्वय चेतना में होता है। स्मृति और धारणा की शक्ति के द्वारा यह अन्वय चेतना में स्थिर होता है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार अर्थ-संस्कारों की धारणा का निधान अवचेतन मन है। किन्तु अवचेतन भी मन का ही एक भाग है और वह चेतना की शक्ति एवं सम्भावना से विरहित नहीं है। अर्थों के चिद्रूप होने के कारण चेतना के साथ उनका अन्वय सहज सम्भव है। **अर्थ और चेतना की अनुरूपता के कारण भाषा का माध्यम सबसे उत्तम है। सूक्ष्म होने के कारण वह सबसे अधिक सम्पन्न भी है।** ऐन्द्रिक अर्थों के अतिरिक्त अतीन्द्रिय भावों की अभिव्यक्ति की सामर्थ्य भी भाषा में निहित है। भाषा के द्वारा व्यंग्य अर्थ में रूप, स्वर और गति भी सम्मिलित है। इस दृष्टि से भी भाषा का माध्यम अधिक समर्थ और सम्पन्न है। वह चित्रकला, संगीत और नृत्य की व्यंजनाओं को भी आकार दे सकता है। साथ ही वह इनकी व्यंजनाओं को अधिक स्थायी बना सकता है। **इस प्रकार जहाँ भाषा एक विशेष माध्यम है वहाँ साथ ही उसमें चित्रकला संगीत और नृत्य के माध्यमों के गुण भी वर्तमान हैं।** इतना अवश्य है कि भाषा की व्यंजना संवेदनात्मक न होने के कारण वह रूप और गति की

सम्वेदनाओं को चित्र-कला और नृत्य की भाँति सजीव और साकार रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकती। ऐन्द्रिक संवेदना के अभाव में मानसिक कल्पना के द्वारा इस सजीवता की पूर्ति हो सकती है। ध्वनि तो भाषा का मुखर रूप ही है। **अतः संगीत के साथ काव्य की अधिक आत्मीयता है। कविता को आत्मा का मुखर संगीत कहना अधिक अनुचित न होगा। चित्रकला, संगीत और नृत्य के माध्यमों के गुणों का समाहार करके भाषा चेतना की भाव-सम्पत्ति का सबसे अधिक समर्थ और सम्पन्न माध्यम बन जाती है।** चेतना के संस्कारों में इन भाव-संस्कारों की स्थिरता भाषा को मानवीय उत्कर्ष के अनुरूप माध्यम बना देती है। अर्थ की सूक्ष्मता के कारण भाषा की व्यंजना चेतना के लिए सुग्राह्य बन गई है। वस्तुतः चिद्रूप होने के कारण अर्थ चेतना के अनुरूप है। यह अनुरूपता ही अर्थ के ग्रहण और उसकी धारणा का मूल कारण है। अर्थ के निश्चित परिच्छेद के अतिरिक्त आकृति की व्यापक व्यंजना के द्वारा भाषा का माध्यम और भी अधिक सम्पन्न बन गया है। इस सम्पन्न माध्यम को प्राप्त करके ही काव्य कला का सर्वोत्तम रूप बना है।

हम देख चुके हैं कि चित्रकला, संगीत, नृत्य और काव्य के रूप, अभिव्यञ्जित और माध्यम में अन्तर है। किन्तु यह अन्तर केवल इनके रूप की विशेषता का द्योतक है उनके रूप का विधायक नहीं। चारों ही कला के अन्तर्गत माने जाते हैं और यदि हम काव्य को छोड़ भी दें तो शेष तीन तो कला के प्रसिद्ध रूप ही हैं। माध्यमों का भेद एक बाह्य और प्राकृतिक भेद है। इसी भेद से कलाओं के रूप का भेद उत्पन्न होता है। **किन्तु इस भेद के अतिरिक्त कला का सामान्य स्वरूप क्या है, जो इन सबमें व्याप्त है, यह विचारणीय है।** कला का यह सामान्य स्वरूप काव्य में भी व्याप्त होना चाहिए चाहे इससे काव्य के स्वरूप का पूर्ण निर्धारण न हो सके। रूप का ग्रहण और उसकी कल्पना सहज होने के कारण चित्रकला को प्रायः कलाओं में प्रमुखता मिलती रही है। चित्रकला को प्रायः लोग जीवन के वास्तविक रूपों की कलात्मक अनुकृति मानते रहे हैं। चित्रकला में बहुत कुछ अनुकरण होता है, इसमें संदेह नहीं। इस अनुकरण के द्वारा ही चित्रकला की प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती है। इसीलिए कई कलाशास्त्रियों ने अनुकरण को ही कला की सामान्य परिभाषा माना है। प्लेटो और अरिस्टोटिल के मत इस प्रसंग में स्मरणीय हैं। ग्रीक साहित्य में नाटक की प्रधानता है।

नाटक में अनुकरण का अंश होता है। इसीलिए प्लेटो ने अनुकरण को ही कला का सामान्य रूप बताया है। चित्रकला और नाटक की प्रधानता के कारण यह परिभाषा मान्यता प्राप्त कर सकी।

इसमें संदेह नहीं कि कला में अनुकरण का कुछ अंश होता है। चित्रकला और नाटक में यह अंश अधिक होता है। संगीत और नृत्य भी इससे पूर्णतः मुक्त नहीं है। संगीत और नृत्य में चित्रकला की भाँति दृश्य रूप का अनुकरण नहीं होता किन्तु उसमें ध्वनियों और गतियों का अनुकरण होता है। काव्य में भी किसी न किसी परिमाण में इन सब अनुकृतियों का समावेश रहता है। किन्तु अनुकरण कला का सर्वस्व नहीं है। उसे कला का आरम्भ कह सकते हैं। इसमें भी आपत्ति हो सकती है। कला की शिक्षा के आरम्भ में तो शिक्षक और शिष्य दोनों की ओर से अनुकरण का सचेष्ट प्रयास दिखाई देता है। किन्तु यह कला की भूमिका है उसका आरम्भ नहीं। **कला का आरम्भ अनुकृति से नहीं, कृति से होता है। जिसे हम अनुकृति समझते हैं वह भी वस्तुतः कृति का ही एक रूप है।** कला के सरलतम और आरम्भिक रूपों में भी चेतना के कृतित्व की ही अभिव्यक्ति रहती है। अनुकृति के विरुद्ध एक बड़ा अद्‌भुत किन्तु संगत तर्क यह है कि वस्तुतः अनुकृति असंभव है। जिसे हम अनुकृति समझते हैं वह वस्तुतः कृति ही है। अनुकृति की असंभवता का तर्क सबसे अधिक तीव्रता के साथ चित्रकला के ही सम्बन्ध में लागू होता है। आश्चर्य की बात यह है कि चित्रकला के सम्बन्ध में ही अनुकृति का आरोप सबसे अधिक प्रबल है। कौलिंगवुड ने बड़ी मार्मिकता के साथ सूक्ष्म तर्क के द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि अनुकरण की चर्चा कला के सम्बन्ध में नितान्त असंगत और भ्रमपूर्ण है।[५५] अनुकृति का अर्थ एक वास्तविक रूप के अनुरूप कृति है। इस अनुकृति का अर्थ वास्तविक रूप के अनुरूप आकृति और वस्तुओं का निर्माण है। यह असंगत ही नहीं असंभव भी है। इसका अर्थ यही होगा कि हाथी, पहाड़, नदी, वन आदि की अनुकृति के लिए हमें इनका निर्माण करना होगा। ऐसे निर्माण का ऐश्वर्य मनुष्य को प्राप्त नहीं है। **जिसे कला में अनुकृति कहा जाता है वह वस्तुतः इन रूपों का संकेत करने वाले रूपों का विधान है। यह विधान अनुकरण नहीं सृजन है। अतः जिसे अनुकृति कहा जाता है वह वस्तुतः कृति है। यहाँ तक की अनुकृति की अनुकृति भी अनुकृति नहीं है। वह भी एक नवीन कृति है।**

अनुकृति के जिस भ्रान्त रूप को प्लेटो ने कवि की परिभाषा बतलाया है उसमें भी कृतित्व का मर्म अन्तर्निहित है। यह एक बात है। दूसरी बात यह है कि अनुकृति का यह भ्रान्त रूप कला के सभी रूपों पर पूर्णतः लागू नहीं होता। चित्रकला के भी सभी रूपों में इसकी व्याप्ति नहीं है। बालक के विचित्र आलेखन अनुकरण नहीं, स्वतन्त्र और स्वतः-स्फूर्त सृजन हैं उसके आरम्भिक आलापों और उल्लसित मुद्राओं में भी कृतित्व का आरम्भिक सौन्दर्य ही उदित होता है इनमें अनुकृति का आभास भी नहीं है। **अतः सत्य यह है कि कृतित्व की कला का मूल है। कला चेतना की सृजनात्मक क्रिया है जो इन्द्रियों के व्यापारों के द्वारा प्रकृति के माध्यम में मूर्त्त होती है।** इस सृजनात्मक क्रिया में जहाँ हम अनुकरण देखते हैं वहाँ वस्तुतः कृतित्व ही होता है। इस सृजन में एक अद्भुत सौन्दर्य और आनन्द है। तन्त्रों में शिव की सृजनात्मिका शक्ति को 'कला' कहते हैं। भगवती महाशक्ति के विमर्श से ही विश्व के अद्भुत काव्य की रचना होती है। शक्ति का यह विमर्श ही सौन्दर्य का विधान है। यह विमर्श शक्ति के स्वरूप का ही विलास है। इसीलिए भगवती की त्रिपुर सुन्दरी के रूप में वन्दना होती है। यह त्रिपुर सुन्दरी शिव की शक्ति है। शिव मंगलमय, आत्मस्वरूप और आनन्दमय हैं। शक्ति शिव से अभिन्न है, अतः शक्ति भी आनन्दमयी है। सुन्दरी शक्ति का सृजन स्वरूप का विलास होने के साथ-साथ आनन्द का उल्लास भी है। आत्मस्वरूप शिव और शक्ति ही अभिन्न भाव से परम सत्य है। अस्तु शक्ति दर्शन में सत्य के स्वरूप में शिवम् और सुन्दरम् का भी समाहार है, वरन् सत्य यह है कि सत्य के अन्तर्भाव में शिवम् और सुन्दरम् की ही महिमा अधिक है। शिव का स्वरूप भी सुन्दर है। शक्ति का तो नाम ही सुन्दरी है। वेदान्त दर्शनों में भी सत्य के शिव और सुन्दर स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई है।

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म का स्वरूप सच्चिदानन्द है। सत् सत्य है, चिद् शिवम् है, आनन्द सुन्दरम् का स्वरूप और फल है। उपनिषद् में चिद्-स्वरूप ब्रह्म को 'शान्तम्शिवम् अद्वैतम्' कहा है।[५६] **चेतना का सर्वात्मभाव ही मंगल का मूल स्वरूप और सूत्र है।** अद्वैत वेदान्त के साथ सौन्दर्य के सम्बन्ध को समझने के लिए हमें भगवान शंकराचार्य के भाष्यों से आगे 'सौन्दर्यलहरी' की तरंगों में प्रवाहित होना होगा। शृंगेरी पीठ में श्रीचक्र की स्थापना आत्मा के स्वरूप में सौन्दर्य की महत्ता का प्रमाण है। **वैष्णव वेदान्तों में तो भक्ति की रसमयी प्रेरणा से ब्रह्म के स्वरूप में**

अखिल सौन्दर्य का समाधान हुआ है। भगवान मंगलमय होने के साथ परम सुन्दर भी हैं। विष्णु का स्वरूप भी शिव के समान परम सुन्दर है। राम और कृष्ण में भी सौन्दर्य की पराकाष्ठा है। तुलसी के राम 'कोटि मनोज लजावन हारे' हैं और भागवत के कृष्ण 'स्मरो मूर्तिमान्' हैं। शिव की शक्ति के समान विष्णु की लक्ष्मी, राम की सीता और कृष्ण की राधा उनकी अभिन्न-हृदया आह्लादिनी शक्ति है। किन्तु भक्ति दर्शनों की यह शक्ति मुख्यतः आह्लादिनी शक्ति है। शक्ति के सृजनात्मक रूप का उतना आदर भक्ति सम्प्रदायों में नहीं है। यद्यपि वेदान्तों का उत्तराधिकार पाकर इस आह्लादिनी शक्ति की जगत् जननी के रूप में मान्यता अवश्य है।

किन्तु शक्ति का यह सृजनात्मक रूप भक्ति दर्शनों में उतना स्फुट और महत्व-पूर्ण नहीं है जितना शक्ति तंत्रों में है। इसका एक कारण तो भक्ति दर्शनों पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव है। अद्वैत वेदान्त में विश्व को माया कहकर शक्ति के सृजनात्मक रूप का महत्व कम कर दिया गया। यद्यपि वैष्णव वेदान्त संसार को मिथ्या नहीं मानते फिर भी माया के नाम और भाव की उन पर छाया है। दूसरा कारण यह है कि विष्णु राम और कृष्ण के जीवन में सृजन की अपेक्षा रक्षण का ही महत्व अधिक है। वस्तुतः रक्षण ही विष्णु का मुख्य धर्म है। राम और कृष्ण विष्णु के अवतार हैं, अतः उनका चरित्र भी विष्णु के ही अनुरूप है। देवताओं की त्रिपुटी में ब्रह्मा सृजन के अधिष्ठाता हैं, इसीलिए विष्णु के रूप में सृजन का अधिक महत्व नहीं है। विष्णु की उपासना के रूप में विकसित होने के कारण भक्ति-परम्परा में सृजन का महत्व अधिक नहीं रहा। राधा के कुमारी तथा सीता के द्वितीय निर्वासन तक अनपत्या होने के कारण भक्ति सम्प्रदायों को सृजन की महिमा का आधार न मिल सका। लक्ष्मी, सीता और राधा के मातृरूप के सिद्धान्ततः मान्य होते हुए भी शक्ति के सृजनात्मक रूप का पर्याप्त आदर भक्ति सम्प्रदायों में न हो सका। शक्ति-तंत्रों में भी शक्ति सुन्दरी को कुमारी रूप में पूजित किया जाता है, किन्तु साथ ही उनका मातृरूप भी स्फुट रूप से मान्य है। वस्तुतः इस मातृरूप की ही उपासना अधिक है। करुणामय और रक्षक होने के साथ-साथ शक्ति का यह मातृरूप विश्व का सृष्टा भी है। त्रिपुर सुन्दरी जगज्जननी हैं। शक्ति का विमर्श ही विश्व के रूप में विलसित है। अस्तु तंत्रों में शिव और शक्ति की अभिन्नता तथा उनके अभिन्न स्वरूप में सृजन और

सौन्दर्य का समवाय सबसे अधिक पूर्ण रूप में हुआ है। उसमें जीवन और संस्कृति का सम्पूर्णतम दर्शन है। इसीलिए प्राचीन भारत में शैव और शाक्त दर्शनों का इतना प्रभाव था। कुछ ऐतिहासिक विषमताओं के कारण ही मध्यकाल में वैष्णव धर्मों का प्रभुत्व बढ़ गया। ऐतिहासिक और सामाजिक दुर्बलताओं के कारण वैष्णव धर्म की अपूर्णताएँ ही हमारा आश्वासन बनीं। राम और कृष्ण के चरित्र तथा वैष्णव धर्मों में भी अनेक हितकारी तत्व हैं, किन्तु जीवन और संस्कृति की सम्पूर्णता की दृष्टि से शिव का चरित तथा शैव दर्शन ही सबसे अधिक समृद्ध है। शक्ति और शिव के चिन्मय स्वरूप में आनन्द के साथ सृजन और सौन्दर्य अथवा सृजनात्मक सौन्दर्य के समवाय के कारण वह सबसे अधिक पूर्ण है। **खेद की बात है कि दर्शन परम्परा में शैव तंत्रों की उपेक्षा तथा साधारण जनता के जीवन में वैष्णव धर्म के प्रभुत्व के कारण संस्कृत और हिन्दी के साहित्य में शिव-कथा अथवा शक्ति सिद्धान्त के आधार पर संस्कृति के इस समग्र रूप को कलात्मक आकार देने वाली कोई महत्वपूर्ण रचना नहीं है।** पार्वती-परमेश्वर के परमभक्त कालिदास भी हमें ऐसी कृति न दे सके। अपूर्ण होने के अतिरिक्त उनका 'कुमार सम्भव' तत्कालीन कवि परम्परा के अनुसार शृंगार से अधिक प्रभावित है। शृंगार के प्रभाव में 'कुमार सम्भव' का सांस्कृतिक महत्व तिरोहित हो गया है। कालिदास के बाद दो हजार वर्ष के दीर्घ किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से विषमता-पूर्ण युग में तो शिवकथा तथा शैव तंत्रों की संस्कृति के आधार पर कोई रचना अपवाद रूप में भी न हो सकी। तुलसीदास का 'पार्वती मंगल' 'कुमार सम्भव' का ही संक्षिप्त अनुवाद सा है। 'रामचरित मानस' के आरम्भ में शिव का प्रसंग राम के गौरव और शिव के उपहास के लिए है। उसे अपवाद कहना भी उचित नहीं। कहना होगा कि काव्य की अपेक्षा चित्रकला, मूर्तिकला और नृत्य कला में शिव और शक्ति का यह सुन्दर और मंगलमय स्वरूप अधिक आदर पाता रहा। किन्तु भाषा के अधिक स्थायी माध्यम में मूर्त्त न होने के कारण वह हमारे समाज और संस्कृति की प्रेरणा न बन सका।

अस्तु कला के सामान्य रूप और दर्शनों के सिद्धान्तों के अनुशीलन से यही विदित होता है कि सृजन ही जीवन का परम सत्य है। आत्मभाव और आत्मदान के द्वारा सम्भव होने वाला सांस्कृतिक सृजन ही शिवम् का भी मूल स्वरूप है। यह सृजन ही सुन्दरम् है। शैव तंत्रों के अनुसार शक्ति के विमर्श में विश्व का आविर्भाव

और सौन्दर्य का स्फोट होता है। तंत्रों का यह दुरूह रहस्य जीवन के प्रत्येक सृजन और कला की प्रत्येक रचना में उदाहृत होता है। **रचना रूप का विधान है।** रूपों में हम प्रायः सौन्दर्य का भेद देखते हैं। यह सौन्दर्य का वस्तुगत तत्व है। पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र में विशेषतः प्राचीन युग में सौन्दर्य के इस वस्तु-पक्ष का बहुत विवेचन हुआ है। किन्तु आधुनिक युग में सौन्दर्य के भाव-पक्ष को ही मुख्य माना गया है। रूप बाह्य है। भाव सौन्दर्य का आन्तरिक पक्ष है। मूल भाव चेतना की रचनात्मक वृत्ति है। इसी रचनात्मक वृत्ति में सौन्दर्य का उदय होता है। इस दृष्टि से सभी रचनाएँ सुन्दर हैं। सौन्दर्य का मूल रचना के रूप में नहीं वरन् रचना के कृतित्व में है। आधुनिक सौन्दर्य शास्त्र के नेता क्रोचे ने चेतना की इस रचनात्मक क्रिया को, अभिव्यक्ति का नाम दिया है और इस अभिव्यक्ति को अनुभूति से एकाकार माना है। क्रोचे के मत में कलात्मक अनुभूति और अभिव्यक्ति का रूप कल्पना है। कौलिंगवुड ने कल्पना को ही कला का स्वरूप माना है। उनके अनुसार कल्पना रूपों के अनुभावन अथवा भावन की दृष्टि है। किसी भी वस्तु अथवा रूप पर हमारी कल्पनात्मक दृष्टि होते ही हमें कलात्मक अनुभूति होती है। कदाचित कौलिंगवुड भी यह मानने को उद्यत न होंगे कि यह दृष्टि अवगति के समान चेतना का निष्क्रिय धर्म है। **इस दृष्टि में भी चेतना की सृजनात्मक वृत्ति की प्रेरणा रहती है, अतः इस दृष्टि में सृष्टि का भी भाव है। कलात्मक दृष्टि सौन्दर्य का अनुभावन ही नहीं, सृजन भी करती है। कलाकार की दृष्टि ब्रह्म की दृष्टि के समान ही सृजनात्मक है।** ब्रह्म के वीक्षित से पंच भूतों का उदय होता है और ब्रह्म के स्मित से चराचर की रचना होती है।[५७] त्रिपुर सुन्दरी के दृष्टि के उन्मेष से सृष्टि का उदय होता है।[५८] इसी प्रकार कवि और कलाकार की दृष्टि भी भाव-लोकों की विधात्री है। **'कल्पना' का मूल अर्थ ही सृजन है।** इसीलिए विश्व विधाता का कल्प तथा विश्व-कवि का काव्य है। इस सृजन में ही सौन्दर्य के साथ-साथ आनन्द का उदय होता है। ब्रह्म का स्मित इस आनन्द के उल्लास का संकेत है। कला और काव्य के सृजनात्मक सौन्दर्य में मंगल और आनन्द दोनों ही समवाय हैं।

कला और काव्य के सामान्य रूप में सौन्दर्य का यह सृजनात्मक रूप साकार होता है। शैव तंत्रों की सुन्दरी शिव की अभिन्न शक्ति है, अतः वह मंगलमयी भी है। वह चिन्मयी भी है उसका सृजन उसकी चिद्विभूति का स्वतंत्र विलास है। स्वतंत्रता चेतना का लक्षण है। वस्तुतः यह स्वतंत्रता ही मंगल का बीज है।

इसलिए शक्ति के सृष्टि-काव्य तथा कलाकारों की कृतियाँ दोनों के सौन्दर्य में मंगल का अन्वय स्वाभाविक है। आदि शक्ति को तो स्वरूपतः स्वतंत्र मानना होगा, किन्तु मनुष्य को इस पूर्ण स्वतंत्रता का अनुभव दुर्लभ है। दर्शनों में मुक्ति के रूप में इसे जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है। चैतन्य युक्त होते हुए भी मनुष्यों की स्वतंत्रता सीमित रहती है। कवि और कलाकारों की चेतना अधिक प्रबुद्ध होने के कारण अधिक स्वतंत्र होती है। फिर भी प्रकृति, परिस्थिति एवं परम्पराओं के बन्धन उनकी स्वतंत्रता को भी सीमित करते हैं। जिस परिमाण में तथा जिस रूप में कवि की सृजनात्मक स्वतंत्रता सीमित होती है उसी परिमाण और रूप में उसकी रचना में सहज शिवत्व में अशिवत्व के संकर की आशंका रहती है। अपने चिन्मय स्वरूप और स्वतंत्रता में मनुष्य की आत्मा अनन्त और अपरिच्छिन्न है। अतः समता और तादात्म्य उसके सहज भाव हैं। दूसरों की स्वतंत्रता का पूर्ण समादार एक दृष्टि से आत्मा के गौरव और अपने स्वरूप का ही आदर है। उभयथा स्वतंत्रता का समादर सामाजिक मंगल की दो ध्रुवाएँ हैं। इन दोनों का मूल चेतना के स्वरूप में ही है। जिस कवि और कलाकार में इस उभयविधि स्वतंत्रता का जितना उत्कर्ष है उतना ही शिवम् का समवाय वह अपनी कृतियों में कर सकता है।

इस प्रकार कला और काव्य के स्वरूप में सत्य के साथ शिवम् और सुन्दरम् का भी समन्वय है। चित्रकला संगीत और नृत्य में ऐन्द्रिक संवेदना की प्रधानता होने के कारण इनका रूप अधिक प्राकृतिक है, यद्यपि यह सत्य है कि इनके ऐन्द्रिक माध्यमों के द्वारा भी सांस्कृतिक भावों की मार्मिक व्यंजना होती है। भाषा की अर्थ और आकूतिमय चित्सम्पत्ति के कारण काव्य में आत्मा की विभूतियों का आधान अधिक सफलता और मार्मिकता के साथ हो सकता है। यही कारण है कि अन्य कलाओं की अपेक्षा काव्य के सम्बन्ध में शिवम् का विवेचन अधिक हुआ है। अन्य कलाओं में केवल रूप का निर्माण हो सकता है और उसमें रूप की प्रधानता भी रही है किन्तु काव्य में रूप का महत्व होते हुए भी अर्थ की महिमा अन्य सब कलाओं की अपेक्षा अधिक है। इसीलिए हमारे काव्य शास्त्रों में शब्द और अर्थ के साहित्य को काव्य का लक्षण माना गया है। पार्वती-परमेश्वर के समान सम्पृक्त वाक् और अर्थ के 'साहित्य' (सहित-भाव) से युक्त काव्य ही सफल और सार्थक है। 'अर्थ' भाषा का चिन्मय तत्व है, अतः चेतना के स्वरूप के अनुरूप होने पर ही शब्द के

साथ उसका 'साहित्य' पूर्ण हो सकता है। उभयविध स्वतंत्रता का सृजनात्मक धर्म चेतना का मंगलमय स्वरूप है। अत: शब्द के साथ अर्थ के साहित्य की पूर्णता ही शिवम् नहीं हो सकती। भारतीय शब्द दर्शन में शब्द के मूल स्वरूप को चिन्मय मानकर अर्थ के साथ उसके साहित्य में शिवम् की सैद्धान्तिक और पूर्ण प्रतिष्ठा की गई है। वैखरी से लेकर मध्यमा, पश्यन्ती और परा के प्रतिलोम क्रम से शब्द क्रमश: अर्थ के चिन्मय स्वरूप से एकाकार हो जाता हैं। परा के स्वरूप में शब्द और अर्थ एकात्म ही है। **शब्द और काव्य के मुखर रूप में इस एकात्मता का जितना सफल निर्वाह होता है उतना ही वह काव्य सफल और सुन्दर होता है।** उसका सौन्दर्य शिव की सृजनात्मक शक्ति है। अन्य कलाओं में भी यह सृजनात्मक सौन्दर्य रहता है। उनमें भी अभिव्यक्ति के रूप की चिन्मय भाव के साथ संगति संभव है, किन्तु वह सर्वदा आवश्यक नहीं। केवल रूप और आकृतियों की रचना में भाव-तत्व खोजना कठिन है अत: उनमें सौन्दर्य की अभिव्यक्ति जितनी सहज होती है, शिवम् का आधान उतना आवश्यक नहीं।

सामान्यत: कलाओं में सृजन और अभिव्यक्ति के सौन्दर्य की प्रधानता होने के कारण पश्चिमी कला-शास्त्र में सौन्दर्य का ही विवेचन अधिक हुआ है। पश्चिम के कला-शास्त्र का नाम ही 'सौन्दर्य शास्त्र' है। यद्यपि कला के विवेचन को सौन्दर्य शास्त्र का पारिभाषिक नामकरण अठारहवीं शताब्दी में 'बाउमगार्तेन' से प्राप्त हुआ, किन्तु कला और काव्य का विवेचन प्राचीन रीतियों से ही सौन्दर्य के नाम से ही हो रहा है। सौन्दर्य ही कला शास्त्रियों की खोज का मुख्य लक्ष्य रहा है। जिन विचारकों ने नैतिक श्रेय अथवा बौद्धिक सत्य को कला और काव्य का मुख्य लक्षण तथा तत्व माना वे भी उसे सौन्दर्य के नाम से ही पुकारते हैं। ग्रीक के महान दार्शनिक प्लेटो ने नैतिक गुण को ही सौन्दर्य माना। प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि कीट्स ने सत्य को सुन्दर बताया। **एक और विचारणीय बात यह है कि सौन्दर्य शास्त्र के योरोपीय नामकरण ईस्थैटिक के अनुषंग ऐन्द्रिक और संवेदनामय अधिक हैं।** महान जर्मन दार्शनिक कान्ट ने संवेदनाओं के दार्शनिक विवेचन को ईस्थैटिक का नाम दिया है। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में विसंवेदनीयकरण को अनैस्थैटिक कहते हैं। **सौन्दर्य शास्त्र का यह नामकरण स्वीकृत हो जाने के बाद भी इसके संवेदनात्मक अनुषंग भाषा के प्रयोग में अवशिष्ट और प्रचलित हैं।** पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र का अवलोकन करने से इस नाम करण की मान्यता और यथार्थता का

रहस्य विदित हो जाता है। अधिकांश पश्चिमी कला-विशारद कला के सौदर्न्य में संवेदना को अधिक महत्व देते रहे हैं। ऐन्द्रिक रूपों की संवेदना के साथ-साथ उसमें सुख-दुख की आन्तरिक वेदना भी सम्मिलित है। किन्तु दोनों ही प्राकृतिक संवेदना के रूप हैं। इसकी प्रधानता के कारण आत्मिक अनुभूति और आत्मभाव आदि तत्वों का महत्व पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र में बहुत विलम्ब से समझा गया। विलम्ब से प्रकट होने पर भी उसके प्राचीन संवेदनात्मक अनुषंग उसकी सीमा और बाधा बने रहे।

इनके कारण पश्चिमी सौन्दर्यशास्त्र और साहित्य में सम्वेदना का ही प्रभुत्व रहा। हीगेल के अध्यात्मवाद की परम्परा में जब क्रोचे ने कला का अन्तर्तम स्वरूप उद्‌घाटित किया तो पश्चिमी कला शास्त्र के इतिहास में एक अद्‌भुत क्रान्ति उपस्थित हुई। किन्तु इटली की चित्रकला प्रधान संस्कृति के प्रभाव के कारण क्रोचे भी अपने पूर्वजों के संवेदनात्मक संस्कारों से मुक्त न हो सके। इसीलिए एक ओर कला के स्वरूप को आन्तरिक, आत्मिक और स्वतन्त्र मानते हुए भी दूसरी ओर उन्होंने उसे कर्त्ता और विषय दोनों की दृष्टि से व्यक्तिगत माना है। **व्यक्तिमत्ता आत्मिक चेतना का नहीं, ऐन्द्रिक संवेदना का रूप है। आत्मभाव प्रकृति और संवेदना की व्यक्तिगत सीमाओं का अतिक्रमण करके ही अर्थवान होता** है। ऐन्द्रिक सम्वेदनाओं, मुख्यतः चित्रकला में रूप की संवेदनाओं में ही यह व्यक्तिगत भाव प्रमुख होता है। सुख-दुःख की आन्तरिक सम्वेदनाओं में भी इस व्यक्तिगत संवेदना का केन्द्र रहता है। चित्रकला इटली की प्रधान कला रही है। दोनों के संस्कार क्रोचे के अन्तर्दर्शन की सीमा रहे और इस कारण वे कला के आन्तरिक और आत्मिक तत्वों तक पहुँचकर भी उसे अपने वास्तविक रूप में उद्‌घाटित न कर सके। आत्मभाव और व्यक्ति-केन्द्रता दो विपरीत धारणाएँ हैं। व्यक्ति-केन्द्रता भेद मूलक और अनेक रूप है। आत्मभाव का स्वरूप अद्वैत है। भारतीय वेदान्त में इस तत्व को बड़े सहज और सरल सत्य के रूप में समझा गया है। चेतना और अनुभूति का विस्तार आत्मभाव का सामाजिक रूप है। हमारे प्रेम-पूर्ण व्यवहारों में इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मिलता है। इस सामाजिक आत्मभाव में ही कला के सौन्दर्य और शिवम् की मूल प्रेरणा है। अनुकृति, अभिव्यक्ति, सहानुभूति आदि अनेक रूपों में पश्चिमी कला विशारद इस सामाजिक आत्मभाव की देहली तक पहुँचे किन्तु जिस प्रकार ईसाई धर्म के व्यक्तिवाद की कठिन रूढ़ि

के कारण पश्चिमी अध्यात्मवादी आत्मा के पूर्ण और वास्तविक स्वरूप को स्वीकार करने में संकोच करते रहे, उसी प्रकार पश्चिमी कला-विशारद धार्मिक रूढ़ि के साथ-साथ कला और साहित्य में भी संवेदना की व्यक्ति-सत्ता के दृढ़ संस्कारों के कारण कला के आन्तरिक स्वरूप का पूर्ण उद्घाटन करने में असफल रहे। पश्चिमी साहित्य और काव्य में आत्मभाव के शिवम् के जो कुछ तत्व मिलते हैं वे कला के सिद्धान्तों के कारण नहीं हैं वरन् पश्चिमी जीवन के उदार और स्वतंत्र दृष्टिकोण के कारण हैं।

पश्चिमी सौन्दर्यशास्त्र में संवेदना और व्यक्ति-सत्ता की प्रधानता के कारण सुखवाद का आग्रह भी बहुत रहा है। जिस प्रकार एक संवेदना मूलक दृष्टिकोण के कारण एक युग में आचारशास्त्र में सुखवाद का प्रभुत्व रहा, उसी प्रकार सौन्दर्यशास्त्र में इस सुखवाद का प्रभाव बहुत रहा है। कुछ विचारक उस सम्वेदनात्मक सुख को कला के सौन्दर्य का लक्षण ही मानते रहे। जिन्होंने सुख को कलात्मक सौन्दर्य का पूर्ण लक्षण नहीं माना वे भी सौन्दर्य के साथ सुख के सम्बन्ध को महत्वपूर्ण मानते रहे। संवेदना का स्वरूप स्वार्थमय होता है। वह व्यक्ति के देह, इन्द्रियों और मन में सीमित रहती है। यह स्वार्थ और व्यक्ति-सत्ता प्रकृति का लक्षण है। अतः सम्वेदना प्रकृति-काव्य का ही उपादान बन सकती है। सम्वेदना की भूमि पर रूप और भाव दोनों का महत्व संवेदना के लिए ही है। इन्द्रियाँ इस संवेदना का माध्यम हैं। सम्भवतः मन इसका आश्रय है। प्रकृति के गुण इसके उद्दीपन हैं।

यह संवेदना दो प्रकार की होती है। अनुकूल संवेदना को सुख कहते हैं और प्रतिकूल संवेदना को दुःख। सुख स्पृहणीय है; दुःख का सभी निवारण चाहते हैं। न्याय-दर्शन के अनुसार सुख दुःख भी आत्मा के गुण हैं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार तो जीवन की सभी चेष्टायें आत्मा के धर्म हैं। अन्य दर्शन इन्हें जीवात्मा के धर्म कहेंगे। उनके अनुसार आत्मा शुद्ध और निर्विकार चैतन्य है। संवेदनाएँ विकार है अतः वे आत्मा के धर्म नहीं हो सकतीं। न्याय-वैशेषिक दर्शन भी इन्हें जीवात्मा के ही धर्म मानते है। उनके अनुसार आत्मा का मूल स्वरूप चैतन्य से भी परे कोई शुद्ध सत्ता है। इस शुद्ध सत्ता में उदित चैतन्य अथवा आत्मा के स्वरूपभूत चैतन्य की शक्ति से ही मन सम्वेदनाओं के ग्रहण में समर्थ होता है। अतः इतना अवश्य मानना होगा कि आत्मा के स्वरूप

से संवेदनाओं का कोई मौलिक विरोध नहीं है। जीवन्मुक्ति की अवस्था इसका प्रमाण है। ये सम्वेदनाएँ आत्मा की सीमा और उसका बन्धन नहीं हो सकतीं। इतना ही मोक्ष-शास्त्रों का अभीष्ट है। इस सीमा और बन्धन से मुक्त होने पर भी आत्मा का आनन्द स्फुरित होता है। इस आनन्द में इन्द्रियों की सम्वेदनाओं का सुख भी आनन्द के रस से आप्लावित हो जाता है। आत्मिक आनन्द के साथ सुख की समानता के कारण ही उपनिषदों में कई स्थानों पर आनन्द के अर्थ में 'सुख' का प्रयोग हुआ है[५९] (यो वैभूमा तदेव सुखं, न अल्पे सुखमस्ति)।

किन्तु यह समानता होते हुए भी सम्वेदनाओं के सुख और आत्मिक आनन्द में भेद है। सम्वेदना का आधार तो व्यक्ति की आन्तरिक अनुभूति है। सुख और आनन्द दोनों का ही स्वरूप आन्तरिक अनुभूति है। व्यक्ति को ऐन्द्रिक सम्वेदना के रूप में एक का और आत्मिक अनुभूति के रूप में दूसरे का अनुभव होता है। **सुख और आनन्द का भेद उनके केन्द्र में नहीं उनकी परिधि में है।** सुख की व्यापकता व्यक्ति तक सीमित है। इस दृष्टि से ऐन्द्रिक सम्वेदना के सुख का अन्वय व्यक्ति की अनुभूति में ही सम्भव है। सम्वेदना की भूमि पर हम दूसरे के सुख-दुःख को अपने सुख-दुःख के रूप में अनुभव नहीं कर सकते। यह जीवन की प्राकृतिक सीमा है। किन्तु मन और आत्मा के क्षेत्र में यह सीमा लागू नहीं है। आत्मा तो स्वरूप से ही अनन्त और सर्वव्यापक है। मन की कल्पना में भी सम्भवतः आत्मा की चेतना का ही विस्तार रहता है। कल्पना और आत्म-भाव के द्वारा हम एक दूसरे के सुख-दुःख को परस्पर बाँट सकते हैं। मनोविज्ञान भी सहानुभूति और समानुभूति के रूप में आन्तरिक भावना की इस व्यापकता को स्वीकार करता है। इस आन्तरिक सम्भावना में सम्वेदनाओं के सीमित सुख से भिन्न व्यापक आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। सुख में स्वार्थ की प्राकृतिक सीमा होती है, आनन्द में परार्थ का आत्मिक विस्तार होता है। दोनों के बीच में भावना अथवा संवेग की एक माध्यमिक कोटि और होती है जिसमें अनुभूति का आश्रय सुख के समान व्यक्तिगत तथा उसका विषय आनन्द के समान व्यापक होता है। वात्सल्य, दाम्पत्य, सख्य आदि के भाव तथा सामाजिक सौहार्द के अन्य रूप इसी के अन्तर्गत हैं। इस माध्यमिक भावना का भाव स्वार्थमय तथा परार्थमय न होकर प्रायः पारस्परिक होता है। यह परम्परागत स्वार्थ और परार्थ दोनों का संतुलन है। इसमें अधिक महत्वपूर्ण स्वार्थ का विलय अथवा

विस्तार है। इस विस्तार के कारण परस्परता के माध्यमिक भाव संवेदना के सुख की अपेक्षा आत्मभाव के आनन्द के अधिक निकट है। वस्तुत: आत्मभाव से अनुप्राणित होने पर ही यह माध्यमिक और परस्पर भाव सफल होते हैं।

सुख की कामना मनुष्य में स्वाभाविक है। यह उसका प्राकृतिक धर्म है। आनन्द की आकांक्षा भी उसकी मूल आत्मिक प्रेरणा है, यह मानना ही दार्शनिक दृष्टि से उचित होगा। इस आत्मिक आनन्द का आभास व्यवहार और साधना में पारस्परिक भाव के रूप में ही होता है। अत: इसका अनुराग मनुष्य का सामाजिक धर्म है। मनुष्य के स्वाभाविक धर्म होने के कारण उसके जीवन, संस्कृति और साहित्य में तीनों की ही साधना को स्थान मिला है। प्राकृतिक होने के कारण सुख की कामना सबसे अधिक प्रबल है। इसीलिए अधिकांश कला और काव्य प्रकृति से प्रभावित है तथा उसमें व्यक्ति की सुख-कामना अधिक सबल रूप में व्यक्त हुई है। किन्तु दूर और दुर्लभ होते हुए भी आत्मिक आनन्द की आकांक्षा भी मनुष्य को प्रेरित करती रही है। उसके दु:साध्य होने के कारण पारस्परिक सामाजिक भावना आत्म-लोक का सोपान होने के कारण मनुष्य के गौरव और अनुराग का विषय रही है। चाहे प्रकृति और सुख में मनुष्य का अधिक अनुराग हो किन्तु वह अपने आत्मिक लक्ष्य के गौरव को सदा समझता रहा है। इसीलिए उसके संस्कृति और साहित्य में सामाजिक भावों की प्रतिष्ठा सदा रही है। विज्ञान और मनोविज्ञान के प्रभाव के कारण आधुनिक युग के कला और साहित्य में प्रकृतिवाद की एक प्रबल धारा अवश्य उमड़ चली है, अन्यथा प्राचीन और मध्य युगों में तो सामाजिक भावना का ही मान अधिक रहा है।

संवेदना के स्वार्थमय प्राकृतिक सुख, सामाजिक बन्धन और सौहार्द की पारस्परिक भावना तथा आत्मभाव के आनन्द का कला और सौन्दर्य के साथ क्या सम्बन्ध है? कला और काव्य की व्यवस्था में उनका क्या स्थान है? सौन्दर्य की व्याख्या अनेक रूपों में हुई है। कला और काव्य में उन सभी रूपों में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा हुई है। **रूप, अनुभूति और व्यंजना सौन्दर्य के तीन प्रमुख पक्ष हैं।** कला और काव्य के इतिहास में तथा कला-शास्त्र में अनेक बार इनमें से किसी पक्ष को लेकर उसी को सौन्दर्य का सर्वस्व मान लेने वाले एकांगी मत भी मिलते हैं। सौन्दर्य को वस्तु का गुण तथा उसके अंगों की व्यवस्था का लक्षण मानने के प्रयास उसे रूप में ही सीमित रखना चाहते हैं। चित्रकला और मूर्तिकला से प्रभावित

प्राचीन ग्रीक सौन्दर्य शास्त्र में इस मत का प्रभाव बहुत रहा है। संवेदना को भी जीवन और कला का केन्द्र मानने वाले अंग्रेजी दर्शन के आधुनिक युग के आरम्भ में सुख की अनुभूति को सौन्दर्य का प्रमुख लक्षण माना। पहिला मत सौन्दर्य की वस्तु-परक व्याख्या है और दूसरा मत उसकी आत्म परक धारणा है। यह स्पष्ट है कि दोनों ही मत एकांगी हैं। अनुभव के अनुषंग के बिना हम वस्तुगत सौन्दर्य की चर्चा नहीं कर सकते। इसीलिए वस्तुगत सौन्दर्य अनुभूति के सुख में फलित होता है। इस सुख को कुछ कला-शास्त्री सौन्दर्य का स्वरूप और कुछ उसे सौन्दर्य का आवश्यक अंग अथवा सौन्दर्य की अनुभूति का आवश्यक फल मानते रहे हैं। इसमें संदेह नहीं कि सौन्दर्य और सुख का कोई सम्बन्ध अवश्य है। यदि हम सैद्धान्तिक विवेचन को छोड़ दें तो सामान्यतः जिन वस्तुओं को सुन्दर माना जाता है उनसे प्रायः सुख प्राप्त होता है। फूल, चाँदनी, संध्या, उषा, इन्द्रधनुष, सुन्दर बालक, सुन्दर स्त्री आदि को देखकर प्रायः सबके हृदय में हर्ष होता है। जहाँ एक ओर अनुभूति में इस सौन्दर्य का सुख अधिक होता है, वहाँ दूसरी ओर इन वस्तुओं की रूप-गत सुन्दरता को सभी स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से यह मानना उचित प्रतीत होता है कि जिन वस्तुओं की सुन्दरता सामान्यतः सर्वमान्य है उनके रूप की व्याख्या में कोई ऐसी व्यवस्था है जो संवेदना के द्वारा हमें सुख देती है। यह सौन्दर्य उसकी वर्ण-योजना, अंग-व्यवस्था, रेखा-भंगिमा आदि के कारण सुख का कारण बनता है। अतः यह मानना उचित है कि संवेदना इस सौन्दर्य का विधान नहीं करती, वह केवल इसका ग्रहण करती है। अनुभूति वस्तुगत व्यवस्था पर और सुख सौन्दर्य पर निर्भर करता है। इसके विपरीत जब हमारी मनःस्थिति अनुकूल नहीं होती तब हमें इन्हीं वस्तुओं में सुख और सौन्दर्य का अनुभव नहीं होता। **इससे निश्चित है कि किसी सीमा तक सौन्दर्य की भावना सुख की अनुभूति पर निर्भर है।** किन्तु यदि यह सौन्दर्य वस्तुगत व्यवस्था का रूप है, तो किसी व्यक्ति की अनुभूति की प्रतिकूलता से उसमें अन्तर नहीं आना चाहिए। अन्य मनुष्यों के तत्काल के अनुभव तथा उसी के अन्य काल के अनुभव इस धारणा का समर्थन करते हैं। एक और तर्क यह है कि इन सुन्दर रूप-व्यवस्थाओं के अतिरिक्त अन्य अनेक वस्तुओं से हमें सुखद संवेदना प्राप्त होती है यदि सुख ही सौन्दर्य है तो इन वस्तुओं की संवेदना में भी हमें सौन्दर्य का अनुभव होना चाहिए। किन्तु प्रायः हम ऐसा नहीं मानते। भोजन गन्ध आदि के सुख को हम सौन्दर्य नहीं कहते।

सामान्यतः हम रूप को ही सौन्दर्य का आकार मानते हैं। गन्ध, रस, स्पर्श आदि की संवेदनाओं में सुख का अनुभव होते हुए भी हम सौन्दर्य का व्यवहार नहीं करते। संगीत की शब्द योजना में भी हम सौन्दर्य का प्रयोग गंध, स्पर्श और रस की सम्वेदनाओं के समान अनुकूल वेदनीयता के माधुर्य के अर्थ में ही प्रायः करते हैं।

रूप की संवेदना की एक विशेषता यह है कि वह अनायास होती है। दूसरी विशेषता यह है कि यह आवश्यक नहीं है कि हमारा रूप-दर्शन रूपवान् वस्तुओं को प्रभावित करे। दर्शन वस्तुओं की स्वतंत्रता पर कोई आघात नहीं पहुँचाता। तीसरी विशेषता यह है कि हम रूप को वस्तुओं के अन्य गुणों की भाँति आत्मसात् नहीं कर सकते। **संक्षेप में तात्पर्य यह है कि रूप की संवेदना में स्वार्थ का लक्षण सबसे कम रहता है।** रूप-दर्शन का हर्ष भी अन्य संवेदनाओं के सुख से भिन्न होता है। स्वार्थ सीमित न होने के कारण वह एक आन्तरिक आह्लाद के रूप में उल्लसित हो उठता है। हम दूसरों के साथ उसे बाँटने के लिए उत्सुक हो जाते हैं। रूप-दर्शन के आह्लाद के विभाजन और उसकी अभिव्यक्ति में आत्मभाव का उदय होता है। यही संवेदना की भूमि पर सौन्दर्य और आनन्द का वास्तविक स्रोत है। रूप की इसी स्वतंत्रता तथा साकारता के कारण वह सौन्दर्य का समानार्थक बन गया। रूप-दर्शन की उदारता और निःस्वार्थता (विभाजन और अपरिग्रह) के कारण 'दर्शन' जीवन की सत्य और शुद्ध दृष्टि का वाचक बना। इसके अतिरिक्त दोनों में साक्षात्कार का भी गुण है। रूप दर्शन में सौन्दर्य का और दर्शन में सत्य का साक्षात्कार होता है।

सौन्दर्य की अनुभूति में रूप-दर्शन के तथा कला के दृश्य रूप के महत्व से एक उपयोगी निष्कर्ष निकलता है वह यह है कि 'सौन्दर्य' सुख का समानार्थक नहीं है। वरन् वह एक वस्तुगत गुण है। क्रोचे के बाद अनुभूति और व्यंजना की कला के क्षेत्र में इतनी व्यापक प्रभुता होगई कि लोग सौन्दर्य के इस स्वतंत्र और वास्तविक रूप को भूल से गये। यह सत्य है कि स्वतंत्र और वस्तुगत सौन्दर्य की अभिव्यक्ति भी अनुभूति में ही होती है। अध्यात्मवादी तर्क के अनुसार यह सौन्दर्य के विषय में ही नहीं सत्य के विषय में भी सत्य है। **किन्तु सौन्दर्य अथवा सत्य के इस अनुभूतिमय अनुषंग के कारण दोनों की स्वतंत्र और वास्तविक सत्ता निर्मूल नहीं हो जाती।** अध्यात्मवादी दर्शनों में सत्य की आत्म-रूपता का अनुरोध अधिक रहा है। अनुभूति सभी सत्यों का सामान्य सत्य है। इस दृष्टि से हम अनुभूति को सत्य का

अन्तर्तम रूप मान सकते हैं। किन्तु साथ ही सत्य की वाह्य सत्ता की धारणा भी पूर्णतः मिथ्या नहीं है। उसमें सत्य का एक महत्वपूर्ण तत्व निहित है जो हमारे सामान्य विचार और व्यवहार का आधार है। अनुभूति की सुन्दरता का अनुभव हमें बहुत कम होता है। क्रोचे के रहस्योद्‌घाटन के बाद भी साधारणतः लोग सौन्दर्य का अनुभव एक वाह्य सत्ता के रूप में करते हैं। हमारे व्यवहार का यह रूप जीवन का एक साधारण सत्य है। इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। बौद्धों की अनादिवासना तथा शंकराचार्य की माया जीवन के साधारण सत्य की संतोष-जनक व्याख्याएं नहीं हैं। बौद्धों की वासाना का तर्क तो अनवस्था के दोष से ग्रस्त है। माया की विक्षेप-शक्ति इस साधारण सत्य के एक महत्वपूर्ण मर्म का उद्‌घाटन अवश्य करती है। माया ब्रह्म की शक्ति है। ब्रह्म चिन्मय, प्रज्ञानघन और आत्म स्वरूप है। माया की विक्षेप शक्ति के द्वारा इस चिन्मय ब्रह्म का वाह्य जगत् के रूप में विवर्त्त होता है। अद्वैत वेदान्त में विक्षेप की इस सृष्टि को मिथ्या माना गया है। वैष्णव वेदान्तों में इसे मिथ्या नहीं मानते। माया ब्रह्म की विभूति है, इसी गौरव के द्वारा वह सगुण परमेश्वर की चिरसंगिनी के पद पर आरूढ़ हुई। लक्ष्मी, सीता, राधा और रुक्मिणी उसी माया शक्ति की सुन्दर और साकार मूर्तियाँ हैं। शक्ति तंत्रों में शक्ति को शिव से अभिन्न माना है। 'शक्ति' शिव का स्वरूप और उसका स्वभाव है। विश्व का विक्षेप इस स्वभाव का ही विलास है। स्वभाव से प्रसूत होने के कारण जगत् मिथ्या नहीं है। जगत् के रूप में शिव के स्वभाव का अन्तर्गत सत्य ही साकार होता है। अद्वैत वेदान्त में भी सम्भवतः प्रचलित अर्थ में जगत् के मिथ्यात्व की धारणा उत्तरकाल में ही आरूढ़ हुई है। गौड़पाद की कारिका में शावत सम्प्रदाय के अनुरूप ब्रह्म के स्वभाव का संकेत मिलता है (देवस्यैष स्वभावोयं आत्मकामस्य का स्पृहा)। वस्तुतः अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म की अविकार्यता ही मूल सिद्धान्त है। परिणामवाद के दोष से बचने के लिए ही विवर्त-वाद का विकास हुआ और इसी दोष की आशंकाओं से जगत् के मिथ्यात्व का सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त में रूढ़ हुआ। ब्रह्म की अविकार्यता वेदान्त और शैव मत का समान सिद्धान्त है। शंकराचार्य की 'सौन्दर्य लहरी' और उसमें सुन्दरी का 'परम ब्रह्म महिषी' पद इस समानता का समर्थन करता है। उपनिषदों में 'परांचि खानि' के द्वारा हमारे ज्ञान और दृष्टि की बहिर्मुखता की व्याख्या यद्यपि इन्द्रियों के स्वभाव के आधार पर की गई है, किन्तु 'व्यतृणत स्वयम्भू' में इन्द्रियों की बहिर्मुखी वृत्ति का मूल स्वयम्भू ब्रह्म के स्वभाव और कर्तृत्व में मिलता है।

इन दार्शनिक व्याख्याओं का आशय यही है, कि एक ओर जहाँ आत्मा की मूल वृत्ति अन्तर्मुखी है, वहाँ दूसरी ओर बहिर्मुखी वृत्ति भी इसके स्वभाव के विपरीत नहीं है। बाह्य जगत् में तथा बहिर्मुखी सत्ताओं के अनुभव में चेतना का बहिर्मुख विक्षेप होता है। यह स्वाभाविक है, अतः आत्मा के प्रतिकूल नहीं। इसी बहिर्मुख विक्षेप के स्वभाव के कारण हम सौन्दर्य और सत्य की बाह्य सत्ता का व्यवहार करते हैं। इस विक्षेप के आधार पर ही व्यवहार में साधारणता की संगति सम्भव होती है। यह संगति केवल प्राकृतिक जीवन अथवा व्यापार में ही अपेक्षित नहीं है, विचार और कलानुभूति के सांस्कृतिक क्षेत्र में भी इसकी अपेक्षा होती है। सत्य और सौन्दर्य की स्वतंत्र सत्ता होने के कारण ही साधारणता का व्यवहार संभव होता है। पदार्थों और सिद्धान्तों का यह स्वतंत्र और साधारण रूप ही कला के साथ विज्ञान और दर्शन की सन्धि का सूत्र है। इस दार्शनिक आधार के अतिरिक्त सौन्दर्य और सत्य की स्वतंत्र और बाह्य सत्ता का आधार हमारे लौकिक जीवन का एक साधारण सत्य है। सामान्य व्यवहार में हम बाह्य विषयों में ही सौन्दर्य का व्यवहार अधिक करते हैं। यह वस्तुओं पर भावना अथवा अनुभूति का आरोपण नहीं है। इतना अवश्य है कि भावना अथवा अनुभूति के साथ संगति में ही यह सौन्दर्य स्फुटित होता है। किन्तु अनुभूति से अभिन्न होते हुए भी इस सौन्दर्य की एक स्वतंत्र सत्ता है। अनुभूति के पक्ष का समर्थन करने वाले लैला-मजनू तथा माता-पिता के उदाहरणों से यह संकेत करते हैं कि सौन्दर्य वस्तु का गुण नहीं वरन् भावना का लक्षण है। इसी भावना को कल्पना का नाम देकर कौलिंगवुड ने यह प्रमाणित किया है कि हम कल्पना के द्वारा किसी भी वस्तु में सौन्दर्य देख सकते हैं और देखते हैं। कल्पना पूर्वक जिस वस्तु की ओर भी हम देखते हैं, वही हमें सुन्दर प्रतीत होती है। इस तर्क का मुख्य उद्देश्य तो सौन्दर्य की चेतना-मूलकता सिद्ध करना ही है। किन्तु क्या इसके साथ ही यह सौन्दर्य की वस्तु मूलकता भी सिद्ध नहीं करता ? **यदि कल्पना पूर्वक देखने से प्रत्येक वस्तु सुन्दर दिखाई देती है तो यही मानना होगा कि प्रत्येक वस्तु के रूप में सौन्दर्य अन्तर्निहित है।** सौन्दर्याभिमुखी कल्पना के द्वारा उस सौन्दर्य का उद्घाटन और अनुभावन होता है। एक विचारणीय बात यह है कि जहाँ वस्तुओं के सभी रूप सौन्दर्य-प्रदर्शन में समर्थ हैं, वहाँ चेतना के सब रूप सौन्दर्य के उद्घाटन में समर्थ नहीं। चेतना के वैज्ञानिक और दार्शनिक दृष्टिकोण सौन्दर्य का उद्घाटन नहीं करते। कलाभिमुख चेतना ही

सौन्दर्य का उद्‌घाटन करती है। इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि वह वस्तुओं पर सौन्दर्य का आरोपण करती है। यदि सौन्दर्य अनुभूति का ही स्वरूप है तो वस्तुओं के अभाव में निर्विकल्प चेतना में भी सम्भव हो सकता है। एक तो यह निर्विकल्प चेतना ही बहुत दुर्लभ है, दूसरे सम्भव होने पर भी इसमें सौन्दर्य की अनुभूति होगी यह असंदिग्ध है। दर्शनों में प्राय: निर्विकल्प चेतना की अवस्था में आनन्द का ही उद्रेक माना जाता है। शैवतंत्रों में ही चिद्‌शक्ति को सुन्दरी भी माना है। शक्ति का विमर्श होने के कारण सम्पूर्ण जगत सौन्दर्य का ही विलास है। इस दृष्टि से भी सौन्दर्य समस्त वस्तुओं में व्याप्त है। कलात्मक कल्पना इसी का उद्‌घाटन करती है।

जहाँ निर्विकल्प चेतना का सौन्दर्य दुर्लभ है, वहाँ वस्तुओं में सौन्दर्य की धारणा अत्यन्त साधारण है। जगत की अनेक वस्तुएँ (जिनमें प्राकृतिक वस्तुओं की प्रधानता है) अनादि काल से सुन्दर मानी जाती रही हैं। सभी उनमें सौन्दर्य का दर्शन करते हैं। आकाश, निर्झर, पुष्प, सूर्य, चन्द्र, उषा, संध्या, इन्द्रधनुष अनेक पशु, अनेक पक्षी, अनेक फल आदि में समाज सदा से सौन्दर्य देखता आया है। इनकी सुन्दरता के विषय में अधिक मत-भेद भी नहीं है। इनका सौन्दर्य साधारण मत से स्वीकृत सौन्दर्य है। वह व्यक्ति की भावना पर निर्भर नहीं करता। दुःखी वियोगियों को भी चन्द्रमा सुन्दर ही प्रतीत होता है। वियोगिनी का रक्त पीकर रक्त-मुख प्रतीत होने वाली प्राची कवियों की उत्प्रेक्षा है। वस्तुत: वियोगियों के लिए भी उषा का सौन्दर्य कम न होता होगा। **दुःख में भी वस्तुओं के सौन्दर्य का अक्षुण्ण बना रहना सौन्दर्य की वस्तुगत और स्वतंत्र सत्ता का समर्थ प्रमाण है।** यह स्थिति इस मत का भी बड़ी तीव्रता से खंडन करती है कि सुख सौन्दर्य का स्परूप है। अनुभूति का सौन्दर्य से सम्बन्ध अवश्य है किन्तु उस अनुभूति को भावना अथवा वेदना की अपेक्षा अवगति के निकट मानना अधिक उचित है। अवगति चेतना का ग्रहणात्मक रूप है। वाह्य सौन्दर्य के दर्शन में अवगति की ही क्रिया प्रमुख रहती है। अवगति आलोक के समान विधान की अपेक्षा उद्‌घाटन अधिक करती है। इस अवगति में स्फुटित होने वाला सौन्दर्य वास्तविक और स्वतंत्र सौन्दर्य ही है। हम इसे सत्य के समकक्ष मान सकते हैं। ज्ञात नहीं कि अंग्रेजी कवि कीट्स ने किस अर्थ में सौन्दर्य को सत्य कहा था किन्तु कवि के इस कथन में सौन्दर्य की स्वतंत्र और वस्तुगत सत्ता का एक महत्वपूर्ण संकेत मिलता है।

कौलिंगवुड की कल्पना भावनात्मक अनुभूति की अपेक्षा अवगति के अधिक निकट है। केवल एक महत्वपूर्ण अन्तर है कि जहाँ वस्तुगत सौन्दर्य के दर्शन में अवगति सक्रिय नहीं तो परतंत्र अवश्य प्रतीत होती है, वहाँ कौलिंगवुड की कलात्मक कल्पना स्वच्छंद है। इसीलिए वस्तुओं की सत्ता के अनुषंग को सत्य असत्य की कोटि से उठा कर उसे आत्मसात् कर लेना आवश्यक है।

क्रोचे के मत में भी कलात्मक सौन्दर्य का स्वरूप पूर्णतः आत्मगत है। सौन्दर्य की अनुभूति में चेतना स्वतंत्रता-पूर्वक अपने विषयों का सृजन करती है। यह स्पष्ट है कि यह सौन्दर्य की आन्तरिक अनुभूति है जिसमें बाह्य विषयों की परतंत्रता का प्रसंग नहीं है। इसे चेतना की निर्विकल्प अवस्था कह सकते हैं। क्रोचे इसे सौन्दर्यानुभूति और कलात्मक चेतना का मौलिक रूप मानते हैं। आदिम जातियों और बालकों के जीवन में कला का उदय इसी रूप में होता है। इस कलात्मक अनुभूति को क्रोचे ने अभिव्यक्ति के साथ एकाकार माना है। किन्तु यह केवल आन्तरिक अभिव्यक्ति है, बाह्य उपकरणों के माध्यम में साकार होने वाली बाह्य अभिव्यक्ति नहीं। क्रोचे के मत में सौन्दर्य की कलात्मक कल्पना अपने आन्तरिक रूप में ही पूर्ण है। बाह्य अभिव्यक्ति एक उपचार मात्र है। वह न आन्तरिक अनुभूति को आकार देने में समर्थ है और न कलाकार के सृजनात्मक कृतित्व की पूर्णता के लिए आवश्यक है।

कला और सौन्दर्य के इस आत्मगत मत में बाह्य विषयों, व्यक्तियों, माध्यमों और कला की बाह्य अभिव्यक्तियों का महत्व कुछ भी नहीं रहता। इनके साथ इस आत्मगत मत की समुचित संगति भी नहीं है। जीवन का व्यवहार और कलाओं का मूर्त्त रूप इनके महत्व को प्रमाणित करता है। यदि आन्तरिक अनुभूति में ही कला का सौन्दर्य पूर्ण है तो असंख्य कलाकारों ने बाह्य माध्यमों के द्वारा उसे रूप देने का प्रयत्न क्यों किया है? हम अपनी सौन्दर्यानुभूति को दूसरों को बाँटने के लिए क्यों उत्सुक रहते हैं? कलाकृतियों की बाह्य अभिव्यक्तियाँ हमारी रुचि का आधार कैसे बनती हैं? कौलिंगवुड का यह कथन कि बाह्य अभिव्यक्ति कलाकार के लिए उपचार मात्र है, संतोषजनक नहीं है। स्वयं कलाकार अपनी कृतियों को उपचार से अधिक महत्व देते हैं। उनका विश्वास होता है कि वे कृतियाँ यथा सम्भव उनकी कलानुभूति को साकार बनाती हैं। यह सत्य है कि बाह्य आकार

आन्तरिक अनुभूति का निमित्त मात्र है। यह निमित्त कलात्मक अनुभूति के जागरण का आधार बनता है। किसी सीमा तक कौलिंगवुड की यह धारणा सत्य है। किन्तु माध्यम और अनुभूति की संगति तथा माध्यम की सामर्थ्य के बिना यह कैसे सम्भव है ? यदि बाह्य माध्यम और अभिव्यक्ति का कोई महत्व है तो कला व्यक्ति की एकान्तिक अनुभूति का विषय नहीं वरन् मनुष्य के सामाजिक व्यवहार की विभूति है। एकान्तिक और व्यक्तिगत अनुभूति में जिस कलात्मक सौन्दर्य का सृजन होता है उसका प्रमाण तो केवल व्यक्ति ही है। किन्तु सामान्यतः सौन्दर्य और कला दोनों हमारे सामाजिक व्यवहार की विभूतियाँ हैं। जिस एकान्त में हम प्रायः कला और सौन्दर्य का आनन्द लेते हैं उसमें बाह्य दृष्टि से अकेले होते हुए भी हम मन से अकेले नहीं होते। कल्पना के द्वारा हम अन्य वस्तुओं और व्यक्तियों के साथ साहचर्य स्थापित करते हैं। काव्य और कला की असंख्य कृतियाँ कलाकारों के इस कल्पनात्मक साहचर्य और समात्मभाव को प्रमाणित करती हैं। बालकों और उससे भी अधिक स्पष्टतः आदिम जातियों, के जीवन में कला का यही सामाजिक रूप अधिक मिलता है। **सामाजिक सम्पर्क में समात्मभाव की स्थापना होने पर सौन्दर्य का भाव उदित होता है। यह समात्मभाव ही सौन्दर्य और कला का आन्तरिक स्रोत है।**

समात्मभाव मूलतः चेतना का आन्तरिक भाव है, किन्तु बाह्यता, अनेकता आदि से उसकी समुचित संगति है। वस्तुतः इनकी भूमिका में ही समात्मभाव उदित होता है। समात्मभाव में उदित होने वाला सौन्दर्य ही जीवन के व्यवहार, कला की बाह्य अभिव्यक्ति और सौन्दर्य की साधारण धारणा के साथ संगत है। क्रोचे की आन्तरिक अनुभूति एक ऐसी असाधारण अवस्था है जो विरले ही कला-साधकों को अल्पकाल के लिए प्राप्त हो सकती है। किन्तु कला और सौन्दर्य जीवन की कहीं अधिक व्यापक और साधारण स्थितियाँ हैं। साथ ही सौन्दर्य की अनुभूति ऐसी क्षणिक नहीं है जैसी कि क्रोचे के मत में होगी। यह अनुचित नहीं है कि हम वस्तुओं और भावों में एक स्थायी रूप में सौन्दर्य का अनुभावन करते हैं। बाह्यता और अनेकता की भूमिका में ही सौन्दर्य की सृजनात्मक वृत्ति व्याप्त होती है। कला और सौन्दर्य का स्वरूप सृजनात्मक है, अनुकरणात्मक नहीं। अनुकरण भी सृजन का ही एक रूप है। यह सृजन चेतना का स्वतंत्र रूप-विधान है। कलात्मक चेतना के सृजनात्मक रूप का उद्घाटन क्रोचे की एक महत्वपूर्ण देन है। किन्तु इस सृजन

को पूर्णतः स्वतंत्र बनाने के लिए क्रोचे ने कला को पूर्णतः आत्मगत बना दिया। कलात्मक अनुभूति में चेतना स्वतंत्र रूप से अपने विषयों का सृजन करती है। बाह्य विषयों को स्वीकार करने पर चेतना की सृजनात्मक स्वतंत्रता में बाधा पड़ती है। यह बाधा सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता न मानने पर कठिन प्रतीत होती है। वस्तुतः सौन्दर्य चेतना का भाव होते हुए भी एक वस्तुगत रूप है। वस्तुओं में हम सौन्दर्य का विक्षेप करते हैं वह मिथ्या नहीं है। वस्तुओं, विषयों, माध्यमों आदि के उपकरणों से ही चेतना बाह्य और व्यवहार्य रूप में सौन्दर्य के भाव को साकार बनाती है। सौन्दर्य के इस रूप-विधान में ही चेतना का सृजनात्मक धर्म कृतार्थ होता है। बाह्य उपकरणों के साथ चेतना की सृजनात्मक वृत्ति का कोई मौलिक विरोध नहीं है। प्रकृति में हम सौन्दर्य के दर्शन करते हैं। चित्र, मूर्ति, काव्य, गीत आदि में हम सौन्दर्य को साकार करते हैं। ये सब सौन्दर्य के दर्शन सृजन और व्यवहार की वे परिस्थितियाँ हैं जो बाह्य उपकरणों के अनुषंग में ही सम्भव हैं तथा सामाजिक समात्मभाव में ही सार्थक हैं। जिन उपकरणों के रूप में वस्तुगत सौन्दर्य अधिक होता है उनमें चेतना की सृजनात्मक क्रिया कम अपेक्षित होती है। प्रकृति का सौन्दर्य तथा अन्य वस्तुओं और व्यक्तियों का सौन्दर्य इसी श्रेणी में है। कलाओं में सौन्दर्य का अधिक सक्रिय रूप साकार होता है। चित्रकला, काव्य, संगीत आदि में चेतना सौन्दर्य का अधिक सक्रिय सृजन करती है। किन्तु इन कलाओं का **सौन्दर्य एकान्त और आत्मगत नहीं है एकाधिक व्यक्तियों के साहचर्य सम्प्रेषण और समात्मभाव में ही जीवन की यह सजीव और स्थायी सौन्दर्य साधना सम्भव होती है तथा बाह्य माध्यमों के उपकरणों में ही वह साकार होती है।**

चेतना की सृजनात्मक वृत्ति समात्मभाव में ही सक्रिय तथा बाह्य उपकरणों के माध्यमों में ही सफल होती है। माध्यमों के भेद से कलाओं के अनेक भेद हैं। कला के माध्यमों का रूप विशेषतः ऐन्द्रिक है। ऐन्द्रिक सम्वेदनाओं के उपकरणों में ही कला का सौन्दर्य साकार होता है। मनुष्य की इन्द्रियों में आँख और कान दो का ही अधिक विकास हुआ है। इन दोनों की बनावट भी जटिल है। ये दोनों दूरस्थ और साकार रूपों का ग्रहण करती हैं। इनमें आँख द्वारा ग्राह्य रूप का आकार अधिक स्पष्ट है। दृश्य रूपों में रंगों के उद्भव के कारण ये और भी अधिक रमणीय बन गये हैं। इन रंगों के अनेक सूक्ष्म भेदों को आँख बड़ी बारीकी के साथ ग्रहण करती है। दृश्य रूप की तुलना में शब्द को नीरूप कहा जाता है।

शब्द में दृश्य रूप तो नहीं है, किन्तु एक व्यापक अर्थ में स्वर-योजना के आकार को शब्द का 'रूप' कह सकते हैं। दृश्य रूप के रंगों की भाँति शब्द के भी बहुत सूक्ष्म भेद होते हैं। हमारे कान इन भेदों को बड़ी बारीकी के साथ ग्रहण करने में समर्थ हैं। अन्य इन्द्रियों की सम्वेदना में अनुकूल वेदनीयता की प्रियता अवश्य है, किन्तु उनमें कलात्मक सौन्दर्य के रूप का विकास नहीं है। घ्राण की इन्द्रिय अत्यन्त प्राचीन और सूक्ष्म है, किन्तु वह शीघ्र थक जाती है। उसकी ग्रहण-शक्ति सूक्ष्म और दूरग्राही होने पर भी उसकी धारण-शक्ति मन्द है। सभ्यता के विकास के साथ इसकी घ्राण-शक्ति भी मन्द होती गई है। स्वाद और स्पर्श की इन्द्रियाँ निकट-ग्राहिणी हैं तथा उनका सम्बन्ध मुख्यतः अनुकूल-वेदनीयता से ही है। इनमें न कलात्मक सौन्दर्य की भावना के लिए अपेक्षित दूरी है और न धारणा है तथा न इनके विशेष विषयों में कलात्मक सौन्दर्य का रूप ही विकसित हुआ है। अस्तु आँख और कान इन्हीं दो इन्द्रियों के विषयों में कला के अनुभावन के लिए अपेक्षित दूरी तथा रूपवत्ता है और इन्हीं दो इन्द्रियों में सौन्दर्य की रूप-योजना के ग्रहण तथा धारण की क्षमता विकसित हुई है। इन्हीं दो इन्द्रियों के विषय में सौन्दर्य की समृद्ध रूप-योजनाओं के योग्य सम्पन्न विविधता है। यही कारण है कि इन्हीं दो इन्द्रियों के आधार पर मुख्यतः कलाओं का विकास हुआ है।

चित्रकला और मूर्तिकला उन कलाओं में मुख्य हैं जिनका विषय दृश्य रूप है। संगीत का विषय शब्द है। दृश्य रूप और शब्द के माध्यमों में कुछ स्वाभाविक भेद है। दृश्य रूप दिङ्मय विस्तार है, शब्द एक काल-क्रम-गत परम्परा है। दृश्य रूप साक्षात्, स्पष्ट और स्थिर होता है। हम कितने ही काल तक उसे देख सकते हैं, क्योंकि काल से उसका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। चाहे चेतना की प्रकाश-रूपता के कारण हो और चाहे मस्तिष्क के सत्व-प्रधान तत्व के प्रकाशानुरूप होने के कारण हो, आँख इन्द्रियों में विशेष महत्वपूर्ण है। इसीलिए 'अक्ष' पद इन्द्रिय का समानार्थक है। वस्तुतः दृश्य रूप ही विश्व का रूप है। नयनों के दर्शन द्वारा ही यह विश्व के रूप कृतार्थ होते हैं तथा विश्व के साथ मनुष्य का सम्पर्क स्थापित होता है। "आँख हैं तो जहान है" की कहावत जीवन के एक महान सत्य का संकेत करती है। विश्व के दृश्य रूपों की भाँति विश्व के शब्द-रूपों में सामान्यतः कोई विशेष आकर्षण नहीं है। कोयल बुलबुल आदि थोड़े से ही पक्षियों का शब्द श्रवण-मधुर होता है। उस शब्द में भी केवल माधुर्य है, कोई कलात्मक योजना नहीं है।

संगीत की दृष्टि से कुछ पक्षी एक ही स्वर बोलते हैं, जो एक-स्वरता के कारण अधिक कलात्मक नहीं कहा जा सकता। कलात्मक दृष्टि से जो सौन्दर्यमयी स्वर-योजनाएँ कही जाती हैं, वे मुख्यतः मनुष्य की रचनाएँ हैं। इस दृष्टि से संगीत का सौन्दर्य प्रधानतः मनुष्य की सृष्टि है; शब्द और स्वर के क्षेत्र में प्राकृतिक सौन्दर्य नाम की वस्तु बहुत कम है। **यदि कला सृजनात्मक सौन्दर्य है तो संगीत पूर्णतः सृजनात्मक है।** इसकी रूप योजना का कोई आधार प्रकृति में नहीं है। केवल स्वर की इकाइयों की सम्भावना मुक्त आकाश में है, किन्तु सौन्दर्यमयी रूप-योजनाओं की रचना मनुष्य अपनी सृजनात्मक कला-वृत्ति के द्वारा करता है। इसके विपरीत चित्रकला की रूप योजनाओं का बहुत कुछ आधार प्रकृति में है। प्रकृति के रूपों के तद्रूप अंकन का चित्रकला में बहुत महत्व है। सम्भवतः इसी आधार पर कुछ विचारक अनुकरण को कला की परिभाषा मानते रहे। इसमें संदेह नहीं कि कला का स्वरूप अनुकरण नहीं, रचना है। कला सृजन है और इस दृष्टि से चित्रकला भी सृजनात्मक है। चित्र के रूपों का कुछ प्रकृति में आधार मिल सकता है; किन्तु चित्र की योजना रचना ही है। भावचित्रों में यह रचनात्मकता अधिक होती है। **संगीत पूर्णतः रचनात्मक ही है, उसकी स्वर योजनाओं का कोई प्राकृतिक आधार नहीं है।** कला को अनुकरण मानने वाली परिभाषाएँ संगीत की कसौटी पर आकर ही खण्डित होती हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि चित्रकला में बाह्य और प्राकृतिक रूपों का आधार तथा यथार्थ अंकन का महत्व कला के वस्तु-गत आधार के पक्ष को प्रमाणित करता है तथा कला की पूर्णतः आत्मगत परिभाषाओं की एकांगिकता को उद्घाटित करता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि चित्रकला की रूप-योजना एक दिङ्मय विस्तार है तथा संगीत की स्वर योजना एक कालक्रमगत परम्परा है। काल से सम्बद्ध न होने के कारण चित्र की रूप-योजना में एक स्थिरता है। इस स्थिरता के कारण अथवा मस्तिष्क के साथ रूप की सहज संगति होने के कारण मस्तिष्क में चित्र की धारणा अधिक स्थायी होती है तथा उसका स्मरण भी अधिक सरलता और सजीवता पूर्वक सम्भव है। इसके विपरीत काल-क्रम-गत होने के कारण शब्द नश्वर है। चाहे संगीत का तात्कालिक प्रभाव कितना ही तीव्र हो, किन्तु उसकी धारणा में स्थिरता नहीं होती और संगीत के स्वर तथा उसकी स्वर योजना का स्मरण अत्यन्त कठिन है। एक ओर शब्द दृश्य रूप की अपेक्षा सूक्ष्म, सम्पन्न, स्वतंत्र और मर्मस्पर्शी

माध्यम है, दूसरी ओर वह नश्वर और दुःस्मरणीय है। जहाँ साधारण जनता में रूप-योजना का सहज बोध अत्यन्त सीमित है तथा लोक जीवन में चित्रकला का विकास बहुत कम हुआ है, वहाँ संगीत का सहज बोध साधारण जनों में बहुत है और लोक-जीवन में संगीत का विकास बहुत हुआ है। नश्वर होते हुए भी लोक-जीवन की परम्परा में संगीत की अपार निधियां सुरक्षित हैं। इसका कारण संगीत की स्वर योजना में भाव का संयोग है। संगीत का शुद्ध स्वरूप केवल रूपात्मक स्वर-योजना है, जो वाद्य संगीत तथा उस्तादों के आलापों में ही मिलती हैं। किन्तु संगीत का यह शुद्ध रूप न अधिक समृद्ध हो सका और न अधिक लोकप्रिय हो सका। शास्त्रीय संगीत में जहाँ यह समृद्ध हुआ, वहाँ भी शब्द में भाव और अर्थ का सहयोग उसका आधार है। अर्थ से संयुक्त होकर स्वरों का शब्द-रूप तत्व-पूर्ण हो जाता है। शब्दों का यह अर्थ चिन्मय तत्व है। चिन्मय तत्व होने के कारण चेतना के साथ उसकी एकात्मता है। इस एकात्मता के कारण ही अर्थ की धारणा मस्तिष्क में रूप से भी अधिक स्थायी होती है। काल से सम्बद्ध न होने के कारण चित्र का रूप जीवन के एक क्षण को अंकित करता है। अनेक चित्रों में अंकित अनेक क्षणों में कोई क्रम-संगति न होने के कारण इन क्षणों की इकाइयों की कोई व्यवस्थित परम्परा नहीं बन पाती। इसके विपरीत शब्द के कालक्रमगत होने के कारण शब्द परम्परा के अर्थ तत्व की एक परम्परा मस्तिष्क में अंकित होती है। अर्थ की धारणा के स्थायित्व के कारण यह परम्परा निरन्तर सम्पन्न होती रहती है। आगामी परम्पराएँ पूर्व परम्पराओं से मिलकर उन्हें समृद्ध बनाती हैं। अर्थ परम्परा की यह समृद्धि स्थायित्व को और बढ़ाती है। सम्भवतः अर्थ की यह चिन्मय परम्परा चेतना के पूर्वापर स्वरूप के अधिक अनुरूप है। इसीलिए चेतना में इसका ग्रहण और धारण सहज होता है। चेतना का यौगपद्य इस धारणा के स्थायित्व को और स्थिर करता है। अर्थ-परम्पराओं से संयुक्त होकर 'शब्द' कला का अधिक समर्थ और समृद्ध माध्यम बन गया है। अर्थ की इसी महिमा के कारण संगीत की शुद्ध स्वर-योजना में प्रायः सार्थक शब्दों का संगम है। शास्त्रीय संगीत में शब्द अल्प और स्वर योजना अधिक है, किन्तु लोक-संगीत में दोनों का संतुलन और सामंजस्य है।

लोक-संगीत का यह रूप काव्य के अत्यन्त निकट है। **काव्य का प्राचीन रूप लोक-संगीत ही है। वेदों के मंत्र कुल-परम्पराओं में सुरक्षित हमारे प्राचीन लोक**

गीत ही हैं। नृत्य में संगीत की लय चित्रकला की रूप-वत्ता और मूर्तिकला की साकारता का समन्वय है। जिस प्रकार संगीत का शुद्ध रूप शुद्ध स्वर-योजना है, उसी प्रकार नृत्य का शुद्ध रूप अंगों की गति की लय है। शुद्ध संगीत की भाँति शुद्ध नृत्य का विकास भी केवल शास्त्रीय और स्वल्प है। सामान्यतः गति और लय के रूपों में भाव-तत्व के समन्वय पूर्वक ही संगीत और नृत्य का विकास हुआ है। प्राचीन लोक-पर्वों में रूप में चित्रकला, संगीत, नृत्य और काव्य का संगम मिलता है।

लोक-कलाओं और लोक-पर्वों में विविध कलाओं का संगम होने के साथ-साथ सामाजिक भावना ओतप्रोत है। उनका रूप ही सामूहिक है। समात्मभाव और सम्प्रेषण उनकी प्रेरणा और स्थिति है। सार्थक शब्द इस समात्मभाव और सम्प्रेषण का सर्वोत्तम माध्यम है। इसीलिए सम्भवतः मनुष्य के विकास में चेतना के उत्कर्ष के साथ भाषा का भी उद्‌भव हुआ। भाषा पूर्णतः सामाजिक यंत्र है। एकान्त में पलने वाले को भाषा का ज्ञान अन्य सहज वृत्तियों की भाँति स्वभावतः विकसित नहीं होता। समाज में ही और समाज के अनुरूप ही बालक भाषा सीखते हैं। समाज में ही भाषा की उत्पत्ति और उसका उपयोग है। सामाजिक जीवन का स्वरूप समात्मभाव और सम्प्रेषण है। वस्तुतः यही मनुष्यता का भी स्वरूप है। समाज से अलग पलने वाले बालक में भाषा ही नहीं अन्य मानवीय वृत्तियाँ भी विकसित नहीं होती। वस्तुतः मानवीय संस्कृति का समस्त रूप सामाजिक स्थिति के समात्मभाव और सम्प्रेषण से प्रेरित तथा पोषित है। सार्थक शब्द समात्मभाव और सम्प्रेषण का समर्थ और सम्पन्न माध्यम है। समात्मभाव चेतना की वह स्थिति है जिसमें दो या अधिक चेतना के बिन्दु एक ही भाव से स्पन्दित होते हैं तथा अपने व्यक्तित्व के केन्द्र में रहते हुए भी भावना की परिधियों के द्वारा एक दूसरे को आलिंगन करने का प्रयास करते हैं। चेतनाओं के सम-भाव और सामंजस्य के कारण समात्मभाव की स्थिति में एकात्मभाव भी उत्पन्न होता है, यदि हम एकात्मभाव का अर्थ व्यक्तियों का विलय नहीं समझते। सम्प्रेषण इस समात्मभाव का सूत्र है। वस्तुतः सम्प्रेषण के ही द्वारा समात्मभाव स्थापित होता है। सम्भवतः चेतना की मूल एकात्मता के कारण चेतना के शुद्ध भावों में भी सम्प्रेषण की क्षमता है। किन्तु सामान्यतः यह सम्प्रेषण किसी न किसी माध्यम के द्वारा ही होता है। आँख और मुख में भावों के सम्प्रेषण की अपूर्व क्षमता है। शब्द की शक्ति भी इस

दिशा में अद्भुत है। आँख, मुख और अंगों की मुद्राओं और भंगिमाओं के सम्प्रेषण में सजीवता अधिक है, किन्तु शब्द के सम्प्रेषण में सम्पन्नता और व्यापकता की सामर्थ्य अधिक है। **मस्तिष्क की धारणाओं में अर्थपरम्पराओं के और लिपि के रूप में संस्कृति की परम्पराओं के स्थायित्व का आधार बनकर शब्द मानवीय जीवन की अद्भुत विभूति बन गया है।**

मुखर माध्यम के रूप में शब्द भी एक ऐन्द्रिक सम्वेदना है। किन्तु भाषा के विकास की परम्परा में शब्द अर्थों के निमित्त बन गये हैं। उनका मुखर अथवा ऐन्द्रिक रूप एक संकेत मात्र है, जो अर्थों और भावों के अभिप्राय को व्यंजित करता है। इस अर्थ-व्यंजना के द्वारा ही शब्द सम्प्रेषण का सूत्र तथा समात्मभाव का आधार है। आदिम काल से ही सामाजिक सम्प्रेषण के प्रसंग में ही सार्थक शब्द की भाषा का विकास हुआ है। सम्प्रेषण की सम्भावना और स्थिति में ही सार्थक शब्द का अस्तित्व और उसकी सार्थकता है। अन्य कला के माध्यमों के एकाकी प्रयोग की कल्पना भी की जा सकती है, किन्तु शब्द के एकाकी प्रयोग की कल्पना ही असंगत है। चित्रकला, मूर्तिकला और नृत्य कला के माध्यमों का एकाकी प्रयोग संभव है। मन और कल्पना से भी एकाकी होने पर कला की संभावना हो सकती है या नहीं यह एक दूसरा प्रश्न है। संगीत में शब्द का एकाकी प्रयोग प्रायः दिखाई देता है। यह भी कह सकते हैं कि अकेले होने पर लोग प्रायः गुनगुनाने लगते हैं। किन्तु इसका कारण यह नहीं कि अकेले में भाव की तन्मयता सुगम होने पर कला का उदय हो जाता है। **सम्भावना यह दिखाई देती है कि अकेला होने पर मनुष्य एकान्त की शून्यता को भावों के साहचर्य से पूर्ण करने के लिए ही गा उठता है। प्रायः इन एकान्त-संगीतों में काल्पनिक साहचर्य की भावना रहती है। भाषा के सार्थक शब्द के एकाकी प्रयोग की तो कल्पना भी असंगत जान पड़ती है, जो अकेले ही बात करते हैं, उनको दुनियाँ पागल कहती है।** स्वस्थ और साधारण जन प्रायः भावों के सम्प्रेषण और चेतनाओं के संवाद के प्रसंग में ही सार्थक शब्द का प्रयोग करते हैं। वैसे तो सभी कलाओं के सम्बन्ध में यह ठीक है कि समात्मभाव की भूमिका में ही सौन्दर्य का उदय होता है, किन्तु काव्य के सम्बन्ध में सार्थक शब्द के माध्यम के कारण सबसे अधिक स्पष्ट है कि समात्मभाव ही कला का मूल स्रोत है। शब्द का सूक्ष्म और सम्पन्न माध्यम समात्मभाव में ही उदित होकर उसे व्यक्त और समृद्ध बनाता है।

'अर्थ' चिन्मय तत्व है। 'समात्मभाव' चेतनाओं का संवाद और विस्तार है। अतः विस्तार के अनुरूप होने पर ही अर्थ का चिन्मय तत्व समात्मभाव के अनुकूल होता है। इसी बिन्दु पर समात्मभाव में कला के सौन्दर्य का रहस्य और विज्ञान, दर्शन आदि से कला का भेद स्पष्ट होता है। विज्ञानों और दर्शनों का प्रयोजन बुद्धि के विश्लेषण और प्रत्ययों के परिच्छेद के द्वारा अर्थों के निश्चित रूप का निर्धारण है। इस निर्धारण की सूक्ष्मता और कठोरता विज्ञानों और दर्शनों का गुण है। ज्ञान की ये शाखायें प्रत्ययों और व्यक्तियों को अपने निश्चित रूपों में परिच्छिन्न बनाती हैं। इनका यह क्रम व्यक्तितत्व और भाव (अर्थ) के विस्तार के विपरीत है। सत्य इनका विषय अथवा लक्ष्य है। किन्तु काव्य में शब्दों का प्रयोग उनके अर्थ के निश्चित परिच्छेद की सीमाओं में नहीं होता। समात्मभाव की स्थिति में जिन भावों की अभिव्यक्ति होती है, वे विस्तार-शील और समृद्धशील होते हैं। अर्थ के इस अनिश्चित विस्तार को व्यंजना कह सकते हैं। व्यंजना एक व्यापार और शक्ति है। 'वक्रोक्ति' वचन की शैली और व्यंजना का रूप है। विस्तार-शील अर्थ-तत्वों को 'आकूति' कहना उचित है। इसके विपरीत निश्चित अर्थ-तत्व को 'अर्थ' और उसकी अभिव्यक्ति को 'अभिधान' कह सकते हैं। **विज्ञान, दर्शन आदि में अर्थ का अभिधान होता है। कला और काव्य में आकूति की व्यंजना होती है। विस्तार-शील भाव होने के कारण यह समात्मभाव के अनुकूल है। 'समात्मभाव' चेतनाओं के सम्वाद में उनके भाव समृद्धि है। समात्मभाव चेतना की कलात्मक स्थिति का आन्तरिक आकार है। आकूति की व्यंजना उसका समृद्धिशील भाव-तत्व है। विज्ञान, दर्शन आदि के निश्चित अर्थ-विधान के विपरीत समात्मभाव में आकूति की व्यापक और विस्तार-शील व्यंजना में ही कलात्मक सौन्दर्य का स्रोत है।** सभी कलाओं में अपने अपने माध्यमों द्वारा आकूति का आधान और उसकी व्यंजना होती है। सभी कलाओं के माध्यमों की अपनी विशेषता और विलक्षण शक्ति है। सूक्ष्मता, विपुलता और स्वतंत्रता के अतिरिक्त शब्द में अन्य कलाओं के धर्मों के निर्वाह की भी सामर्थ्य है। कर्त्ता द्वारा उत्पाद्य होने के कारण शब्द का माध्यम भी सृजनात्मक है। अर्थ के चिन्मय तत्व से सम्पन्न होने के कारण शब्द कला के माध्यमों में सबसे अधिक आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक होने के कारण वह समात्मभाव के अधिक अनुरूप है। अतः काव्य कला का सबसे अधिक समृद्ध रूप है। काव्य के माध्यम में भावों की निधियाँ संस्कृति की स्थायी परम्परा बनती हैं।

अध्याय ५०

सौन्दर्य का रूप, भाव और तत्व

सामान्य व्यवहार और साहित्य दोनों में सौन्दर्य का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में होता है। सौन्दर्य को हम वस्तुओं का गुण मानते हैं और उन्हें सुन्दर कहते हैं। वस्तुओं को ही नहीं, हम व्यवहार और व्यंजना के रूपों को भी सुन्दर कहते हैं। भावों के लिए भी सुन्दर का प्रयोग होता है। कला और काव्य की कृतियों को तो सुन्दर कहा ही जाता है। **यहाँ प्रश्न यह उठता है कि सौन्दर्य वस्तु का गुण है, मन का भाव है अथवा व्यंजना का रूप है ?** यदि तीनों के ही सम्बन्ध में सौन्दर्य का प्रयोग उचित है तो यह विचार करना होगा कि सौन्दर्य की कल्पना में इनका क्या स्थान है ? वस्तुओं का सौन्दर्य इतना प्रसिद्ध तथ्य है कि उसका खंडन करना मनुष्य की सामान्य धारणा के विपरीत चलना है। मनुष्य की सामान्य धारणाएँ सामान्य होने के कारण ही सत्य नहीं हैं। सामान्य होते हुए भी वे गलत हो सकती हैं। ऐसी स्थिति में इस तथ्य की व्याख्या करनी होगी कि गलत होते हुए भी वे धारणाएँ इतनी मान्य और प्रसिद्ध कैसे हो जाती हैं ? एक प्रचलित भ्रान्ति की व्याख्या उतनी ही आवश्यक है जितनी कि एक सत्य की स्थापना।

सौन्दर्य-शास्त्र के इतिहास में भाव, रूप और तत्व तीनों में ही सौन्दर्य का अनुसंधान हुआ है। **ग्रीक विचारकों ने वस्तुओं के बाह्य रूपों में सौन्दर्य का अन्वेषण किया।** सामान्यतः वे अनेकता में एकता को सौन्दर्य का मूल स्रोत मानते रहे। अनेकता में एकता की व्यवस्था सामंजस्य, संतुलन, लय आदि के अनुसार होती है। अतः ये सौन्दर्य के वस्तुगत लक्षण हैं। कला के सम्बन्ध में इन रूपों की चर्चा प्रायः की जाती है और उन्हें महत्व दिया जाता है। चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत आदि के शिक्षण और आलोचन में इन रूपों का प्रयोग सौन्दर्य के मानदंड के रूप में होता है। चित्रकला में रेखाओं और रंगों की योजना में तथा संगीत में स्वरों की योजना में सामंजस्य, सन्तुलन, लय आदि की विशेषताओं का निर्देशन करके सौन्दर्य की व्याख्या की जाती है। यदि इन सब लक्षणों से सौन्दर्य का कोई सम्बंध नहीं है तब तो कला के अधिकांश आलोचक भ्रांति में हैं। ऐसा कहना

दुस्साहस प्रतीत होता है, यद्यपि कुछ विद्वानों के मत में ऐसी धारणायें भ्रांत ही हैं। **अनुभूतिवादी मत सौन्दर्य को चेतना का भाव मानते हैं।** कोई भी वस्तुगत रूप उसका विधायक नहीं है। चेतना का सौन्दर्य-भाव किसी भी वस्तु को सुन्दर बना देता है। उनके मत में सौन्दर्य चेतना का भाव है, वस्तुओं का गुण नहीं। इस अनुभूतिवादी मत में भी कुछ सत्य हो सकता है किन्तु वस्तुओं के रूप में सौन्दर्य की सामान्य धारणा पूर्णतः भ्रान्तिमय हो, यह बड़े आश्चर्य की बात है। वस्तुओं के कुछ गुणों में, रेखाओं, रंगों और स्वरों की कुछ योजनाओं में कुछ विशेषताएँ अवश्य होती हैं जिनके कारण वे सामान्यतः सभी को सुन्दर प्रतीत होती हैं। चन्द्रमा, पुष्प, सूर्योदय, इन्द्रधनुष आदि सभी को सुन्दर लगते हैं। संगीत की राग रागनियाँ स्वरों की वस्तुगत और सामान्य योजना के आधार पर बनी हैं। वस्तुओं के दृश्य गुणों में कान्ति, रंग समानुपात आदि प्रायः सभी को सुन्दर प्रतीत होते हैं। स्वरों के आरोह और अवरोह की लय संगीत में सौन्दर्य का विधान करती हैं। प्राचीन ग्रीक विचारकों की भाँति आधुनिक युग में फैकनर ने सौन्दर्य के वस्तुगत गुणों और नियमों का अनुसन्धान किया है।

सौन्दर्य के वस्तुगत आधार के सम्बन्ध में दो बातें विचारणीय हैं। एक तो यह कि सौन्दर्य केवल आत्मगत और आन्तरिक भाव है अथवा बाह्य विषयों का अनुषंग उसके लिए आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि क्या इन वस्तुगत आधारों में कुछ ऐसा गुण अथवा विशेषतायें होती हैं जिनका सौन्दर्य में विशेष सहयोग है। पहली बात का विचारणीय प्रसंग वे अनुभूतिवादी मत हैं जो सौन्दर्य के विषयों को भी चेतना की सृष्टि मानते हैं; अतः जिनकी दृष्टि में यह विषय आन्तरिक है। एक समाधि की अवस्था ही ऐसी है जिसमें बाह्य विषयों का विलय हो जाता है किन्तु वह एक दुर्लभ और असाधारण अवस्था है। स्वप्न के विषय आन्तरिक कहे जाते हैं किन्तु स्वप्न काल में वे बाह्य और यथार्थ ही प्रतीत होते हैं। दूसरे स्वप्न की अवस्था समाधि के समान ही असाधारण और अल्पस्थायी है। कलाकार की सौन्दर्य भावना स्वप्न अथवा समाधि के समान होती है यह मानना कठिन है, क्यों कि समाधि के विपरीत कलाकार को बाह्य वस्तुओं का बोध रहता है। सभी कलाकृतियों में बाह्य विषयों का प्रसंग मिलता है। कला की बाह्य अभिव्यक्ति आन्तरिक अनुभूति को पूर्णतः व्यक्त न करती हो यह सम्भव है, किन्तु दोनों के तत्व और रूप पूर्णतः भिन्न हैं, यह मानना कठिन है। कलाकृतियों और जीवन के सामान्य

व्यवहार में सौन्दर्य का जो प्रयोग होता है उसमें बाह्य विषयों का अनुषंग सदा रहता है। चाहे वस्तुओं के गुण सौन्दर्य की पूर्ण सन्तोषजनक व्याख्या न हो किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वस्तुओं में सौन्दर्य का व्यवहार भ्रान्ति नहीं है। **बाह्य वस्तुओं के प्रसंग में ही सौन्दर्य का अनुभव होता है। सौन्दर्य की आन्तरिक चेतना भी बाह्य विषयों के रूप में साकार होती है।**

वाह्य वस्तुओं और विषयों के कुछ रूप और गुण हमें अधिक प्रभावित करते हैं। सामान्यत: वे सभी को सुन्दर प्रतीत होते हैं। इससे यही अनुमान होता है कि वस्तुओं के रूपों और गुणों में कुछ रूप और गुण विशेषत: सौन्दर्य के अनुभव में योग देते हैं। कान्ति, आलोक तथा रंग और रेखाओं की कुछ व्यवस्थायें सभी को सुन्दर मालूम होती हैं। शरीर के सौन्दर्य के विषय में भी हमारी धारणायें बहुत कुछ समान हैं। **सौन्दर्य का यह 'रूप' वस्तु-तत्व का आकार है। इस आकार में तत्वों के अंगों की योजना 'रूप' का निर्माण करती है। वस्तु का आकार बाह्य और सामान्य होने के नाते सौन्दर्य का 'रूप' भी बाह्य और वस्तुगत है।** चित्रकला और संगीत में यह रूप पूर्णत: एक वाह्य व्यवस्था है। तत्व और रूप के अभिन्न होने के कारण हम रूप को भी वस्तु के समान ही सौन्दर्य का आधार मान सकते हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि ये सौन्दर्य के विधायक हैं अथवा केवल उसके उपकरण हैं। जहाँ तक वस्तु तत्व का प्रसंग है उसके सम्बन्ध में यह स्पष्ट है कि वह सौन्दर्य का उपादान मात्र है। बाह्य तत्व के उपादान के बिना सौन्दर्य की कल्पना कठिन है। सामान्यत: वाह्य तत्व के रूप में अथवा उसके निमित्त से भाव में सौन्दर्य साकार होता है। जीवन के व्यवहार और विज्ञान के अन्य रूपों में इन्हीं वस्तु तत्वों का उपयोग होता है और इस उपयोग में सौन्दर्य का कोई प्रसंग नहीं है। **रूप का सौन्दर्य से अधिक निकट सम्बन्ध प्रतीत होता है। 'रूप' तत्व के आकार की अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य का स्वरूप है।** अत: 'रूप' में सौन्दर्य की भावना स्वाभाविक है। किन्तु कलाकृतियों के रूपों में वस्तु रूपों से कुछ अन्तर है। वस्तु रूप बाह्य तत्व के आकार होते हैं। कलाकृतियाँ कलाकारों की सृष्टि है। उनका रूप वस्तु तत्वों का आकार ही नहीं, चिन्मय भावों की अभिव्यक्ति भी है। भावों की अभिव्यक्ति होने पर 'रूप' केवल वाह्य सत्ता का आकार नहीं रह जाता, वह आन्तरिक चेतना के भावों की अभिव्यक्ति का प्रकार भी बन जाता है। बाह्य वस्तुओं का रूप उनके आकार की अभिव्यक्ति है किन्तु काव्य अथवा कला का उपादान बनकर वह रूप

भी तत्व बन जाता है। काव्य और कला में वस्तु तत्व के सन्निधान के साथ-साथ उसके रूप का सौन्दर्य भी सन्निहित होता है, किन्तु केवल तत्व के रूप में सन्निहित होने पर यह रूप आवश्यक रूप से कला के सौन्दर्य का विधायक नहीं होता। सुन्दर वस्तुओं और रूपों का चित्रण अथवा वर्णन भी सुन्दर हो यह आवश्यक नहीं। **उपादानों का सौन्दर्य आवश्यक रूप से कला के सौन्दर्य का विधायक नहीं होता। कला उस रूप की अभिव्यक्ति अथवा व्यंजना है। अतः कला का सौन्दर्य मुख्यतः अभिव्यक्ति का सौन्दर्य है। कला सृष्टि है इसलिए कला का सौन्दर्य सृजनात्मक अभिव्यक्ति का सौन्दर्य है।** दृश्य रूपों और उनके चित्रण में रूप के सौन्दर्य का महत्व अधिक है, किन्तु कला के अन्य रूपों में अभिव्यक्ति का सौन्दर्य प्रधान है। संगीत और काव्य में इस अभिव्यक्ति का रूप सूक्ष्म होता है और यह अभिव्यक्ति व्यक्त होने वाले भाव तत्व से एकाकार होती है। जीवन के बाह्य तथ्य और तत्व भाव की अभिव्यक्ति के उपकरण और माध्यम ही होते हैं। **कलाओं का आन्तरिक तत्व मुख्यतः चिन्मय भाव होता है इसे हम 'आकूति' कह सकते हैं।** अभिव्यक्ति बाह्य उपकरणों और शब्द आदि के माध्यम से इस आकूति की व्यापक व्यंजना है। आकूति के भाव और रूप एक दूसरे से अभिन्न हैं। इसीलिए आनन्दवर्धन ने दोनों के लिए समान पद का प्रयोग किया है। उनके मत में 'ध्वनि' का अर्थ व्यंजित होने वाला भाव, तत्व व्यंजना की शक्ति और व्यंजना का रूप तीनों ही है। कुछ विद्वानों के मत में 'सौन्दर्य' रूप और तत्व का समन्वय है। बोसानक्वेट के अनुसार शैक्सपियर और दान्ते की महिमा का रहस्य यही समन्वय है।[६७] कालिदास और तुलसीदास की महिमा का रहस्य भी संभवतः यही समन्वय है। कला का रूप एक आरोपण नहीं है, वह भाव तत्व की सृजनात्मक अभिव्यक्ति है। इसी सृजनात्मक अभिव्यक्ति में रूप और तत्व के समन्वय को मौरिस ने सौन्दर्य का स्वरूप माना है।[६८]

किन्तु रूप की जिस सृजनात्मक अभिव्यक्ति को कुछ विद्वानों ने सौन्दर्य का स्वरूप माना है वह कलात्मक सौन्दर्य की बाह्य अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति का स्वरूप सूक्ष्म और आन्तरिक है। किन्तु वह बाह्य उपकरणों में ही साकार होती है। अतः अभिव्यक्ति का यह रूप क्रोचे की आन्तरिक अभिव्यक्ति से भिन्न है जिसका बाह्य उपकरणों और माध्यमों से कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। **क्रोचे की अभिव्यक्ति कलात्मक सौन्दर्य की आन्तरिक अनुभूति का आन्तरिक प्रकाशन ही है।** इसीलिए क्रोचे ने कलात्मक अनुभूति और अभिव्यक्तिको एकाकार माना है। क्रोचे ने

अभिव्यक्तिवाद, के नाम से कलात्मक सौन्दर्य की पूर्णतः आन्तरिक और अनुभावात्मक धारणा को आधुनिक युग में प्रतिष्ठित किया। क्रोचे और उनके अनुयायी कलात्मक सौन्दर्य को पूर्णतः आन्तरिक, आत्मगत और व्यक्तिगत मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सौन्दर्य का मूल स्वरूप चिन्मय भाव ही है। उस चिन्मय भाव की स्थिति और अभिव्यक्ति दोनों व्यक्ति में होती है। इस आधार पर, जैसा कि लिस्टोवैल का विश्वास है, सौन्दर्य की व्यक्ति-मूलक तथा अनुभूति-मूलक व्याख्यायें समीचीन ही हैं।[६९] चेतना में सौन्दर्य की यह अनुभूति दृष्टि और सृष्टि दोनों ही है। एक ओर इसमें दर्शन की तटस्थता और निरीहता है। कैरिट का विश्वास है कि सौन्दर्य केवल दर्शन अथवा ध्यान से ही आह्लादित करता है।[७०] स्टेस ने सौन्दर्य की इस तटस्थ दृष्टि को स्पष्ट किया है। इसके लिए लिस्टोवैल ने स्टेस के मत का विशेष महत्व माना है।[७१] **किन्तु दृष्टि होने के साथ-साथ सौन्दर्य की अनुभूति सृजनात्मकता भी है।** आधुनिक युग में सौन्दर्य का यह सृजनात्मक रूप विशेष गौरव के साथ स्पष्ट हुआ है। अनेक विद्वानों ने सौन्दर्य की चेतना की क्रियात्मकता पर जोर दिया है। क्रोचे तो सौन्दर्य की चेतना को पूर्णतः सृजनात्मक और क्रियात्मक मानते हैं। वह अपनी अभिव्यक्ति के रूप और तत्व दोनों की रचना अपनी स्वतन्त्र क्रिया के द्वारा करती है। क्रोचे के अनुयायियों ने सौन्दर्य की चेतना की सृजनात्मक सक्रियता का अधिक विवरण किया है। अर्वाचीन विद्वानों में इसके समर्थकों में फील्डर का नाम उल्लेखनीय है।[७२]

इसमें सन्देह नहीं कि सौन्दर्य का वास्तविक और मूल स्वरूप चिन्मय भाव ही है। इस भाव को अनुभूति भी कह सकते हैं क्यों कि यह आत्मा की सचेतन वृत्ति है। कलात्मक सौन्दर्य इस भाव की अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति भाव में आकृति की व्यंजना है। इस अभिव्यक्ति में सौन्दर्य का चिन्मय भाव साकार होता है। **किन्तु क्रोचे का यह मत यथार्थ नहीं कि सौन्दर्य की अनुभूति पूर्णतः एकान्त और आत्मगत है तथा उसकी अभिव्यक्ति पूर्णतः आन्तरिक है।** एकान्त चेतना पूर्णतः उदासीन होती है इसीलिए सांख्य के कैवल्य की चेतना को आनन्द रहित माना गया है। आत्मानुभव की जिस अवस्था को वेदान्त में आनन्दमय माना गया है वह व्यक्तिगत अनुभूति नहीं है। वेदान्त की आनन्दमय मुक्ति सर्वात्मभाव की स्थिति है। वह आत्मा और अनुभूति का व्यापक रूप है, जिसे हम समात्मभाव कह सकते हैं। **इस समात्मभाव में ही आकूति की व्यंजना सौन्दर्य का स्वरूप है।** आकृति

का चिन्मय भाव सौन्दर्य का तत्व है। व्यंजना का आकार उसका रूप है। वस्तुतः दोनों अभिन्न हैं, किन्तु उनकी घनिष्ठ आत्मीयता कला और काव्य के व्यक्त रूप में ही स्पष्ट होती है। वस्तुओं के बाह्य रूप और तत्व सौन्दर्य के अन्तरंग नहीं किन्तु उसके आवश्यक उपकरण हैं जिनमें सौन्दर्य का चिन्मय भाव और व्यंजना का सूक्ष्म रूप साकार होता है। जिन सामान्य भाव-तत्वों में हम सौन्दर्य मानते हैं वह समात्म-भाव की स्थिति में आकृति की व्यंजना के ही कारण है। प्रेम, करुणा, शौर्य, ओज, साहस और सहानुभूति के सौन्दर्य का यही रूप है। बाह्य वस्तुओं के जिन विशेष रूपों में सामान्यतः सौन्दर्य की सत्ता मानी जाती है उनका सौन्दर्य अधिक वस्तुगत प्रतीत होता है। किन्तु इस सौन्दर्य की भावना कुछ वस्तुगत गुणों और व्यवस्थाओं के अनुरूप इन रूपों की प्रियता के कारण भी है। बाह्य वस्तु-तत्वों में कोई स्वरूप-गत सौन्दर्य नहीं है। वे अपने वस्तुगत रूप तथा चिन्मय भाव के संयोग से ही सौन्दर्य के अधिकारी बनते हैं। चिन्मय भाव ही सौन्दर्य का मूल स्रोत है। इसका प्रमाण यह है कि उसके संयोग से बाह्य तत्वों के सुन्दर रूप और अधिक सुन्दर बन जाते हैं। भाव का सौन्दर्य अपनी विभूति से ही रूप के सौन्दर्य को समृद्ध बनाता है। **किन्तु भाव का यह सौन्दर्य एकान्त और आन्तरिक अनुभूति में ही पूर्ण नहीं है। बाह्य रूपों और तत्वों के उपकरणों और माध्यमों में ही वह साकार होता है।**

सौन्दर्य का प्रयोग प्रायः एक वस्तुनिष्ठ सत्ता के लिये होता है। हम प्राकृतिक वस्तुओं तथा मनुष्यों को सुन्दर कहते हैं जिनकी सत्ता बहार होती है। यद्यपि आदर्शवाद के तर्क के अनुसार इनकी सत्ता की कल्पना भी एक चेतन दृष्टा के अनुषंग के बिना नहीं की जा सकती। फिर भी यदि हम इन वस्तुओं और व्यक्तियों की सत्ता को स्वतंत्र और अपने स्वरूप में निष्ठ मानें तो सौन्दर्य को एक वस्तुगत सत्य मानना होगा। सौन्दर्य के इस वस्तुगत प्रयोग में केवल रूप अथवा रूप का अतिशय ही सौन्दर्य का विधायक बनता है। यह रूप तत्व के आधार के बिना सम्भव नहीं हो सकता। इस दृष्टि से भौतिक तत्व को इस रूप का आवश्यक आश्रय मानना होगा। किन्तु ऐसी स्थिति में यह तत्व रूप का आश्रय मात्र है। उसका आवश्यक अथवा विधायक उपकरण नहीं है। भाव तो चेतना का प्रत्यय है अतः सौन्दर्य की इस वस्तुगत धारणा में भाव का कोई प्रसंग नहीं है। प्राकृतिक सत्ता के अतिरिक्त मनुष्य की रचनाओं में भी यह केवल रूप का सौन्दर्य खोजा जा सकता

है। सार्थक शब्दों से रहित ग्रालाप ग्रौर तान के ग्रनुरूप शुद्ध स्वर लय का संगीत ग्रथवा वाद्य संगीत सौन्दर्य के भाव ग्रौर तत्व से रहित रूप के उदाहरण हैं। भाव ग्रौर तत्व के सहयोग से साकार होने वाले कलात्मक सौन्दर्य के सम्बन्ध में भी हम उसके केवल रूप का प्रत्यहार कर सकते हैं। इन सब कल्पनाग्रों ग्रौर विश्लेषणों से यह विदित होता है कि सौन्दर्य का मूल मर्म रूप में ही निहित है। इसी कारण संस्कृत भाषा में रूप शब्द सौन्दर्य का पर्याय बना।

यद्यपि इस रूप की स्वतंत्र सत्ता की कल्पना करना कठिन है फिर भी यह सत्य है कि सौन्दर्य का रहस्य रूप में ही निहित है। सौन्दर्य के इस रहस्य के उद्घाटन ग्रौर ग्रास्वादन के लिये चेतना का प्रसंग ग्रावश्यक हो सकता है। किन्तु जहाँ तक सौन्दर्य के वस्तुगत रूप का विश्लेषण ग्रौर प्रत्यहार किया जा सकता है वहाँ तक वह रूप में ही मिलता है। यह रूप किसी तत्व का ग्राकार होता है इस नाते तत्व के साथ रूप का ग्रावश्यक सम्बन्ध हो सकता है। रूप को हम ग्रभि-व्यक्ति का माध्यम कह सकते हैं। रूप के द्वारा मानो तत्व ग्रपनी सत्ता ग्रौर ग्रपने स्वरूप को ग्रभिव्यक्त करता है। यदि ग्रभिव्यक्ति की कल्पना बिना किसी सचेतन ग्राहक के बिना नहीं की जा सकती तो चेतना ग्रौर उसके भाव का ग्रनुषंग रूप की ग्रभिव्यक्ति के सौन्दर्य के लिए ग्रावश्यक हो जाता है। रूप की इस ग्रभिव्यक्ति ग्रौर उसके ग्रहण का सामान्य भाव तो वही होगा जिसकी हमने समात्मभाव के रूप में पिछले ग्रध्यायों में व्याख्या की है। सौन्दर्य के विशेष रूपों का सम्बन्ध विशेष भावों से हो सकता है। प्राकृतिक सौन्दर्य के ग्रहण ग्रौर कलात्मक सौन्दर्य के सृजन एवं ग्रहण के लिए समात्मभाव का मौलिक ग्राधार ग्रपेक्षित है। यह समा-त्मभाव ग्रात्माग्रों के साम्य का भाव है। इसी भाव की स्थिति में प्रकृति के ग्रनिवार्यता ग्रौर उपयोगिता से भिन्न उस रूप के ग्रतिशय के ग्रास्वादन ग्रौर सृजन की कल्पना की जा सकती है जो सौन्दर्य का वास्तविक रहस्य है। रूप के ग्रतिशय के ग्रनेक प्रकार हैं। परिमाण का ग्रतिशय उसका व्यक्तिगत रूप है। किन्तु कदाचित् चेतना के प्रसंग के बिना परिमाण के ग्रतिशय की भी कल्पना नहीं की जा सकती। परिमाण के ग्रतिशय का निर्णय भी उपयोगिता के मानवीय ग्राधार पर ही होता है। प्राकृतिक उपयोगिता के ग्राधार पर रूप के विधान में व्यक्त होने वाले ग्रन्य ग्रतिशयों का निर्धारण होता है। प्रकृति के सौन्दर्य का रहस्य इसी निरुपयो-गिता मूलक रूप के ग्रतिशय में मिल सकेगा। निरुपयोगी दृष्टिकोण से प्रकृति के

सहज और साधारण रूप अतिशय बन जाते हैं और उनमें सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। संगीत की कला में रूप का यह अतिशय परिमाण की अभिवृद्धि के रूप में दिखाई देती है। किन्तु इसके साथ-साथ उसमें स्वरों की योजना के आकार तथा स्वर के विस्तार की निरुपयोगिता में भी यह रूप का अतिशय प्रकट होता है तथा संगीत के सौन्दर्य को समृद्ध बनाता है। चित्रकला में वह वर्णों के आह्वान तथा चित्र की व्यवस्था में व्यक्त होता है। नृत्य की भंगिमाओं में भी इन भंगिमाओं की व्यवस्था और लय तथा निरुपयोगिता में रूप का अतिशय प्रकट होता है। इस प्रकार रूप का अतिशय इस अतिशय की निरुपयोगिता जन्य धारणा, इसकी सक्रिय रचना तथा इसकी अनुभावना के द्वारा सामान्य रूप में निहित सौन्दर्य को अभिव्यक्त करता है।

समात्मभाव इस सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का सामान्य भाव है। समात्मभाव के अभाव में प्राकृतिक एकान्त की एकान्त और स्वार्थमय स्थिति में सौन्दर्य की कल्पना सम्भव नहीं है। एकान्त भाव में प्राकृतिक सौन्दर्य का आस्वादन भी सम्भव नहीं होगा। आदिम काल में समात्मभाव की स्थिति में ही प्राचीन मानव ने प्रकृति के सौन्दर्य का अनुभावन किया होगा। वेदों के मंत्रों में इस समात्मभाव की स्थिति में प्राकृतिक सौन्दर्य के अनुभावन अभिव्यक्ति मिलती है। इन मंत्रों में सर्वनामों के *बहुवचन का प्रयोग* एक समात्मभाव के भाषागत प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त वेदों के सम्मिलित पाठ, सम्मिलित वैदिक यज्ञ आदि में इस सामात्मभाव के सामाजिक एवं वास्तविक प्रमाण मिलते हैं। कला के सृजनात्मक सौन्दर्य का उद्‌गम कलाकार की एकान्त साधना अथवा रचना में दिखाई देता है। किन्तु यह एकान्त रचना कला का मौलिक और सम्पूर्ण रूप नहीं है। कला का प्राचीनतम रूप लोक कला है। यह लोक कला समात्मभाव की स्थिति में ही उदित और विकसित हुई है। एकान्तभाव में इसकी रचना की कल्पना नहीं की जा सकती। यही लोक-कला एकान्त साधना की कलाओं की जननी है। अभिजात कला की एकान्त साधना भी वस्तुतः इतनी एकान्त नहीं है जितनी एकान्त कि वह प्रतीत होती है। बाह्य दृष्टि से अकेला होते हुए भी कलाकार भाव से अकेला नहीं होता। सामाजिक जीवन में किसी न किसी परिमाण और रूप में मिलने वाला समात्मभाव ही कला का आदि स्रोत है। आत्मा का भाव होने के कारण यह समात्मभाव एक वर्द्धनशील भाव है। यह वृद्धि ही आत्मा का ब्रह्म भाव है। समृद्धि इसका सहज

रूप है। अतः समात्मभाव के इस सागर में सदा समृद्धि के ज्वार उठते हैं। कलात्मक साधना की पूर्णिमाओं में सामात्मभाव की समृद्धि के ये ज्वार अधिक तीव्रता से उठते हैं। सौन्दर्य के कलाधर का आकर्षण इन्हें उत्कर्ष देता है। कलाकार की सौन्दर्य साधना वह मूलतः इस समात्मभाव को समृद्ध बनाने का ही साधन है। इसी समृद्धि के लिये वह कला की साधना करता है। यह समृद्धि ही कला का स्वरूप है। समात्मभाव और कला की यह एकात्मता ही कला को साधन पद से बचाती है। कलाकार की सौन्दर्य साधना में यह समात्मभाव समृद्ध होता है। कलात्मक रचनाओं में स्वरूप और भाव दोनों ही प्रकार से कलाकार का समृद्ध समात्मभाव साकार होता है। कलात्मक रचना के पात्रों और विषयों के अतिरिक्त रचना के उपकरणों से भी कलाकार का सामात्मभाव होता है। वृक्षों, बादलों, पक्षियों, पशुओं आदि के अतिरिक्त शब्द, स्वर, यंत्र, तूलि, वर्ण, आदि भी कलाकारों के आत्मीय बंधु बन जाते हैं। समात्मभाव की सामान्य स्थिति और उसकी समृद्धि की आकांक्षा ही कला का आधार और उसकी प्रेरणा है। समात्मभाव की भूमिका में ही जीवन के अन्य विशेषभाव कला एवं काव्य के उद्गम एवं उपादान बनते हैं।

प्राकृतिक सौन्दर्य तथा वाद्य संगीत आदि के कुछ शुद्ध रूपों को छोड़कर कलात्मक रचनाओं का सौन्दर्य सामान्यतः भाव और तत्व के उपकरणों में ही साकार होता है। यद्यपि सौन्दर्य का स्वरूप रूप अथवा रूप के अतिशय में ही व्यक्त होता है किन्तु वह समात्मभाव की सामान्य स्थिति में भावों और तत्वों के उपादानों में मूर्त होता है। कला की अधिकांश रचनाओं में यही मूर्त सौन्दर्य मिलता है। रूप के अतिशय का सौन्दर्य भाव और तत्व में साकार होता है। तत्व प्रकृति और जीवन का यथार्थ है। जीवन की सारी व्यवस्था का तत्व प्राकृतिक एवं भौतिक है। व्यवस्था उसकी योजना है। इसके अतिरिक्त सामाजिक सम्बन्धों तथा जीवन की क्रिया कलापों का तत्व भी कला और काव्य का उपादान बनता है। अभिव्यक्ति का रूप जितना अनिश्चित और अनिर्वचनीय है जीवन का तत्व उतना ही अधिक अभिधेय है। सामान्य व्यवहार तथा विज्ञानों में इस तत्व का विधान होता है। अभिधान भी अभिव्यक्ति का रूप है। अतः कदाचित उसे भी सौन्दर्य से रहित नहीं कहा जा सकता। किन्तु रूप के अतिशय में सौन्दर्य का रूप निखरता है। काव्य की व्यंजना में यह रूप का अतिशय काव्य को सुन्दर बनाता है। आकृति का विस्तार तत्व में भी अतिशय के क्षितिज खोलता है। व्यंजना, रूप और तत्व दोनों

के अतिशय की संयुक्त प्राणाली है। दोनों प्रकार के अतिशयों का साम्य और समन्वय होने पर व्यंजना सफल होती है तथा काव्य सुन्दर बनता है। अन्य कलाओं में भी रूप और तत्व की स्थिति काव्य के अनुरूप है। उनमें भी रूप और तत्व के अतिशय का समन्वय सौन्दर्य को सम्पन्न बनाता है। भाव चेतना की सम्पत्ति है। अतः चेतना के अनुरूप ही वह अनिश्चित और समृद्धिशील है। कला और काव्य के उपादान की दृष्टि से हम भाव को भी तत्व मान सकते हैं। किन्तु वह भौतिक, लौकिक अथवा प्राकृतिक और बौद्धिक तत्व की भाँति यथार्थ और अभिधेय नहीं है। तत्वों की भाँति भावों की इकाइयाँ स्थिर करना कठिन है। वे आकाश के बादलों की भाँति वायवीय और विस्तारशील होते हैं। समात्मभाव की स्थिति में कला की तूलिका से संध्या के रंगीन बादलों की भाँति उनका अनिर्वचनीय रूप खिलता है। तत्व की धरती और रूप के आकाश के बीच बादलों और इन्द्रधनुष के समान भावों के यक्ष विचरते हैं। भावों का यह स्वरूप अतिशय से युक्त होने के कारण सौन्दर्य के रूप के अनुरूप है। इसीलिए कला और काव्य में भावों का सन्निधान बहुत मिलता है। तत्व के साथ रूप का समन्वय अधिक कठिन है। किन्तु भाव और तत्व के व्यापक समन्वय के द्वारा ही कलात्मक रूप का सौन्दर्य मूर्त और समृद्ध बनता है।

सभी कलाओं में सौन्दर्य का यह समृद्ध, सम्पन्न और मूर्त रूप मिलता है, किन्तु काव्य में सौन्दर्य के इन विभिन्न अंगों का समन्वय सबसे अधिक स्पष्ट है। केवल तत्व की सत्ता तो एक प्रत्याहार मात्र है। तत्व सदा रूप से अभिन्न होता है। तत्व के आकार में ही रूप की अभिव्यक्ति होती है। वस्तुओं के सभी रूप अपने आप में सुन्दर होते हैं, ऐसा कहना तो कठिन है, क्यों कि सभी वस्तु-रूप हमें अपनी सुन्दरता स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं करते। जिन वस्तु-रूपों को सामान्यतः सुन्दर माना जाता है उनमें अन्य रूपों की अपेक्षा कुछ विशेषतायें होती हैं। कला और काव्य में वस्तु और वस्तु-रूप उपादान के रूप में ग्रहण किये जाते हैं। कला का रूप उसकी अभिव्यक्ति अथवा व्यंजना में है। इस व्यंजना में ही उसका सौन्दर्य है। इसीलिये वह व्यंजना असुन्दर उपादानों को सुन्दर और सुन्दर को असुन्दर बना देती है। चित्रकला और संगीत में जीवन के भाव-तत्व से रहित केवल रूपात्मक योजना सम्भव है। यदि वर्ण (रंग) और शब्द को भी हम भौतिक वस्तु-तत्व मानें तो दूसरी बात है अन्यथा इन कलाओं के शुद्ध रूपों में स्थूल

भौतिक तत्व का आधान आवश्यक नहीं है। इन कलाओं के ये शुद्ध रूप संवेदना की प्रियता, और अभिव्यक्ति (जिसका रूप यहाँ केवल रूप-रचना है) के कारण सुन्दर प्रतीत होते हैं। इन कलाओं के शुद्ध रूपों में जगत के वस्तु-तत्व और जीवन के भाव-तत्व का आधान आवश्यक नहीं है। चित्रकला की अल्पनाओं (डिज़ाइनों) और वाद्य संगीत में इन कलाओं का शुद्ध रूप मिलता है। किन्तु इसके अतिरिक्त इन कलाओं का अधिक प्रचलित और लोक-प्रिय रूप वह है जिसमें जगत के वस्तु-तत्व और जीवन के भाव-तत्व दोनों का समाहार होता है। कलाओं के इतिहास में कला का यही समन्वित रूप अधिक प्रसिद्ध और मान्य है। आधुनिक युग में पिकासो की चित्रकला और प्रयोगवादी काव्य में वस्तु एवं वस्तु-रूप दोनों की उपेक्षा करके अभिव्यक्ति का एकांगी महत्व एक अद्‌भुत रूप में व्यक्त हुआ है। इसके पूर्व भी कला और काव्य के इतिहास में विशेषतः शास्त्रीय संगीत और आलंकारिक काव्य में अभिव्यक्ति की महिमा अधिक बढ़ी थी। किन्तु उसमें वस्तु और वस्तु-रूप की ऐसी उपेक्षा नहीं थी।

अस्तु, सामान्यतः कला और काव्य में वस्तु-तत्व, वस्तु-रूप और भाव का समन्वय मिलता है। चित्रकला और संगीत में भी यह समन्वय बहुत समृद्ध रूप में मिलता है। किन्तु इसका सबसे सम्पन्न रूप काव्य में मिलता है। इसका कारण काव्य के माध्यम शब्द की विशेषता है। शब्द एक ओर वस्तु-तत्वों और वस्तु-रूपों के प्रतीक हैं। दूसरी ओर वे जीवन के भाव तत्वों के व्यंजक हैं। चित्रकला और संगीत की अभिव्यक्ति में भी अपनी विशेष मार्मिकताएँ हैं। भाव और रूप के क्षणों को जितने तीव्र रूप में व्यक्त करने की क्षमता चित्रकला और संगीत में है उतनी काव्य में नहीं है। रूप के साक्षात् माध्यम में ये भाव सबसे अधिक तीव्र रूप में चित्रकला में व्यक्त होते हैं। चित्रकला के दृश्य रूप पर आश्रित होने के कारण कला की अभिव्यक्ति के रूप में ही भाव-सम्पत्ति के आधार का सन्निधान होता है। शब्द के भाव-तत्व के मानसिक होने के कारण भाव व्यंजना का चेतना में अपार विस्तार होता है। इस दृष्टि से जहाँ चित्रकला की रूपगत अभिव्यक्ति में भाव का आधान अधिक है वहाँ संगीत की सार्थक स्वर-योजना में भाव-व्यंजना की शक्ति अधिक है। इसी कारण चित्रकला अधिक कठिन है और कठिन होने के कारण कम प्रचलित है। चित्रकला सृजन और अवलोकन दोनों की दृष्टि से अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक एकाकी है। दूसरे उसके सृजन और प्रदर्शन की क्रियाएँ अलग-

अलग है। उनमें संगीत की भाँति यौगपद्य नहीं है। वैसे तो वास्तविक अथवा काल्पनिक किसी न किसी रूप में समात्मभाव सभी कलात्मक सौन्दर्य के मूल में निहित है, किन्तु संगीत में सृजन और प्रदर्शन के यौगपद्य के कारण यह सबसे अधिक साक्षात् रूप में वर्त्तमान रहता है। साक्षात् समात्मभाव में आकृति की व्यंजना सबसे अधिक समर्थ होती है। व्यंजना के ग्राहकों का सहयोग इसे अधिक समृद्ध बनाता है। इस साक्षात् समात्भमाव के कारण ही क्षण-क्षण के जीवन में सौन्दर्य की इतनी सम्भावना है कि उसे कोई कला पर्याप्त रूप में व्यक्त नहीं कर सकती। इस साक्षात् समात्मभाव के कारण ही संगीत के साधारण शब्दों में व्यक्त साधारण भाव भी बड़े मर्मस्पर्शी बन जाते हैं। काव्य में यह समात्मभाव साक्षात् न होने के कारण यह सहयोग कम मात्रा में मिलता है यद्यपि इस सहयोग के बिना कोई कलात्मक अभिव्यक्ति सफल नहीं हो सकती। अतः चित्रकला की भाँति काव्य में भी अभिव्यक्ति का रूप अपने स्वरूप में ही अधिक सम्पन्न और समर्थ होता है। इसके अतिरिक्त काव्य में जीवन का भाव-तत्व एक व्यापक परम्परा के रूप में सन्निहित होता है। आकृति का विस्तार व्यंजना की महिमा को बढ़ा देता है। आकृति के इस विस्तार और व्यंजना की इस व्यापकता के कारण काव्य में जगत के वस्तु-तत्वों और वस्तु-रूपों तथा जीवन के भाव-तत्वों के सन्निधान की सम्भावना सबसे अधिक है। कलात्मक समन्वय से युक्त होकर यह सन्निधान काव्य को कला का सबसे अधिक सम्पन्न रूप बनाता है।

इस समन्वय की सर्वाधिक व्यापकता के कारण महाभारत पंचम वेद माना जाता है। वाल्मीकि, कालिदास और तुलसीदास की महिमा का भी यही रहस्य है। इनमें जीवन के भाव-तत्व और उनकी अभिव्यक्ति के रूप का ही समन्वय नहीं है; इसके साथ-साथ एक विशाल परिमाण में जगत के वस्तु-तत्वों और वस्तु-रूपों का भी सन्निधान है। जीवन का भाव-तत्व काव्य को मर्मस्पर्शी बनाता है। अभिव्यक्ति उसे सुन्दर बनाती है। किन्तु जगत के वस्तु-तत्व और वस्तु-रूपों का सन्निधान उसे यथार्थ का बल देता है। इस यथार्थ की भूमिका में ही अभिव्यक्ति का सौन्दर्य सत्य बनाता है और भाव की गरिमा शिव बनती है। हिन्दी के भक्ति-काव्य में भाव अधिक है, किन्तु जीवन के यथार्थ का संबल कम है। रीतिकाव्य में अभिव्यक्ति का सौन्दर्य अधिक है किन्तु उसकी भाव-सम्पत्ति सीमित है, जगत के रूप और तत्व का सन्निधान और भी कम है। इसीलिए जीवन और जगत के

यथार्थ के प्रति अधिक सचेतनता उत्पन्न होने पर भक्ति-काव्य और रीति-काव्य की लोक-प्रियता कम हो रही है। अभिव्यक्ति का सौन्दर्य अधिक और भाव-तत्व सीमित तथा जगत के यथार्थ का सन्निधान स्वल्प होने के कारण हिन्दी का छायावादी काव्य भी लोक मन को स्पर्श न कर सका। रवीन्द्रनाथ के काव्य में भी अभिव्यक्ति का सौन्दर्य अधिक है। उसकी भाव-सम्पत्ति सीमित न होते हुए भी एकांगी नहीं तो उतनी व्यापक नहीं है जितनी कि ऐसे विशाल काव्य के लिए होनी चाहिए। जीवन और जगत के यथार्थ का सन्निधान भी उसमें आकार के अनुरूप नहीं है इसका कारण यही है कि रवीन्द्रनाथ के राजसी जीवन में जीवन और जगत की व्यापक यथार्थता का पर्याप्त स्पर्श सम्भव न था। यथार्थ की अनुभूति ही हो सकती है, उसकी कल्पना, कल्पना ही है। इसीलिए रवीन्द्रनाथ और छायावादी कवियों का काव्य कल्पनाशील किशोर-किशोरियों को ही अधिक अनुरंजित कर सका। आज जबकि लोक की चेतना जीवन की भाव-सम्पत्ति की विशालता तथा जीवन और जगत् की यथार्थताओं के प्रति अधिक जागरूक हो रही है, भक्ति-काव्य और रीति-काव्य की भाँति ही रवीन्द्र के रहस्यवादी और हिन्दी के छायावादी की लोकप्रियता भी कम हो रही है। कल्पना के व्योम-कुंजों का विहार जीवन की विषम यथार्थताओं का समाधान नहीं बन सकता। इसीलिए वर्त्तमान युग के मानव को जीवन और जगत की यथार्थताओं तथा जीवन की विशाल भाव-सम्पत्ति की महिमा से पूर्ण सुन्दर और ओजमयी अभिव्यक्ति से युक्त काव्य की अपेक्षा है। संतोष की बात है कि छायावादी युग के बाद के काव्य में इस यथार्थ और भाव-सम्पत्ति के प्रति अधिक जागरूकता दिखाई दी। इस परिवर्तन का सबसे अधिक श्रेय 'दिनकर' को है। इस दृष्टि से दिनकर आधुनिक हिन्दी काव्य के नव प्रभात के तेजस्वी सूर्य हैं। इस नव प्रभात में अभिनव हिन्दी काव्य के अनेक आभामय नीरज खिल रहे हैं।

अध्याय ५१

सौन्दर्य, सुख और आनन्द

सौन्दर्य का अनुभव सुखद होता है, यह कलात्मक अनुभूति का एक साधारण तत्व है। प्रकृति और कला में हम जहाँ कहीं भी सौन्दर्य देखते हैं वह हमें आह्लादित करता है। चन्द्रमा, पुष्प, सूर्योदय, निर्झर आदि को देखकर सभी प्रसन्न होते हैं। कला में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति भी प्रायः सभी को आनन्द देती है। सुख और आनन्द के साथ सौन्दर्य का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि प्रायः सुख और सौन्दर्य को एक मान लिया जाता है। कुछ विद्वान सुख को सौन्दर्य का आवश्यक अंग और कुछ उसको सौन्दर्य का स्वाभाविक फल मानते हैं। किन्तु भारतीय काव्य-शास्त्र और योरोपीय सौन्दर्य-शास्त्र दोनों में कला और काव्य के स्वरूप में सुख अथवा आनन्द का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। प्लेटो यह मानते थे कि सौन्दर्य में सुख ही एक महत्वपूर्ण तत्व है।[७३] जर्मन विद्वान श्लैगैल का मत था कि सौन्दर्य श्रेय की प्रिय अवगति है। कान्ट जैसा बुद्धिवादी विचारक भी यह मानता था कि सौन्दर्य अपने रूप के द्वारा सुखप्रद है।[७४] आधुनिक विचारकों में भी अधिकांश सुख को सौन्दर्य का महत्वपूर्ण अंग मानते हैं। मार्शल का मत है कि सौन्दर्य वस्तुगत मूल्य के रूप में मन को सुख देता है।[७५] सांतायन के मत में सौन्दर्य का सुख अन्य सुखों से भिन्न है, किन्तु सुख सौन्दर्य का आवश्यक अंग है।[७६] ग्वाइयों सुख और सौन्दर्य में कोई भेद नहीं मानते; उनके मत में दोनों एक ही हैं।[७७] ऐलिन सुख को सौन्दर्य का सहगामी [७८] और ग्रौस सुख को कला का फल मानते हैं।[७९] कैरिट के मत में सौन्दर्य वह वस्तु है जो केवल ध्यान से ही सुख देती है।[८०] **इन सभी मतों में किसी न किसी रूप में सौन्दर्य की कल्पना में सुख का महत्वपूर्ण स्थान है।** भारतीय काव्य शास्त्र में भी काव्य को रसमय अथवा आनन्दमय माना गया है। सभी रसों में नहीं किन्तु शृंगार, वात्सल्य आदि में सुखमय संवेदनाओं का स्थान है। भारतीय काव्य शास्त्र में काव्य के इस आनन्द को लोकोत्तर माना गया है। काव्यानन्द ब्रह्मानन्द का सहोदर है। तात्पर्य यह है कि काव्य का आनन्द एक अतीन्द्रिय, अलौकिक और आध्यात्मिक आनन्द है।

कला और काव्य के साथ सुख और आनन्द के संबन्ध की सही विवेचना के लिए इन सबके स्वरूप का निर्धारण अपेक्षित है। कला की साधना और आराधना, तथा सौन्दर्य के दर्शन और प्रदर्शन सभी में कुछ ऐसी संवेदना अथवा अनुभूति होती है जिसे सुख अथवा आनन्द कहना उचित ही प्रतीत होता है। किन्तु इस संवेदना अथवा अनुभूति का रूप तभी स्पष्ट किया जा सकता है जब कि कला और काव्य के स्वरूप, उसके दर्शन, सृजन और प्रदर्शन की स्थितियों का भेद तथा उसकी बाह्य अभिव्यक्ति के उपकरणों और माध्यमों के पारस्परिक संबन्ध और महत्व का निर्धारण होगा। क्रोचे से प्रभावित अनुभूतिवादी विचारक कला का स्वरूप पूर्णतः आन्तरिक, आत्मगत और व्यक्तिगत मानते हैं। बाह्य उपकरणों और माध्यमों में कलात्मक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति इनके लिए एक गौण उपचार मात्र है। दर्शकों और पाठकों के लिए कलात्मक अनुभूति के उद्‌भावन का वह निमित्त मात्र है। इन निमित्तों से उद्‌भावित विभिन्न व्यक्तियों की कलानुभूतियाँ विभिन्न होती हैं। इस प्रकार अन्ततः कला का स्वरूप पूर्णतः आन्तरिक, आत्मगत और व्यक्तिगत प्रतीत होता है। सौन्दर्य का यह आन्तरिक और आत्मगत रूप भी आनन्दमय होता है। इसकी आन्तरिक तन्मयता आनन्द से ही संभव होती है। कलाकार और अनुभावक आन्तरिक सौन्दर्य के इसी आनन्द में विभोर हो जाते हैं। आनन्द की कुछ ऐसी ही कल्पना भारतीय काव्य-शास्त्र के रसवाद की है। विभाव, अनुभाव आदि रस-निष्पत्ति के सहकारी अवश्य हैं; किन्तु रस अथवा आनन्द की अनुभूति व्यक्ति के आश्रय में ही होती है। यहाँ एक कठिनाई उपस्थित होती है कि आन्तरिक अनुभूति के पूर्णतः निर्विकल्प होने पर उसके व्यक्तित्व का अवच्छेदक क्या होगा? इसी कठिनाई के कारण वेदान्त में आत्मा को अनन्त, अपरिच्छिन्न और उसके आनन्द को अनिर्वचनीय माना गया है। यह स्पष्ट है कि इस आनन्द को सामान्य अर्थ में व्यक्तिगत कहना कठिन है।

इसके विपरीत जो बाह्य उपकरणों और माध्यमों में कलात्मक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति को कला के स्वरूप का महत्वपूर्ण अंग मानते हैं; उनके लिए कलात्मक सौन्दर्य का ऐन्द्रिक सुख आवश्यक अंग है। अनेक पश्चिमी विद्वान् ऐन्द्रिक रूप में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति को कला मानते हैं। हीगल जैसे अध्यात्मवादी ने भी सौन्दर्य को बौद्धिक प्रत्यय की ऐन्द्रिक रूप में अभिव्यतिक्त माना है।[८१] क्रोचे के पूर्व (और उनके बाद उनका अनुकरण न करने वाले अनेक विद्वान्) ऐन्द्रिक रूपों में सौन्दर्य

की अभिव्यक्ति को कला मानते हैं। यदि चित्रकला, संगीत, काव्य आदि की कृतियाँ कलात्मक सौन्दर्य की निधियाँ हैं तो यह स्पष्ट है कि सौन्दर्य की कल्पना में माध्यमों का ऐन्द्रिक रूप महत्वपूर्ण है। सौन्दर्य की इन अभिव्यक्तियों की संवेदना प्रायः सुखद होती हैं यह भी सामान्यतः सत्य है। चित्र का दर्शन दृष्टि को सुखद प्रतीत होता है। संगीत का माधुर्य हमारे कानों में अमृत घोलता है। काव्य के श्रवण में संगीत का माधुर्य स्पष्टतः ऐन्द्रिक है। काव्य के तत्व के ऐन्द्रिक उपकरण स्मृति और कल्पना में ऐन्द्रिक संवेदनाओं का सुख जागरित करते हैं। यदि काव्य का अथवा इन सभी कलाओं का कोई मानसिक, आध्यात्मिक अथवा अतीन्द्रीय भाव-तत्व है तो उसके अनुभावन का सुख ऐन्द्रिक संवेदनाओं से भिन्न अतीन्द्रिय और आत्मिक आनंद कहा जा सकता है।

सुख और आनंद के साथ कलात्मक सौन्दर्य के संबंध का स्पष्ट विवेचन तभी सम्भव है जब कि हम सौन्दर्य और सुख दोनों के अतीन्द्रिय और ऐन्द्रिक रूपों के भेद को स्पष्ट समझ सकें। ऐन्द्रिक संवेदनायें आत्मिक आनंद का उपकरण हो सकती हैं किन्तु दोनों के स्वरूप में एक मौलिक और महत्वपूर्ण भेद है। यद्यपि सुख और आनंद के प्रयोग में सर्वदा भेद नहीं किया गया है, फिर भी अनुकूल और प्रिय अनुभव के रूपों में स्पष्टतः भेद है। सुख इन्द्रियों की अनुकूल-वेदनीयता का गुण है। वह व्यक्तिगत, ऐन्द्रिक और प्राकृतिक है। सुख के प्रसंग में इन्द्रियाँ बाह्य संवेदनाओं का ग्रहण करती हैं। सुख इन्द्रियों के इस ग्रहणात्मक धर्म की अनुकूल-वेदनीयता है। सुख शारीरिक और प्राकृतिक है और वह व्यक्ति में ही सीमित रहता है। हम दूसरे के सुख में भाग नहीं ले सकते और न हम उसकी कल्पना कर सकते हैं। प्रकृति के नियमों के अनुकूल होने के कारण सुख को प्राकृतिक कहा है। **दिक्, काल और व्यक्तिमत्ता अथवा विशेषता प्रकृति के सामान्य नियम हैं।** दिक् में वस्तुओं की स्थिति युगपद् किन्तु पृथक् पृथक् होती है। यह पृथकत्व व्यक्तियों और विशेष पदार्थों की स्थिति का विशेष गुण है। हमारे शरीर और इन्द्रियाँ अन्य भौतिक पदार्थों की भाँति एक दूसरे से पृथक्-पृथक् अपने रूप और धर्मों में सीमित हैं। परिच्छेद की ये विशेषता शरीर, इन्द्रियों और पदार्थों की स्थिति का निर्धारण करती है। प्रकृति की इस विशेषता के बिना प्रकृति के जीवन का व्यवहार ही असंभव हो जाता है। दूसरी ओर काल प्रकृति का रूप है। काल का रूप अयौगपद्य और अनिवार्य क्रम है। दिक् स्थिति का रूप है। काल गति का रूप है।

गति और स्थिति दोनों मिलकर जीवन के रूप और व्यवहार का विधान करती हैं। प्रकृति का अंग होने के कारण शरीर और इन्द्रियों की स्थिति तथा उसकी सम्वेदनायें प्रकृति के नियमों के अनुकूल हैं। एक व्यक्ति की संवेदना दूसरे व्यक्ति की संवेदना नहीं बन सकती। यह दिक् कृत पार्थक्य का परिणाम है। काल से नियमित होने के कारण ऐन्द्रिक सुख की संवेदना तत्काल में ही होती हैं। अन्य काल में उसी संवेदाना सुख का ऐन्द्रिक सुख नहीं है, वरन् कल्पना का मानसिक सुख है। परिमाण संबंधी गणित का नियम भी संवेदना को शासित करता है। व्यक्ति की इकाई में सीमित रहने के अतिरिक्त सुख का परिमाण भी संवेदना के अनुरूप होता है। एक सीमा के बाद तो 'अधिकस्य अधिकम् फलम्' का नियम ग़लत हो जाता है, किन्तु एक माध्यमिक सीमा के अन्तर्गत वस्तु और संवेदना दोनों के परिमाण एवं कालावधि की दृष्टि से उत्तरोत्तर अधिक सुख होता है। सुख का ह्रास और उसकी वृद्धि वस्तु और संवेदना के परिमाण तथा कालाविधि के अनुरूप ही होती है।

इसके विपरीत आत्मिक आनन्द के लक्षण प्रकृति के इन नियमों से शासित नहीं। आनन्द इन्द्रियों की संवेदना का सुख नहीं वरन् आत्मा का आन्तरिक उल्लास है। आत्मा चिन्मय है। वह प्रकृति के नियमों से शासित नहीं है। प्रकृति की देह में ही आत्मा का अवतार होता है किन्तु आत्मा का स्वरूप और धर्म प्रकृति से भिन्न है। दोनों में कोई आवश्यक विरोध नहीं है। अतः उनका सामंजस्य सम्भव है। मनुष्य का रूप इस सामंजस्य का साक्षात् आधार है। किन्तु प्रकृति के शरीर में निवास करने वाले आत्मा का स्वरूप और धर्म प्रकृति के नियमों के विपरीत है। व्यक्तित्व, पृथक भाव, गणित के परिमाण का नियम आदि प्रकृति के सिद्धान्त आत्मा के स्वरूप, धर्म और फलों के साथ लागू नहीं होते। व्यक्तित्व में सीमित होते हुए भी आत्मा पूर्णतः उसके नियमों से शासित नहीं है। शरीर के समान व्यक्तित्व का चिन्मय आधार पूर्णतः परिच्छिन्न नहीं है। उसकी वृत्ति विस्तारशील है। एक व्यक्तित्व के चिद्बिन्दु के क्षितिजों का विस्तार दूसरे व्यक्तित्वों के आकाश में होता है। व्यक्तित्व की चेतनाओं में ऐसा कठोर भेद नहीं है जैसा कि प्राकृतिक शरीरों में है। देश, काल के नियम भी चेतना के साथ लागू नहीं होते। जैन दर्शन में प्रकाश की भाँति वस्तुओं के साथ आत्मा का यौगपद्य माना जाता है। उसी सिद्धान्त को आगे बढ़ाकर कई प्रकाशों के यौगपद्यों के समान

अनेक चेतनाओं के यौगपद्य को सम्भव मान सकते हैं। वस्तुतः सभी परिच्छेदों का ज्ञाता होने के कारण आत्मा में कोई परिच्छेद नहीं माना जा सकता। इसीलिए वेदान्त में उसे अनन्त माना है। भेद प्रकृति के पदार्थों का धर्म है। इसीलिए आत्मा का स्वरूप अद्वैत है। उसे 'एक' कहना भी प्रकृति की इकाई का प्रयोग करना है। 'एक' अनेक से सापेक्ष है। आत्मा का अद्वैतभाव अनेकों का आन्तरिक अ-भेद है। व्यक्तित्वों की सापेक्षता की दृष्टि से आत्मा के इसी अद्वैतभाव को हमने चेतना का समात्मभाव कहा है और उसे कलात्मक सौन्दर्य का मूल माना है। हमारे शारीरिक धर्म प्राकृतिक होने के कारण अलग-अलग रहते हैं, किन्तु चेतना के विस्तार के द्वारा हम एक दूसरे के अनुभव में भाग ले सकते हैं और योग दे सकते हैं। चेतना की गति सर्वत्र और सर्वदा है। दिक् काल के नियम उसके प्रतिबन्ध नहीं हैं। भूत, वर्त्तमान, भविष्य तीनों में उसकी गति है। प्रकृति की सत्ता वर्त्तमान में ही सीमित है। उसका अतीत वर्त्तमान में आत्मसात हो जाता है और भविष्य सदा अभूत रहकर वर्त्तमान में ही अन्तर्हित रहता है। कान्ट ने दिक् को बाह्य सत्ता का और काल को आन्तरिक अनुभव का रूप माना है, यह समीचीन ही प्रतीत होता है। चेतना का विस्तार काल की तीनों दिशाओं में होता है। इसके साथ-साथ वह कालातीत भी है, क्योंकि काल उसका विषय है। काल का परिमाणगत नियम भी गणित के अनुसार चेतना पर लागू नहीं होता। हर्ष और मिलन में युग पल से बीत जाते हैं जैसे पर्णकुटी में आलाप करते हुए राम-सीता की रात भी अनजाने बीत गई।[८२] वियोग और विपत्ति में पल भी युग बन जाते हैं। इतना ही नहीं चेतना की भाव-विभोर स्थितियाँ काल के क्रम और विकार से अतीत अमृतभाव का स्पर्श भी करती हैं। इसीलिए वेदान्त में आत्मा को नित्य माना है। **आत्मा के आनन्द की सबसे बड़ी विशेषता गणित के परिमाण के नियम का अतिक्रमण है।** इन्द्रियों के सुख की भाँति आत्मा का आनन्द व्यक्ति और क्षण की इकाई में सीमित नहीं है। समात्म-भाव के विस्तार में ही आनन्द का उदय होता है। जहाँ हम समान क्रिया और अनुभूति में आत्मा के समभाव से भाग लेते हैं; वहाँ अवगति की चेतना में भी आनन्द का अविर्भाव होता है। आश्चर्य की बात यह है कि विभाजन से यहाँ आनन्द घटता नहीं वरन् बढ़ता है। सरस्वती के कोष के समान आनन्द की विभूति भी अद्भुत है। वस्तुतः यह आनन्द ही सरस्वती के कोष की निधि है। **आनन्द के इस विलक्षण गणित में सुख और आनन्द का भेद स्पष्ट होता है।** सुख इन्द्रियों

और शरीर की प्राकृतिक सम्वेदना है। सुख की इकाइयों में अनेक व्यक्तियों के समात्म-भाव से जो वृद्धि होती है, वही आनन्द का स्वरूप है। सहभोज का आनन्द, प्रकृति के सह-दर्शन का आनन्द, सामूहिक नृत्य और संगीत का आनन्द आदि आनन्द की इस अनियमित समृद्धि के उदाहरण हैं।

इस प्रकार सुख और आनन्द का भेद स्पष्ट होने पर यह विचार करना उचित है कि इनका कला और काव्य में क्या स्थान है। ऊपर कुछ पश्चिमी विद्वानों के मत दिये गये हैं जो सुख को कला का लक्षण मानते हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र में आनन्द को काव्य का फल माना जाता है। अनेक पश्चिमी विद्वानों ने कला के संबन्ध में सुखवाद का खण्डन किया है। इस खण्डन का सबसे स्पष्ट रूप सौन्दर्य और सुख के एकीकरण का विरोध है। खण्डन का दूसरा रूप यह है कि 'सुख' कला और काव्य का 'उद्देश्य' नहीं है। सुख कला का सहज फल हो सकता है किन्तु कला सुख की साधना नहीं है। खण्डन का एक पक्ष यह भी है कि यदि सुख और कला का सौन्दर्य समानार्थक है तो सभी सुखद वस्तुओं को सुन्दर होना चाहिये। वस्तुतः ऐसा नहीं होता। सभी सुख सुन्दर नहीं होते। दूसरी ओर श्रेष्ठतम सौन्दर्य सदा सुखदायक नहीं होते। **यदि सुख ही सौन्दर्य है तो दुखान्त नाटकों के सौन्दर्य की व्याख्या क्या होगी ?** श्लैगेल ने सामान्य सुख और कलात्मक सुख में भेद करने का प्रयत्न किया है। कैरिट ने सौन्दर्य को ध्यान का सुख माना है जिसे मार्शल के शब्दों में सुख का वस्तुगत रूप कह सकते हैं। कैरिट भी कलात्मक सौन्दर्य के सुख के भेद को स्पष्ट नहीं कर सके। हीगल के समान बुद्धिवादी और टालस्टाय के समान नैतिकतावादी विचारकों ने कला में सुखवाद का खण्डन अवश्य किया है। सुख की धारणा बुद्धि और नैतिकता के विपरीत है, यही इस खण्डन का आधार है। कैरिट ने कलात्मक सौन्दर्य के सुख की विशेषता के निरूपण के सम्बन्ध में निस्सन्देह कुछ महत्वपूर्ण संकेत दिये हैं। **कैरिट का कथन है कि कलाकार का लक्ष्य सौन्दर्य है सुख नहीं, अभिव्यक्ति है, सम्वेदना नहीं।**[८३] सुख उसकी सौन्दर्य साधना का अनुद्दिष्ट फल है। कलात्मक सौन्दर्य का सुख सर्वमान्य होता है।[८४] इसके विपरीत संवेदना का सुख व्यक्तिगत रुचि पर निर्भर करता है। सम्वेदना का सुख तत्काल में ही रहता है, वह वर्त्तमान का सुख है। इसके विपरीत कलात्मक सौन्दर्य का सुख सर्वकालीन सुख है।[८५] यहाँ कैरिट आनन्द की कल्पना को स्पर्श करते हुए दिखाई देते हैं। किन्तु उन्होंने साधारण सुख और कलात्मक सुख की मीमांसा अधिक

विस्तार के साथ नहीं की है। व्यक्तिवादी मत के कारण वे आनन्द के उस वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन नहीं कर सके जो समात्मभाव की विलक्षण स्थिति में उदित होता है। हर्बार्ट ने सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में आत्म-विस्तार को कारण बताया है।[८६] किन्तु व्यक्तित्व के इस विस्तार में समात्मभाव का महत्व उन्होंने भी प्रकाशित नहीं किया। कारण यह है कि कलाओं के बाह्य माध्यम संवेदना के विषय होते हैं। सुख अनुकूल-सम्वेदना का लक्षण है। कला के बाह्य माध्यम पर दृष्टि रखने के कारण अधिकांश विद्वान कलात्मक सौन्दर्य में सम्वेदनात्मक सुख को महत्व देते रहे। क्रोचे के समान पूर्णतः अनुभूतिवादी मतों में सुख का कोई महत्व न रहा। ये दोनों ही एकांगी सीमाएँ हैं। सम्वेदना का सुख न कलात्मक सौन्दर्य का सर्वस्व है और न नगण्य है। बाह्य उपकरण और माध्यम कलात्मक अभिव्यक्ति के आवश्यक निमित्त हैं। उसी प्रकार उन माध्यमों की सम्वेदना का सुख भी कलात्मक सौन्दर्य और आनन्द का आवश्यक उपकरण है। जो सुख को कला का अनायास फल मानते हैं वे एक सीमा तक सत्य हैं। **किन्तु इस समस्या का मर्म उस स्थल पर है जहाँ कलात्मक सुख के साधारण सुख से भेद करने की आवश्यकता होती है।** यह भेद केवल गुण का भेद नहीं है। संवेदना का सुख, चाहे वह कलात्मक कोटि का ही हो, सौन्दर्य का न सम्पूर्ण स्वरूप है और न उसका सम्पूर्ण फल है। बाह्य उपकरण केवल आकृति की व्यंजना के माध्यम हैं। संवेदनाओं का सुख माध्यमों का ही सुख है। जिस प्रकार बाह्य उपकरण आकृति की व्यंजना के निमित्त हैं उसी प्रकार सम्वेदना के सुख समात्मभाव की स्थिति में आकृति की व्यंजना के निमित्त हैं। यह समात्मभाव चेतना का समृद्धिशील भाव है। आनन्द उसका स्वरूप है। अभिव्यक्ति के सापेक्ष दृष्टिकोण से हम उसे आह्लाद कह सकते हैं। आकृति की व्यंजना का आनन्द संवेदना के सुख के प्राकृतिक नियमों के विपरीत है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। भारतीय काव्य-शास्त्र ने आनन्द को काव्य का फल मानकर कलात्मक अनुभूति के स्वरूप का सही संकेत किया है। रति आदि से अवच्छिन्न मानकर संवेदनात्मक सुख के साथ इस आनन्द के संबन्ध को भी उन्होंने स्वीकार किया है। इतना अवश्य है कि इस संबन्ध में हमें आनन्द की भावना के साथ सम्वेदना के सुख को समन्वित करना होगा। इस समन्वय में वे सुख कला के माध्यमों की भाँति प्राकृतिक नियमों के अनुकूल होते हुए भी समात्मभाव की आध्यात्मिक विभूति के संस्कारों से आनन्द के अनुरूप वन जाते हैं।

कला और सौन्दर्य के प्रसंग में सुख एवं आनन्द के विवेचन के लिये कला एवं सौन्दर्य के स्वरूप, माध्यम तथा उनके उपकरणों का पृथक-पृथक विचार करना होगा। सुख और आनन्द के स्वरूप एवं अन्तर का विवेचन हम ऊपर कर चुके हैं। इस विवेचन के अनुसार अनुकूल और प्रिय अनुभव का वह रूप सुख कहा जा सकता है जो ऐन्द्रिक, प्राकृतिक और व्यक्तिगत है। इसके विपरीत आनन्द आत्मिक सुख है। आनन्द वह अनुकूल और प्रिय अनुभव है जो इन्द्रियों तथा प्रकृति और स्वार्थ की सीमाओं को पारकर आत्मा के स्वर्लोक में उल्लसित होता है। आनन्द के इस लोक में स्वार्थ, अहंकार और व्यक्तित्व की सीमाएँ अतिक्रांत हो जाती हैं। व्यक्तित्व के केन्द्र में सम्पन्न होते हुए भी आनन्द का भाव आत्मा के अतीन्द्रिय और अलौकिक क्षेत्र में ही प्रकाशित होता है। इन्द्रियाँ अहंकार, स्वार्थ तथा अन्य प्राकृतिक उपकरण इसके अवलम्ब बन सकते हैं। किन्तु अनुरोध और अतिरंजना की स्थिति में वे आनन्द के विरोधी बन जाते हैं। अपनी सहज सीमा में आत्मा के अनुशासन का आदर करके ये प्राकृतिक उपकरण आनन्द में अन्वित होते हैं और उसके उपकारक बनते हैं। आनन्द का पूर्णतः आध्यात्मिक स्वरूप पूर्णतया लौकिक और अनिर्वचनीय है। इसके विषय में कुछ भी कहना उचित नहीं है। किन्तु लोक के व्यवहारों और सम्बन्धों में जो आनन्द विभासित होता है उसका लौकिक उपकरणों से कोई मौलिक विरोध नहीं है। वे लौकिक उपकरण अलौकिक आनन्द के निमित्त बन जाते हैं। व्यक्तित्व के बिन्दु में आनन्द का सिन्धु उमड़ता है। उसके ज्वार क्षितिज की ओर उठकर स्वर्ग के चन्द्रमा को अर्घ्यदान करते हैं। आनन्द की इस स्थिति में व्यक्तित्व के केन्द्रों का जो साम्य, सामंजस्य और संतुलन सम्पन्न होता है उसे हम समात्मभाव कह सकते हैं। यह समात्मभाव विषयों, इन्द्रियों, स्वार्थ, अहंकार आदि के विरोध से परे आत्मा के साम्य का भाव है।

सुख और आनन्द के इन रूपों का सौन्दर्य और कला के साथ क्या सम्बन्ध है और इनके क्षेत्र में सुख और आनन्द का क्या स्थान है यह विचारणीय है। यह स्पष्ट है कि कला और सौन्दर्य के प्राकृतिक उपकरणों के साथ ही सुख का सम्बन्ध खोजा जा सकता है क्योंकि सुख प्राकृतिक अनुभव है तथा कला एवं सौन्दर्य के ये उपकरण भी बहुत कुछ प्राकृतिक होते हैं। अधिकांश सुख का लक्षण ऐन्द्रिक सम्वेदना में मिलता है। ऐन्द्रिक उपकरणों को सौन्दर्य और कला का माध्यम मानें तो कला और सौन्दर्य में सुख का अनुभव भी खोजा जा सकता है। संगीत,

चित्रकला, मूर्तिकला आदि कलाओं के उपकरण और माध्यम प्राकृतिक एवं ऐन्द्रिक होते हैं। इस दृष्टि से कला के इन माध्यमों की सम्वेदना सुखकर होती है। चित्रों के वर्ण हमारी आँखों को सुख देते हैं। संगीत के स्वर हमारे कानों को सुखद होते हैं। काव्य के शब्द भी संगीत के स्वरों के समान प्रिय और सुखद होते हैं, यद्यपि इसके अतिरिक्त इनमें अर्थ का अन्तर्भाव भी होता है। कला के सम्बन्ध में हीगल की यह परिभाषा बहुत कुछ उपयुक्त है कि कला ऐन्द्रिक रूप में भाव की अभिव्यक्ति है। किन्तु इस परिभाषा में इतना संशोधन अपेक्षित है कि कला में व्यक्त होने वाला यह भाव केवल बौद्धिक नहीं होता, जैसा समझने की आशंका हीगल के बुद्धि-वादी दर्शन में हो सकती है। कला के रूप में व्यक्त और साकार होने वाले भाव लौकिक, प्राकृतिक, ऐन्द्रिक, बौद्धिक और आत्मिक सभी प्रकार के हो सकते हैं। इनमें आत्मिक भाव कला के स्वरूप और सौन्दर्य के सबसे अधिक निकट होते हैं। अन्य भाव भी कला के उपादान बनकर अपने स्वरूप में सीमित नहीं रहते वरन् कला के मौलिक आत्मिक भाव में अन्वित हो जाते हैं। इस अन्वय के द्वारा ही वे कला के उपादान बनते हैं। **हीगल की परिभाषा में अपेक्षित दूसरा संशोधन यह है कि कला की अभिव्यक्ति का रूप केवल ऐन्द्रिक नहीं होता।** ऐन्द्रिकता कला के रूप का केवल बाहरी पक्ष है। इसके अतिरिक्त कला के इस रूप का एक आन्तरिक पक्ष होता है जिसे आत्मिक कहना उचित होगा। काव्य की अर्थवती कला में रूप का यह आन्तरिक पक्ष अधिक स्पष्ट होता है। **यहाँ यह संकेत कर देना भी आवश्यक है कि कला की अभिव्यक्ति का यह रूप साधारण 'रूप' न होकर 'रूप का अतिशय' होता है।** रूप के इस अतिशय में ही कला का सौन्दर्य प्रकाशित होता है। रूप के इस अतिशय में, विशेषतः काव्य में, अभिव्यक्ति का आन्तरिक रूप अधिक निखरता है।

कला और सौन्दर्य का यह आन्तरिक और आत्मिक पक्ष आनन्द को प्रमुख बना देता है। जब हम कला के ऐन्द्रिक माध्यमों के ऐन्द्रिक सुख से ही प्रभावित होते हैं तब वस्तुतः हम इन ऐन्द्रिक माध्यमों, ऐन्द्रिक एवं व्यक्तिगत सुख में ही अनुरक्त हो जाते हैं और कलात्मक सौन्दर्य के वास्तविक स्वरूप का स्पर्श नहीं कर पाते। यह कला के स्वरूप का नहीं वरन् केवल उसके उपकरण और माध्यमों का आस्वादन है। इन उपकरणों और माध्यमों का आस्वादन कलात्मक रचनाओं के अतिरिक्त अन्य प्राकृतिक स्थितियों में भी किया जा सकता है। प्रकृति के सौन्दर्य में भी सौन्दर्य के स्वरूप को छोड़ कर इन माध्यमों की सुखद सम्वेदना हमें प्रभावित

कर सकती है। प्रकृति और मनुष्यों के रूप रंग में प्राय: हम सौन्दर्य के स्थान पर माध्यम के प्राकृतिक गुण से प्रभावित होते हैं। **सौन्दर्य केवल माध्यम का प्राकृतिक गुण नहीं है वरन् उसके अतिरिक्त रूप का एक अतिशय है, जिसके क्षितिजों का विस्तार अभिव्यक्ति की व्यवस्थाओं और उसके आकारों में होता है।** यह आकार एक योजना और समष्टि है। सम्वेदना का सुख इस योजना को भंग कर माध्यम के खंडों का आस्वादन करता है। सुख के प्राकृतिक माध्यम के आस्वादन के प्रसंग में माध्यम का यह खंडन विचारणीय है तथा कलात्मक सौन्दर्य के आस्वादन में माध्यम के रूप के अतिशय और उसकी योजना की अखंडता अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सुख के साथ उपयोगिता का भाव भी लगा रहता है। उपयोगी तत्व और रूप उपभोग में सुखकर बन जाते हैं। उपयोगिता का अर्थ एक प्रकार से उनकी सुख देने की योग्यता ही है। इसीलिए इंग्लैंड के सुखवादी नीति दर्शन को उपयोगितावाद का नाम दिया गया। **यह उपयोगितावादी दर्शन वस्तु के रूप और तत्व के महत्व को खंडित करता है।** वस्तु के ये तत्व और रूप सुख के साधन बन जाते हैं। तत्व के प्रति तो मनुष्य का दृष्टिकोण प्राय: उपयोगितावादी होता है। केवल वैज्ञानिक तत्व के स्वरूप को अपने आप में महत्व देते हैं और उसका अनुसंधान करते हैं। उनका दृष्टिकोण तात्विक और वस्तुवादी होता है। किन्तु सामान्य जन तत्व को उपयोग की दृष्टि से ही देखते हैं। उपयोगितावादी दृष्टिकोण में प्राय: रूप का महत्व नहीं होगा, यदि वस्तु का रूप ही किसी प्रयोजन के लिए उपयोगी हो तो दूसरी बात है। ऐसी स्थिति में तत्व की भाँति रूप भी उपयोग का साधन बन जाता है। यह दृष्टिकोण सौन्दर्य की भावना के विपरीत है। सौन्दर्य की धारणा में हम रूप को अपने आप में महत्व देते हैं। इसी कारण 'रूप' शब्द 'सौन्दर्य' का पर्याय बना। रूप ही सौन्दर्य है। रूप के अतिशय में वह सौन्दर्य निखरता है। सौन्दर्य के आस्वादन में निस्संदेह एक सुखद अथवा आनन्दमय अनुभव होता है। किन्तु इस अनुभव के होते हुए भी हम सौन्दर्य को अपने आप में महत्व देते हैं। सौन्दर्य की सराहना में हम सौन्दर्य को ही महत्व देते हैं। किसी भी सुन्दर वस्तु, दृश्य अथवा रचना को देखकर हमारे मुख से यही निकलता है कि यह कितनी सुन्दर है। हम यह नहीं कहते कि यह कितनी सुखदायक है। सुख का अनुभव स्वार्थमय होता है तथा उसका अन्वय व्यक्ति के अहंकार में होता है। **सौन्दर्य की दिशा**

वस्तु की ओर है और सुख की दिशा व्यक्ति की ओर होती है। सुख और सौन्दर्य की ये विपरीत दिशाएँ इनके सम्बन्ध को विचारणीय बना देती हैं।

किसी भी रूप में सुख के साथ सौन्दर्य का सम्बन्ध मानते हुए भी यह निश्चित है कि सौन्दर्य सुख का साधन नहीं है और न कला का लक्ष्य सुख है। कला और सौन्दर्य अपने आप में साध्य हैं। समात्मभाव के आधार तथा रूप के अतिशय और सृजनात्मकता की दृष्टि से आनन्द को सौन्दर्य का फल मान सकते हैं। आत्मा के साम्य में उदित होने के कारण आनन्द व्यक्तिगत नहीं है। अतः वह सौन्दर्य के स्वरूप के अधिक निकट है। आनन्द भी सुख के समान एक आन्तरिक अनुभव है। किन्तु वह सुख के समान केवल भोग में नहीं है। भोग सुख का सर्वस्व है। भोग एक ग्रहणात्मक वृत्ति है। वह केवल आदान है। इस दृष्टि से वह पूर्णतः प्राकृतिक धर्म है। किन्तु आनन्द प्राकृतिक धर्म नहीं है। वह आत्मा का भाव है। अतः वह व्यक्तिगत अथवा स्वार्थमय नहीं है। इसके अतिरिक्त वह केवल ग्रहणात्मक नहीं है। आदान आनन्द का सर्वस्व नहीं है। आन्तरिक अनुभव होते हुए भी आनंद अभिव्यक्ति की ओर उल्लसित होता है। सुख का अनुभव मुख और कांति की आँखों में आलोकित नहीं होता। प्राकृतिक होते हुए भी सुख का अनुभव पूर्णतः अन्तर्मुख है। बहिर्मुख विमर्श और उसकी वृत्ति नहीं होती। **आनन्द का अनुभव भी आन्तरिक और अन्तर्मुख होता है। किन्तु इसके साथ-साथ व्यक्तिगत न होने के कारण उसमें बहिर्मुख अभिव्यक्ति का विमर्श प्रकट होता है।** आनन्द के आन्तरिक अनुभव का प्रकाश अभिव्यक्ति और वितरण के विमर्श में सहज भाव से स्फुटित होता है। शिव में शक्ति के अन्तर्भाव की भाँति आनन्द के प्रकाश में अभिव्यक्ति के सौन्दर्य अथवा विमर्श का समवाय रहता है। **अतः स्वरूप से ही आनन्द सौन्दर्य के निकट है।** सुख और आनन्द का यह रहस्य कला और सौन्दर्य के प्रसंग में सूक्ष्मता पूर्वक विचारणीय है।

जिस प्रकार प्राकृतिक और बाह्य माध्यमों का सौन्दर्य से कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार सुख का भी सौन्दर्य और आनन्द से कोई आवश्यक विरोध नहीं है। अधिक स्वार्थमय और अपने में अधिक विलीन होने पर सुख सौन्दर्य तथा आनन्द का उपेक्षक अथवा विरोधी बन सकता है। किन्तु अपने स्वरूप की सामान्य सीमा में दोनों के साथ उसकी संगति भी सम्भव है। विरोध और संगति की परि-स्थितियों पर अलग विचार करना होगा। किन्तु संगति की अवस्था में भी सुख,

सौन्दर्य और आनन्द के स्वरूप एवं लक्षणों में विवेक करना होगा। ऊपर हमने इसी विवेचन का कुछ प्रयत्न किया है। कला और सौन्दर्य के प्राकृतिक, भौतिक और बाह्य उपकरणों, उपादानों तथा माध्यमों को प्रायः सुखकर भी माना जा सकता है। किन्तु कला के सहयोगी बनकर वे केवल प्राकृतिक नहीं रहते। इनका प्राकृतिक स्वरूप समात्मभाव रूप के अतिशय तथा सौन्दर्य के सृजन के आत्मिक भावों में समाहित हो जाता है। ये आत्मिक भाव आनन्द के स्रोत हैं। इन्हीं के द्वारा कला का सौन्दर्य आनन्द का निर्झर बनता है। इस आनन्द को कलात्मक सौन्दर्य का फल कहना भी कठिन है क्योंकि मूल रूप में कला समात्मभाव के आनन्द की सहज अभिव्यक्ति है। सौन्दर्य और कला के आस्वादन में जो आनन्द मिलता है उसे भी आस्वादकों के समात्मभाव के मूल आनन्द से पृथक करना कठिन है। विश्व में ब्रह्म की भाँति कला और सौन्दर्य में आनन्द आद्यन्त ओत-प्रोत रहता है। अतः सौन्दर्य में रूप के अतिशय तथा कला में समात्मभाव और सृजन का विवेक करते हुए भी सौन्दर्य और आनन्द को शक्ति और शिव की भाँति अभिन्न मानना ही उचित है। 'शिव' शक्ति का प्रकाश है। 'शक्ति' शिव के प्रकाश का विमर्श है। इसी प्रकार 'सौन्दर्य' आनन्द की अभिव्यक्ति अथवा उसका विमर्श है। 'आनन्द' सौन्दर्य का प्रकाश है। सुख कला और सौन्दर्य के प्राकृतिक, भौतिक एवं ऐन्द्रिक उपकरणों एवं माध्यमों के आस्वादन का अनुभव अथवा फल है। कला और सौन्दर्य के प्रसंग में सुख के अनुभव की प्रधानता व्यक्तिगत तथा प्राकृतिक दृटिकोण की प्रधानता होने पर और इसके फल-स्वरूप कला एवं सौन्दर्य के विशेष लक्षणों की उपेक्षा होने पर ही सम्भव हो सकती है। चित्रों के अंकन, काव्यों के वर्णन आदि में विषय, उपादान, उपकरण और माध्यम से प्राप्त होने वाला सुख लौकिक जीवन के उस सुख के ही समान है जिसमें हमारा दृष्टिकोण व्यक्तिगत, स्वार्थमय तथा उपयोगितावादो होता है और जिसमें हम सौन्दर्य के रूप और कला के सौन्दर्य को ध्यान अथवा महत्व नहीं देते। ऐसा दृष्टिकोण कला और सौन्दर्य के स्वरूप की उपेक्षा करता है। रूप के सौन्दर्य और कला के सृजन तथा दोनों के आधारभूत समात्मभाव में समाहित होने पर सुख का यह अनुभव सौन्दर्य एवं आनन्द में उसी प्रकार समन्वित हो जाता है जिस प्रकार सुख के निमित्त सौन्दर्य एवं कला के उपादान, उपकरण, एवं माध्यम बन जाते हैं।

अध्याय ५२

सौन्दर्य, संवेग और रस

कलात्मक सौन्दर्य के साथ सुख और आनन्द के संबन्ध के विवेचन के प्रसंग में सौन्दर्य और संवेग के सम्बन्ध का विचार करना भी उचित है। संवेग भावना की ऐसी परिपक्व अवस्था है जिसमें हमारे शरीर और मन की स्थिति असाधारण होती है। मनोविज्ञान के अनुसार संवेग शरीर और मन की एक उत्तेजित अवस्था है। संवेग के मानसिक पक्ष में एक तीव्र अनुभूति का मर्म रहता है जिसे वुडवर्थ ने संवेग की स्थिति का केन्द्रीय तत्व माना है।[८७] इसके आंगिक पक्ष में शरीर और इन्द्रियाँ बड़ी तीव्रता से उत्तेजित होते हैं। हृदय और श्वास की गति तीव्र हो जाती है। चेहरा और आँखें हर्ष में चमक उठते हैं और क्रोध में लाल हो जाते हैं। **इस प्रकार मानसिक और आंगिक दोनों ही दृष्टियों से संवेग एक असाधारण अवस्था है।** असाधारण होते हुए भी यह जीवन में इस दृष्टि से साधारण भी है कि व्यवहार की परिस्थितियों में प्रायः पैदा हो जाती है। कला और काव्य में इस संवेग का क्या स्थान है? *कलात्मक सौन्दर्य से संवेग का क्या सम्बन्ध है?* यह विचारणीय है। कैरिट के समान कुछ लोग संवेग को सौन्दर्य का आवश्यक अंग मानते हैं। कैरिट ने अपने ग्रन्थ के अन्त में यह विश्वास प्रकट किया है कि अधिकांश विचारकों का मत इस ओर है कि सौन्दर्य संवेग की अभिव्यक्ति है। संवेग अथवा भावना की अभिव्यक्ति सर्वदा सुन्दर होती है। सौन्दर्य की अनुभूति क्रियात्मक होती है किन्तु कैरिट की दृष्टि में यह क्रिया भावना अथवा संवेग के अनुभावन की क्रिया है।[८८] **संक्षेप में कैरिट संवेग को सौन्दर्य का आवश्यक अंग मानते हैं; उनकी दृष्टि में सौन्दर्य संवेग की स्थिति है। इसी प्रकार भारतीय काव्य शास्त्र में रस की कल्पना भी संवेग के बहुत निकट है।** डा० राकेश गुप्त ने रस के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में अन्ततः यही प्रतिपादित किया है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रस की कल्पना संवेग के सबसे अधिक निकट है।[८९] भरत की प्रसिद्ध परिभाषा के अनुसार विभाव, अनुभाव आदि के सहयोग से रस की निष्पत्ति होती है। अनुभाव संवेग की आंगिक अभिव्यक्ति के उपकरण हैं। रस का आंतरिक रूप संवेग की अनुभूति का वह आन्तरिक मर्म है

जिसे वुडवर्थ ने संवेग का केन्द्रीय तत्व माना है।[६०] रस का वास्तविक रूप सभी आन्तरिक अनुभूतियों की भाँति चिन्मय है। सामान्यतः रसवादियों के अनुसार वह चेतना का शुद्ध और निर्विकल्प रूप नहीं है जिसे वेदान्त में ब्रह्मानन्द कहा जाता है, किन्तु वह इसके अत्यन्त निकट है। इसीलिए काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द का सहोदर माना जाता है। काव्य के रस में रति आदि का अवच्छेद ब्रह्मानन्द की शुद्ध चेतना का व्यावर्तक होने के साथ-साथ काव्यानन्द का उससे विभाजक भी है। पश्चिमी कला-शास्त्र में अनेक विद्वान् कला और सौन्दर्य को भावना की अभिव्यक्ति मानते हैं। भावना संवेग का ही सरल रूप है। संवेग में सुख और दुःख दोनों की भावनाओं का सम्मिश्रण सम्भव है, यद्यपि उसमें भावना की अपेक्षा उत्तेजना अधिक होती है। हिन्दी में भावना का अर्थ कुछ व्यापक और अनिश्चित-सा है किन्तु अंग्रेजी के 'फ़ीलिंग' में सुख-दुःख की सरल संवेदनाएँ ही मानी जाती हैं। हिन्दी की भावना के व्यापक अर्थ में संवेग का भी समाहार है। व्यापक अर्थ में भावना अंग्रेजी के अफ़ैक्शन का समानार्थक है, जिसमें मनुष्य के मन की वे प्रतिक्रियायें सम्मिलित हैं जिनका संबंध ज्ञान की तटस्थ दृष्टि और शरीर की बाह्य क्रियाओं की अपेक्षा मन की अनुभावात्मक प्रियता और प्रसन्नता से अधिक है।

कला और सौन्दर्य से भावना अथवा संवेग का क्या संबन्ध है? भावना कला की वृत्ति है, इसमें किसी अंश तक सत्य है, क्योंकि कला बुद्धि का तटस्थ दृष्टिकोण नहीं है। ज्ञान के विषय और क्रियाएँ कला के उपादान बन सकते हैं किन्तु भावना कला का स्वरूप ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे रागात्मिका वृत्ति कहकर काव्य का लक्षण बताया है। राग एक आत्मीयता का सम्बन्ध है जो बुद्धि के तटस्थ भाव से भिन्न है। बुद्धि का धर्म केवल अवगति है। वह किसी तथ्य की सत्ता का उदासीन स्वीकृति मात्र है। उस तथ्य के मूल्य और महत्त्व से बुद्धि का सीधा सरोकार नहीं है। उसके मूल्य और महत्त्व का ध्यान करते ही बुद्धि का उदासीन दृष्टिकोण रागात्मक वृत्ति बन जाता है। जिस राग में अपने महत्व और मूल्य का आग्रह अधिक होता है उसे 'मोह' कहना अधिक उचित है। राग के वास्तविक रूप में जिस वस्तु के प्रति राग होता है उसका मूल्य और महत्व अधिक होता है। इस दृष्टि से यह राग प्रेम का समानार्थक है। इसीलिए भाषा के प्रयोग में 'अनुराग' प्रेम का वाचक बना। कला और काव्य की यह रागात्मिका वृत्ति उस आत्मानुराग की समानार्थक नहीं है जो मनोवैज्ञानिक भावना और संवेग का सामान्य अभिप्राय

है। मनोविज्ञान संवेदना और अनुभूति की व्यक्तिनिष्ठता पर अधिक ज़ोर देता है। इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्ति ही समस्त अनुभूतियों का केन्द्र है, किन्तु चेतना की समस्त विभूति इस केन्द्र में ही सीमित नहीं है। उसका विस्तार जीवन के व्यापक क्षितिजों पर होता है। इन क्षितिजों के आलोकमय अन्तरिक्षों में जीवन की चेतनायें व्यक्तित्वों की सीमित परिधि से निकलकर एक दूसरे का आलिङ्गन करती हैं। राग यदि पूर्णतः परार्थ नहीं है तो वह पूर्णतः स्वार्थ भी नहीं है। हम उसे पारस्परिक भाव कह सकते हैं। वस्तुतः उसमें परार्थभाव अधिक है क्योंकि दूसरे के व्यक्तित्व का मूल्य और महत्व उसका स्वरूप है। इस राग में चेतना के बिन्दु का विस्तार और उसकी समृद्धि होती है। इस दृष्टि से हम इसे स्वार्थ भी कह सकते हैं, किन्तु वह संवेदना की आत्म-सीमित अनुकूल-वेदनीयता से अत्यन्त भिन्न है। एक अर्थ में इस राग में तादात्म्य भी होता है। इस तादात्म्य में एक तन्मयता होती है, जिसका संकेत बृहदारण्यक उपनिषद् में पति-पत्नी के प्रेम-विभोर आलिंगन की उपमा के द्वारा किया गया है। **हमने चेतना की इस स्थिति को समात्मभाव का नाम दिया है तथा उसे कला और सौन्दर्य का स्रोत माना है। इस समात्मभाव की स्थिति में जीवन की आकृतियों की व्यापक व्यंजना कलात्मक सौन्दर्य को आकार देती है।** कला की इस स्थिति और सौन्दर्य के इस स्वरूप में भावना और संवेग के व्यक्तिगत तथा मनोवैज्ञानिक तथ्यों का क्या स्थान है; यह विचारणीय है। तत्व की दृष्टि से जीवन के अन्य तथ्यों की भाँति ये भी कला और काव्य के उपादान बन सकते हैं। **समस्या का मर्म यह है कि काव्य के स्वरूप में इनका क्या स्थान है।**

भावना का सरलतम रूप सुख-दुःख की संवेदनायें हैं, जिन्हें अंग्रेजी में फ़ीलिंग कहते हैं। व्यक्तिगत सम्वेदना की सीमा में ही सुख-दुःख के इस प्राकृतिक भेद की विभाजक रेखाएँ स्पष्ट हैं। समात्मभाव के क्षेत्र में उठते ही ये विभाजक रेखाएँ धुँधली होने लगती हैं। प्राकृतिक सुख-दुःख की भूमि पर समात्मभाव के क्षितिजों पर आनन्द के रंजित और सरस मेघ झुकने लगते हैं। इस प्रकार सुख-दुःख आनन्द के निमित्त बन जाते हैं। भारतीय काव्य शास्त्र में आनन्द को काव्य का फल माना जाता है। उसका समाधान यही है कि समात्मभाव की स्थिति में जीवन के सभी निमित्त सौन्दर्य और आनन्द के स्रोत बन जाते हैं, चाहे यह दृष्टिकोण काव्य शास्त्र की परिभाषाओं में स्पष्ट न हो। इसका निष्कर्ष यह है कि सुख-दुःख की संवेदनाएँ

कला और काव्य का स्वरूप नहीं हैं, वे काव्य की निमित्त और उपादान बन सकती हैं। सुख और सौन्दर्य के विवेचन में इसके पूर्व यह स्पष्ट किया गया है कि सुखमय सम्वेदनाओं की अनुकूल-वेदनीयता और प्रियता कलात्मक सौन्दर्य का आवश्यक अंग नहीं है। रूपात्मक कलाओं के माध्यम में रूप की चारुता और प्रियता सौन्दर्य की सहयोगी हो सकती है। **यह ध्यान रखना होगा कि समात्मभाव के संस्कार से युक्त होने पर ही सुख की अनुकूल-वेदनीयता कलात्मक सौन्दर्य का निमित्त बनती है, अन्यथा वह सम्वेदना की प्राकृतिक और व्यक्तिगत सीमा में ही रहती है।**

संवेग की स्थिति शरीर और मन की एक असाधारण और उत्तेजित व्यवस्था है। उत्तेजना के कारण संवेग में अहं-भाव तीव्र और उग्र होता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से कुछ संवेगों में दर्प और कुछ में भय होता है। एक अतिरंजित आत्म-गौरव का और दूसरा अतिरंजित हीनता का भाव है। दोनों ही स्थितियों की तीव्र अनुभूति सीमित अर्थ में व्यक्तिगत होती हैं। असाधारण होने के अतिरिक्त संवेग उग्र रूप से स्वार्थमय होते हैं। केवल रति और वात्सल्य के भावों में कुछ परार्थ का भाव प्रतीत होता है। ऐसा होने पर हमें इनको अन्य संवेगों से पृथक मानना होगा। इसके अतिरिक्त इन संवेगों की स्थिति में अपने शरीर में होने वाले विकारों का सामंजस्य परार्थ से करना होगा। यह कठिन है, क्योंकि शारीरिक विकारों का स्वरूप स्वार्थमय होता है। इस सामंजस्य के लिए इन विकारों को परार्थ का निमित्त सिद्ध करना होगा। प्रेम और वात्सल्य में यह संभव है, किन्तु इसके लिए चेतना को व्यक्तित्व और अहंकार की परिधि से ऊपर उठाकर समात्मभाव के क्षितिजों पर विस्तृत करना होगा। सामान्यतः यह स्थिति संवेग की अपेक्षा शान्तभाव में अधिक संभव है। शान्त भाव में चेतना निर्वात जल के पटल के समान प्रसन्न होती है। इस प्रसन्न स्थिति में ही उसके स्वरूप का आलोक और सौन्दर्य विभासित होता है। संवेग की अवस्था विक्षुब्ध सरोवर के तरंगित जल-पटल के समान है। संवेग की असाधारण स्थिति समात्मभाव के सौन्दर्य के कितनी अनुकूल है, यह कहना कठिन है। **यदि संवेग को हम कलात्मक सौन्दर्य का स्वरूप अथवा आवश्यक अंग मानें तो उसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि संवेग की असाधारण स्थिति के अनुरूप कलात्मक सौन्दर्य को असाधारण मानना होगा तथा जीवन की साधारण स्थितियों को कला के लिए अनुपयुक्त मानना होगा।** स्वयं कला और काव्य का इतिहास इस धारणा को अप्रमाणित करता है। समस्त कला और काव्य संवेग की

असाधारण अवस्था का ही अंकन नहीं है। भारतीय काव्य-शास्त्र में शान्तरस को सम्मिलित करके इस स्थापना को व्यापक अवश्य बना लिया है, किन्तु वस्तुतः शान्त रस की प्रशान्त स्थिति अन्य संवेगों की आवेगमय स्थिति से पूर्णतः भिन्न है। शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद कोई भाव नहीं है। वह समस्त भावों का अभाव है, वह राग नहीं वीतराग है। रागात्मक सम्बन्ध के विपरीत होने के कारण वह किस प्रकार कला और काव्य का आधार बन सकता है, यह समझना कठिन है। निर्वेद की शान्ति एक निषेधात्मक शान्ति है। उसे हम इस श्मशान की शान्ति कह सकते हैं। जीवन और जगत की शान्ति भावात्मक है। वह पूर्णता, सामंजस्य और प्रसन्नता का भाव है। यह शान्ति चेतना का आन्तरिक भाव है, अतः बाह्य स्थितियों के उद्वेलन में भी मणिप्रदीप की भाँति उसका आलोकित रहना सम्भव है। अन्ततः इस आन्तरिक सामंजस्य और शांति का बाह्य स्थिति के सामंजस्य में साकार होना संभव ही नहीं, स्वाभाविक है। किन्तु आंगिक उद्वेग के साथ आन्तरिक शांति की संगति कठिन है। दूसरी ओर अनुभाव के रूप में आंगिक आवेग-रस के आवश्यक अंग हैं। शांत रस को सम्मिलित करके रस की कल्पना में कुछ विषमता उत्पन्न हो जाती है। कदाचित् इसीलिए रस की मौलिक व्यवस्था में शांत रस को सम्मिलित नहीं किया गया था।

शृंगार आदि शेष रसों की व्यवस्था भी एक-सी नहीं है। शृंगार, करुणा और वात्सल्य में आश्रय का आलंबन के साथ अनुकूलता का संबन्ध होता है। उसके विपरीत वीर, वीभत्स, रौद्र, भयानक और अद्‌भुत में आश्रय का आलम्बन के साथ प्रतिकूलता का सम्बन्ध होता है। अनुकूलता में भाव के सामंजस्य की सम्भावना रहती है। प्रतिकूलता में विषमता, विरोध और संघर्ष स्वाभाविक होते हैं। अनु-कूलता और सामंजस्य में आश्रय और आलंबन दोनों के व्यक्तित्व के गौरव और उनकी भाव सम्पत्ति की समृद्धि होती है। इसके विपरीत प्रतिकूलता के संबन्ध में एक व्यक्तित्व का उत्कर्ष दूसरे व्यक्तित्व की हीनता पर पलता है। इस विषमता के कारण प्रतिकूलता की परिस्थिति में समात्मभाव संभव नहीं है। अनुकूलता की स्थितियों में समात्मभाव संभव ही नहीं स्वाभाविक है। अतः शृंगार, करुण और वात्सल्य में सौन्दर्य की संभावना सहज होती है। **इन रसों में सौन्दर्य की संभावना अधिक होने के कारण अधिकांश काव्य में इनकी ही प्रधानता है।** इन रसों में भी अनुभाव के रूप में आंगिक विकार और उद्वेग रहते हैं किन्तु उनमें अधिकांश ऐसे होते

हैं जिनका शान्ति और समात्मभाव से आवश्यक विरोध नहीं होता। यह भी कह सकते हैं कि उनमें से अधिकांश समात्मभाव के सम्वर्धक हैं। इसके विपरीत वीर, वीभत्स आदि के अनुभाव समात्मभाव के घातक हैं। उनके आश्रय और आलंबन में ही नहीं, उनके आश्रय और दर्शकों में भी समात्मभाव सम्भव नहीं है। इसी कारण जीवन की वास्तविक स्थितियों में इन रसों में सौन्दर्य का उदय नहीं होता। वीर के अतिरिक्त काव्य में अन्य चार रसों का वर्णन बहुत कम है। जीवन और सभ्यता में भी हम इन रसों की स्थितियों को दूर ही करना चाहते हैं। किन्तु काव्य-शास्त्र सभी रसों में समान रूप से सौन्दर्य और आनन्द की सम्भावना मानता है। जीवन में ये सभी रस समान रूप से सौन्दर्य और आनन्द की उत्पत्ति नहीं करते यह स्पष्ट है। काव्य में इन रसों के वर्णन में जो सौन्दर्य और आनन्द उत्पन्न होता है वह जीवन का सौन्दर्य और आनन्द ही नहीं वरन् कलात्मक अभिव्यक्ति का रूपात्मक सौन्दर्य और आनन्द भी है। कला की केवल रूपात्मक अभिव्यक्ति का सौन्दर्य तत्व-निरपेक्ष है। तत्व-निरपेक्ष होने के कारण अभिव्यक्ति के सौन्दर्य के लिए उसके जीवन-गत आधार में सौन्दर्य होना आवश्यक नहीं। एक कुरूप स्त्री का चित्र तत्व की दृष्टि से नहीं वरन् अभिव्यक्ति की दृष्टि से ही सुन्दर माना जाता है। तत्व में सौन्दर्य का अभाव होने के कारण यह केवल रूप का सौन्दर्य हमें अधिक आकर्षित भी नहीं करता। इसीलिए अभिव्यक्ति की दृष्टि से सुन्दर होते हुए भी रौद्र, वीभत्स आदि के चित्रण हमें प्रिय नहीं लगते। नाटक और सिनेमा में दुष्ट और घृणित पात्रों को देखकर हमें आनंद का अनुभव नहीं होता। काव्य की अभिव्यक्ति के समान तत्व से दृष्टि हटाकर केवल अभिनय में हम सौन्दर्य देख सकते हैं। शृंगार, करुण और वात्सल्य में समात्मभाव की सम्भावना होने के कारण विषय और चेतना दोनों की दृष्टि से भाव-तत्व का सौन्दर्य स्वाभाविक होता है। वीर रस की स्थिति कुछ विचित्र है। वीर रस का स्थायी भाव ओज मनुष्य का एक वांछनीय गुण है। वीरत्व का उचित क्षेत्र अनीति का विरोध तथा सज्जनों और दुर्बलों की रक्षा है। वीरत्व मन का ओज और कृतित्व का साहस है। अनीति और दुष्टों के विरोध के साथ-साथ उसमें सज्जनों और दुर्बलों के साथ समात्मभाव भी होता है। दर्शकों और पाठकों का समात्मभाव वीरों और उनके रक्षणीयों दोनों के साथ होता है। इस समात्मभाव में ही वीर-रस में सौन्दर्य का उदय होता है। वीर रस के आलम्बन विरोध के कारण शृंगार, वात्सल्य आदि की भाँति समात्मभाव के अधिकारी नहीं

बन पाते। उनकी अनीति विरोध की भावना उत्पन्न करके असमात्मभाव का ही कारण बनती है। यह विरोध समात्मभाव को संकीर्ण किन्तु तीव्र बनाता है। वीरत्व का यही रूप उचित है। अनीति के विरोध और सज्जनों की रक्षा के बिना वीरत्व की कल्पना असंगत और अतिशयोक्ति पूर्ण है।

किन्तु विरोध के कारण वीर रस में भी उत्तेजना होती है। इसीलिए सैनिकों को उत्तेजित करने के लिए भारतीय सेना में महाभारत और आल्हा के पाठ का प्रबंध था। रौद्र, वीभत्स, भयानक आदि में भी आलम्बन तीव्र विरोध उत्पन्न करता है। इस विरोध के कारण उत्तेजना के साथ उग्र आंगिक विकार पैदा होते हैं। ये आंगिक विकार भी आलम्बन के समान ही समात्मभाव के विरोधी होते हैं। इसके विपरीत शृंगार और वात्सल्य की स्थिति में आलंबन और अनुभाव दोनों समात्मभाव के अनुकूल होते हैं। शृंगार और वात्सल्य में भी कुछ विशेष परि-स्थितियों में तीव्र अनुभावों की सम्भावना रहती है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि इन तीव्र अनुभावों की स्थिति में ही रसानुभूति भी तीव्र हो। मन्द अनुभावों की स्थिति में भी तीव्र रसानुभूति सम्भव है। वस्तुतः समात्मभाव के अनुकूल होने के कारण इन रसों का अनुभव जीवन का सामान्य धर्म भी बन सकता है। इसके विपरीत वीर, वीभत्स आदि आगन्तुक और उत्पाद्य हैं। वे विरोध की स्थिति के प्रत्यक्ष होने पर जागरित होते हैं। विरोध चेतना की प्रतिकूल वृत्ति है, वह उसका स्वभाव नहीं है। इसीलिए विरोध की परिस्थितियों के परोक्ष होने पर विरोध मन्द हो जाता है। एक दीर्घकाल का परोक्ष होने पर शत्रुता के भाव अत्यन्त मन्द हो जाते हैं और समात्मभाव उदित होने लगता है। मनुष्य की चेतना का स्वभाव होने के कारण यह समात्मभाव स्थायी रूप में रहता है। आंगिक अनुभावों पर इसकी अनि-वार्य निर्भरता नहीं है। मन्द और तीव्र दोनों प्रकार के अनुभाव इसके निमित्त बन सकते हैं, किन्तु उद्वेगहीन तथा शांत स्थितियों और व्यवहारों में भी शृंगार और वात्सल्य की रसानुभूति सम्भव है। सम्भव ही नहीं सामान्य जीवन और व्यवहार में वह इसी रूप में होती है। शृंगार को काम के सम्बद्ध होने के कारण जीवन, व्यवहार और काव्य में उसके शारीरिक अनुभावों को बहुत महत्व दिया जाता है। शारीरिक काम शरीर की उत्तेजना पर निर्भर है। किन्तु काम, रति और शृंगार का मानसिक भाव इससे अधिक व्यापक है। वस्तुतः उसका शुद्ध और श्रेष्ठ रूप तो व्यवहार की शांत परिस्थितियों में ही विदित होता है। वात्सल्य में शारीरिक

सम्बन्ध की अपेक्षा मानसिक भाव का अधिक महत्व है। माँ की गोद में शांति पूर्वक लेटे हुए शिशु और प्रशान्त हर्ष से निहारती हुई माँ के पारस्परिक भाव में वात्सल्य का शुद्धतम रूप साकार होता है। इसी प्रकार दिलीप और सुदक्षिणा की भाँति वन यात्रा करते हुए अथवा जयशंकरप्रसाद की चित्रकूट विषयक कविता के अनुरूप साथ-साथ बैठे हुए राम-सीता के समान प्रशान्त भाव से पारस्परिक समात्म-भाव में विभोर दम्पत्ति शृंगार के शुद्ध रूप का अनुभव करते हैं। शारीरिक दृष्टि से आंगिक अनुभावों की उत्तेजित अवस्था में सम्वेदना तीव्र होती है। इन अनुभावों के प्रभाव से संवेग का मानसिक मर्म भी तीव्र हो जाता है। संवेग के मानसिक पक्ष की तीव्रता में ही प्रायः लोग रसानुभूति की भी तीव्रता मानते हैं। किन्तु हमारा विश्वास है कि आंगिक अनुभावों और मानसिक संवेगों की तीव्रता को रस-निष्पत्ति का कारण बनाना रस के वास्तविक और आन्तरिक स्वरूप को भ्रांत करना है। रस चेतना का जाग्रत भाव है, यह सभी मानते हैं। **रति आदि के भाव उसके अवच्छेदक हो सकते हैं किन्तु वे उसके उत्पादक कारण नहीं हैं। जिन अनुभावों और स्थितियों के साथ समात्मभाव की संगति है उनकी रस के साथ भी पूर्ण संगति सम्भव है, क्योंकि समात्मभाव ही रस का स्वरूप है। किन्तु रस का स्वरूप इन सबसे स्वतंत्र है।** सभ्यता के विकास में जीवन का सामान्य व्यवहार और सम्बंधों में समात्मभाव के मन्दतर होने के कारण असाधारण अनुभावों की उत्तेजना के द्वारा रसानुभूति को तीव्र बनाने की आवश्यकता हुई, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार स्वस्थ काम और स्वस्थ भूख के मंद होने पर सभ्य समाज में दोनों की उत्तेजना के साधन अपनाये गये हैं।

सत्य यह है कि रस और सौन्दर्य जीवन की असाधारण अवस्थायें नहीं हैं और न वे असाधारण उत्तेजना की परिस्थितियों में ही जागरित होते हैं। शान्त, मन्द और उत्तेजित तीनों ही प्रकार की उन स्थितियों में रस और सौन्दर्य की भावना सम्भव है, जो समात्मभाव के अनुकूल है। विरोध और विषमता उत्पन्न करने वाली स्थितियाँ अपने आप में रस और सौन्दर्य का कारण नहीं हैं। विरोध के द्वारा वे समात्मभाव को संकुचित और तीव्र बना सकते हैं। अस्तु वे कुरूपता और जुगुप्सा के आलम्बनों की भाँति रस और सौन्दर्य के प्रतियोगी हैं। रस और सौन्दर्य का वास्तविक स्वरूप समात्मभाव है। इस स्वरूप की आभा शांत स्थिति और साधारण अनुभावों तथा व्यवहारों में अपने शुद्ध और श्रेष्ठ रूप में उदित होती

है। जिन्होंने शांत रस को ही भवभूति के करुण के समान एक मात्र रस माना है उनका मत एक दृष्टि से अत्यन्त समीचीन है। **निर्वेदमूलक शान्त रस की कल्पना निषेधात्मक है किन्तु समात्मभाव-मूलक भावात्मक शान्त रस निःसंदेह समस्त रसों का मूल है। समात्मभाव ही रस का स्थायीभाव है।** यह सत्य है कि एक ही रस निमित्त भेद से जीवन के व्यवहार में कई रूपों में फलित हो सकता है। किन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि रौद्र, वीभत्स, भयानक और अद्भुत इस रस के रूप नहीं हैं। **वस्तुतः वे जीवन की रसमय स्थितियाँ नहीं हैं।** काव्य में उनके आलम्बनों का विरोधात्मक तत्व अवास्तविक हो जाता है अतः आलम्बन की अवास्तविकता अभिव्यक्ति के रूपात्मक सौन्दर्य की विवृति को अवकाश देती है। तत्व की दृष्टि से ये रस के आलंबन नहीं हैं और वास्तविक जीवन में नहीं होते। इनकी विरोधात्मक स्थिति में उत्पन्न होने वाली असाधारण उत्तेजना अन्य रसों के समात्मभाव की पृष्ठभूमि बन सकती है। शृंगार, वीर और वात्सल्य जो वस्तुतः रस हैं उनमें भी उत्तेजना से अधिक शान्त स्थितियों में रस का वास्तविक स्वरूप अधिक निखरता है, यद्यपि समात्मभाव के अनुकूल मन्द और तीव्र अनुभावों की स्थिति में भी रस सम्भव है। सत्य यह है कि जिस प्रकार क्रोचे की निर्विकल्पक अनुभूति ने कलात्मक सौन्दर्य को साधारण कहते हुए भी एक अत्यन्त असाधारण स्थिति वना दिया, उसी प्रकार भारतीय रस-सिद्धान्त ने अनुभाव और संवेग की उत्तेजित अवस्थाओं को रस का आवश्यक अंग बनाकर रसानुभूति को एक असाधारण स्थिति बना दिया। वस्तुतः रस और सौन्दर्य मनुष्य की चेतना के स्वरूप हैं, तथा निर्विकल्पक अनुभूति अथवा संवेग की उत्तेजना की अपेक्षा अधिक व्यापक और साधारण हैं। इसी व्यापकता और साधारणता के आधार पर हम साधारण जीवन के व्यवहार में तथा कला और काव्य के प्रसंग में रस और सौन्दर्य का अनुभव करते हैं। **निर्विकल्पक अनुभूति और संवेग की उत्तेजना दोनों असाधारण होने के साथ-साथ अल्पस्थायी हैं। रस और सौन्दर्य की वृत्ति न असाधारण है और न अल्पस्थायी। समात्मभाव में उदित होने के कारण वह जीवन की एक साधारण और स्थायी वृत्ति है। जीवन के जो भी उपकरण समात्मभाव के अनुकूल हैं वे सब रस और सौन्दर्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति के निमित्त बन सकते हैं।**

हमारे मत में समात्मभाव ही सौन्दर्य, कला और रस का मूल स्रोत है।

समात्मभाव के आधार पर ही रूप के अतिशय में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। कला सौन्दर्य का सृजन है। वह समात्मभाव के आधार पर रूप के अतिशय की रचना है। यह समात्मभाव ही हमारे मत में कला और काव्य के रस का स्रोत है। **सौन्दर्य समात्मभाव की अभिव्यक्ति का रूप है। वह रूप के अतिशय से सम्पन्न होता है। रस उस समात्मभाव के स्वरूप तथा उसकी भूमिका में अन्य भावों की विभूति की आन्तरिक अनुभूति है।** इस दृष्टि से सौन्दर्य और रस शैव-तंत्रों के शक्ति और शिव के समान अभिन्न हैं। प्राकृतिक, भौतिक तथा जीवन के अन्य तत्वों के भिन्न-भिन्न रूपों को उपादान बनाकर सौन्दर्य का रूप अनेक रूपों में खिलता है। किन्तु सौन्दर्य के इन सभी रूपों में रूप का अतिशय ही सौन्दर्य का विधान करता है और इन सभी रूपों में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति अथवा रचना में समात्मभाव की स्थिति अक्षुण्ण बनी रहती है। सौन्दर्य के विविध रूप और उपकरण समात्मभाव के सामान्य भाव को सम्पन्न बनाते हैं। इसी प्रकार रसात्मक अनुभूति भी मन के विविध भावों से सम्पन्न होती है। जीवन के विविध भाव समात्मभाव को अधिक प्रकट और प्रखर बनाते हैं।

यह समात्मभाव इस रूप में एक सामान्य भाव है कि सौन्दर्य की अनुभूति और कला में सौन्दर्य की रचना इसके सामान्य आधार पर ही होती है। इनमें समात्म-भाव का सामान्य आधार वर्तमान रहता है। यह समात्मभाव संवेग की भाँति शरीर और मन की असाधारण और उत्तेजित अवस्था नहीं है। स्वार्थ और एकान्त की उदासीनता की तुलना में ही इसे असाधारण माना जा सकता है। इस उदासीनता की तुलना में यह इस रूप में असाधारण है कि यह उदासीनता एक प्रकार की भाव-शून्य अवस्था है तथा इसके विपरीत समात्मभाव में आन्तरिक भाव का आलोक और स्पंदन रहता है। समात्मभाव आत्मा और मन की उदासीन अवस्था नहीं है वरन् इसके विपरीत वह मन की एक अत्यन्त सजग और सचेतन अवस्था है। समात्मभाव की स्थिति में मन में उदित होने वाली चेतना की स्फूर्ति का प्रसार शरीर में भी होता है। किन्तु समात्मभाव का यह व्यापक उल्लास सम्वेग की असाधारण और स्थायी उत्तेजना से कई दृष्टियों से भिन्न है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सभी सम्वेदनाएँ स्वार्थमय होती हैं और सम्वेगों की उत्तेजना का केन्द्र भी व्यक्ति ही होता है। सम्वेदना और सम्वेग दोनों के उत्तेजक कारण बाहरी विषय होते हैं। किन्तु ये सम्वेदना और सम्वेग के निमित्त मात्र होते हैं। इनके प्रति मनुष्य का साम्यपूर्ण

भाव नहीं होता। सम्वेदना और सम्वेग दोनों में कुछ उपयोगिता का भाव रहता है। ये विषय उस उपयोगिता के साधन बनते हैं। साधन से अधिक इनका मूल्य और महत्व नहीं होता। इनके मूल्य और महत्व का अन्वय उस व्यक्ति की सत्ता में होता है जो सम्वेदना और सम्वेग का आश्रय होता है। प्राकृतिक होने के कारण सम्वेदना और सम्वेग व्यक्ति के अहंकार में केन्द्रित रहते हैं। सम्वेदना तो पूर्ण रूप से अन्तर्मुख आदान है; उसमें प्रदान का पक्ष नहीं होता। इसका संकेत हम सुख के प्रसंग में पिछले अध्याय में कर चुके हैं। सम्वेदना और सुख के बाहरी उत्तेजक केवल निमित्त और साधन होते हैं। सम्वेग की कुछ प्रतिक्रिया बाहर भी दिखाई देती है। क्रोध आदि के सम्वेग बाहरी आश्रयों पर भी व्यक्त होते हैं। **किन्तु सम्वेग की यह अभिव्यक्ति सौन्दर्य की कलात्मक अभिव्यक्ति के बिल्कुल विपरीत है।** सौन्दर्य की कलात्मक अभिव्यक्ति में उपादानों, उपकरणों और माध्यमों को आदर मिलता है। कला की रचना और आस्वादन करने वाले दोनों इनके साथ साम्य का अनुभव करते हैं। इसके विपरीत सम्वेद की अवस्था में इनके साथ प्रायः वैषम्य का सम्बन्ध रहता है। जिन सम्वेगों में प्रियता होने के कारण अनुकूलता दिखाई देती है उनमें भी स्वार्थ का भाव प्रमुख रहता है। **सौन्दर्य और सम्वेग में एक अन्य महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि सौन्दर्य चेतना की स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति है तथा वह एक स्वतंत्र अनुभूति अथवा रचना है; इसके विपरीत सम्वेदना एवं सम्वेग की अनुभूति और क्रिया प्राकृतिक होने के कारण पराधीन होती है।** सौन्दर्य की अनुभूति और रचना आत्मा की स्वतंत्रता का विलास है। उपादानों, उपकरणों और माध्यमों को आदर देते हुए भी सौन्दर्य विवश और पराधीन नहीं है। **अनुभव और सृजन की स्वतंत्रता सौन्दर्य का मर्म है। इसके विपरीत सम्वेदना और सम्वेग प्राकृतिक एवं पराधीन अनुभव हैं। ये बाह्य विषयों के प्रभाव से शासित होते हैं।**

मनोविज्ञान की 'भावना' भी सम्वेग की सहोदरा है। उसमें कुछ सम्वेदना का भी आश्रय रहता है तथा संवेग के समान कुछ उत्तेजना भी रहती है। यह उत्तेजना सुख में प्रायः मृदुल होती है। किन्तु दुःख में प्रायः सम्वेग के समान तीव्र होती है। मनोविज्ञान की यह भावना व्यक्तिगत और स्वार्थमय होती है। इसमें साम्य के लिये स्थान नहीं होता। जिस भावना को प्रायः कला और काव्य का आधार माना जाता है, वह मनोविज्ञान की इस भावना से कुछ भिन्न है। कला और काव्य की यह भावना कुछ उदार होती है। इस भावना की उदारता का अभिप्राय

यह है कि यह केवल व्यक्ति के आश्रय में केन्द्रित नहीं रहती वरन् अन्य व्यक्तियों और विषयों के प्रति साम्य की ओर अभिमुख होती है। मनोविज्ञान और कला दोनों की भावना में एक इतना साम्य अवश्य है कि बुद्धि और मस्तिष्क के स्थान पर इन दोनों का आश्रय हृदय माना जा सकता है। मस्तिष्क की भाँति हृदय चेतना का केन्द्र नहीं है। किन्तु सम्वेग और भावना की अवस्था में सम्बन्धित नाड़ी-संस्थान की उत्तेजना के कारण हृदय की गति तथा रक्त की गति कुछ तीव्र हो जाती है। इसी से शरीर में भी उत्तेजना उत्पन्न होती है। बुद्धि और ज्ञान उदासीन होते हैं। वे वीतराग भाव से वस्तु अथवा तत्व का अनुसंधान करते हैं। इनमें न आश्रय के प्रति राग होता है और न विषय के प्रति। मनोविज्ञान की 'भावना' राग से रंजित होती है। प्रायः मनोविज्ञान की भावना और सम्वेग का राग स्वार्थमय होता है। इनमें दूसरों के प्रति जो राग होता है वह भी प्रायः प्राकृतिक और पराधीन होता है। **इसके विपरीत कला और सौन्दर्य का राग स्वार्थपूर्ण न होकर साम्य से युक्त होता है तथा एक स्वतंत्र स्फूर्ति से प्रेरित होता है।**

अस्तु, कला और सौन्दर्य का भाव सम्वेदना और संवेग की मनोवैज्ञानिक स्थितियों से अनेक प्रकार से भिन्न है। जिस साम्य और समात्म की स्थिति में कलाओं में सौन्दर्य की रचना होती है उसकी स्वतंत्र और रचनात्मक चेतना मनोविज्ञान के संवेग और भावना की स्वार्थमयता और पराधीनता से भिन्न है। किन्तु स्वरूप से भिन्न होते हुए भी संवेग कलात्मक सौन्दर्य के उपकरण बन सकते हैं। कला-कृतियों में ये उपादान के रूप में मिलते हैं। काव्य में विभिन्न रसों के रूप में ये संवेग रस के विधायक माने जाते हैं। कलात्मक सौन्दर्य के साथ इनका सम्बन्ध ऐसा ही है जैसा कि जीवन और जगत के अन्य उपादानों का है। संवेगों का मानवीय सम्बन्धों में कुछ विशेष स्थान है। इस नाते संवेग कला में भी विशेष स्थान पाते रहे हैं। सौन्दर्य के उपकरण होने के साथ-साथ ये संवेग रस के सहयोगी भी बन सकते हैं। संवेग और रस में जो भिन्नता है उसका कुछ विवेचन हमने ऊपर किया है। यहां विशेष रूप से विचारणीय वात यह है कि कलाकार, सामाजिक, और पात्रों के साथ संवेगों का सम्वन्ध किन दृष्टियों से समान होता है। सामान्य रूप से कलाकार और सामाजिक दोनों की दृष्टि में कला का सौन्दर्य ही प्रधान होता है। अतः उनके लिए सौन्दर्य के निमित्त अभीष्ट साम्य और समात्मभाव ही प्रधान होगा। सामाजिकों के लिए यह सम्भव है कि वे कला का उपादान बनने वाले

संवेग अथवा भावना से अधिक प्रभावित हों। ऐसा प्राय: होता भी है। कला के सौन्दर्य से अधिक अभिज्ञ न होने के कारण वे कला के उपादानों से प्राय: अधिक प्रभावित होते हैं। **किन्तु ऐसी स्थिति में वे कला के अनुभावक नहीं रहते। कला का सौन्दर्य उनके लिए गौण हो जाता है।** कलात्मक सौन्दर्य को गौण मानकर जब वे संवेगों से प्रभावित होते हैं तो उनकी स्थिति कला और काव्य का उपादान बनने वाले पात्रों के समान होती है। यद्यपि उन दोनों के संवेगों में भिन्नता हो सकती है, किन्तु वे दोनों ही व्यक्तिगत और प्राकृतिक रूप में संवेगों से प्रभावित होते हैं। ये संवेग प्राकृतिक और लौकिक भाव हैं। कलाकार उन्हें रचना का उपादान बना सकता है, किन्तु इनसे प्रभावित होकर वह स्वयं कलाकार नहीं बन सकता। **सौन्दर्य का सृजन और आस्वादन दोनों ही इस दृष्टि से अलौकिक हैं कि वे स्वार्थ तथा संवेगात्मक उत्तेजना की लौकिक एवं प्राकृतिक स्थिति में सीमित रहते हुए सम्भव नहीं हो सकते। समात्मभाव की उदार और साम्यपूर्ण स्थिति में ही सौन्दर्य का सृजन और आस्वादन सम्भव हो सकता है। यही कला के रस के सम्बन्ध में भी सत्य है। रस सौन्दर्य की आन्तरिक अनुभूति है। सौन्दर्य की प्रधानता न होने पर मानवीय सम्बंधों के आत्मिक भाव में भी रस के निर्झर उमड़ते हैं। किन्तु रस का उदय भी साम्य और समात्मभाव की स्थिति में ही होता है। रसात्मक अनुभव के आह्लाद में चेतना का उल्लास अवश्य होता है। किन्तु यह उल्लास संवेग के समान विवश उत्तेजना नहीं है। यह चेतना का स्वच्छंद उद्रेक है।** प्राकृतिक सम्वेदना और संवेग कला और काव्य के उपादान बन सकते हैं और पात्रों को प्रभावित कर सकते हैं। किन्तु कलाकार और कला के अनुभावक के वे प्रमुख प्रेरक नहीं बन सकते हैं। **संवेग कला के उपादान बन सकते हैं, किन्तु वे संवेग के रूप में कलाकार को अथवा कला के अनुभावक को प्रेरित नहीं कर सकते। संवेगों के प्रति इनकी प्रतिक्रिया संवेगात्मक नहीं हो सकती। संवेगों से उत्तेजित होने पर कला के सौन्दर्य रचना और उसके आस्वादन में सम्भव नहीं है। कलाकार मनुष्य अवश्य है किन्तु प्राकृत पुरुषों की भाँति संवेगों से प्रेरित होने पर वह मनुष्य मात्र रह जाता है और कलाकार नहीं बन सकता। इस दृष्टि से कला एक दिव्य और अलौकिक विभूति है। संवेगों की स्वार्थमयता विवशता, पराधीनता, और असाधारण उत्तेजना के वैषम्य के विपरीत समात्मभाव के साम्य में ही कला की साधना सफल होती है।** कलाकार की श्रेष्ठता और

सफलता समात्मभाव के उत्कर्ष में प्राकृतिक संवेगों की ग्रतिक्रांति पर निर्भर करती है। कलाकार के मन में एक ग्रलौकिक स्फूर्ति का स्वतंत्र उल्लास होता है, जो ज्ञान ग्रौर बुद्धि की उदासीनता तथा संवेग के विवश ग्रावेश से भिन्न होता है। यह उल्लास कलाकार की सामान्य वृत्ति है। रचना की पूर्णिमा में उसके मनोवारिधि में इसके ज्वार ग्रधिक ऊँचे उठते हैं। किन्तु उसकी चेतना में इस उल्लास का स्पंदन सदा रहता है। संवेगों के प्रति उसका दृष्टिकोण यदि पूर्णतः बौद्धिक ग्रौर उदासीन नहीं हो सकता तो ग्रधिक प्राकृत एवं संवेगात्मक होने पर भी वह कलाकार नहीं बन सकता। इन दोनों स्थितियों के बीच में कौन सी माध्यमिक स्थिति कलाकार को कलाकार बनाती है, यह मनोविज्ञान ग्रौर सौन्दर्य शास्त्र का एक सूक्ष्म एवं कठिन प्रश्न है। इस प्रश्न का विवेचन भो कठिन है। कलाकार की साधना ग्रौर सामान्य जीवन के विषय में हमारा केवल इतना ग्रनुरोध है कि मनुष्य होने के नाते वह भी प्राकृतिक संवेगों से प्रभावित हो सकता है किन्तु ऐसी स्थिति में वह मनुष्य ही रह जाता है, कलाकार नहीं रहता। संवेगों के प्रभाव में रहते हुए भी दूसरी ग्रोर साम्य ग्रौर समात्मभाव की जितनी प्रचुरता उसके भाव में रहेगी उतना ही उसकी साधना ग्रौर उसके जीवन में कलात्मक सौन्दर्य का उत्कर्ष ग्रधिक होगा। साम्य ग्रौर समात्मभाव की पूर्णता ग्रध्यात्म की परिणति है। संवेगों की विवशता ग्रौर उत्तेजना तथा स्वार्थमयता जीवन का प्राकृतिक धरातल है। प्रकृति की भूमि ग्रौर ग्रध्यात्म के ग्राकाश के विशाल ग्रन्तराल में ग्रंतरिक्ष के उदार पटल पर ही कला ग्रौर सौन्दर्य के सरस मेघ ग्रौर रंजित इन्द्रधनुष खिलते हैं। इसी ग्रंतरिक्ष में सौन्दर्य-साधना की यामिनी में कलाकृतियों के ग्रगणित नक्षत्र प्रकाशित होते हैं।

अध्याय ५३

सौन्दर्य और श्रेय

सौन्दर्य का श्रेय से क्या संबन्ध है तथा कला और काव्य में नैतिकता का क्या स्थान है; यह एक अत्यन्त विवादास्पद प्रश्न है। कुछ लोग कला और काव्य का लक्ष्य केवल सौन्दर्य नहीं मानते, उनकी दृष्टि में जीवन, कला और काव्य का आधार तत्व है। अतः ये जीवन के हिताहित से अनिवार्य रूप में अनुबद्ध हैं। चाहे इसका अभिप्राय यह न हो कि कला और काव्य जीवन के श्रेय के साधन हैं, फिर भी यह स्पष्ट है कि जीवन के श्रेय का कला और काव्य में महत्वपूर्ण स्थान है। दूसरे कुछ लोग कला को एक स्वतन्त्र अभिव्यक्ति मानते हैं, जिसका स्वरूप सौन्दर्य है तथा जिसका नैतिकता अथवा श्रेय से कोई आवश्यक संवंध नहीं है। कला का गौरव अपने स्वरूपगत सौन्दर्य पर निर्भर है। इसी में कला की पूर्णता है। कला का सौन्दर्य अथवा महत्व उसके नैतिक तत्व के आधार पर घटता या बढ़ता नहीं है। इन दोनों ही मार्गों में दो प्रकार की विचार धाराएँ हैं। एक ओर तो वे माध्यमिक विचारक हैं जो श्रेय और सौन्दर्य में दोनों को ही समान महत्व देना चाहते हैं। कुछ श्रेय को जीवन का लक्ष्य मानते हुए भी सौन्दर्य को कला और काव्य का स्वरूप मानते हैं तथा उनकी दृष्टि में सौन्दर्य में श्रेय का समन्वय अभीष्ट है। कुछ सौन्दर्य को कला का स्वरूप मानते हुए उसमें श्रेय के समन्वय को अभीष्ट और सम्भव मानते हैं। दूसरी ओर दोनों ही पक्षों में वे एकांगी मत हैं जो श्रेय और सौन्दर्य में एक को मुख्य मानकर दूसरे को गौण बनाते हैं। वे श्रेय को जीवन का प्रमुख लक्ष्य मानते हैं उनकी दृष्टि में कला और काव्य उसके साधन हैं। कला और काव्य का प्रयोजन सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में ही पूर्ण नहीं है वरन् श्रेय की साधना में पूर्ण होता है। जो कला के सौन्दर्य को प्रधान मानते हैं उनकी दृष्टि में श्रेय और नैतिकता का कोई महत्व नहीं है। कला स्वतन्त्र है और अपने सौन्दर्य में पूर्ण है। श्रेय और नैतिकता से उसका ओई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है।

ये चारों ही दृष्टिकोण कला और काव्य के इतिहास में मिलते हैं। पहला

दृष्टिकोण भारतीय काव्य शास्त्र में अधिक प्रसिद्ध है। मम्मटाचार्य ने 'काव्य-प्रकाश' के आरम्भ में ही काव्य के प्रयोजन का निरूपण करते हुए उपदेश और निःश्रेयस को काव्य का अन्तिम लक्ष्य माना है। काव्य का उपदेश शिक्षा नहीं है वरन् कान्ता के मधुर और प्रिय परामर्श की भाँति सन्मार्ग का प्रकाशन है। निःश्रेयस को काव्य प्रकाशकार ने परनिर्वृति की संज्ञा दी है। यह जीवन का अन्तिम आध्यात्मिक लक्ष्य है। उपदेश और निःश्रेयस को काव्य का प्रयोजन मानते हुए भी भारतीय काव्य शास्त्र के आचार्य काव्य के स्वरूपगत सौन्दर्य के महत्व की अवहेलना नहीं करते। यह भी कहना उचित नहीं है कि वे काव्य के स्वरूपगत सौन्दर्य को गौण और निःश्रेयस को प्रधान मानते हैं। जिस विशदता और विस्तार के साथ उन्होंने काव्य-सौन्दर्य के विधायक तत्वों का निरूपण किया है तथा जिस तत्परता से उन्होंने रस, रीति, शक्ति, गुण अलंकार आदि का विवेचन किया है उससे यह स्पष्ट है कि वे काव्य के स्वरूपगत सौन्दर्य को किसी प्रकार भी कम महत्व नहीं देते। दूसरे दृष्टिकोण के प्रतिनिधि हार्टमान, बोसान्क्वेट आदि हैं जो सौन्दर्य और श्रेय को समकक्ष मानते हैं। उनकी दृष्टि में दोनों ही जीवन के स्वतन्त्र और मुख्य लक्ष्य हैं। दोनों में कोई भी एक दूसरे पर आश्रित, निर्भर अथवा उसका साधन नहीं है। फिर भी वे कला के उस रूप को नहीं मानते जिसके अनुसार केवल सौन्दर्य की अभिव्यक्ति उसका लक्ष्य है तथा श्रेय और नैतिकता से जो अपना कोई आवश्यक संबन्ध नहीं मानता। संभवतः उनका यही दृष्टिकोण है कि यद्यपि कला सौन्दर्य की स्वतन्त्र साधना है, फिर भी उसके सौन्दर्य में श्रेय का समन्वय अभीष्ट तथा सम्भव है।

तीसरा पक्ष उन नैतिकतावादियों का है जो श्रेय को जीवन का लक्ष्य मानते हैं तथा जिनकी दृष्टि में कला और काव्य श्रेय के साधन हैं। प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों में इस मत की प्रधानता पाई जाती है। प्लेटो के मत में कला अनुकरण है। अनुकरण सत्य की प्रतिलिपियों का अंकन है। प्लेटो के दर्शन में विज्ञान को सत्य माना है। बाह्य जगत इन आध्यात्मिक अथवा बौद्धिक विज्ञानों का प्रतिबिंब अथवा उनकी प्रतिलिपि है।[६१] कला इन प्रतिलिपियों की भी प्रतिलिपि है। प्लेटों के मत में श्रेय विज्ञानों में सर्वश्रेष्ठ है। अतः अन्ततः समस्त कला का उद्देश्य श्रेय के परम विज्ञान का अनुकरण है। प्लेटो की दृष्टि में नैतिक उद्देश्य कला का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है।[६२] एरिस्टोटिल के मत में भी नैतिकता

प्रधान है।[६३] उनकी दृष्टि में सौन्दर्य श्रेय का प्रिय रूप है। एरिस्टोटिल के काव्य शास्त्र में ग्रात्मशुद्धि को दुःखान्त नाटकों का मुख्य ध्येय माना गया है। एरिस्टोटिल कला ग्रौर सौन्दर्य का नैतिक ग्रौर शिक्षणात्मक प्रयोजन मानते थे। इन्हीं प्रयोजनों के कारण उनकी कला ग्रौर सौन्दर्य में रुचि थी। ग्राधुनिक दर्शन में ग्रध्यात्मवाद के महान प्रवर्त्तक कान्ट भी सौन्दर्य को नैतिक व्यवस्था का प्रतीक मानते थे।[६४] सौन्दर्य का विवेचन करते हुए कान्ट ने उसे श्रेय का प्रतीक बना दिया है।[६५] कान्ट का बुद्धिवादी दर्शन रूपात्मक है। तर्क, नीति, सौन्दर्य ग्रादि सभी क्षेत्रों में उन्होंने सिद्धान्तों के शुद्ध ग्रौर सामान्य रूपों की खोज की है। सौन्दर्य को ग्रभिव्यक्ति मानते हुए भी उन्होंने उसे नैतिकता की ग्रभिव्यक्ति माना है।[६६] ग्राधुनिक युग में गेटे, रस्किन ग्रौर टाल्सटाय ने श्रेय को कला का मुख्य लक्षण माना है।[६७] गेटे के ग्रनुसार सौन्दर्य, कला की विभूतियों में से केवल एक है। सत्य ग्रौर श्रेय को हम उसकी ग्रन्य विभूतियाँ कह सकते हैं। गेटे का मत हार्टमान के ग्रधिक निकट है जो सौन्दर्य ग्रौर श्रेय को समकक्ष मानते थे। फिर भी गेटे के मत में श्रेय ग्रौर नैतिकता की प्रधानता है। उनका फाउस्ट उनके मत का जीवन्त उदाहरण है। रस्किन ग्रौर टाल्सटाय के मत में नैतिकता की प्रधानता ग्रौर भी ग्रधिक स्पष्ट है। कैरिट का मत है कि रस्किन ने कला का विवेचन नैतिक दृष्टिकोण से किया है।[६८] बोसान्क्वेट का मत है कि रस्किन ने सौन्दर्य शास्त्र को नैतिक शास्त्र में परिणत कर दिया। टाल्सटाय के कला-विवेचन में नैतिकता का प्रभुत्व स्पष्ट है। इस प्रकार सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र में ग्रनेक विचारक नैतिक श्रेय की प्रधानता को मानते हैं। नैतिक श्रेय की साधना ही उनकी दृष्टि में कला ग्रौर सौन्दर्य का लक्ष्य है।

चौथे मत के समर्थक वे ग्राधुनिक विचारक हैं, जिनकी दृष्टि में रूप, ग्रनुभूति ग्रथवा ग्रभिव्यक्ति ही कला ग्रौर सौन्दर्य का वास्तविक स्वरूप है। तत्व ग्रथवा सत्य ग्रौर श्रेय दोनों का कलात्मक सौन्दर्य के स्वरूप में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। कला ग्रौर सौन्दर्य का दृष्टिकोण सत्य ग्रौर श्रेय की ग्रोर से उदासीन है। कला का स्वरूप, रूप ग्रनुभूति ग्रथवा ग्रभिव्यक्ति के सौन्दर्य में पूर्ण है। इसके ग्रतिरिक्त उसका कोई बाह्य ग्रौर व्यवहारिक प्रयोजन नहीं है। इस मत का सबसे सबल ग्राधार क्रोचे के ग्रभिव्यंजनावाद में मिलता है। क्रोचे के ग्रनुसार ग्रान्तरिक ग्रौर ग्रात्म-गत ग्रनुभूति, जिसे बाह्य विषयों के बन्धन के मुक्त होने के कारण चेतना का स्वतन्त्र ग्रथवा निर्विकल्पक रूप कह सकते हैं, कलात्मक सौन्दर्य का मूल स्वरूप है। कला

का सौन्दर्य अपने इस स्वरूप में ही पूर्ण है। रूपात्मक होने के कारण क्रोचे इस अनुभूति को अभिव्यक्ति से एकाकार मानते हैं। किन्तु यह अभिव्यक्ति अपने आन्तरिक और आत्मगत रूप में ही पूर्ण है। कलात्मक अनुभूति और सौन्दर्य की बाह्य अभिव्यक्ति पूर्णतः गौण और उपचार मात्र है। जगत के यथार्थ और जीवन के व्यवहारिक प्रयोजन से कलात्मक सौन्दर्य का यह आन्तरिक रूप पूर्णतः निरपेक्ष है। क्रोचे के अनुयायी कौलिंगवुड ने कलात्मक सौन्दर्य की इस आन्तरिक और आत्मगत अनुभूति को 'कल्पना' का नाम दिया है। यह कलात्मक कल्पना उस सामान्य कल्पना से भिन्न है जो सत्य के विपरीत और मिथ्या के निकट मालूम होती है। यह कलात्मक कल्पना सत्य और असत्य दोनों की ओर से पूर्णतः निरपेक्ष है। श्रेय और नैतिकता से भी इसका कोई प्रयोजन नहीं है। सौन्दर्य का मूल्य और प्रयोजन अपने आप में पूर्ण है। इस प्रसंग में कौलिंगवुड ने एक उदाहरण दिया है कि अपने अवैध शिशु को तालाब में डुबाती हुई ग्राम-बाला कम सुन्दर नहीं हो जाती। तात्पर्य यह है कि कलात्मक सौन्दर्य श्रेय पर निर्भर नहीं है और न शुद्ध सौन्दर्य के अतिरिक्त कला का कोई अन्य प्रयोजन है। उक्त ग्राम-बाला का दृश्य रूप अथवा उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति का सौन्दर्य उसकी अनैतिकता के कारण कम नहीं हो जाता। 'कला कला के लिए है' के कुछ आधुनिक सम्प्रदाय तथा हिन्दी के प्रयोगवाद की भाँति रूप प्रधान सम्प्रदाय क्रोचे के कला-सिद्धान्त की अतिरंजना पूर्ण विकृतियाँ हैं।

इन चार मतों के अतिरिक्त एक पाँचवा सम्प्रदाय भी सम्भव है जो न सौन्दर्य को श्रेय का साधन मानता है और न सौन्दर्य को श्रेय से निरपेक्ष मानता है। इस दृष्टि से यह मत पहले दो मतों के अधिक अनुकूल है, उनमें भी संभवतः यह दूसरे मत के अधिक निकट है। इस मत के अनुसार कला का मुख्य स्वरूप सौन्दर्य ही है, किन्तु इस सौन्दर्य की एक विशेषता है कि वह हमारी वासनाओं को अनायास शान्त करता है। वासनाओं का यह शमन श्रेय और नैतिकता के अनुकूल है। श्रेय सौन्दर्य का आवश्यक आधार अथवा लक्ष्य नहीं है। तत्व रूप में उसका आधान न करने पर भी सौन्दर्य का स्वरूप वासनाओं के शमन द्वारा श्रेय से सम्पन्न होता है। इस प्रकार श्रेय कलात्मक सौन्दर्य का अलक्षित फल है। टौमस एक्वीनास का मत ऐसा ही था।[९९] कुमारसंभव में कालिदास ने सौन्दर्य के इसी पवित्र संस्कार का संकेत किया है।[१००] इस संकेत के अतिरिक्त भी कालिदास ने सौन्दर्य के इस

पवित्र रूप का अंकन अनेक स्थलों पर किया है। अभिज्ञान शाकुन्तल में इस सौन्दर्य की पवित्र आभा प्रकाशित है। दिलीप और सुदक्षिणा की वनयात्रा में भी इसका परिचय मिलता है। मेघदूत की अलका-वासिनी यक्षिणी भी इस सौन्दर्य की मूर्त्ति रूप है। बाण की महाश्वेता भी पार्वती के समान पवित्र साधना में सौन्दर्य को साकार बनाती है। नारी के रूप में ही नहीं भारतीय कला और काव्य के शृंगारमय रूप में भी (गीत गोविन्द का काव्य और खुजराहो की चित्रकला इसके उदाहरण हैं) सौन्दर्य के इस श्रेयोमय संस्कार का संकेत किया जाता है। आधुनिक युग में लिस्टोवेल ने कला के इस संस्कार का प्रबल समर्थन किया है। लिस्टोवेल का यह मत कैम्ब्रिज स्कूल के तीन प्रधान नेताओं के अनुकूल है।[१०१] इस मत का आधार यह है कि कला का सौन्दर्य निर्वैयक्तिक है और निर्वैयक्तिक होने के कारण वह वासनाओं के उपशम में सफल होता है। डा० हरद्वारीलाल शर्मा ने सामंजस्य, संतुलन और समता को सौन्दर्य का लक्षण माना है। सामाजिक अमंगलों के मूल में इनका अभाव ही अनीति का कारण है। विषमता और संघर्ष अशिव ही नहीं असुन्दर भी हैं। उनके मत में अन्ततोगत्वा सौन्दर्य के सम्पूर्ण सिद्धान्त सन्तुलन में आकर परि-समाप्त होते हैं। यह सन्तुलन ही सत्य है, यही शिव है, यही स्वास्थ्य है और यही न्याय भी है। इस सिद्धान्त की अवहेलना से कला में असुन्दर का अविर्भाव होता है, विज्ञान में असत्य, समाज में अकल्याण तथा जाति और व्यक्ति के जीवन में अस्वास्थ्य उत्पन्न होते हैं। हम जिसे अन्याय कहते हैं वह सन्तुलन का अभाव है। सौन्दर्य की अवहेलना न केवल पाप है, भयावह भी है, क्योंकि समता और सन्तुलन के अभाव से समाज में जो असन्तोष फैलता है उसका एकमात्र उपचार क्रान्ति है। विद्रोह, महायुद्ध आदि सौन्दर्य के सिद्धान्तों के अपमान के फल हैं। केवल व्यापक क्रान्ति ही जीवन में सौन्दर्य की पुनः प्रतिष्ठा कर सकती है।[१०२] टोमस एक्विनास के मत में श्रेय सौन्दर्य का सहज फल है। कैम्ब्रिज स्कूल के नेता और लिस्टोवेल कलात्मक सौन्दर्य के इस फल को उसके निर्वैयक्तिक स्वरूप की विभूति मानते हैं। कालिदास के मत में श्रेयोमय संस्कार सौन्दर्य की दिव्य शक्ति की प्रतिभा है। डा० हरद्वारीलाल शर्मा के मत में सौन्दर्य अपने स्वरूपगत सामंजस्य और संतुलन के कारण श्रेय की साधना के अनुरूप है। श्रेय और सौन्दर्य की साधना की दिशा भिन्न होते हुए भी दोनों की साधना का मूल सूत्र सामंजस्य अथवा संतुलन है। यों उनकी दृष्टि में सौन्दर्य की आराधना श्रेय की साधना भी है। जीवन के क्षेत्र में संतुलन भंग

होने पर अशिवता ही नहीं असुन्दरता भी पैदा होती है। सौन्दर्य की साधना से श्रेय भी सम्पन्न होता है। किन्तु यह श्रेय सौन्दर्य का केवल सहज फल नहीं है। कला के क्षेत्र में जिस संतुलन का निर्वाह सौन्दर्य की सृष्टि करता है जीवन और व्यवहार में उसी संतुलन का निर्वाह श्रेय का भी साधक है। व्यवहार में भिन्न होते हुए भी सौन्दर्य और श्रेय मूल सिद्धान्त और अन्तिम फल की दृष्टि से एक नहीं तो समान अवश्य है।

उक्त पाँचों पक्षों के प्रतिपादकों की अपनी धारणायें हैं और अपने तर्क हैं। इनका विवेचन करने से पूर्व ध्यान में रखना आवश्यक है कि कला और सौन्दर्य के साथ श्रेय का सम्बन्ध न मानने वालों का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि श्रेय जीवन का मौलिक मूल्य नहीं है तथा जीवन में उसका महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। उनका अभिप्राय केवल इतना ही है कि जीवन में श्रेय का जो कुछ भी मूल्य और महत्व हो, कला और सौन्दर्य के साथ उसका कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं। कला और सौन्दर्य श्रेय से निरपेक्ष तथा अपने स्वरूप में पूर्ण और स्वतंत्र है। इसी प्रकार जो श्रेय का कला के साथ आवश्यक सम्बन्ध मानते हैं उनमें जो श्रेय को सौन्दर्य का लक्ष्य भी मानते हैं वे भी कला और काव्य के सौन्दर्य को किसी प्रकार भी कम महत्व नहीं देते। उनका अभिप्राय केवल इतना ही है कि सौन्दर्य की केवल रूपात्मक अभिव्यक्ति ही कला की कृतार्थता नहीं है। सौन्दर्य में शील का आधान होने पर अथवा कला के श्रेय-साधन में समर्थ होने पर कला सफल होती है। कला केवल सौन्दर्य का विलास नहीं है, वह संस्कृति के निर्माण, विकास और पोषण का तन्त्र है। किन्तु इन सभी मतों की दृष्टि में सौन्दर्य और श्रेय का स्वरूप अलग-अलग है। कुछ मतों के अनुसार एक दूसरे के साथ समन्वय अभीष्ट है तथा कुछ के अनुसार यह समन्वय न आवश्यक है और न सम्भव है। डॉ० हरद्वारीलाल के मत में सत्य, सौन्दर्य और श्रेय की एक सूत्रता का संकेत अवश्य मिलता है। उनके अनुसार सन्तुलन अथवा सामंजस्य सौन्दर्य का लक्षण है। पुष्प उसका सर्वोत्तम उदाहरण है, इसीलिए पुष्प सौन्दर्य का प्रतीक है। यह सन्तुलन और सामंजस्य ही शिव तथा सुन्दर भी है। इसके साथ-साथ डॉ० हरद्वारीलाल ने सौन्दर्य की एक परिभाषा दी है जिसके अनुसार सौन्दर्य 'अनुभूति का आनन्द है।'[१०३] अनुभूति को सामान्यतः व्यक्तिगत मानते हैं। व्यक्तिगत अनुभूति में व्यक्तिगत और आन्तरिक सामंजस्य सम्भव है। यह ठीक है कि संभवतः आन्तरिक

और व्यक्तिगत सामंजस्य पूर्ण होने पर अनुभूति की इस व्यक्तिगत स्थिति में सामाजिक विषमताओं के कोई कारण नहीं रहेंगे। फिर भी यह स्पष्ट है कि सामाजिक सामंजस्य सौन्दर्य की इस अनुभूति का आवश्यक अंग नहीं है; वह इसके स्वरूप का विधायक भी नहीं है। पश्चिमी सौन्दर्य-शास्त्र में सन्तुलन और सामंजस्य का निरूपण सौन्दर्य के वस्तुगत लक्षणों के रूप में होता रहा है। संतुलन वस्तु रूप के आकार और परिमाण की एक ज्यामितीय व्यवस्था है। सामंजस्य एक संश्लिष्ट रूप-योजना के अंगों की परस्पर अनुकूलता, उनका अविरोध तथा अन्ततः एक समग्र योजना में उनका समन्वय है। व्यक्ति के आन्तरिक भावों और उसकी प्रवृत्तियों का भी संतुलन और सामंजस्य कल्पनीय है। यह उसका आन्तरिक रूप है। इसी प्रकार व्यक्तियों के बाह्य व्यवहारों तथा चेतनाओं के आन्तरिक भावों के परस्पर संतुलन और सामंजस्य की भी कल्पना की जा सकती हैं। यह सामंजस्य का अधिक सम्पन्न और सामाजिक रूप है।

सामंजस्य के इस रूप में भी अनुभूति का आनन्द सम्भव है। सम्भव ही नहीं इस रूप में वह और अधिक समृद्ध होता है। डॉ० हरद्वारीलाल ने जहाँ सौन्दर्य और श्रेय के स्वरूप को एक माना है वहाँ उन्होंने मूलतः वह सामंजस्य सौन्दर्य का ही लक्षण माना है, यद्यपि सामाजिक व्यवहार में उसका निर्वाह कल्याण का भी साधक होता है। समाज में सामंजस्य न होने से अशिव ही नहीं असुन्दर का भी अविर्भाव होता है किन्तु कला में स्वतंत्र रूप से सामंजस्य सौन्दर्य का विधायक है। कला के इस स्वरूप का अनुगम संस्कृति के सभी रूपों को सौन्दर्य और सरसता प्रदान करता है। किन्तु सम्भवतः डॉ० हरद्वारीलाल के मत में भी न कलात्मक अनुभूति अपने स्वरूप में सामाजिक है और न श्रेय का आवश्यक रूप से सौन्दर्य में अन्तर्भाव है। हमारे मत में कला और सौन्दर्य की अनुभूति इस अर्थ में व्यक्तिगत नहीं है कि वह व्यक्ति के एकाकीपन में सम्भव हो सकती है। हमारे मत में एकान्त कला और सौन्दर्य की अभूमि है। एकान्त में अवगति सम्भव है किन्तु सौन्दर्य अथवा आनन्द की अभिव्यक्ति अथवा अनुभूति सम्भव नहीं है। एकान्त की अवगति में प्राकृतिक संवेदनाएँ भी सम्मिलित हैं। किन्तु सौन्दर्य के आनन्द का उदय वस्तुतः एकान्त की अनुभूति में नहीं वरन् समात्मभाव की सम्भूति में होता है; जिसे हम चेतनाओं का सामंजस्य कह सकते हैं। समात्मभाव की यह सम्भूति सौन्दर्य का ही नहीं श्रेय का भी स्वरूप है। यह सौन्दर्य का ऐसा लक्षण नहीं है जो श्रेय की

भावना के विना अपने आप में पूर्ण हो, तथा इसके उपयोग अथवा अनुयोग से जीवन की साधना संभव है। यह सौन्दर्य का ऐसा स्वरूप है जिसमें श्रेय का सहज अन्तर्भाव है तथा श्रेय की भूमि में ही सौन्दर्य का बीज अंकुरित होता है। ब्रह्म के स्वरूप की भाँति समात्मभाव के अद्वैत में सुन्दरम् और शिवम् का एकत्र सन्निधान है। हमारे इस मत में कला और काव्य के पूर्ण और सम्पन्न रूप में सौन्दर्य के साथ श्रेय भी समवेत है। सांस्कृतिक क्रम में समात्मभाव के अनुरूप यदि हम श्रेय को प्रधानता दें तो विवेक की दृष्टि से अनुचित न होगा। वस्तुतः शिवम् ही समात्मभाव का मर्म है। यही मर्म चेतनाओं की आन्तरिक अभिव्यक्ति और कलाओं की वाह्य अभिव्यक्ति में सुन्दरम् में साकार होता है। शिवम् की आत्मा में सुन्दरम् के रूप का स्फोट होता है। **अतः हमारे मत में शिवम् और सुन्दरम् एक दूसरे से अभिन्न हैं।** एक सीमित अर्थ में कला के एकांगी रूपों में श्रेय की उपेक्षा करके अथवा श्रेय को गौण बनाकर कला में सुन्दरम् की अभिव्यक्ति संभव हो सकती है। किन्तु वस्तुतः सुन्दरम् का यह रूप अपूर्ण ही है। कला और सौन्दर्य के पूर्ण रूप में सुन्दरम् में शिवं समवेत रहता है। **यदि अन्ततः शिवम् और सुन्दरम् का भेद आवश्यक है तो वह यही हो सकता है कि जहाँ कला का 'सौन्दर्य एक सृष्टि है वहाँ 'शिवम्' सौन्दर्य और श्रेय दोनों की एक सृजनात्मक परम्परा है।** हमारी दृष्टि में यह भेद भी सापेक्ष ही है। जीवन और कला दोनों में सृजनात्मक परम्परा का सन्निधान जहाँ शिवम् की कल्पना को पूर्ण बनाता है, वहाँ सौन्दर्य की साधना को भी अधिक सफल और समृद्ध बनाता है।

श्रेय और सौन्दर्य के सम्बन्ध के विषय में ऊपर जिन मतों का उल्लेख किया गया है उनमें सभी श्रेय और सौन्दर्य के स्वरूप को पृथक मानते हैं। इनमें अन्तर केवल इतना ही है कि कुछ श्रेय और सौन्दर्य के समन्वय को आवश्यक तथा सम्भव मानते हैं। दूसरे न इस समन्वय की आवश्यकता देखते हैं और न सम्भावना। श्रेय और सौन्दर्य के स्वरूप के पूर्णतः विविक्त होने पर तो पिछले मत ही अधिक समीचीन प्रतीत होते हैं। जैसा कि अधिकांश आधुनिक सौन्दर्य-शास्त्र तथा आधुनिक मूल्य-दर्शन का मत है, यदि सौन्दर्य और श्रेय पूर्णतः विविक्त और स्वतन्त्र तथा अपने में पूर्ण मूल्य हैं तो एक में दूसरे का समन्वय संभव होने पर भी आवश्यक नहीं है। कला का स्वरूप अपने विविक्त सौन्दर्य में पूर्ण है। दो चरम और अन्तिम मूल्यों में एक को दूसरे का साध्य अथवा साधन नहीं बनाया जा सकता।

वे दोनों स्वयं अपने साध्य हैं जैसा कि हार्टमान और बोसान्क्वेट का मत है। यदि सौन्दर्य और श्रेय दोनों समकक्ष हैं तो उनमें कोई भी एक दूसरे का साध्य अथवा साधन नहीं हो सकता। यदि गेटे के समान सौन्दर्य को कला की विभूति का केवल एक अंग मानें तो इसका अभिप्राय यही है कि कला और सौन्दर्य समानार्थक नहीं हैं। कला केवल सौन्दर्य की अभिव्यक्ति नहीं है उसका स्वरूप सत्य और श्रेय के आधान से पूर्ण होता है। जो एक्यूनास और लिस्टोवेल के समान प्रवृत्तियों के सामंजस्य और वासनाओं के शमन को सौन्दर्य का सहज फल मानते हैं, उनकी दृष्टि में भी सौन्दर्य ही प्रधान है और कला उसकी अभिव्यक्ति है। श्रेय केवल कला का अलक्षित, अयाचित, अवांच्छित और अनायास फल है। कला स्वयं अपना लक्ष्य है। श्रेय उसका लक्ष्य नहीं है। अधिक से अधिक वह उसका आगन्तुक और गौण फल है। **अस्तु श्रेय और सौन्दर्य के स्वरूप को विविक्त और अपने आप में पूर्ण मानने पर एक को दूसरे की तुलना में गौण अथवा उसका साधन बनाना उचित नहीं है।** ऐसी स्थिति में यही मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि कला का सौन्दर्य और स्वरूप अपने आप में पूर्ण है; श्रेय और नैतिकता से उसका कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं। श्रेय और सौन्दर्य का स्वरूप पृथक मानने पर एक में दूसरे का समन्वय गौण-प्रधान-विधि से ही हो सकता है। एक का बन्धन दूसरे की पूर्णता में बाधक होगा। लिस्टोवेल का मत है कि नैतिकता का बन्धन कलाकार की स्वतन्त्रता को सीमित कर देता है।[१०४] यह सत्य है कि नैतिक काव्यों में इतना सौन्दर्य नहीं है, जितना उन काव्यों में है जो श्रेय की ओर से उदासीन हैं। श्रेय को काव्य का लक्ष्य मानकर चलने से कलात्मक सौन्दर्य गौण हो जाता है। सौन्दर्य को प्रधान मानने पर उसमें श्रेय का समाधान और समन्वय कठिन ही है। अभिव्यक्तिवादी मत के पूर्णतः आन्तरिक और आत्मगत सौन्दर्य में श्रेय और नैतिकता का कोई प्रश्न ही नहीं है। **फिर भी हम देखते हैं कि वाल्मीकि, तुलसीदास, शेक्सपीयर, गेटे, रवीन्द्र, प्रसाद आदि महान् कवियों की रचनाओं में श्रेय और सौन्दर्य का परिपूर्ण समन्वय है।** चेतनाओं के समात्मभाव के रूप में ही हम इन महान् कृतियों में श्रेय और सौन्दर्य के सामंजस्य को समझ सकते हैं। इन महान् कृतियों की चिन्मय भूमिका का विस्तार और उसकी गम्भीरता इसका समर्थन करती है कि **समात्मभाव की स्थिति में जीवन की आकृतियों की व्यापक व्यंजना जहां एक ओर कलात्मक सौन्दर्य की विधायक है, वहाँ**

उसके साथ ही साथ वह कला और सौन्दर्य में श्रेय के समन्वय का सहज स्रोत भी है। श्रेष्ठ और पूर्ण कला में श्रेय और सौन्दर्य एक दूसरे में समवेत रहकर ही एक दूसरे को समृद्ध बनाते हैं।

कलात्मक सौन्दर्य के साथ श्रेय के सम्बन्ध का सही निरूपण कला के मौलिक स्वरूप एवं महत्व को गौण बनाकर नहीं हो सकता। रस्किन और टालसटाय के समान जो विचारक श्रेय को कला का लक्ष्य मानते हैं तथा श्रेय की साधना को कला का उद्देश्य मानते हैं। वे कला के महत्व को कम करते हैं। उनके अनुसार 'कला' श्रेय का साधन बन जाती है। कला के माध्यम से सम्पन्न होते हुए भी साध्य के रूप में ऐसे मत में श्रेय ही प्रधान रहता है। कलात्मक सौन्दर्य को पूर्ण महत्व देते हुए भी यदि कोई विचारक श्रेय के सन्निधान को कलात्मक रचना के लिये आवश्यक मानता है तब भी वह सौन्दर्य की रचना में एक वन्धन उपस्थित करता है जो कला के सौन्दर्य को मंद बना सकता है। प्लेटो के समान जो दार्शनिक श्रेय की साधना में ही सौन्दर्य देखते हैं वे सौन्दर्य और श्रेय के मौलिक एवं स्वरूपगत भेद की ही उपेक्षा करते हैं। **सौन्दर्य और श्रेय के सम्बन्ध के सही निर्धारण के लिये दोनों के मौलिक स्वरूप में भेद करना होगा तथा उनकी समानता एवं भिन्नता के आधार पर उनके सम्बन्ध को समझना होगा।** विभिन्न कलाओं के रूपों की भिन्नता के आधार पर भी उनमें श्रेय के स्थान का उचित विवेचन करना होगा। साधना की दृष्टि से व्यक्तिगत प्रतीत होते हुए भी अभिव्यक्ति और आस्वादन में कला सामाजिक बन जाती है और इस प्रसंग में श्रेय का प्रश्न खड़ा होता है। अनेक कलाकृतियाँ सामाजिक श्रेय को सुन्दर और प्रभावशाली बनाती हैं किन्तु दूसरी ओर अनेक कलाकृतियाँ सामाजिक शील की मर्यादाओं का उल्लंघन भी करती हैं। श्रेय के प्रति कलाकारों की विरोधी मान्यताएँ सौन्दर्य और श्रेय के प्रश्न को विवादास्पद बना देती हैं।

सौन्दर्य और श्रेय के स्वरूप को भिन्न मानने पर सौन्दर्य पर श्रेय का कोई आवश्यक अनुबन्ध नहीं रह जाता। यदि सौन्दर्य रूप का अतिशय है तो वह इस रूप में ही साकार होता है। कला सौन्दर्य की साधना है। वह रूप के अतिशय की रचना है। सौन्दर्य और कला के इस स्वरूप में श्रेय का कोई आवश्यक प्रसंग उपस्थित नहीं होता। सौन्दर्य और कला का यह रूप अपने आप में पूर्ण और पर्याप्त है। यदि सौन्दर्य को साकार बनाने के लिये कला के विशेष माध्यम के

अनुरूप किसी भौतिक उपादान तथा किसी मानसिक भाव-तत्व का ग्रहण आवश्यक हो सकता है। इसी तत्व के प्रसंग में श्रेय का प्रश्न खड़ा होता है। रूप मात्र में श्रेय का कोई प्रसंग नहीं है। सौन्दर्य और श्रेय दो मौलिक मूल्य हैं। उनका स्वरूप एक दूसरे से पृथक है, यद्यपि उनके स्वरूपों में कुछ समानता भी हो सकती है। सत्य और श्रेय दोनों से सौन्दर्य का भेद कुछ ऐसा ही है जैसा कि तत्व से रूप का। सत्य और श्रेय दोनों तत्व हैं। सौन्दर्य केवल अभिव्यक्ति का रूप है। इस रूप में श्रेय का कोई प्रसंग नहीं उठता। श्रेय का प्रश्न ही सौन्दर्य की महिमा को कम कर देता है। **कला के प्रसंग में श्रेय के सम्बन्ध में जो** प्रश्न उठते हैं **वे कला के दृष्टिकोण से नहीं वरन् जीवन के तात्विक दृष्टिकोण से उठते** हैं। कला की दृष्टि से तो केवल सौन्दर्य के रूप का विवेचन किया जा सकता है, जो रूप की जटिलता एवं अनिर्वचनीयता के कारण अत्यन्त कठिन है।

स्वरूप की दृष्टि से जिस रूप के अतिशय में सौन्दर्य व्यक्त **होता है उसमें श्रेय के विरोधी कोई तत्व नहीं होते। इस दृष्टि से उसे श्रेय के अनुकूल ही मान सकते हैं। किन्तु सौन्दर्य के इस स्वरूप में श्रेय का विधायक कोई तत्व नहीं होता।** श्रेय के प्रति सौन्दर्य का ऐसा तटस्थ दृष्टिकोण होने के कारण ही श्रेय की विरोधी दिशा में भी सौन्दर्य का उपयोग किया जा सकता है। इन्द्रायण के समान कटु और विषमय फल भी रूप में सुन्दर हो सकते हैं। विष के वृक्ष तथा विषमय फलों और फूलों में भी रूप के अतिशय का सौन्दर्य होता है। कलात्मक रचनाओं में भी श्रेय के विरोधी तत्वों को आकार दिया जा सकता है। समाज के इतिहास में प्रायः ऐसा होता है। प्राकृतिक सौन्दर्य में नारी का सौन्दर्य एक ऐसा उदाहरण है जो प्रायः अमंगलकारी अनर्थों का निमित्त बनता है। किन्तु इस प्रसंग में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि ऐसी स्थितियों में जहाँ सौन्दर्य अमंगल का हेतु बनता है, वहाँ इसमें सौन्दर्य का कोई दोष नहीं है। **सौन्दर्य श्रेय की ओर से तटस्थ रहता है। उसे श्रेय और अश्रेय दोनों का निमित्त बनाया जा सकता है।** सौन्दर्य के इस उपयोग का उत्तरदायित्व उपयोग करने वाले मनुष्यों पर ही है तथा इस उपयोग के लिये वे ही दोष अथवा श्रेय के भागी हैं। **अपने आप में सौन्दर्य दोष और श्रेय दोनों से मुक्त हैं।** इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अमंगल के लिये सौन्दर्य का उपयोग सौन्दर्य का अपमान है। सौन्दर्य के ऐसे उपयोग में उपयोगकर्ता सौन्दर्य को अत्यन्त तुच्छ समझता है और उसे अपने

अमंगलमय लक्ष्य का साधन बनाता है। जहाँ उपयोगकर्ता का ऐसा दूषित दृष्टि-कोण नहीं होता वहाँ सौन्दर्य अमंगल का निमित्त नहीं बन सकता। इस दृष्टि से वह श्रेय के पूर्णतया अनुकूल है। **सौन्दर्य का स्वरूप जिस पवित्रता और प्रसन्नता को प्रसारित करता है वह श्रेयोमय तत्वों की साधना के लिये एक उत्तम वातावरण बनाती है।** भारतीय संस्कृति के रूपों में जीवन की परम्परा में मंगल के भाव को स्थिर करने के लिये विपुल सौन्दर्य का सन्निवेश किया गया है। यह भी कहा जा सकता है कि श्रेय की सुरक्षा के लिए कला में श्रेय का समन्वय होना चाहिये। किन्तु उक्त दोनों बातें श्रेय के दृष्टिकोण से ही की जा सकती हैं। कला और सौन्दर्य की दृष्टि से वह दोनों अवान्तर हैं।

अपने स्वरूप में सौन्दर्य का दृष्टिकोण श्रेय के प्रति कितना तटस्थ है इसका अनुमान प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर लगाया जा सकता है। प्राकृतिक सौन्दर्य के दृष्य अपने सौन्दर्य में ही सुन्दर होते हैं। जब उनके सौन्दर्य का दर्शन किया जाता है तब उनके साथ श्रेय अथवा अश्रेय का कोई विचार नहीं किया जाता। श्रेय और अश्रेय का विचार आते ही उसमें उपयोगिता का भाव आ जाता है और सौन्दर्य का रूप मन्द होने लगता है। हम ऊषा, इन्द्रधनुष, बादल, चाँदनी, पर्वत, आदि के सौन्दर्य को निहारते हैं तो उस समय श्रेय के प्रसंग को भूल जाते हैं। हम उनके उपयोग पर विचार नहीं करते। **तात्विक होने के कारण श्रेय का दृष्टिकोण कुछ उपयोगितावादी ही है।** सौन्दर्य के बारे में हम पहिले अनेक बार कह चुके हैं कि वह एक निरुपयोगी दृष्टिकोण है। निरुपयोगिता का भाव होने पर ही रूप में सौन्दर्य उदित होता है। रूप के विशेषतः निरुपयोगी होने के कारण ही रूप में सौन्दर्य का उदय होता है। रूप का भी उपयोग हो सकता है। अनेक उपयोगी रचनाओं में आकार का भी उपयोग होता है। किन्तु उसमें उपयोग को छोड़कर निरुपयोगी भाव से रूप को देखने पर ही हमें सौन्दर्य दिखाई देता है अथवा स्पष्टतः निरुपयोगी रूप में हम सौन्दर्य देखते हैं। प्रकृति की सुन्दरता का एक रहस्य यह भी है कि उसके 'रूपों' का उपयोग बहुत कम है। यदि है भी तो हम उस उपयोग को ध्यान नहीं देते। प्रकृति के 'तत्व' के उपयोग की ओर ही मनुष्य ने अधिक ध्यान दिया है। मनुष्य के रूप के सम्बन्ध में भी यही सत्य है। मनुष्य के शरीर के सबसे अधिक निरुपयोगी भागों को ही सौन्दर्य का आश्रय माना जाता है। मुख,

नासिका, कपोल, अधर, चिबुक, भ्रूनेत्र आदि के जो अंग सौन्दर्य के लिये अधिक महत्वपूर्ण माने जाते हैं वे सबसे अधिक निरुपयोगी हैं।

आधार की दृष्टि से सौन्दर्य में श्रेय का भी बीज मिलता है। जो समात्म-भाव सौन्दर्य का आधार है वही श्रेय का भी आधार है। इस दृष्टि से सौन्दर्य अपने मूल स्वरूप में श्रेय के अधिक अनुकूल है। अमंगल के लिये उसका उपयोग वे ही कर सकते हैं जो कला और सौन्दर्य का मान नहीं करते वरन् उनका दुरुपयोग करने में संकोच नहीं करते। श्रेय के साथ सौन्दर्य के सम्बन्ध का विचार कलाकार के दृष्टिकोण (भाव) और कला के तत्व की दृष्टि से ही करना उचित है। कलाकार के रूप में कलाकार के भाव में अश्रेय की कल्पना नहीं की जा सकती। अमंगल के तत्व कलाकार के व्यक्तित्व में मनुष्य की दृष्टि से पाये जा सकते हैं। ये तत्व कलात्मक रचना के सौन्दर्य को मन्द बनाते हैं। इस दृष्टि से कलाकार के व्यक्तित्व में श्रेय के भाव की विपुलता सौन्दर्य की उपकारक है। वह सौन्दर्य को श्रेष्ठ बनाती है। संसार के महान् कलाकार इसे प्रमाणित करते हैं। अध्ययन के द्वारा इस तथ्य का निर्धारण किया जा सकता है कि कलाकार के व्यक्तित्व में मिलने वाली अमंगलता, अमंगल के प्रति तटस्थता, मंगल के प्रति उदासीनता मंगल के प्रति सक्रिय रुचि आदि का कला के सौन्दर्य और उसकी श्रेष्ठता पर क्या प्रभाव पड़ता है। ऐसा अध्ययन बड़ा मनोरंजक और महत्वपूर्ण होगा। **इस अध्ययन से विदित होगा कि कलाकार के भाव की मांगलिकता अपनी उत्कृष्टता के अनुपात में कलात्मक सौन्दर्य की उत्कृष्टता को प्रेरित करती है।** विश्व के महान् कलाकारों और कवियों के जीवन और व्यक्तित्व के विश्लेषण द्वारा इस तथ्य को प्रमाणित किया जा सकता है। प्रकृति के सौन्दर्य में भी जो रूप अधिक सुन्दर और श्रेष्ठ दिखाई देते हैं उनके सौन्दर्य के पीछे श्रेष्ठ तत्वों का अनुयोग मिलता है। सुवर्ण, रत्न, पुष्प, फल, आदि के सौन्दर्य में यह तथ्य प्रमाणित होता है। इनके सौन्दर्य में विभासित होने वाला कांति और तेज का तत्व ही महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक तत्व मिलते हैं।

अस्तु, स्वरूप से सौन्दर्य श्रेय का साधन नहीं है और न श्रेय का विरोधी है। सौन्दर्य की सराहना और रचना के आधार के रूप में समात्म-भाव श्रेय का बीज है। कलाकार का मांगलिक भाव कला के सौन्दर्य को उत्कृष्ठ बनाता है। इसके अतिरिक्त अपने माध्यम के अनुरूप कलाओं में श्रेय

के तत्व का ग्रहण होता है। सार्थक शब्द के माध्यम के कारण साहित्य अथवा काव्य एक अधिक अर्थवती कला है। उसमें श्रेय का ग्रहण अधिक होता रहा है, यद्यपि उसके साथ-साथ कला में श्रेय के स्थान का विवाद भी निरन्तर चलता रहा है। विवाद के दोनों पक्षों में क्रमशः श्रेय और अश्रेय का आग्रह कुछ अधिक रहता है। जिन कलाकारों ने अश्रेय तत्वों का ग्रहण किया है उनकी कला का गौरव और सौन्दर्य भी सन्दिग्ध है। कदाचित् व्यक्तित्व के विकार इसके लिये उत्तरदायी हैं। कला और श्रेय के सम्बन्ध में एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न सौन्दर्य के रूप तथा श्रेय के तत्व के समन्वय का है।

अध्याय ५४

सौन्दर्य और सत्य

सौन्दर्य का सत्य से क्या सम्बन्ध है, इसका उत्तर सौन्दर्य की कल्पना और सत्य के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। वस्तु के गुण, रूप की योजना, अनुभूति और अभिव्यक्ति में सौन्दर्य की स्थापनायें की गई हैं। जगत, जीवन और चेतना की वास्तविकताओं की दृष्टि से यह सभी सत्य है। इस प्रकार सौन्दर्य सत्य का स्वरूप ही है। सत्य का प्रयोग वस्तुगत तथ्यों और सामान्य सिद्धान्तों के अतिरिक्त जीवन के चरम तत्व के अर्थ में भी होता है। यह चरम सत्य जिज्ञासा का अन्तिम समाधान है। इस दृष्टि से इसे सत्य भी कह सकते हैं। किन्तु अनेक तत्व-विचारकों के मत में इस सत्य में जीवन की समस्त आकांक्षाओं का समाधान है। वह सत्य होने के साथ-साथ शिव और सुन्दर भी है। जगत का वस्तुगत तथ्य कला और काव्य का उपादान बन सकता है। वस्तुओं के गुण और उनकी रूप-योजनाओं को संवेदना की अनुकूलता की दृष्टि से 'प्रिय' कहा जा सकता है। चेतना की ही अभिव्यक्ति में वस्तु, गुण और रूप सुन्दर बनते हैं। संवेदना की प्रियता के कारण हम इसे 'सुन्दर' कहते हैं, किन्तु वस्तुतः सौन्दर्य चेतना की अभिव्यक्ति है। क्रोचे ने इसे 'अनुभूति' और कौलिंगवुड ने इसे 'कल्पना' कहा है। भारतीय काव्य शास्त्र में इसकी 'रस' संज्ञा है। ये मत इसे व्यक्तिगत अनुभूति मानते हैं। क्रोचे और कौलिंगवुड के अनुसार यह चेतना की सक्रिय और सृजनात्मक स्थिति है, जिसमें वह अपने विषयों का सृजन करती है। कलानुभूति की यह स्थिति पूर्णतः आन्तरिक और आत्मिक है। बाह्य वस्तु के सत्य का इसमें कोई प्रसंग नहीं है। सत्य और असत्य के भेद से यह अनुभूति परे है। व्यक्तिगत होने के कारण यह सत्य के सामान्य सिद्धान्त के विपरीत है। अतः बाह्य सत्ता और सिद्धान्त दोनों ही रूपों में सत्य का सौन्दर्य में कोई स्थान नहीं है। अनुभूति और कल्पना का सौन्दर्य सभी रूपों में सत्य से निरपेक्ष है। भारतीय काव्य-शास्त्र में कलात्मक सौन्दर्य का स्वरूप 'रस' है। रस भी व्यक्तिगत और आन्तरिक अनुभूति है, यद्यपि कुछ कठिनाइयों के कारण भारतीय आचार्यों ने उसके साधारणीकरण का प्रयत्न किया है। किन्तु

यह साधारणीकरण भी एक व्यापार है। वस्तुतः रस का आश्रय व्यक्ति ही है। रति आदि से अविच्छिन्न व्यक्ति-चैतन्य में रस की निष्पत्ति होती है। बाह्य विषय इस रस के उद्दीपन हो सकते हैं। इस प्रकार आन्तरिक अनुभूति होते हुए भी रस सिद्धान्त क्रोचे के अनुभूतिवाद की भाँति पूर्णतः आत्मगत नहीं है। किन्तु आश्रय की व्यक्तिगत चेतना में निष्पन्न होने के कारण रस भी व्यक्तिगत अनुभूति है।

अस्तु अंशतः भिन्न होते हुए भी दोनों सिद्धान्तों में एक समानता है कि दोनों के अनुसार कला और काव्य का सौन्दर्य व्यक्तिगत अनुभूति में है। व्यक्तिगत होने के कारण हम इसे मनोवैज्ञानिक सत्य कह सकते हैं। सत्य का बाह्य और वस्तुगत रूप भारतीय काव्य शास्त्र के रस का उद्दीपन अवश्य है किन्तु क्रोचे के सिद्धान्त में उसके लिये कोई स्थान नहीं है। दोनों ही सिद्धान्तों में सत्य के उस तात्विक और दार्शनिक रूप के लिये स्थान नहीं है, जिससे हम सामान्यतः परिचित हैं। भारतीय रस-सिद्धान्त का एक ऐसा आध्यात्मिक रूप अवश्य है जिसमें रस का आधार दर्शन का तत्व है। यह उपनिषदों का आध्यात्मिक रसवाद है, जिसके अनुसार 'रस' आत्मा का स्वरूप है। आत्मा जीवन का चरम आध्यात्मिक सत्य है। यह रस आनन्दमय है। शैव दर्शन में जीवन के इस अध्यात्मतत्व को 'सुन्दर' भी माना है। शंकराचार्य की सौन्दर्यलहरी, जयशंकर 'प्रसाद' की कामायनी आदि कुछ काव्यों में सत्य के इस सुन्दर रूप का काव्य में आधान अवश्य किया गया है, किन्तु काव्य को सत्य के इस स्वरूप के साथ एकाकार नहीं माना गया है। यह सत्य भी काव्य का उपादान बन सकता है, किन्तु सत्य काव्य का स्वरूप नहीं है। काव्य आवश्यक रूप से उसकी अभिव्यक्ति नहीं है। ब्रैडले आदि जिन पश्चिमी अध्यात्मवादियों ने सत्य के जिस पूर्ण रूप को मनुष्य की समस्त आकांक्षाओं का समाधान माना है; उस स्वरूप का काव्य के साथ सम्बंध किसी भी पश्चिमी सम्प्रदाय का अवलम्ब न बना। बोसान्क्वेट का सिद्धान्त सत्य अथवा तत्व के सौन्दर्य की अपेक्षा रूप और अभिव्यक्ति को अधिक महत्व देता है। हीगल के अध्यात्मवाद से प्रभावित होते हुये भी क्रोचे और कौलिंगवुड कलात्मक सौन्दर्य की अनुभूति को व्यक्तिगत मानते हैं। बोसान्क्वेट ने भी कला के प्रसंग में 'व्यक्ति' पद का प्रयोग किया है किन्तु उनकी 'व्यक्ति' की कल्पना व्यक्तित्व की सामान्य और मनोवैज्ञानिक कल्पना से पूर्णतः भिन्न है। भारतीय काव्य शास्त्र और क्रोचे के समान व्यक्तिवादी सिद्धान्तों में किसी व्यापक और सामान्य सत्य के लिये स्थान नहीं है। स्वरूप की दृष्टि से

नहीं तो भी तत्व की दृष्टि से भारतीय काव्य-शास्त्र सत्य के सभी रूपों को काव्य का विषय मानता रहा। किन्तु क्रोचे का कलात्मक सौन्दर्य व्यक्तिगत ही नहीं आत्मगत भी है। अतः उसमें किसी भी रूप में सामान्य सत्य के लिये स्थान नहीं है। भारतीय रस-सिद्धान्त के भी व्यक्तिगत होने के कारण सामान्य सत्य का काव्य के स्वरूप में अन्वय कठिन है।

इन व्यक्तिवादी और आत्मगत मतों के विपरीत पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र के कुछ वे सिद्धान्त हैं जो किसी न किसी रूप में सौन्दर्य को सत्य की अभिव्यक्ति मानते हैं। इन मतों के अनुसार सत्य की अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य का स्वरूप है। इस प्रकार सत्य के अतिरिक्त सौन्दर्य की सत्ता नहीं है। सत्य सौन्दर्य का वैकल्पिक आधार नहीं है वरन् उसका अनिवार्य आधार है, सत्य की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त सौन्दर्य का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। सौन्दर्य की ये दार्शनिक धारणायें अंग्रेजी कवि कीट्स की प्रसिद्ध उद्गार की भाँति सत्य और सौन्दर्य का अनिश्चित और भावुकता-मय एकीकरण नहीं है। ये सभी मत पश्चिम के प्रसिद्ध और दिग्गज दार्शनिकों के हैं, जिन्होंने अपने दर्शनों में सत्य की महान स्थापनायें की हैं। सत्य का स्वरूप सौन्दर्य से स्वतंत्र है। ब्रैडले के चरम सत्य तथा शैव दर्शन के शिव की भाँति उस तात्विक सत्य के स्वरूप में सौन्दर्य का अन्वय नहीं है। सौन्दर्य किसी रूप में उस तात्विक सत्य की अभिव्यक्ति अवश्य है। इस प्रकार सत्य सौन्दर्य का आधार अवश्य है, किन्तु सौन्दर्य सत्य के स्वरूप का आवश्यक तत्व नहीं। यदि यह कहा जाय कि इन दार्शनिकों के मत में सत्य ही प्रधान है और सौन्दर्य गौण है तो अनुचित न होगा। सत्य अपने तात्विक स्वरूप में पूर्ण है, सौन्दर्य उसे अधिक पूर्ण नहीं बनाता, वह केवल सत्य की अभिव्यक्ति है। किन्तु सत्य सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का आवश्यक आधार है। यह स्पष्ट है कि इन मतों के अनुसार सत्य और सौन्दर्य का स्वरूप अलग अलग है। कीट्स के मन्तव्य की भाँति वे एक नहीं हैं।

इन मतों में प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक प्लेटो का मत सबसे प्राचीन है। प्लेटो एक अध्यात्मवादी दार्शनिक था। सभी अध्यात्मवादी भौतिक और बाह्य जगत को संदेह की दृष्टि से देखते आये हैं। उन्हें इसमें सत्य की अपेक्षा असत्य ही अधिक मिला है। वे इस भौतिक जगत से परे किसी अतीन्द्रिय और अध्यात्मिक तत्व में सत्य का चरम स्वरूप खोजते रहे हैं। प्लेटो के अनुसार भी यह भौतिक जगत सत्य नहीं है। सत्य का स्वरूप आध्यात्मिक और अतीन्द्रिय है जिसे प्लेटो ने 'विज्ञानों'

का नाम दिया है। ये विज्ञान दृश्य वस्तुओं के चरम और अतीन्द्रिय आधार हैं जो बहुत कुछ वैशेषिक के सामान्यों के समान हैं। प्लेटो एक अतीन्द्रिय आध्यात्मिक लोक में इन सामान्यों की स्वतंत्र सत्ता मानते हैं। सम्भवतः यह बुद्धि के विषय हैं। उनके संवादों के एक पात्र ने एक व्यक्ति के यह आपत्ति करने पर कि "मैं अश्व तो देखता हूँ किन्तु मुझे अश्वत्व कहीं दिखाई नहीं देता।" यह व्यंगपूर्ण उत्तर दिया था "क्योंकि तुम्हारे पास बुद्धि नहीं है।" यह स्वतंत्र सामान्य विज्ञान ही प्लेटो के अनुसार चरम सत्य है। भौतिक जगत और उसके पदार्थ इस चरम सत्य के प्रतिबिम्ब मात्र हैं। प्लेटो ने इस सत्य को स्पष्ट करने के लिये एक दृष्टान्त का प्रयोग किया है जो उनकी रचनाओं में अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसे गुफा का दृष्टान्त कहते हैं। अँधेरी गुफा में एक द्वार से कुछ प्रकाश आ रहा है। उस प्रकाश के सहारे गुफा के बाहर के मार्गों पर आते जाते लोगों के प्रतिबिम्ब गुफा की दीवार पर पड़ते हैं। अंधेरी गुफा के निवासी उन प्रतिबिम्बों को भी देखते हैं। उनके आधारों को नहीं जानते। यह संसार उस गुफा के समान ही है। इसके निवासी सामान्यतः उस विज्ञान-रूप सत्य को नहीं जानते जो अतीन्द्रिय लोक में स्थित है। वे इन भौतिक पदार्थों को ही देखते हैं जो उनके प्रतिबिम्ब हैं। प्लेटो के अनुसार कला अनुकरण है। वह ऐन्द्रिक माध्यमों में इन भौतिक वस्तुओं की प्रतिलिपियों का अंकन है जो स्वयं विज्ञान-रूप सत्य की प्रतिलिपियां हैं। इस प्रकार कलाकृति एक प्रतिलिपि की प्रतिलिपि है।

अस्तु प्लेटो के मत में सौन्दर्य सत्य नहीं वरन् सत्य की अनुकृति की अनुकृति है। प्लेटो के दर्शन में व्यवहार-जगत की स्थिति अद्वैत वेदान्त की माया के समान ही है। कलात्मक सौन्दर्य उस माया की भी माया है। यह सौन्दर्य का कोई गौरवपूर्ण दृष्टिकोण नहीं है। नाटक के प्रति प्लेटो का दृष्टिकोण और अपने आदर्श नगर से नाटककार का निष्कासन प्लेटो के दृष्टिकोण के प्रमाण हैं। प्लेटो के मत में न तो सौन्दर्य का कोई स्वरूपगत मूल्य अथवा महत्व है और न सौन्दर्य सत्य के स्वरूप की वास्तविक अभिव्यक्ति में समर्थ है। आधुनिक सौन्दर्य शास्त्र में भी कुछ विद्वानों ने मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक दृष्टि से सौन्दर्य के रूप और उसकी रचना में भ्रम का अंश खोजने का प्रयत्न किया।[१०५] भ्रम का रूप वास्तविक स्थितियों की अन्यथा प्रतीति है। कला के क्षेत्र में ही वस्तुओं, विषयों तथा कर्त्ता और कला के अनुरागियों को अपने स्वरूप के विषय में भ्रान्तिमय प्रतीति होती है।

इस आधुनिक मत के अनुसार कला किसी आध्यात्मिक अथवा तात्विक सत्य की नहीं वरन् लौकिक और व्यावहारिक सत्य की ही भ्रांतिमय अभिव्यक्ति है। यही भ्रान्ति कला का सौन्दर्य और उसका आकर्षण है।

कला और सौन्दर्य के सम्बन्ध में ऐसे दृष्टिकोणों का मूल्य तात्विक सत्य के बौद्धिक रूप की ही प्रधानता है। बौद्धिक सत्य का तात्विक रूप अपनी सत्ता और स्थिति में पूर्ण है। वह अभिव्यक्ति की अपेक्षा नहीं करता और न अभिव्यक्ति से पूर्णतर हो सकता है। सौन्दर्य रूप की अभिव्यक्ति है। अतः सौन्दर्य के साथ इस सत्य का आन्तरिक और आवश्यक सम्बन्ध नहीं। इसलिये जिन बुद्धिवादी विचारकों ने सौन्दर्य को ऐन्द्रिक 'रूप' में सत्य की अभिव्यक्ति माना है उनकी दृष्टि में भी सत्य अपनी सत्ता और अपने स्वरूप में पूर्ण है। अभिव्यक्ति उस सत्य के स्वरूप का आवश्यक अंग न होने के कारण असत्य ही है। इसीलिये अद्वैत वेदान्त, प्लेटो आदि के जैसे आध्यात्मिक दर्शनों में भौतिक और व्यावहारिक जगत मिथ्या है। सत्य के बौद्धिक रूप को मानने के कारण वे विचारक सौन्दर्य के स्वतन्त्र रूप को न पहचान सके और न सत्य के साथ उसके घनिष्ट सम्बन्ध को मान सके। सौन्दर्य को ये अधिक से अधिक आदर इस रूप में दे सके हैं कि वह बौद्धिक सत्य की अभिव्यक्ति है।[१०६] जर्मन दार्शनिक हीगल भी सौन्दर्य को ऐन्द्रिक आकार में आध्यात्मिक सत्य की अभिव्यक्ति मानता था।[१०७] प्लौटीनस के अनुसार सौन्दर्य बौद्धिक सत्य की अभिव्यक्ति है। प्लौटीनस के मत में सौन्दर्य का स्वतन्त्र रूप प्लेटो की अपेक्षा अधिक स्पष्ट हुआ है। वे कलाकृति को सत्य का अनुकरण नहीं वरन् उसका प्रतीक मानते हैं।[१०८] प्लौटीनस का सत्य आध्यात्मिक होने के साथ-साथ सृजनात्मक भी है। कला भौतिक प्रतीक में आध्यात्मिक सत्य का प्रतिनिधित्व है। कला की सृजनात्मक क्रिया में कलाकार सत्य का ध्यान करता है। और इस ध्यान में वह सत्य के साथ तन्मय हो जाता है। प्लौटीनस के मत में सौन्दर्य श्रेय अथवा नैतिकता का साधन नहीं है, वह स्वतन्त्र और इनके समकक्ष है। सत्य के साथ भी सौन्दर्य का सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ है। सौन्दर्य के ध्यान में आत्मा अपने सृजनात्मक रूप से एकाकार हो जाती है।[१०९] एक दृष्टि से कलात्मक अनुभव आत्मा के स्वरूप की स्मृति है। यह स्मृति का सिद्धान्त हमें प्लेटो का स्मरण दिलाता हैं। और प्लेटो के साथ प्लौटीनस के सम्बन्ध का स्मरण दिलाता है। प्लौटीनस के आध्यात्मिक अनुभूतिवाद में क्रोचे के मत के

2661

कुछ संकेत अन्तर्निहित हैं। सौन्दर्य की आध्यात्मिकता, अनुभूतिमूलकता और ध्यान की तन्मयता क्रोचे की कलानुभूति के अत्यन्त निकट है। दूसरी ओर प्लेटो का प्रभाव भी स्पष्ट है। लौकिक और भौतिक प्रतीकों में आत्मा के स्वरूप की अभिव्यक्ति अपूर्ण ही है। इतना अवश्य है कि प्लौटीनस इसे मिथ्या अथवा भ्रान्ति नहीं मानते। सत्य और सौन्दर्य दोनों के स्वरूप की आध्यात्मिकता उनकी समानता का आधार है। अनुभूतिवादी होने के नाते प्लौटीनस का मत क्रोचे के बहुत कुछ समान है।

हीगल के मत में भी यद्यपि सत्य का आध्यात्मिक रूप ही प्रधान है, फिर भी सौन्दर्य के साथ उसकी घनिष्ठता है। हीगल का आध्यात्मिक सत्य पूर्ण और शाश्वत होते हुए भी गत्यात्मक है। वह कालक्रम की लौकिक व्यवस्था में अपने को अभिव्यक्त करता है। स्थापना, विरोध और समन्वय के क्रम से आध्यात्मिक सत्य की अभिव्यक्ति की गति अनन्त है। हीगल के मत में इस आध्यात्मिक सत्य का रूप प्रधानतः बौद्धिक ही है। हीगल ने इस बौद्धिक सत्य को पूर्ण आध्यात्मिक प्रत्यय का नाम दिया है जो प्लेटो के चरम प्रत्ययों से भिन्न है। यह निरपेक्ष और गतिशील है। विश्व और जीवन उसी की अभिव्यक्ति है। 'कला' इस बौद्धिक और आध्यात्मिक सत्य की ऐन्द्रिक रूप में अभिव्यक्ति है।[११०] हीगल के मत में कला इस सत्य की सबसे आरम्भिक और निम्न अभिव्यक्ति है। जीवन की प्रगति की त्रिपुटी में उसे स्थापना कह सकते हैं। धर्म उसका विरोध करता है। दर्शन में दोनों का समन्वय सत्य की पूर्ण अभिव्यक्ति है। हीगल के अनुसार कला का रूप आध्यात्मिक सत्य की ऐन्द्रिक आकार में अभिव्यक्ति है। ऐन्द्रिक आकार सम्वेदना का निश्चित आधार है। हीगल के मत में दार्शनिक बुद्धि में सौन्दर्य की संवेदना का समाहार होता है। भिन्न प्रतीत होते हुये भी सौन्दर्य की समन्वित सत्य के साथ संगति है।

क्रोचे ने अपने अनुभूतिवाद में हीगल के अध्यात्मवाद का आश्रय लेते हुये भी उसका खण्डन किया है। बुद्धि सामान्य प्रत्ययों के रूप में साकार होती है। इसलिए बौद्धिक सत्य का व्यक्तिगत रूपों और सत्ताओं से विरोध है। हीगल ने अपने सत्य को सामान्य मानते हुए भी प्लेटो के सामान्यों की भाँति स्थिर और अलौकिक नहीं माना है। हीगल का सामान्य सत्य आध्यात्मिक होने के साथ मूर्त्त है। वह लौकिक और कालगत अभिव्यक्ति में साकार होता है। अतः हीगल के अनुसार

बौद्धिक सामान्य की ऐन्द्रिक अभिव्यक्तियों के साथ संगति है; केवल यह अभिव्यक्ति सत्य के जीवन का प्रथम चरण है। क्रोचे के अनुसार कला की अनुभूति व्यक्तिगत और आन्तरिक है। बाह्य अभिव्यक्ति और बौद्धिक सामान्य दोनों से उसकी कोई संगति नहीं है। कला और सौन्दर्य अपनी आन्तरिक अभिव्यक्ति में ही पूर्ण है। बौद्धिक सामान्य इस व्यक्तिगत अनुभूति का विरोधी है, अतः वह उसका समन्वय नहीं कर सकता।[१११] सौन्दर्य की आन्तरिक अभिव्यक्ति ही उसका प्राथमिक और पूर्ण रूप है, ऐन्द्रिक निश्चयता नहीं जैसा कि हीगल मानते थे। 'बौद्धिक विचार' विषय और विधेय का सम्बन्ध है। कलानुभूति पूर्णतः आत्मगत है; उसमें विषय और बुद्धि के तत्व के लिए स्थान नहीं है। 'कला' बौद्धिक और सामान्य सत्य की ऐन्द्रिक माध्यम में अभिव्यक्ति नहीं है जैसा कि हीगल मानते थे वरन् बाह्यता, बुद्धि, काल, आदि के अनुषंगों से रहित पूर्णतः आन्तरिक और आत्मगत अनुभूति अथवा अभिव्यक्ति है। इन सभी अनुषंगों से रहित होने के कारण कलानुभूति अपने स्वरूप में पूर्ण है। सत्य और असत्य का प्रसंग पूर्णतः इसके वहिर्गत है।[११२]

इस प्रकार एक ओर सत्य के बौद्धिक रूप में विश्वास करने वाले दार्शनिक सौन्दर्य को सत्य की मिथ्या अथवा वास्तविक अभिव्यक्ति मानते हैं; दूसरी ओर अनुभूतिवादियों के मत में सत्य के बौद्धिक अथवा बाह्य रूप से सौन्दर्य की अनुभूति का कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। प्लौटिनस ऐन्द्रिक अभिव्यक्ति को मिथ्या तो नहीं किन्तु अपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार कलात्मक क्रिया में आत्मा अपने स्वरूप का अनुसंधान करती हैं। किन्तु क्रोचे के मत में कलात्मक सौन्दर्य का रूप पूर्णतः व्यक्तिगत और आन्तरिक है। बाह्य अभिव्यक्ति और बौद्धिक सामान्य दोनों उसके विरोधी हैं। सत्य के दो ही मुख्य रूप हैं––एक ऐन्द्रिक विषयों की सत्ता और दूसरे बौद्धिक सामान्य। इन दोनों के साथ सौन्दर्य का क्या सम्बन्ध है ? व्यक्तिगत और आन्तरिक अनुभूति को सौन्दर्य का स्वरूप मानने पर दोनों के साथ ही सौन्दर्य की संगति नहीं है, जैसा कि क्रोचे के मत से स्पष्ट है। सौन्दर्य को चेतनाओं का समात्मभाव मानने पर ही बाह्य सत्ता के साथ उसकी संगति संभव हो सकती है। बाह्यता और अनेकता की स्थितियाँ समात्मभाव की स्थिति में बाह्य सत्ता की सौन्दर्य के साथ सहज संगति है। समात्मभाव के निमित्त बनकर बाह्य और ऐन्द्रिक विषय सौन्दर्य से अंचित होते हैं। बौद्धिक विचार की दो विशेषतायें

मुख्य हैं––एक विषय और विधेय का सम्बन्ध और भेद, दूसरा सामान्य का रूप। समात्मभाव न पूर्ण एकता की स्थिति है और न अत्यन्त भेद की स्थिति है। वह एक समता का भाव है जिसमें भेद में भी एकता है और एकता में भी भेद है। कठोर रूप में भेद और अभेद बौद्धिक प्रत्याहार हैं और उनकी एकत्र संगति सम्भव नहीं हो सकती। उनके रूपों को पूर्णतः विपरीत मानकर उनका समन्वय कैसे हो सकता है? सामान्य को प्लेटो के सामान्य की भाँति अलौकिक और अतीन्द्रिय मान लेने पर अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यह सामान्य भी एक प्रत्याहार है। हीगल का मूर्त सामान्य, जो विशेष रूपों में अभिव्यक्त होता है, सत्य के अधिक निकट है। जीवन और जगत में सामान्य का यही रूप सत्य है। यह सामान्य व्यवहार और अनुभव में समता तथा सामंजस्य का सूत्र है। इसी के आधार पर व्यवहार में सम्प्रेषण संभव होता है। सौन्दर्य और श्रेय के समात्मभाव में भी सामान्य का अन्तर्निहित आधार रहता है। अतः समात्मभाव के साथ सामान्य की भी संगति है। सम्प्रेषण समात्मभाव का महत्वपूर्ण लक्षण है।

बौद्धिक सत्य का आधान दर्शनों में होता है। लिस्टोवेल ने बौद्धिक और ऐन्द्रिक तत्वों के समन्वय के उद्घाटन का श्रेय स्टेस को दिया है। आध्यात्मिक अर्थ में काव्य इतिहास की अपेक्षा अधिक सत्य है।[११३] आयरलैन्ड के कवि यीट्स के मत में दर्शन के अन्तर्गत जो कुछ महत्वपूर्ण है वह काव्य में आत्मसात् हो जाता है। **सत्य का मूल स्वरूप आलोक और प्रसार है। इस आलोक और प्रसार के विस्तार और वितरण में सत्य में सौन्दर्य की छवि उदित होती है।** इस विस्तार और वितरण में सत्य की आत्मगत जिज्ञासा का समाधान समात्मभाव के श्रेय और सौन्दर्य की ओर अभिमुख होता है। यदि विश्व के महान् कवियों की कृतियों में से बौद्धिक और दार्शनिक तत्व निकाल दिया जावे तो उनका सौन्दर्य तत्व हीन ही नहीं आत्म-विहीन हो जायगा। सत्य का तत्व सौन्दर्य के रूप में समन्वित होकर ही श्रेष्ठ कला और काव्य की सृष्टि करता है। यह समन्वय ही सत्य और सौन्दर्य दोनों की पूर्णता है।

सत्य की एक व्यापक धारणा में ही सत्य के अन्तर्गत श्रेय और सौन्दर्य का भी समाहार होता है। ऐसा व्यापक सत्य केवल बौद्धिक नहीं होता। उसमें मनुष्य की अन्य निगूढ़ आकांक्षाओं का भी संतोष होता है। ऐसा व्यापक सत्य परमार्थ का पर्याय बन जाता है जो सत्य होने के साथ शिव और सुन्दर भी है। तंत्रों

के शिव और भक्ति-दर्शनों के ईश्वर इस व्यापक सत्य के उदाहरण हैं। इस व्यापक सत्य में सत्य की चरमता होने के साथ-साथ सौन्दर्य के लक्षण भी खोजे जा सकते हैं। **सौन्दर्य का मूल लक्षण 'अभिव्यक्ति' है जो 'रूप के अतिशय' में साकार होती है।** परम सत्य के वे ही रूप सुन्दर माने जा सकते हैं जो अभिव्यक्ति के अनुकूल होते हैं अर्थात् जो अभिव्यक्ति को अपने स्वरूपगत लक्षण के रूप में स्वीकार करते हैं। तंत्रों के शिव और भक्ति सम्प्रदायों के ईश्वर ऐसे ही सत्य हैं। सृष्टि की रचना करने वाली शक्ति शिव के स्वरूप से अभिन्न है। भक्ति दर्शनों की माया, लक्ष्मी आदि भी शिव की शक्ति के समान ही परमेश्वर से अभिन्न है। अभिव्यक्ति का सृजनात्मक धर्म ही शिव और परमेश्वर के सौन्दर्य का मर्म है। अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से युक्त होने के कारण ही शिव और ईश्वर की कल्पना सुन्दर रूप में की गई है। शैवों के शिव और वैष्णवों के ईश्वर सौन्दर्य की सीमा को अंकित करते हैं। कालिदास ने कुमारसम्भव में विवाह के प्रसंग में शिव के सौन्दर्य का वर्णन किया है। वैष्णव परम्परा में ईश्वर की उपासना सुन्दर रूप में की जाती है। विष्णु का रूप परम सुन्दर है। विष्णु के अवतार राम और कृष्ण भी अत्यन्त सुन्दर माने गये हैं। राम को तुलसीदास ने 'कोटि मनोज लजावन हारे' बताया है और श्रीकृष्ण को भागवत में 'स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान' कहा गया है। शिव की शक्ति 'सुन्दरी' कहलाती है। वह सृजनात्मिका है। शक्ति की सुन्दरी संज्ञा इस रहस्य का संकेत करती है कि इस सृजनात्मक अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य का स्वरूप है। यह सौन्दर्य शिव के स्वरूप में समाहित है। **वेदान्त के ब्रह्म में सौन्दर्य का समाहार नहीं है इसका कारण यही है कि वेदान्त में सृजनात्मक अभिव्यक्ति को ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं माना गया है।** अद्वैत वेदान्त के मत में सृष्टि मिथ्या है। इस मत के अनुसार माया का अर्थ ही मिथ्या है। रज्जु से सर्प की भाँति ब्रह्म से विश्व का मिथ्या विवर्त होता है। सृजनात्मक अभिव्यक्ति ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है इसीलिये ब्रह्म सुन्दर नहीं है। वह सत्य है, चिन्मय है, शान्त, शिव, आनन्दमय आदि है। अनिर्वचनीय होते हुए भी उपनिषदों में ब्रह्म के उक्त लक्षण मिलते हैं। **किन्तु प्राचीन उपनिषदों में कहीं भी ब्रह्म को सुन्दर नहीं बताया गया है। प्राचीन उपनिषदों में ब्रह्म के लिये 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं हुआ है और कहीं भी सौन्दर्य के भाव की ब्रह्म के लिये कल्पना की गई है।** ब्रह्म आनन्दमय अवश्य है। आनन्द आन्तरिक अनुभूति है। सौन्दर्य अभिव्यक्ति है जो आनन्दमय होती

है। सौन्दर्य आनन्द से अभिन्न है किन्तु आनन्द की अनुभूति आवश्यक रूप से सौन्दर्य में अभिव्यक्त नहीं होती। उपनिषदों के वेदान्त में आनन्द की कल्पना केवल एक आन्तरिक अनुभूति के रूप में की गई है।

परम और आध्यात्मिक सत्य के अतिरिक्त सत्य के अन्य अनेक रूप हैं। सत्य को अवगति का विषय मानकर उसके अनेक भेद किये जा सकते हैं। प्राकृतिक सत्य, सामाजिक सत्य आदि उसके ऐसे रूप हैं जो सामान्यतः कला और काव्य के उपादान बनते हैं। सौन्दर्य रूप का अतिशय है। पिछले विवेचन में हमने सौन्दर्य की यही परिभाषा निर्धारित की है। कला इस रूप के अतिशय की रचना है। प्रकृति के दृश्यों में जहाँ हम रूप के अतिशय की कल्पना करते हैं वहाँ हमें सौन्दर्य भी दिखाई देता है। रूप का उत्कर्ष विन्यास की लय, सन्तुलन, सामंजस्य, निरुप-योगिता आदि उन लक्षणों में प्रमुख हैं जो प्राकृतिक दृश्यों के रूपों को अतिशय बना कर उनमें सौन्दर्य को प्रकट करते हैं। रूप के इस अतिशय का तत्व से घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रकृति का सौन्दर्य भौतिक तत्वों में ही साकार होता है। तत्व के आधार के बिना रूप की स्थिति और कल्पना सम्भव नहीं है। तत्व के आधार में ही रूप की अभिव्यक्ति होती है और रूप साकार होता है। केवल रूप का अस्तित्व सम्भव नहीं है। प्रकृति के रूप जिस भौतिक तथ्य के आधार में साकार होते हैं जो भौतिक सत्य कहा जा सकता है। यदि यह भौतिक तत्व प्रकृति के रूप से अभिन्न है तो प्राकृतिक 'सत्य' को प्राकृतिक 'रूप' से अभिन्न मानना होगा। प्रकृति की सत्ता में तत्व का रूप से समवाय रहता है। यह समवाय प्रकृति का सहज रूप है। रूप और तत्व का यह सहज समवाय प्रकृति का धर्म भी है। प्राकृतिक सत्ता के अनन्त रूपों को देखकर विदित होता है कि प्रकृति इस समवाय को कितने सफल और समृद्ध रूप में सम्पन्न करती है। प्रकृति के रूपों की अनेकता प्रकृति के सौन्दर्य की समृद्धि को सूचित करती है। प्रकृति की इस रचना में रूप और तत्व का ऐसा घनिष्ठ समवाय है कि दोनों के पृथकत्व का हमें आभास भी नहीं होता। किसी उपयोगिता के लिये अपेक्षित होने पर ही हम प्रकृति के तत्व को ध्यान देते हैं तथा उसके रूप को नष्ट कर तत्व का उपयोग करते हैं। उपयोगिता के अतिरिक्त जब हमारा दृष्टिकोण निरुपयोगी होता है तो हम प्रकृति के तत्व को ध्यान नहीं देते। हमारी दृष्टि प्रकृति के रूप पर ही रहती है। इसीलिये हमें प्रकृति में सौन्दर्य दिखाई देता है। **रूप की प्रधानता ही प्रकृति के सौन्दर्य का रहस्य है।** प्रकृति के रूपों में

भौतिक तत्व एक अलक्ष्य भाव से समवेत रहता है। मानो वह तत्व रूप के प्रति अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है। प्रकृति की प्रक्रिया निरन्तर रूपों की अभिव्यक्ति की ओर दिखाई देती है। इस दृष्टि से प्रकृति तंत्रों की शक्ति-सुन्दरी का साक्षात् रूप जान पड़ती है। अपने समर्पण में प्रकृति का भौतिक तत्व इतना मृदुल है और अपनी रचनात्मक प्रक्रिया में प्रकृति इतनी प्रबल है कि प्रकृति के क्रम में सौन्दर्य की विपुल अभिव्यक्ति दिखाई देती है। प्रकृति में सौन्दर्य की इस अभिव्यक्ति का क्रम अनंत है। अतः प्रकृति अनंत सुन्दरी है।

प्रकृति के रूपों में भौतिक तत्व का सहज और पूर्ण समवाय विश्व का एक नैसर्गिक क्रम है। निसर्ग की सहज गति में सौन्दर्य के रूप सहज भाव से सम्पन्न होते हैं किन्तु मनुष्य के जीवन और उसकी सभ्यता में इन रूपों का विकास मनुष्य की रचनात्मक वृत्ति के द्वारा ही होता है। मनुष्य के जीवन में उपयोगिता बढ़ती जाती है, अतः सौन्दर्य का क्षेत्र संकुचित होता जाता है। रूप को सौन्दर्य का पर्याय अवश्य मान सकते हैं किन्तु अतिशय के भाव के बिना रूप में सौन्दर्य अभिव्यक्त नहीं होता। रूप का उत्कर्ष, संतुलन, विन्यास की लय आदि रूप के अतिशय के वस्तुगत लक्षण अवश्य हैं किन्तु उनमें भी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति रूपाभिमुख दृष्टिकोण पर ही निर्भर होती है। तात्वाभिमुख दृष्टिकोण में उपयोगिता प्रधान होती है और रूप का सौन्दर्य गौण हो जाता है। अस्तु, मनुष्य की रचनाओं में निरुपयोगिता का भाव रहने पर ही उनके रूप में सौन्दर्य प्रकट होता है। किन्तु रूप प्रधान सौन्दर्य की रचना में भी तत्व का आश्रय तथा रूप में तत्व का समवाय अपेक्षित होता है। प्रकृति की रचनाओं में प्रकृति के तत्व रूप के प्रति अपना समर्पण कर देते हैं और सहज भाव से रूप के अनुचर बन जाते हैं। किन्तु मनुष्य की रचनाओं में तत्व का ऐसा सहज सहयोग नहीं मिलता। प्रकृति के विधान में प्राप्त इस सहयोग का उपयोग कर मनुष्य को अपनी क्रिया के द्वारा रूप और तत्व का समवाय करना पड़ता है। **यही क्रिया मनुष्य की कला है।** मनुष्य का कर्तृत्व और इस कला की सफलता इसी समवाय पर निर्भर करती है। एक प्रकार से जितना अधिक कर्तृत्व इस समवाय के लिये अपेक्षित होता है उतनी ही वह कला अथवा कलाकृति श्रेष्ठ बनती है। मूर्तिकला के तत्व अथवा माध्यम की कठोरता के कारण मूर्तिकला को श्रेष्ठता का एक मुख्य कारण मिलता है। अजन्ता और एलोरा की गुफाओं का सौन्दर्य उनके रूप अथवा आकार की अपेक्षा उनकी रचना के कर्तृत्व में अधिक है। प्राकृतिक

माध्यमों को कलाग्रों में मनुष्य रूप यह रचना करता है। वह प्राकृतिक तत्व की रचना नहीं कर सकता। तत्व की स्वतंत्र सत्ता के कारण उसमें रूप का समवाय कलाकार का एक उद्योग बन जाता है, जिसकी सफलता पर उसकी रचना का सौन्दर्य निर्भर करता है। संगीत, काव्य ग्रादि की शब्दमयी कलाग्रों में मनुष्य 'रूप' के साथ-साथ तत्व की भी रचना करता है। कर्तृत्व की यह ग्रधिकता इन कलाग्रों को ग्रधिक सुन्दर बनाती है। सभी कलाग्रों में भौतिक तत्व के साथ-साथ मानसिक तत्व का भी संनिधान होता है। चित्रकला, मूर्तिकला, काव्य ग्रादि की रचनाग्रों में जीवन के भाव ग्रौर विचार भी साकार होते हैं। यह कला के 'तत्व' हैं। इन्हें जीवन के 'सत्य' कह सकते हैं। भौतिक तत्व में रूप का सहज समवाय रहता है। उसे कला का माध्यम बनाने पर भी उसमें रूप के ग्रतिशय का सौन्दर्य सरलता से समवेत हो जाता है। स्थूल माध्यमों की कलाग्रों में सबसे ग्रधिक कठिनाई मानसिक तत्व, भाव ग्रौर रूप के सन्निधान में होती है। यह जड़ ग्रौर चेतन के संगम की कठिनाई है। इस संगम को सम्भव बनाकर कलाकार विधाता का ग्रवतार बन जाता है। शब्दमयी कलाग्रों में मानसिक तत्व के सन्निधान की कठिनाई एक दूसरे प्रकार की है। मानसिक तत्व के रूप में प्रायः ग्रतिशय नहीं होता। बहुत कुछ बौद्धिक होने के कारण उसका रूप सीमित ग्रौर दीन होता है। स्थूल तत्व सदा रूप को प्रधानता देता है। ग्रतः कठिन होते हुए भी स्थूल माध्यम की कलाग्रों में एक सरलता रहती है। इसके विपरीत मानसिक तत्व ग्रपनी गुरुता में महत्व का ग्रभिलाषी होता है। शाब्दिक माध्यमों की कलाग्रों का रूप विशेषतः रूप का मानसिक पक्ष सहज ग्राकर्षण से युक्त नहीं होता। उसका ग्रास्वादन भी कलात्मक चेतना की ग्रपेक्षा करता है। ग्रतः सूक्ष्म माध्यम ग्रौर मानसिक रूप की कलाग्रों में तत्व ग्रथवा सत्य का समवाय कठिन होता है। ग्रनेक कलाकार इस समवाय को सफल नहीं बना पाते। ग्रालोचना की तत्वमुखी दृष्टि भी तत्व की महिमा से ग्रभिभूत होकर रूप के सौन्दर्य को गौण बनाती रही हैं। सभ्यता की बढ़ती हुई बौद्धिकता ग्रौर उपयोगिता के कारण भी कला का गौरव ग्रौर ग्रास्वादन कम होता गया है।

अध्याय ५५

कला और मनोविश्लेषण

सामान्यत: कला को एक गौरवपूर्ण साधना माना जाता है। सौन्दर्य की प्रवृत्ति जीवन की एक श्रेष्ठ प्रवृत्ति है। कला-कृतियों को समाज और संस्कृति में आदर का स्थान दिया जाता है। नैतिक दृष्टि से कला के तत्व में कोई दोष हो तो दूसरी बात है; अन्यथा जिन कृतियों में कोई स्पष्ट दोष नहीं होता वे संस्कृति में गौरव की वस्तु समझी जाती है। कलाकार एक विशेष प्रतिभावान् व्यक्ति माना जाता है और उसको हम आदर एवं विस्मय की दृष्टि से देखते हैं। कलाकारों की कृतियाँ संस्कृति की अनमोल विभूति हैं। युग-युग से मानव-समाज कला के प्रति एक श्रद्धा की भावना रखता रहा है।

यह कला का सामान्य दृष्टिकोण है, जो आदिकाल से लेकर आधुनिक युग तक मान्य रहा है। किन्तु आधुनिक युग में फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद ने जहाँ हमारे मानसिक और सामाजिक जीवन में एक क्रान्ति उपस्थित कर दी है, वहाँ कला के सम्बन्ध में भी एक क्रान्तिकारी दृष्टिकोण हमारे सामने रखा है। मनोविश्लेषणवाद ने मन के अन्तर्लोकों का उद्घाटन किया जिसे अचेतन अथवा अवचेतन का नाम दिया जाता है। यह मन का वह तमोलोक है जो बहुत कम प्रकाश में जाता है और जिसके सम्बन्ध में सामान्यत: हम बहुत कम जानते हैं। मनुष्य का प्राकृतिक जीवन कुछ प्रवृत्तियों का समुदाय है। ये प्रवृत्तियाँ स्वाभावत: अपना संतोष खोजती हैं। सामान्यत: मनोविज्ञान में ये प्रवृत्तियाँ अनेक मानी जाती हैं। किन्तु डा० फ्रायड ने एक ही प्रधान प्रवृत्ति मानी है जिसे वह कामवासना कहते हैं। उनकी दृष्टि में मनुष्य के समस्त व्यवहारों के मूल में इसी प्रवृत्ति की प्रेरणा रहती है। जिन प्रवृत्तियों में हम कामवासना के संश्लेष की कल्पना भी नहीं करते उनमें भी मनोविश्लेषण के अनुसार काम का मर्म छिपा रहता है। काम की प्रबलता को सामान्यत: सभी मानते हैं। किन्तु उसकी सार्वभौमता सबको मान्य नहीं है। काम के अतिरिक्त मनुष्य की और भी स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं जिनका जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। कामवासना को सार्वभौम प्रवृत्ति न मानने से फ्रायड के

सिद्धान्त की व्यापकता अवश्य खंडित होती है किन्तु उनके सिद्धान्त की नवीनता और उसके महत्व में कमी नहीं आती। कामवासना की यदि हम सार्वभौम प्रवृत्ति न भी मानें तो भी फ्रायड के सिद्धान्त की एक देन को कुछ अप्रिय होते हुए भी हमें स्वीकार करना पड़ेगा। फ्रायड ने जीवन के अनेक क्षेत्रों के गर्भ में छिपी हुई काम वासना का संकेत किया जहाँ हम उसके होने की कल्पना भी नहीं करते। बाल्य जीवन और कला ऐसे ही क्षेत्र हैं। मनोविश्लेषण के अनुसार बाल्यकाल जीवन का सबसे महत्वपूर्ण समय है। आश्चर्य की बात यह है कि मनोविश्लेषण के अनुसार बाल्यकाल के व्यवहारों में भी कामवृत्ति की प्रेरणा रहती है। जिस बाल्यकाल को हम नितान्त अबोध मानते हैं उसमें कामवृत्ति की स्थापना हमें कुछ विस्मित करती है। किन्तु यदि हम विचार-पूर्वक देखें तो विदित होगा कि फ्रायड का यह मत नितान्त निस्सार नहीं है। फ्रायड ने काम का प्रयोग कुछ व्यापक अर्थ में ही किया है फिर भी यह शब्द अपने मूल अर्थ से दूर नहीं हुआ है। संस्कृत में काम का मूल अर्थ इच्छा अथवा कामना है, जो फ्रायड के अर्थ से कहीं अधिक व्यापक है। समस्त कामनाओं में प्रबल होने के कारण काम का रूढ़ अर्थ प्रचलित हुआ। इस रूढ़ अर्थ में काम का आशय स्त्री-पुरुष का परस्पर आकर्षण है। फ्रायड का भी मुख्य अर्थ इसी प्रकार का आकर्षण है।

समाज की व्यवस्था का विकास कुछ नैतिक मान्यताओं के आधार पर हुआ है। ये नैतिक मान्यतायें कामवृत्ति को नियन्त्रित करती हैं। यह नियन्त्रण सदा सचेतन और यत्नपूर्वक नहीं होता। समाज की मान्यतायें एक अचेतन और अनजान रूप में हमें प्रभावित करती हैं। बाल्यकाल से ही इन मान्यताओं का प्रतिबन्ध और प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि काम के सम्बन्ध में कोई प्राकृतिक मर्यादा नहीं है। "एडीपस कौम्प्लैक्स" की स्थापना द्वारा फ्रायड ने इस तथ्य को प्रमाणित किया है। भारतीय नीतिकार भी काम की इस मर्यादाहीनता को मानते हैं। काम की प्रवृत्ति में कोई प्राकृतिक मर्यादा न होने के कारण समाज की नैतिक मान्यताओं से उसका जाने अनजाने रूप में नियन्त्रित होना स्वाभाविक है। इस नियन्त्रण का फल यह होता है कि काम की प्रवृत्तियाँ मन में दब जाती हैं। इसको मनोविश्लेषण में दमन करते हैं। दमन होने से काम की वृत्तियाँ उन्मूलित नहीं होतीं; वे केवल अचेतन मन के अन्धलोक में पड़ी रहती हैं। एक दृष्टि से वे अधिक उग्र और सक्रिय हो जाती हैं और

अनजाने रूप में हमारे व्यवहार को प्रभावित करती रहती हैं। उनका यह प्रभाव सीधा नहीं होता; एक तिरछे ढंग से वे हमारे व्यवहार को प्रभावित करती हैं। व्यवहार कें प्रतीत रूप में वे प्रच्छन्न प्रेरणा के रूप में छिपी रहती हैं। सोने के समय चेतन मन का नियंत्रण कुछ शिथिल होने पर वे वृत्तियाँ स्वप्नों के रूप में अपने को प्रकट करती हैं। तात्पर्य यह है कि लोक की मान्यताओं से मर्यादित और अवचेतन में दमित काम की वृत्तियाँ किसी न किसी रूप में अपने को व्यक्त करने का मार्ग ढूँढती हैं। स्वप्न उसका एक अत्यन्त सरल मार्ग है; किन्तु वह पूर्णतः सन्तोषजनक नहीं है। वास्तविक वासनाओं की पूर्ति स्वप्न में नहीं हो सकती। इसलिये वास्तविक जीवन के व्यवहारों में वे छिपकर अपने संतोष का मार्ग खोजती हैं। किन्तु उसकी यह खोज तभी सफल हो सकती है जबकि उसकी अभिव्यक्ति के बाह्य रूप समाज द्वारा स्वीकृत हों। सामाजिक सम्बन्धों, धर्मा-चारों और कलाओं के कुछ रूप ऐसे हैं जो समाज द्वारा मान्य हैं और जिनमें इन दमित वृत्तियों के प्रच्छन्न परितोष की संभावना है। **फ्रायड के अनुसार धर्म, संस्कृति और कला के अनेक रूप दमित काम के प्रच्छन्न परितोष के मार्ग हैं।** दमित वृत्तियाँ मन में संघर्ष का कारण बनती हैं। धर्म, संस्कृति और कला के ये रूप इन संघर्षों के स्वीकार्य समाधान हैं। फ्रायड के मत में कला समाज द्वारा स्वीकृत रूपों में दमित मनोवृत्तियों और मानसिक संघर्षों की अभिव्यक्ति है।[११४] मनोविश्लेषण के सिद्धान्त में इसे 'उदात्तीकरण' कहा जाता है। कला और काव्य की रचना मनोरोगी के स्वप्न के ही समान है जिसमें वह अपनी अतृप्त और दमित काम वासना का संतोष तथा अपने मानसिक संघर्ष का समाधान खोजता है।[११५] **मनोविश्लेषण के अनुसार कला जीवन की स्वस्थ और साधारण वृत्ति नहीं है। इसके अनुसार कलाकार की स्थिति स्वस्थ एवं साधारण व्यक्ति तथा मनोरोगी के कहीं बीच में है।** शेक्सपीयर ने पागल प्रेमी और कवि को एक कोटि में रखने की कल्पना की थी। उसके अनुसार तीनों ही कल्पना लोक में विहार करते हैं। मनोविश्लेषण ने पागल और कवि की समानता के मनोवैज्ञानिक आधार को स्पष्ट कर दिया। कला और काव्य की कल्पनायें मनोरोगी के स्वप्न के समान हैं। स्वप्नों की सामग्री भी मानसिक होती है और स्वप्न पूर्णतः व्यक्तिगत होते हैं। कला और काव्य व्यक्तिगत मनोवृत्तियों के समाधान होते हुए भी व्यवहार में सामाजिक हैं। अतः उनमें अभिव्यक्त होने वाली दमित वृत्तियों को सामाजिक

समर्थन का संतोष मिलता है। 'पागलपन' अनर्गल कल्पना की अवस्था है। सामाजिक व्यवहार जीवन की यथार्थता है। फ्रायड के अनुसार कला इस अनर्गल कल्पना के लोक से जीवन के यथार्थ लोक में लौटने का मार्ग है।[११६] **इस प्रकार कला दमित वासनाओं, मनोविकृतियों और मानसिक संघर्षों की काल्पनिक एवं वास्तविक अभिव्यक्ति का लोक-स्वीकृत माध्यम है।**[११७] मनोविश्लेषणवाद में इसे उदात्तीकरण कहा जाता है। उदात्तीकरण से सामान्यतः लोगों को यह भ्रम होता है कि कला के माध्यम में अभिव्यक्त होने पर दमित मनोवृत्तियाँ, जो कुत्सित समझी जाती थी, उदात्त बन जाती हैं। इस भ्रान्ति के लिए अंग्रेजी के 'सब्लीमेशन' पद में भी आधार है। 'सब्लाइम' को हिन्दी में 'उदात्त' कहते हैं। इसी आधार पर सब्लीमेशन को सब्लाइमेशन समझकर उदात्तीकरण की संज्ञा दी गई। संभवतः फ्रायड के मनोविज्ञान में सब्लाइम अथवा उदात्त के लिये कोई स्थान नहीं है। उदात्त श्रद्धा भय और प्रीति तीनों का पात्र है। कला और काव्य में वह उदात्त अभिव्यक्ति का आधार कम बना है। अधिकांश अभिव्यक्ति जिसके आधार पर हुई है उसे हम प्रिय और सुन्दर कह सकते हैं। जिसे उदात्तीकरण कहते हैं वह तो अधिकांश प्रिय और सुन्दर के आधार पर ही हुआ है। यह स्वाभाविक है क्यों कि कला दमित काम की ही अभिव्यक्ति है, जो प्रिय और सुन्दर में अपना सन्तोष खोजती है; अतः यही सम्भव प्रतीत होता है कि सब्लीमेशन का अभिप्राय उदात्तीकरण से नहीं वरन् अवचेतन की आकांक्षाओं को चेतना की देहली तक लाकर समाज के यथार्थ के साथ प्रच्छन्न रूप से उसके सम्बन्ध का पुनः स्थापन है। उदात्तीकरण में कुछ ऐसी ध्वनि है कि मानों वे दमित वृत्तियाँ कला में अभिव्यक्ति पाकर कुछ नैतिक उत्कृष्टता पा जाती हैं। मनोविश्लेषणवाद के अनुसार यह असंगत है। उसमें नैतिक उत्कर्ष के लिये कोई स्थान नहीं है। उदात्तीकरण का सिद्धान्त दमिद वृत्तियों को उत्कृष्ट नहीं बनाता। कला के मूल में दमित वृत्तियों की प्रेरणा की खोज कला के महत्व का अपकर्ष है। जिस प्रकार डार्विन के विकासवाद ने निम्नतर पशुओं से मनुष्य का विकास खोजकर मनुष्य के उत्कर्ष की मौलिकता का खंडन किया और निम्नतर सिद्धान्तों के आधार पर संस्कृति के उच्च प्रतीत होने वाले निर्माणों की व्याख्या का सूत्रपात किया उसी प्रकार फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद ने भी संस्कृति के उच्च प्रतीत होने वाले रूपों की मौलिकता का खंडन करके कामवृत्ति के आधार पर उनकी व्याख्या का प्रवर्त्तन किया। अतः यह स्पष्ट है कि उदात्तीकरण

का सिद्धान्त केवल एक मनोवैज्ञानिक तथ्य का निदर्शन है। उसमें सांस्कृतिक भावों की मौलिकता और श्रेष्ठता के आदर का संकेत कहीं नहीं है।

विकासवाद के प्रसंग में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह पैदा होता है कि क्या निम्न पाशविक स्थितियों से विकसित होने के कारण मनुष्य के जीवन का पशु-जीवन के साथ पूर्ण समीकरण करना उचित है? क्या मनुष्य के जीवन और चेतना में कुछ ऐसे तत्व नहीं हैं जो उसकी पूर्वतर स्थितियों की तुलना में मौलिक और श्रेष्ठ हैं? मनोविश्लेषणवाद से उत्पन्न होने वाली समस्या का इस प्रश्न से घनिष्ठ सम्बन्ध है। **मनुष्य की चेतना के श्रेष्ठ प्रतीत होने वाले सांस्कृतिक प्रतिष्ठानों की मौलिकता और इनका महत्व खंडित करने में विकासवाद और मनोविश्लेषणवाद दोनों समान और एकमत हैं।** क्या काम के अतिरिक्त मनुष्य की प्रकृति में और भी प्रवृत्तियाँ हैं? यह एक प्रश्न है और इस प्रश्न की सीमा प्रकृति की ही परिधि है। इससे अधिक महत्वपूर्ण एक दूसरा प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य की चेतना में इन प्रवृत्तियों के संस्कार और उन्नयन के सूत्र निहित नहीं हैं? क्या धर्म, कला और संस्कृति के नाम से प्रसिद्ध हमारे समस्त निर्माण आडम्बरमात्र हैं और उनमें कोई मौलिक महिमा नहीं है? क्या कला और संस्कृति की साधना केवल दमित वृत्तियों की आरात् अभिव्यक्ति का साधन मात्र हैं? स्वतंत्र साध्य के रूप में उसका कोई गौरव नहीं है? इन प्रश्नों के उत्तर के लिये हमें एक ओर मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों को निष्पक्षता और निर्भयता के साथ समझना होगा, दूसरी ओर जहाँ तक सम्भव है हमें मनोविश्लेषण के अनुसार कला की व्याख्या को नम्रतापूर्वक स्वीकार करना होगा। इतना करने के बाद ही यदि कला की साधना में कोई मौलिक और सांस्कृतिक महत्व है तो उसका उद्घाटन कर सकेंगे, यदि मनोविश्लेषणवाद जीवन का सम्पूर्ण सत्य नहीं है तो यह भी निश्चित है कि जीवन के आधार, धर्म, संस्कृति और कला के सम्बन्ध में भी हमारी धारणायें बहुत कुछ भ्रान्त हैं। यदि हम यह कहना चाहें कि हमारी धारणाओं की अपेक्षा मनोविश्लेषणवाद अधिक सत्य है, तो इसे पक्षपात नहीं वरन् एक न्यायपूर्ण मत समझना चाहिये। **मनोविश्लेषणवाद का सिद्धान्त पूर्णतः सत्य है, केवल वह जीवन का पूर्ण सत्य नहीं।** किन्तु उसकी तुलना में धर्म, कला, संस्कृति के सम्बन्ध हमारी धारणायें अधिक भ्रान्त हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उनके अनेक रूपों में दमित वासनाओं की प्रेरणा है जैसा कि मनोविश्लेषणवाद स्वयं बताता है कि ये दमित वासनायें बड़े छद्म रूप में अपने को व्यक्त करती हैं।

अतः कला के कर्त्ताओं और अनुरागियों दोनों के लिये इस छद्म के भीतर छिपे हुये मर्म को समझना कठिन होता है। धर्म और कला की तथाकथित साधना कर्त्ताओं और अनुरागियों दोनों के लिये परितोष का साधन बनती हैं। अतः पारस्परिकता का यह समर्थन कठिनाई को और बढ़ा देता है। इसी कारण से कला और संस्कृति के मौलिक रूप को आच्छादित कर उनके छद्म रूप की साधना भी युग युगान्तर से चली आ रही है।

यदि हम कला, काव्य और संस्कृति के इतिहास को देखें तो उसमें इनके मौलिक रूप के साथ-साथ इनका छद्म रूप भी बहुत अधिक परिमाण में पलता रहा है। धर्म, कला, और संस्कृति के रूपों में शृंगार की अधिकता फ्राइड के इस अनुरोध का बहुत कुछ समर्थन करती है कि कला और संस्कृति में काम की दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति अधिक होती है, भारतवर्ष में एकांगी अध्यात्म के अधिक प्रचार और विदेशी शासन से उत्पन्न सामाजिक परिस्थितियों के कारण काम का दमन पश्चिमी देशों की अपेक्षा अधिक हुआ। इसीलिये भारतवर्ष के धर्म, कला और काव्य में विशेषतः उत्तरकाल में काम की छद्म अभिव्यक्ति पश्चिमी देशों की अपेक्षा अधिक हुई है। इसके अतिरिक्त यह भक्ति, धर्म और शृंगार की कला के रूपों में इस अभिव्यक्ति का रूप अधिक स्फुट है। यदि हम फ्रायड के काम के साथ-साथ आडलर की अहंवृत्ति को भी मनुष्य की एक प्रधान प्रवृत्ति मान लें तो मनोविश्लेषणवाद के अनुसार कला की व्याख्या का क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत हो जाता है। काव्य प्रकाश के अनुसार यह 'यश' काव्य का प्रथम प्रयोजन है। अन्य साधनों और सम्पत्तियों से प्रायः रहित होने के कारण कलाकारों और कवियों में दमित अहंभाव की पूर्ति के लिये यश की कामना होना स्वाभाविक है। भारतीय काव्य परम्परा में कवियों का अहंकार सर्वोक्ति अथवा दर्प के नाम से प्रसिद्ध है। प्राचीन भारत के स्वतंत्र समाज में यह दमन अधिक नहीं था। इसलिये प्राचीन कवियों और कलाकारों में अहंकार की अभिव्यक्ति नहीं मिलती, वेदों, पुराणों, और अनेक शास्त्रों के रचयिताओं के नाम और व्यक्तित्व भी इतिहास में सुरक्षित नहीं हैं। अजन्ता तथा अन्य महान् कलाकृतियों के कर्त्ताओं का नाम भी नहीं हैं। उत्तरकाल में यह अहंभाव की अभिव्यक्ति अधिक मिलती है। रघुवंश के आरम्भ में प्रकाशित कालिदास की नम्रता में भी 'हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धि श्यामि कापि वा' का आत्मविश्वासपूर्ण दर्प छिपा हुआ है। भवभूति के जिस आहत अहंकार की अभिव्यक्ति 'उत्पत्स्यते

मम तु कोपि समान धर्मा' में हुई, वह उत्तर रामचरित की नान्दी के 'वागर्थ मनुधावते' में और भी निखर उठा है। नैषधीय चरित के निर्माता श्रीहर्ष का अहंकार उनके महाकाव्य के सर्गों की पुष्पिका में प्रकट हुआ है। महान् कवियों का अहंकार उनकी महिमा में सन्तुष्ट हो जाता है, अतः भारवि, सूर, तुलसी, रवीन्द्र और प्रसाद में उसका प्रकट न होना संगत है। अन्य कवियों में इसके संकेत प्रायः मिलते हैं। बिहारी की 'करि फुलेल को आचमन' तथा 'चले जाउ यहँ को करै हाथिन कौ व्यापार' जैसी अन्योक्तियाँ, केशवदास की 'भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास' की घोषणा, देव की 'चढ़त सोरहीं वर्ष' भाव विलास की रचना, सेनापति की वंशावली आदि मध्ययुग के कवियों के उदाहरण इसका समर्थन करते हैं।

आधुनिक युग में गीत काव्य की व्यक्तिगत शैली ने अहंकार की अभिव्यक्ति के लिये उन्मुक्त अवकाश दिया। कवि अपने व्यक्तित्व में अनेक विभूतियों के आरोपण करके अपने अहंकार की परितृप्ति करता है। किसी के मानस में ज्योति का निर्झर फूट पड़ता है, किसी को अपने गान घर-घर में गूँजते सुनाई पड़ते हैं, कोई विश्व को नवयुग का सन्देश देता है तो कोई अपनी कल्पना के पीठ से ही क्रांति का शंखनाद करता है। "मेरे आंगन में भीड़ लगी मैं किसको कितना प्यार करूं" अथवा 'मुझे प्यार करती थी हिम की परियां' के निर्माताओं की भाँति कुछ कवियों की भावना में अहंकार और काम का एकत्र योग मिलता है। गीत शैली में अहंकार की अभिव्यक्ति के साथ-साथ काम की अभिव्यक्ति भी बहुत हुई है। छायावादी कवियों को वृक्ष की छाया में परिहृत-वसना और रतिश्रान्ता ब्रज-वनितायें दिखाई देती हैं तथा ग्रीष्म की गंगा में तन्बगी तापसबाला के दर्शन होते हैं। उपन्यास और कहानियों में लेखकों के अवचेतन संस्कारों की अभिव्यक्ति और समाज के अवचेतन का विश्लेषण दोनों एक साथ हुये हैं। मनोविश्लेषण के अनुराग का वैज्ञानिक और निर्वैयक्तिक होना बहुत कठिन है। प्रायः व्यक्तिगत कुण्ठाओं के समाधान के रूप में ही इसका प्रचार साहित्य और समाज में अधिक हुआ है। आधुनिक युग में मनुष्य की अन्य समस्त आस्थाओं के उन्मूलित हो जाने के कारण काम और अहंकार दोनों ही उनकी समस्त कुंठाओं के परितोष के मार्ग रह गए हैं। इसलिए आधुनिक युग के साहित्य में व्यक्तिवाद और काम के मनोविलास की बाढ़ आ रही है। आधुनिक युग में सभ्यता की कृत्रिमताओं के कारण काम का स्वस्थ

सन्तोष मन्द हो जाने के कारण भी उसका मनोविलास बढ़ रहा है। मनोविश्लेषण के दमन के सामान्यत: परिचित क्षेत्र में दमन की इस नवीन दिशा को भी सम्मिलित करना उचित है।

ऊपर की व्याख्या से स्पष्ट है कि कला और काव्य में दमित मनोभावों की अभिव्यक्ति बहुत अधिक परिमाण में हुई है, यद्यपि इसका तात्पर्य यह नहीं है कि समस्त कला और काव्य का यही रूप है। यह स्पष्ट है कि जिस काव्य में दमित मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति अधिक हुई है वह सांस्कृतिक की अपेक्षा प्राकृतिक अधिक है। प्राकृतिक काव्य की प्रबलता यह भी प्रमाणित करती है कि प्रकृति कितनी प्रबल है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि मनुष्य की चेतना में प्रकृति के संस्कार की शक्ति अथवा सम्भावना नहीं है। **जहाँ कला और काव्य के रूप में मनोविश्लेषण का समर्थन बहुत मिलता है वहाँ उसके कुछ अंश में चेतना के सांस्कृतिक रूप की मौलिकता का परिचय मिलता है।** अहंकार और काम की अतिरंजना अथवा छद्म अभिव्यक्ति के साथ सांस्कृतिक चेतना के कलात्मक रूप की संगति नहीं है। किन्तु स्वस्थ काम दूसरों की स्वतंत्रता से संगत है। व्यक्तित्व के गौरव के साथ उसकी पूर्ण संगति है, फ्रायड और मार्क्स की आन्तरिक और बाह्य क्रांतियों से लाभ उठाकर जब मानव-समाज अहंकार और काम की कुंठाओं की संभावना को सामाजिक व्यवस्था में से जितना मिटा सकेगा उतना ही प्रवृत्तियों के स्वस्थ रूप की स्थापना अधिक सम्भव होगी, दमन और प्रवृत्तियों के अतिचार के स्थान पर एक सचेतन और स्वस्थ साधना चेतना की सांस्कृतिक विभूतियों का उद्घाटन करेगी। यही साधना प्रकृति और संस्कृति के सामंजस्य का सूत्र तथा सेतु है। सांस्कृतिक मूल्यों के जिन रूपों की व्याख्या पीछे अनेक स्थलों पर की गई है, वे नैतिक आरोपण नहीं वरन् मनुष्य की चेतना की अन्तर्तम आकांक्षायें हैं। प्रकृति की प्रबलता के साथ सांस्कृतिक चेतना सदा संघर्ष करती रही है। प्रकृति के स्वास्थ्य, सन्तोष और संस्कार के द्वारा सांस्कृतिक मूल्यों में प्रकृति के समन्वय का विकास होने पर संघर्ष के स्थान पर सामंजस्य का उत्कर्ष होगा और इसी उत्कर्ष के साथ-साथ धर्म कला और संस्कृति का मौलिक और स्वस्थ रूप विकसित होगा।

मनोविज्ञान की भाँति मनोविश्लेषण भी एक प्रकार का प्राकृतिक नियतिवाद है। मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण दोनों ही मनुष्य के प्राकृतिक स्वभाव का अध्ययन करते हैं। इस स्वभाव की प्रक्रियाएँ सहज और अनिवार्य होती हैं।

उनका विधान मनुष्य के शारीरिक और मानसिक निर्माण में ही निहित है। मनुष्य के जीवन की प्रवृत्ति कार्य कारण सम्बन्ध के अनुसार इसी विधान के द्वारा होती है। परिवेश में प्राप्त उत्तेजना और प्रभाव के साधन मनुष्य की प्रवृत्ति के उत्तेजक और विधायक कारण बनते हैं। इन कारणों से जो कार्य अथवा फल मनुष्य की प्रवृत्ति के रूप में उत्पन्न होते हैं, उनमें मनोविज्ञान सामान्य नियमों की खोज करता है। इन नियमों की स्थापना ही मनोविज्ञान के वैज्ञानिक अनुसंधान का लक्ष्य है। इन नियमों की स्थापना मनुष्य की प्रवृत्तियों में कार्य-कारण सम्बन्ध की नियमितता के आधार पर सम्भव होती हैं। यह नियमितता ही मनुष्य के विचार और विज्ञान का मूल सूत्र है। मनोविज्ञान में कुछ सहज प्रवृत्तियां मनुष्य के व्यवहार की मूल प्रेरणाएँ मानी जाती हैं। मनोविश्लेषण इन प्रवृत्तियों में काम और अहंकार को मुख्य मानता है तथा इन्हीं के अनुसार मनुष्य के समस्त अध्यवसायों की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है। इनमें मनुष्य के सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक आदि सभी प्रकार के कार्य सम्मिलित हैं। मनोविश्लेषण के अनुसार मनुष्य के इन सभी कार्यों का स्रोत काम और अहंकार की प्रवृत्तियों में है तथा इन कार्यों में प्रकट अथवा प्रच्छन्न रूप में इन्हीं प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति होती है। **मनोविश्लेषण मुख्य रूप से धर्म, साहित्य, कला और संस्कृति में काम और अहंकार की दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति देखता है।**

मनोविश्लेषण के इस मत से धर्म और संस्कृति के उदात्त मूल्यों को बहुत आघात पहुँचा। किन्तु जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि मनोविश्लेषण की ये मान्यताऐं पूर्ण रूप से असत्य और अमान्य नहीं हैं। वस्तुतः वे एक बहुत बड़ी सीमा तक सत्य और माननीय हैं। काम और अहंकार की प्रवृत्तियों का प्रभाव मनुष्य के जीवन में व्यापक और गम्भीर रूप में दिखाई देता है। इनका साम्राज्य प्रबल और विशाल है। जिस प्रकार पराजित देशों के उन्नयन और उपकार का छद्म बहुत दिनों तक योरोप के साम्राज्यवाद रखते रहे थे उसी प्रकार काम और अहंकार का साम्राज्यवाद भी धर्म, कला, संस्कृति आदि के छद्म में पलता रहा है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि धर्म, संस्कृति, कला आदि की रचनाओं में इन प्रवृत्तियों का प्रकट और प्रच्छन्न प्रभाव नहीं है। **वस्तुतः यह प्रभाव आशा से अधिक दिखाई पड़ता है।** अतः मनोविश्लेषण के प्राकृतिक सत्य का खण्डन नहीं किया जा सकता। मनुष्य का जीवन बहुत कुछ प्राकृतिक है और मनोविज्ञान तथा

मनोविश्लेषण के नियम उसके बहुत कुछ अंश की व्याख्या करते हैं। **प्रश्न केवल इतना ही है कि क्या मनुष्य का जीवन पूर्ण रूप से प्राकृतिक तथा प्राकृतिक नियमों से शासित है? क्या मनुष्य के धर्म, संस्कृति और कला में कोई ऐसा अंश नहीं है जो प्रकृति और उसके नियमों से पूर्ण रूप से शासित न हो तथा जिसके विधान की सम्पूर्ण व्याख्या मनोविज्ञान अथवा मनोविश्लेषण के नियमों के अनुसार न की जा सकती हो?** यदि मनुष्य के जीवन और उसकी संस्कृति में कोई ऐसा अंश है तो विज्ञान के सार्वभौम नियमों के द्वारा उसे पूर्ण रूप से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। अनुभव, विश्वास और समात्मभाव के आधार पर ही जीवन के उस अंश का उन्मीलन और आभास हो सकता है।

हमारा विश्वास है कि यदि एक ओर प्रकृति जीवन का विशाल और व्यापक सत्य है तथा मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण की मान्यताएं बहुत सीमा तक धर्म, संस्कृति, कला आदि की व्याख्या करती हैं वहाँ दूसरी ओर मनुष्य के जीवन का एक ऐसा अंश भी है जो प्रकृति और उसके नियमों से परे है तथा जिसके विधान प्रकृति के विधानों से भिन्न हैं। हम इसे अध्यात्म का क्षेत्र कह सकते हैं, क्योंकि प्रकृति से अतीत आत्मा ही इस क्षेत्र की मुख्य विभूति है। अध्यात्म के इस क्षेत्र कुछ स्वतन्त्रता की आशा की जा सकती है। **इकाईयों का पृथकत्व, उपयोगिता और स्वार्थ प्रकृति के मुख्य लक्षण हैं। इसके विपरीत अध्यात्म के क्षेत्र में समात्मभाव का साम्य प्राकृतिक निरूपयोगिता और स्वार्थ का अतिक्रमण मिलता है। अध्यात्म के इस क्षेत्र के अध्यवसाय और निर्माण आत्मिक संकल्प की स्वतन्त्रता से प्रेरित होते हैं। कला और संस्कृति में सौन्दर्य और भाव के अतिशय की सृष्टि का स्रोत इसी स्वतन्त्र आत्मिक अध्यवसाय में है। मनुष्य की लौकिक सत्ता शुद्ध रूप में आत्मिक नहीं है किन्तु वह पूर्णतः प्राकृतिक भी नहीं है। मनुष्य का जीवन प्रकृति और आत्मा का अद्भुत संगम है।** प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ बड़ी प्रबलता से उसके जीवन को प्रेरित करती हैं किन्तु प्रकृति के इस प्रभाव में आत्मा की विभूति भी विभासित होती है। धर्म, संस्कृति, कला आदि की साधनाओं में जहां बहुत कुछ प्रकृति का प्रभाव दिखाई देता है वहाँ उनमें आत्मा का आलोक भी विभासित होता है। धर्म, संस्कृति, कला आदि के विवेचनों में इन प्राकृतिक और आत्मिक पक्षों का विश्लेषण अपेक्षित है। इसी विश्लेषण के द्वारा इनके स्वरूप और महत्व की वास्तविकता का अनुमान लगाया जा सकता है।

'प्रकृति' जीवन का उपादान है। काम अहंकार आदि की वासनाएँ जीवन के उपकरण हैं। ये प्रवृत्तियाँ कला और संस्कृति की प्रेरणा भी बन सकती हैं। कला और संस्कृति के मार्ग से काम और अहंकार की दमित वासनाएँ उसी प्रकार अपना परितोष खोज सकती हैं जिस प्रकार वे सामाजिक जीवन के अन्य क्षेत्रों में खोजती हैं। प्रकृति के उपादान कला और संस्कृति के भी अवलम्ब बन सकते हैं। किन्तु इनसे कला और संस्कृति की सम्पूर्ण व्याख्या नहीं होती। कला सौन्दर्य की सृष्टि है। सौन्दर्य रूप का अतिशय है। अत: कला रूप के अतिशय की रचना है। रूप के अतिशय का सौन्दर्य दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति का एक सुन्दर आवरण बन सकता है। कुछ कलाकार इसी प्रयोजन से कला की साधना भी कर सकते हैं। किन्तु सभी साधकों की कला में तथा विशेषत: महान् साधकों की कला में यह छद्म नहीं दिखाई देता। उपयोगी होते हुए भी वासनाओं की अभिव्यक्ति के लिये यह छद्म आवश्यक नहीं है। सामान्य जनों की भाँति कलाकार भी वासनाओं की अभिव्यक्ति के लिए अन्य सुगम मार्ग अपना सकते हैं। कला का अल्प सौन्दर्य भी उनकी वासनाओं के लिए पर्याप्त आवरण बन सकता है। इसके लिए सौन्दर्य की साधना को अपने आप में अतिशय महत्वपूर्ण मानना आवश्यक नहीं है। मनोविश्लेषण इसे भी छद्म का चरम रूप कह सकता है। **किन्तु हमारा विश्वास है कि कलाकार रूप के सौन्दर्य को निरुपयोगी और निष्काम भाव से अपने आप में महत्वपूर्ण मानकर उसे अपनी साधना का लक्ष्य बनाते हैं।** रूप के सौन्दर्य को स्वतन्त्र साध्य के पद का यह गौरव किसी अंश में प्रदान करते हैं। मनुष्य होने के नाते कलाकार भी प्राकृतिक वासनाओं से पीड़ित होते हैं और न्यूनाधिक मात्रा में इनका प्रभाव उनकी कला पर रहता है। **किन्तु इसके अतिरिक्त सभी कलाकारों की साधना में रूप के सौन्दर्य की रचना के पक्ष में आत्मा के स्वतन्त्र संकल्प की प्रेरणा भी रहती है। मनुष्य की सत्ता की भाँति कला भी प्रकृति और आत्मा का संगम है।** किन्तु कला और संस्कृति में आत्मा के स्वतन्त्र संकल्प और समात्मभाव की प्रेरणा अधिक रहती है। जिस कलाकार की कृति में आत्मा के स्वतन्त्र संकल्प की प्रेरणा जितनी अधिक होती है वह उतना ही श्रेष्ठ कलाकार होता है। समात्मभाव की उदारता में अहंकार और काम बहुत कुछ मंद हो जाते हैं। इसीलिये महान् कलाकारों की रचनाओं में इनका अधिक प्रभुत्व नहीं है। प्रकृति की इस काजल की कोठरी में अछूता कोई नहीं रहता, इसे सामान्य रूप से स्वीकार

किया जा सकता है किन्तु प्रकृति की यह कालिमा कला के कलाधार का अल्प लांछन मात्र है; वह उसकी सम्पूर्ण कलाओं का सर्वस्व नहीं है। कालिदास के अनुसार हम इस लांछन को कला के कलाधार का अलंकार और उसकी शोभा का वर्द्धक भी मान सकते हैं। काम और अहंकार की वासनाएँ विकृत और वैषम्य-पूर्ण होने पर ही सौन्दर्य की विघातक हो सकती हैं। दमित वासनाओं में इस विकृति और वैषम्य की संभावना अधिक रहती है। प्राचीन काव्य और कला में इनके दमित रूप की अपेक्षा इनका सहज रूप अधिक मिलता है, जो कलात्मक सौन्दर्य के अधिक अनुरूप है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ दमन और उसकी प्रतिक्रिया अधिक बढ़ती गई है। किन्तु इसके साथ-साथ कला में तत्व और रूप का साम्य भी मन्द होता गया है। **मनोविश्लेषण ने प्राचीन साहित्य और कला की व्याख्या करने की अपेक्षा अर्वाचीन साहित्य और कला के निर्माण को अधिक प्रभावित किया है।** किन्तु रूप के विधाता तथा सौन्दर्य के आराधक के रूप में कलाकार की साधना वासनाओं का छद्म नहीं वरन् एक स्वतन्त्र अध्यवसाय है। कला और काव्य के तत्व में भी प्राकृतिक तत्व के अतिरिक्त उदारभाव का तत्व भी रहता है। यही कला और काव्य को महान् बनाता है। रूप के सौन्दर्य, आत्मिकभाव तथा प्राकृतिक भाव का अधिकतम साम्य ही किसी कलाकृति को महान् सुन्दर और मूल्यवान बनाता है।

अध्याय ५६

सुन्दर और उदात्त

सौन्दर्य शास्त्र में सुन्दर के साथ साथ प्रायः उदात्त के रूप का भी विवेचन हुआ है। सुन्दर के सम्बन्ध में भी विचारकों में मत भेद है। किन्तु विद्वान और सामान्य जन सभी सुन्दर को प्रिय और आकर्षक मानते हैं। इसी प्रकार उदात्त के सम्बन्ध में भी मतभेद है, किन्तु सामान्यतः उसमें गम्भीरता, महिमा, प्रभविष्णुता आदि की कल्पना की जाती है। प्रिय और आकर्षक होने की अपेक्षा वह श्रद्धा, भय, विस्मय, आदि का कारण समझा जाता है। कुछ अर्वाचीन लेखकों ने सुन्दर और उदात्त के महत्वपूर्ण भेद का संकेत किया है। **सुन्दर के साथ हम आत्मीयता का अनुभव करते हैं। उदात्त अपनी महानता के कारण हमें अपने से भिन्न जान पड़ता है।** इस भेद के कारण ही वह भय उत्पन्न करता है जो उदात्त के प्रति हमारी श्रद्धा का महत्वपूर्ण तत्व है। भेद से भय के सम्बन्ध की कल्पना उपनिषदों के प्राचीन चिन्तन में भी की गई थी। बृहदारण्यक उपनिषदों के आरम्भ में प्रजापति के उपाख्यान में कहा गया है कि प्रजापति को अकेले होने पर भय क्यों हुआ, भय तो द्वितीय (भिन्न) से ही होता है। अस्तु सामान्य प्रयोग और साहित्यशास्त्र दोनों में ही सुन्दर और उदात्त कल्पना में भेद है। भारतीय काव्य शास्त्र में काव्य और नाटक के प्रसंग में उदात्त की चर्चा आती है। धीरोदात्त और धीरललित दो प्रकार के नायक महाकाव्य और नाटक के लिये श्रेष्ठ माने जाते। महाकाव्य के लिये तो धीरोदात्त नायक का ही विधान है। धीरता इन दोनों ही प्रकार के श्रेष्ठ नायकों का गुण है। उदात्त और ललित का भेद पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र के उदात्त और सुन्दर के ही भेद के समान है। 'ललित' का अर्थ 'सुन्दर' है। सुन्दर में और जो भी अधिक गुण हों किन्तु वह प्रिय और आकर्षक होता है। हम उसके साथ आत्मीयता का अनुभव करते हैं। उसे प्रेम करते हैं और उसके साथ सख्य तथा सान्निध्य की कामना करते हैं। इसके विपरीत उदात्त गम्भीर और महान होता है। वह अपनी महत्ता के कारण हमें प्रभावित ही नहीं करता वरन् एक प्रकार से अपनी महत्ता की तुलना में हमारी तुच्छता को उद्घाटित करता है। इस भेद के कारण हम उदात्त को अपने सख्य अथवा साम्य के योग्य नहीं समझते।

भेद के कारण सहसा भय का ही भाव उत्पन्न होता है। **किन्तु उदात्त केवल भयावह नहीं होता। उसमें शील और रूप का एक गम्भीर सौन्दर्य भी होता है।** अतः भय के साथ उदात्त के प्रति प्रीति भी होती है, यद्यपि यह प्रीति ललित के सख्य और सौहार्द से भिन्न होती है। तुलसीदासजी के शब्दों में हम इसे ऐसी प्रीति कह सकते हैं जो भय से समन्वित होती है (भय बिनु प्रीति न होई गोसाईं)। इस भय युक्त प्रीति को श्रद्धा का नाम दिया जाता है। हम उदात्त के सख्य की अपेक्षा उसकी सेवा की अभिलाषा अधिक करते हैं। उदात्त की सेवा ही में हमारी तुच्छता का औचित्य है। धीरोदात्त चरित्र मनुष्य जीवन का आदर्श माना जाता है। महाकाव्य में एक आदर्श की दृष्टि से ही उसे प्रस्तुत किया जाता है। अतः सेव्य होने के साथ साथ वह अनुकरणीय भी है। श्रद्धा के साथ-साथ वह नैतिक और सामाजिक जीवन की प्रेरणा का स्रोत भी है। भारतीय परम्परा में राम और कृष्ण क्रमशः उदात्त और ललित के उत्तम उदाहरण हैं। श्रीकृष्ण अपने माधुर्य में ललित हैं। राम अपनी गम्भीरता में उदात्त हैं। **उदात्त होने के कारण ही राम हमारी श्रद्धा के अवलम्ब बने। ललित (सुन्दर) होने के कारण श्रीकृष्ण गोपियों और ग्वालों के ही प्रिय सखा नहीं; असंख्य भक्तों के प्रेमपात्र बने।** पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र में उदात्त के इतिहास की एक दीर्घ परम्परा है। ग्रीक भाषा के दुःखान्त नाटकों के पात्रों में भी हम उदात्त की कल्पना कर सकते हैं। किन्तु ग्रीक विचारकों ने स्पष्ट रूप से उदात्त का विवेचन नहीं किया है। उदात्त के शब्द और सिद्धान्त का सबसे पहला परिचय ईसा की तीसरी शताब्दी में लौन्जाइनस के ग्रन्थ में मिलता है जिसका नाम ही 'उदात्त' है। बोसान्क्वेट के मत में एक पारिभाषिक शब्द के रूप में इतने प्राचीन काल में उदात्त शब्द का प्रयोग ही अपने आप में महत्वपूर्ण है।[११८] शब्द के अतिरिक्त उदात्त की मूल भावना का स्पर्श भी लौन्जाइनस में मिलता है। **उनके अनुसार उदात्तता आत्मा की महत्ता का प्रतिबिम्ब है।**[११९] किन्तु लौन्जाइनस के ग्रन्थ में उदात्त के वास्तविक रूप की स्पष्ट कल्पना नहीं मिलती। इसके विपरीत उदात्त की मिथ्या प्रतीतियों के गुणों के प्रति लौन्जाइनस में अधिक सचेतनता मिलती है। कठोरता, आत्मश्लाघा आदि की अतिरंजना उदात्त में पाई जाती है। लौन्जाइनस के बाद अनेक शताब्दियों के अन्तराल से बर्क में उदात्त का अधिक विकसित विवेचन मिलता है। बर्क के ग्रन्थ का नाम "उदात्त और सुन्दर" है। बर्क की दृष्टि में उदात्त सुन्दर से अत्यन्त भिन्न है। सौन्दर्य का

सम्बन्ध प्रियता की भावना से है। इसके विपरीत उदात्त का सम्बन्ध दुख और भय से है।[१२०] **बर्क कुरूप को सुन्दर का विरोधी मानते थे** और उनके मत में कुरूप और उदात्त में बहुत कुछ समानता है। कुरूप भी प्रियता का विरोधी है। इसके अतिरिक्त रूप-हीनता, शक्ति, महदाकार आदि उदात्त के अन्य महत्वपूर्ण गुण हैं। लिस्टोवेल ने बर्क के उदात्त के एक और लक्षण की ओर संकेत किया है। उदात्त की उपस्थिति में जो भय और पीड़ा उत्पन्न होती है वह उसी स्थिति में उत्पन्न होती है जिसमें जीवन और शरीर के लिये कोई वास्तविक खतरा नहीं होता। बर्क के अनुसार उदात्त का सम्बन्ध आत्मरक्षा से अवश्य है किन्तु उदात्त की कलात्मक अनुभूति तभी होती है जब कि मृत्यु अथवा शारीरिक शक्ति का कोई वास्तविक खतरा नहीं होता।[१२१] महान् जर्मन दार्शनिक कान्ट की उदात्त की कल्पना बर्क के सिद्धान्त से प्रभावित है।[१२२] कान्ट के अनुसार भी सुन्दर और उदात्त में भेद अथवा विरोध है। कान्ट की सौन्दर्य की कल्पना रूपात्मक है। सौन्दर्य का सम्बन्ध रूप से है। उदात्त को कान्ट भी बर्क के समान रूपहीन अथवा कुरूप मानते थे।[१२३] कान्ट के अनुसार उदात्त के दो भेद हैं। एक भेद गणित के अनुसार है जिसका मुख्य गुण आकार की महत्ता है। इन्द्रियाँ इस महदाकार की समग्रता को ग्रहण नहीं कर सकतीं। अतः उदात्त हमारी इन्द्रियों की असमर्थता का उद्घाटन करता है। उदात्त का दूसरा रूप सक्रिय है इस रूप में शक्ति की महत्ता के विपरीत हमारी अशक्तता का उद्घाटन होता है।[१२४] इस प्रकार आकार की महत्ता अथवा शक्ति की महत्ता के द्वारा उदात्त हमें भयभीत और प्रभावित करता है।

हीगल के अनुसार उदात्त का स्थान सुन्दर की देहली पर है और वह कला के प्रतीकात्मक रूप के अन्तर्गत है। **हीगल के अनुसार सौन्दर्य बुद्धि अथवा चेतना के प्रत्यय की ऐन्द्रिक रूप में अभिव्यक्ति है।** किन्तु उदात्त का सन्निधान किसी ऐन्द्रिक आकार में नहीं हो सकता। **हीगल के मत में उदात्त अनन्त की अभिव्यक्ति का प्रयास है।** जिसका समुचित प्रतिनिधित्व करने में व्यवहार-जगत् का कोई भी रूप पर्याप्त नहीं है। हीगल की इस कल्पना का मूल कान्ट के बौद्धिक प्रत्ययों में है जिनके अनुसार दिक् और काल की समग्रतायें अनन्त होने के कारण अग्राह्य हैं। बर्क और कान्ट कुरूप के साथ उदात्त का स्पष्ट भेद नहीं कर सके थे, उन्हें उदात्त और कुरूप में बहुत समानता दिखाई देती थी। किन्तु हीगल के अनुसार दोनों में भेद है। विशाल कुरूपताओं में हम लौन्जाइनस के उदात्त की प्रतिध्वनि मान सकते हैं। किन्तु

वह केवल प्रतिध्वनि है। कुरूप की विद्रूपता अभिव्यक्ति के उचित रूप के अभाव के कारण है। इसके विपरीत उदात्त में अभिव्यक्ति का प्रयास स्पष्ट है। वास्तविक उदात्त के लिये अभिव्यक्ति की अनुपयुक्तता की तीव्र अनुभूति अपेक्षित है। उदात्त की इस चेतना का यह शुद्ध रूप यहूदी धर्म-काव्य में मिलता है। कोई भी ऐन्द्रिक रूप उदात्त का प्रतिनिधि नहीं वन सकता, इसीलिए उदात्त रूपात्मक कला का विषय नहीं बन सकता। वह केवल काव्य का विषय बन सकता है। भारतीय कला में अनेक मुख, अनेक चरण और अनेक हाथों की कल्पना के द्वारा इस उदात्त की अनन्तता को रूप देने का प्रयत्न किया गया है। यह स्पष्ट है कि ये सब प्रयत्न असफल हैं। संख्या और आकार के द्वारा अनंत का प्रतिमान नहीं हो सकता। "न तस्य प्रतिमा अस्ति" का अर्थ तथा "न प्रतीके न हि सः" के ब्रह्मसूत्र वचन का अभिप्राय इसकी घोषणा करता है। कान्ट ने उक्त वचनों के अनुरूप ईसाई धर्मवचन में उदात्त के सर्वोत्तम रूप का उद्घाटन् किया है। **ऐन्द्रिक रूपों में अभिव्यक्त होने के कारण ही भारतीय ईश्वर के अवतार उदात्त से अधिक सुन्दर बन गये।** हीगल के अनुसार उदात्त की अनन्तता के कारण मनुष्य की लघुता की भावना उदात्त की भावना का आवश्यक तत्व है। इस लघुता के कारण मनुष्य को ईश्वर से अलंध्य दूरत्व का अनुभव होता है। रस्किन को रूपात्मक कलाओं के साथ उदात्त का यह अत्यन्त विरोध तथा ईश्वर से मनुष्य का यह कठोर पार्थक्य स्वीकृत नहीं है। रस्किन की कल्पना कुछ भारतीय भावना के अनुरूप है। वे उदात्त की महत्ता से भयानक तत्व का पूर्णतः बहिष्कार करते हैं।[१२५] उनके अनुसार भयानकता उदात्त के स्वरूप का अंग नहीं है वरन् मनुष्य की भावना पर उसकी महत्ता का प्रभाव होता है। यह महत्ता वस्तु, आकार, शक्ति, शील और सौन्दर्य किसी की भी हो सकती है। **इस प्रकार रस्किन का उदात्त सुन्दर के अधिक निकट आ जाता है। भारतीय कला और काव्य का उदात्त भी महान् होने के साथ-साथ सुन्दर भी है।** भय के स्थान पर वह श्रद्धा अधिक उत्पन्न करता है। 'श्रद्धा' भय और आदर से युक्त प्रीति है। फिर भी यह स्पष्ट है कि तुलसी की दास्य भक्ति में वह उदात्त मनुष्य की लघुता का ही कारण है। सूर के कृष्ण में उदात्त की अपेक्षा सौन्दर्य की प्रधानता है। इसीलिए सूर की भक्ति सख्य भाव में मनुष्य के उन्नयन का साधन बनी और अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुई।

जेम्स सली के अनुसार उदात्त की भावना विशालता के रूपात्मक अंकन अथवा

काल्पनिक अभिव्यंजन से प्रेरित होती है।[१२६] सम्भवतः यह विशालता कुरूप की विशालता है। अतः यह कान्ट के गणितीय उदात्त के अनुरूप है। कान्ट के गत्यात्मक उदात्त में शक्ति की महत्ता है। लौन्जाइनस के अस्पष्ट उदात्त में सम्भवतः भाव और चरित्र की भी महत्ता है। भारतीय ईश्वर और अवतारों की कल्पना में उदात्त के इन तीनों ही तत्वों का समन्वय सौन्दर्य के साथ है। ऐ० सी० ब्रैडले के अनुसार उदात्त का प्रमुख तत्व यह भाव की महत्ता है। इसके साथ साथ वे भौतिक महत्ता को भी मानते हैं।[१२७] भाव की महत्ता ईश्वर के अवतारों और महापुरुषों में ही मिल सकती है। समुद्र, पहाड़, आदि की भौतिक महत्ता का अन्तर्भाव उदात्त में नहीं किया जा सकता; इसीलिए भाव की महत्ता के साथ साथ ब्रैडले भौतिक महत्ता को भी मानते हैं। ब्रैडले का विश्वास है कि कल्पनात्मक सहानुभूति के द्वारा हम इस उदात्त के साथ अपनी एकात्मता स्थापित करते हैं। ब्रैडले के अनुसार उदात्त की महत्ता हमें अभिभूत कर लेती है। ऐसी स्थिति में उदात्त के साथ कल्पनात्मक सहानुभूति के द्वारा एकात्मता की धारणा कुछ अधिक संगत नहीं मालूम होती। हमारे अनुभव में हमारी लघुता का भेद स्पष्ट है। **ब्रैडले का उदात्त हीगल और क्रोचे के उदात्त की सन्धि है।** एक ओर उदात्त की महत्ता अपने प्रभाव से हमें अभिभूत कर उसकी महत्ता से हमारी लघुता का भेद स्पष्ट करती है। दूसरी ओर ब्रैडले कल्पनात्मक सहानुभूति के द्वारा इस उदात्त के साथ हमारी एकात्मकता को भी मानते हैं। उदात्त के इन दोनों पक्षों की संगतिपूर्ण न होते हुए भी ब्रैडले की धारणा अभिव्यंजनावादियों के उस मत का पथ प्रशस्त करती है जिसके अनुसार उदात्त सुन्दर से एकाकार हो जाता है और हम उसके साथ पूर्ण एकात्मता प्राप्त कर सकते हैं।

कोहन के अनुसार भी महत्ता उदात्त का प्रमुख लक्षण है। इस महत्ता में एक असंगति का तत्व है। यह असंगति महान् के तत्व की विशालता और शक्तिमत्ता की दृष्टि से उसके रूप का अनुपयुक्त होना है।[१२८] कोहन के इस मत में हमें कान्ट और हीगल के मत की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। महान् के तत्व की विशालता और शक्ति कान्ट के उदात्त के दो रूपों का स्परण दिलाती हैं और उसके रूप की अनुपयुक्तता हीगल के सिद्धान्त के अनुरूप है। इन दोनों मतों में इतना ही अन्तर हो सकता है कि जहाँ हीगल वास्तविक उदात्त को रूपात्मक कला के अनुरूप ही नहीं मानते वहाँ कोहन रस्किन के समान रूप और उदात्त के विरोध को सम्भवतः

इतना कठोर नहीं मानते। किन्तु यह स्पष्ट है कि इन मतों का भेद औपचारिक है। रस्किन और भारतीय कला की भाँति रूप के आकार में उदात्त की अनन्तता अंकित करने के प्रयास से उदात्त साकार नहीं होता। वस्तुतः ये समस्त प्रयास प्रतीक मात्र हैं जो अपने रूप के द्वारा नहीं वरन् रूपात्मक अभिव्यक्ति की असफलता के द्वारा उदात्त का संकेत करते हैं। हीगल भी इस प्रयास और इसकी असफलता के बोध को उदात्त की भावना का आवश्यक अंग मानते हैं। उदात्त के प्रायः सभी मतों में उसकी महत्ता तथा उसके प्रभाव को स्वीकार किया गया है। कूल्पे ने इन मतों की इस समानता का संकेत किया है। कूल्पे का मत है कि महत्ता मुख्यतः उदात्त प्रतीत होने वाले विषय की ही विभूति है।[१२९] ब्रैडले ने जिस कलात्मक सहानुभूति के द्वारा उदात्त के साथ हमारी एकात्मता का संकेत किया है उसे कूल्पे एक अत्यन्त विरल अपवाद मानते हैं। उदात्त की महत्ता को अभिभवकारी मानने पर यह एकात्मता का आग्रह अधिक संगत नहीं दिखाई पड़ता। दैसौइर और के० ग्रूस के मतों में क्रमशः ब्रैडले के उदात्त के दोनों पक्षों का पृथक-पृथक समर्थन मिलता है। दैसोइर के अनुसार उदात्त के बाह्य आकार अथवा आन्तरिक शक्ति और गौरव की महत्ता इतनी विशाल होनी चाहिये कि वह अनन्त के अनुरूप हो। तभी महत्ता उदात्त का प्रभाव उत्पन्न कर सकती है।[१३०] उदात्त की तुलना में हमारी लघुता का स्पष्ट संकेत दैसोइर ने नहीं किया है। किन्तु उदात्त की महत्ता को उन्होंने जो विशेष महत्व दिया है उसमें सम्भवतः इसका संकेत अन्तर्निहित है। दूसरी ओर के० ग्रूस ने उदात्त की महत्ता और प्रभविष्णुता को स्वीकार करते हुये रूप के महत्व और उदात्त के साथ हमारे एकात्मभाव का स्पष्ट संकेत किया है। **उनके अनुसार एक स्पष्ट और सरल रूप में किसी शक्तिमान और महान् की अनुभूति उदात्त का लक्षण है।**[१३१] उदात्त की शक्ति अनन्त और विशाल है, अतः कोई स्पष्ट और सरल रूप उसका प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। सम्भवतः ग्रूस इस रूप को उदात्त का प्रतीक मानते हैं। फिर भी ग्रूस के रूप को केवल प्रतीक मानना उचित नहीं है। रूप की सरलता विशालता के अनुरूप होती है और उसकी स्पष्टता उसे प्रभविष्णु बनाती है। आकाश, समुद्र आदि के स्पष्ट और सरल रूपों में हम इस अनुरूपता और प्रभविष्णुता का साक्षात् दर्शन कर सकते हैं। रूप के साथ उदात्त की अनन्तता के सम्बन्ध के दो महत्वपूर्ण पक्षों का संकेत ग्रूस की मूल्यवान देन है। रूप की इस अनुरूपता के साथ-साथ वे इस उदात्त में आत्म-

भाव के विक्षेप को भी आवश्यक मानते हैं। यह उदात्त की भावना का वह दूसरा पक्ष है जिसका ब्रैडले ने समर्थन किया है और कूल्पे ने जिसे एक दुर्लभ अपवाद बताया है। हीगल और कान्ट में उदात्त की महत्ता और हमारी लघुता का भेद स्पष्ट है। ग्रूस में उदात्त की महत्ता के साथ रूप की अनुरूपता का संकेत इस भेद को कुछ कम अवश्य करता है। **रूप बाह्य सत्ता और हमारी कल्पना की संधि है। एक ओर वह बाह्य सत्ता का प्रतिनिधि है, दूसरी ओर वह हमारी चेतना की अभिव्यक्ति भी है। रूप मानों बाह्य सत्ता और चेतना की अभिव्यक्ति दोनों का एकत्र संगम है।** किन्तु सत्ता और चेतना की एकात्मता तभी संभव हो सकती है जब कि रूप चेतना की अभिव्यक्ति अथवा सृष्टि हो। कलात्मक रचनाओं के रूपों में यह अधिक संभव है। किन्तु इन रचनाओं के रूप उदात्त की अनन्तता और विशालता के अनुरूप नहीं होते, वे उसके प्रतीक ही हो सकते हैं; कलाकार समुद्र और आकाश की रचना नहीं कर सकता। वह उनका चित्रण ही कर सकता है। रूप की अपेक्षा भाव के क्षेत्र में यह एकात्मता अधिक संगत है। लिप्स ने इस एकात्मता के द्वारा अपनी महत्ता के अनुभव को उदात्त की अनुभूति का मुख्य लक्षण बताया है।[१३२] फौल्कैल्ट ने उदात्त के बाह्य आकार और उसकी परिमाणगत विशालता को उदात्त की अनुभूति का आधार माना है। किन्तु इस परिणाम का अभिप्राय उनकी दृष्टि में दिक्‌गत विस्तार अथवा संख्यागत विशालता से नहीं है। वे मानवीय विशालता को उदात्त का मुख्य लक्षण मानते हैं। संभवतः उनका अभिप्राय तत्व और रूप की तुलना में भाव कीमहत्ता से है।[१३३]

उदात्त के सम्बन्ध में उक्त अनेक मतों का उल्लेख करके लिस्टोवेल ने यह विश्वास प्रकट किया है कि अधिकांश विचारक इस सम्बन्ध में एक मत मालूम होते हैं कि **उदात्त की भावना का मुख्य सम्बन्ध परिमाण की विशालता से है।**[१३४] इस प्रसंग में कुछ विद्वानों ने उदात्त के वस्तुगत और कुछ विद्वानों ने भावना के आत्मगत पक्ष को महत्व दिया है। **लिस्टोवेल के मत में उदात्त वस्तु के आकार की महत्ता मान्य है। किन्तु साथ ही वे भाव की महत्ता को भी मानते हैं।** उन्होंने लिप्स फौल्कैल्ट के मत का समर्थन किया है जिसके अनुसार उदात्त की महत्ता वस्तुतः मानवीय व्यक्तित्व की ही महत्ता है। उदात्त की वस्तुगत महत्ता को आवश्यक मानते हुए भी लिस्टोवैल ने यह अनुरोध किया है कि उदात्त के द्वारा आत्मा का जो उत्कर्ष और विस्तार होता है वह भी एक ऐसा महत्वपूर्ण पक्ष है,

जिसके बिना कला की महान् कृतियाँ तथा प्रकृति की महान् विभूतियाँ सदा के लिए मौन रहेंगी।[135] **ब्रैडले का समर्थन करते हुये कैरिट ने उदात्त की भावना में अभिभव और उत्कर्ष के दो क्षण माने हैं।** आरम्भ में अभिभव की अनुभूति होने के बाद अन्त में उदात्त के सम्पर्क में हम आत्मा के उत्कर्ष और उसके विस्तार का अनुभव करते हैं।[136] बार्ख के आरंभिक दुःख और अनन्तर हर्ष में इन्हीं दो क्षणों का निर्देश है।[137] **कौलिंगवुड ने उदात्त को सौन्दर्य का प्रथम रूप माना है और उनके मत में यह सभी सौन्दर्य का तत्व है।**[138] किन्तु कौलिंगवुड भी महत्ता और विशालता तथा अभिभव को उदात्त का प्रमुख लक्षण मानते हैं। यह सौन्दर्य का प्रथम क्षण है। दूसरे क्षण में एकात्मभाव का उदय होने पर उदात्त सुन्दर बन जाता है। समुद्र और पर्वत के वासियों की लघुता और इस एकात्मभाव में विलीन हो जाता है। उदात्त के प्रभाव में ही सौन्दर्य की नवीनता सुरक्षित रहती है। अतः सौन्दर्य के गर्भ से, निरन्तर उमड़ते हुये उदात्त के स्रोत ही सौन्दर्य भावना को नव नव भावों में निरन्तर बनाये रखते हैं।

हीगल का यह मत बहुत तथ्यपूर्ण हैं कि उदात्त का सम्बन्ध रूपात्मक कलाओं की अपेक्षा प्रतीकात्मक कलाओं से अधिक है। रूपात्मक कलाओं में सुन्दर का ही अंकन अधिक हुआ है। निकोलस रोइरिख के हिमालय चित्रण की भाँति जहाँ रूपात्मक कलाओं में उदात्त का अंकन सम्भव हुआ है वहाँ भी वह प्रतीकात्मक योजना के ही कारण है। एक क्षण को अंकित करने के कारण रूपात्मक कलायें प्रतीक-योजना के द्वारा भी कान्ट के गणितीय उदात्त की ही अभिव्यक्ति कर सकती हैं। गत्यात्मक अथवा भावात्मक उदात्त की अभिव्यक्ति उनमें अत्यन्त कठिन है। इसीलिए गत्यात्मक और भावात्मक उदात्त की अभिव्यक्ति काव्य में अधिक हुई है। **प्राचीन महाकाव्यों में ही यह अधिक मिलती है। आधुनिक काव्य की रुचि सुन्दर के प्रति अधिक है।** वाल्मीकि रामायण के बाद उदात्त का परिचय भारतीय काव्य में कम मिलता है। कालिदास का समुद्र वर्णन तथा हिमालय वर्णन उदात्त की अपेक्षा सुन्दर अधिक है। शिव, राम और कृष्ण की कल्पना में गत्यात्मक तथा भावात्मक उदात्त साकार हुआ है किन्तु काव्य में उसकी समुचित प्रतिष्ठा न हो सकी। राम और कृष्ण के चरित्र उदात्त हैं, किन्तु कवि और भक्त उनके सौन्दर्य पर ही अधिक मुग्ध रहे। **परशुराम के स्पष्टतः उदात्त रूप को किसी ने काव्य का विषय नहीं बनाया। उदात्त की भावना का प्रथम क्षण दुर्लंध्य होने के कारण**

उदात्त का सौन्दर्य काव्य में समाहित न हो सका। सभ्यता में नेतृत्व की परम्परा में उदात्त के प्रथम क्षण का अधिक आग्रह होने के कारण उसके द्वितीय क्षण के समाधान में बाधक रहीं। उदात्त के साथ निकटता तथा मनुष्य के उत्थान द्वारा ही सौन्दर्य के इस पक्ष का समाधान संस्कृति और काव्य में हो सकता है।

हमारे मत में उदात्त और सुन्दर आवश्यक रूप से एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। यद्यपि उनमें कुछ भेद अवश्य है। वस्तुतः दोनों में कुछ महत्वपूर्ण अन्तर है इसीलिये वे इतने भिन्न तथा प्रायः विरोधी जान पड़ते हैं। कुछ विचारकों ने भय को उदात्त का आवश्यक तत्व माना है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह विचार करना आवश्यक है कि भयानकता उदात्त के स्वरूप का लक्षण है अथवा उसके स्वरूप का परिणाम है। यह निर्णय करना आवश्यक है कि उदात्त अपने आप में भयानक है अथवा वह हमारे मन में भय उत्पन्न करता है। इन दोनों स्थितियों में एक सूक्ष्म अन्तर है जो अपने स्वरूप में भयानक है। वह वीर और साहसी के मन में भी भय उत्पन्न कर सकता है तथा जो उसके स्वरूप के प्रति अज्ञान है उसके मन में भय उत्पन्न नहीं करेगा। इसका कारण यह है कि भय का मूल कारण भयानक वस्तु अथवा व्यक्ति के स्वरूप में ही निहित है। इसके विपरीत जो वस्तु अथवा व्यक्ति किसी के मन में भय उत्पन्न करता है वह अपने स्वरूप में भयानक न हो वरन् उसके कुछ श्रेष्ठ गुणों के कारण दूसरों के मन में भय उत्पन्न हो। ऐसी स्थिति में भय का कारण ज्ञाता अथवा दर्शक के मन में होगा। मनोगत होने के कारण यह भय ज्ञान पर अवलम्बित होगा। वस्तुतः ये दोनों भय एक प्रकार के नहीं हैं। इन दोनों भयों की विभाजक रेखा प्राणों का संकट है। जो भय हमारे अस्तित्व को चुनौती देता है तथा प्राणों की आशंका उत्पन्न करता है वह उस भय से भिन्न है जो ऐसा नहीं करता वरन् इसके विपरीत हमारी सत्ता को मंद बनाता है। **इन दोनों भयों के आश्रयों में विकृति और उत्कर्ष का भेद है। जो अपने आप में भयानक होता है उसके स्परूप में विशालता, प्रबलता, तेजस्विता आदि के अतिरिक्त एक विकृति तथा कुरूपता होती है। इसके विपरीत दूसरे प्रकार के भय के आश्रय में आकार, गुण, तेज, प्रभाव, आदि का उत्कर्ष होता है।** एक की विकृति हमारे मन में घृणा उत्पन्न करती है तथा उसकी भीषणता से हमें आघात की आशंका रहती है। दूसरे का उत्कर्ष हमें लघुता का भाव देता है, किन्तु किसी आघात की आशंका उत्पन्न नहीं करता। **यह आघात की सम्भावना दोनों प्रकार के भय और उनके**

आश्रय का एक मौलिक भेद है। यही भेद भयानक और उदात्त को भिन्न बनाता है। भय के दो भिन्न आश्रयों के उदाहरण हमें रुद्र और शिव तथा गीता के ग्यारहवें अध्याय में श्री कृष्ण के विराट रूप और श्री कृष्ण के सारथी-रूप में मिलते हैं। राक्षसों के भीषण आकारों को विकृत रूप में चित्रित किया जाता है। यह विकृति उनके अंगों के विषम अनुपात में दिखाई देती है। आघात की आशंका उनके स्वभाव और चरित्र से विदित होती है। शिव का रुद्र रूप भी विनाशक होने के कारण भयानक बन जाता है। इसी प्रकार आदिम जातियों के देवता और नेता भी रूप की विकृति और आघात की आशंका के कारण भयानक बन जाते थे।

हमारे **मत में इनको उदात्त कहना उचित नहीं है। कला का उदात्त भयानक और सुन्दर के बीच की स्थिति है।** निस्संदेह यह उदात्त सुन्दर के समान रमणीय नही होता किन्तु यह भयानक के समान विनाश अथवा आघात की आशंका भी उत्पन्न नहीं करता। भयानक विकर्षण उत्पन्न करता है और उसके प्रति हमें घृणा होती है। इसके विपरीत उदात्त में एक सूक्ष्म आकर्षण भी होता है। यद्यपि वह सुन्दर के समान रमणीय और मोहक नहीं होता। **स्वरूप से 'भयानक' सुन्दर के विपरीत होता है किन्तु उदात्त सुन्दर के विपरीत नहीं होता।** सुन्दर के अनुकूल होते हुए भी उदात्त में कुछ भेद के लक्षण होते हैं। अपने उत्कर्ष के कारण उदात्त हमें अपने से भिन्न और श्रेष्ठ प्रतीत होता है। भयंकर को भी हम अपने से भिन्न मानते हैं। उसमें कुछ उत्कर्ष भी होता है। **किन्तु हम उसे श्रेष्ठता का गौरव नहीं देते। भयंकर और उदात्त दोनों के ही साथ हमारी आत्मीयता नहीं होती। इस दृष्टि से भिन्नता दोनों का सामान्य लक्षण है। किन्तु भयंकर के प्रति हमारा विरोध होता है। उदात्त के प्रति हमारा विरोध नहीं होता वरन् उदात्त के प्रति हमारा अनुकूलता का भाव होता है।** उदात्त के प्रति हमारी यह अनुकूलता श्रद्धा का रूप लेती है। यह भयंकर के भय से भिन्न है। श्रद्धा का भय आघात की आशंका नहीं वरन् उत्कर्ष की अक्षमता है। वह उदात्त की महानता और हमारी लघुता का पारस्परिक फल है। श्रद्धा का यह भय संकोच है, आशंका नहीं। इसे विनय भी कह सकते हैं। विनय में अपनी लघुता का मान अधिक होता है। दूसरे की महानता का आभास होते ही यह विनय श्रद्धा का रूप ग्रहण करने लगती है। श्रद्धा का यह भय एक ओर हमारी लघुता का संकोच तथा दूसरी ओर उदात्त की महानता का आदर है। इसके साथ-साथ उदात्त हमारी स्पृहणीय आदर्श भी बन सकता है।

आदर्श की दूरी भेद उत्पन्न करती है तथा उसकी साधना की कठिनता भय और संकोच का कारण बनती है। तात्कालिक भेद के कारण उदात्त के साथ साम्य सम्भव नहीं होता। साम्य में परस्पर सम्भावन के साथ-साथ अन्तर्मुख और बहिर्मुख भावों का भी साम्य रहता है। उदात्त की स्थिति में पारस्परिकता संतुलित नहीं होती तथा उदात्त के प्रति हमारे बहिर्मुख भाव की प्रधानता रहती है। **साम्य और समात्मभाव सम्भव होने पर यह उदात्त सुन्दर बन जाता है। शिव, राम, श्रीकृष्ण आदि के उदात्त रूप इसी सिद्धान्त के अनुसार सुन्दर बने हैं।** सुन्दर बनने पर उदात्त के स्वरूप और भाव में कोई अन्तर नहीं होता; केवल उसके साथ हमारे सम्बन्ध की आत्मीयता और हमारे भिन्नता के भाव में परिवर्तन हो जाता है। भयंकर केवल हमारे भाव के परिवर्तन से सुन्दर नहीं बन सकता वह अपनी भीषणता और आघात की सम्भावना को त्याग कर हमारा आत्मीय बन सकता है। **किन्तु उस स्थिति में वह भयंकर नहीं रहता। उसके साथ हमारा भेद ही नहीं मिट जाता वरन् उसका स्वरूप भी बदल जाता है।** फिर भी कुरूपता के रहते कदाचित वह सुन्दर न बन सके। सुन्दर और कुरूप के भेद का विवेचन हम अगले अध्याय में करेंगे। इस परिवर्तन से कुरूप हमारा आत्मीय बन जाता है किन्तु उदात्त के प्रति हमारी आत्मीयता हमारे भाव-परिवर्तन तथा निकटता के बढ़ने से होती है। आघात की आशंका और कुरूपता की विकृति से रहित उदात्त में सौन्दर्य की सम्भावनाएँ रहती हैं अत: वह अपने स्वरूप में भी सुन्दर बन जाता है। **वस्तुतः भयंकर विकृति के कारण अपने आप में असुन्दर होता है और उदात्त अपने स्वरूप में सुन्दर भी होता है। किन्तु हमारे साथ सम्बन्ध के भेद से सौन्दर्य से अधिक उसका उत्कर्ष प्रभावशाली होता है। इस उत्कर्ष का अन्तर कम होने पर सौन्दर्य के बाधक कारण भेद हो जाते हैं और उदात्त सुन्दर बन जाता है।**

यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यह सारा विवेचन उदात्त के स्वरूपगत सौन्दर्य से सम्बन्ध रखता है। यह सौन्दर्य के प्रसंग में उदात्त का विवेचन है, कला के प्रसंग में उदात्त का विवेचन नहीं। यह विवेचन जीवन के अनुभव में उदात्त और सुन्दर की स्थिति से सम्बन्ध रखता है। **कला की स्थिति जीवन से कुछ भिन्न है।** जीवन में हम सत्ता के वस्तुगत रूप का ग्रहण और अनुभव करते हैं। कला सौन्दर्य की रचना है। जीवन में भी हम जहाँ रचना करते हैं वहाँ जीवन भी कला ही बन जाता है। कला सौन्दर्य की रचना है। **कला के प्रसंग**

में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या उदात्त कला का उपादान बन सकता है? इसका तात्पर्य यह है कि क्या उदात्त में अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का सन्निधान किया जा सकता है? क्या उदात्त को सुन्दर रूप दिया जा सकता है? कुरूप और असुन्दर के सम्बन्ध में भी ये प्रश्न उठते हैं। इनका विवेचन हम अगले अध्याय में करेंगे। यहाँ उदात्त के सम्बन्ध में इतना कहना होगा कि यदि सौन्दर्य केवल रूप का अतिशय है और वह अभिव्यक्ति के रूप में ही निहित है तो उदात्त और कुरूप भी कला के उपादान बन सकते हैं। उपादान भी सुन्दर हो सकते हैं, किन्तु कला के लिये उपादानों का सुन्दर होना आवश्यक नहीं है। **कला का स्वरूप अभिव्यक्ति के रूप और सौन्दर्य में निहित होता है।** उदात्त के सम्बन्ध में कुछ विचारकों का मत है कि वह अनन्त होता है और उसे रूप में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। यह अरूपणीयता ही उदात्त का मुख्य लक्षण है। ऐसी स्थिति में उदात्त की अभिव्यक्ति अकल्पनीय है और हम कला में उदात्त की चर्चा नहीं कर सकते। किन्तु कलाओं में उदात्त की अभिव्यक्ति देखी जाती है। **केवल इतना कहना होगा कि कला में अंकित होकर वह उदात्त भी सुन्दर बन जाता है। यह कहना अनुचित न होगा कि उसका सौन्दर्य भी उदात्त होता है।** उदात्त की अनन्तता, अरूपणीयता आदि के सम्बन्ध में इतना स्वीकार करना होगा कि कला में उसका पूर्णतः चित्रण नहीं किया जा सकता। उदात्त की समग्र विभूति को रूप का आकार नहीं दिया जा सकता। किन्तु इस दृष्टि से सभी अभिव्यक्ति अपूर्ण हैं। उदात्त के अतिरिक्त जीवन के अनेक तत्व अनिर्वचनीय हैं। वे आंशिक रूप में ही कला में अभिव्यक्त होते हैं। रूप का सौन्दर्य उदात्त तथा अन्य भावों को पूर्णतः साकार नहीं बनाता। वह आंशिक अभिव्यक्ति के द्वारा उसका संकेत करता है तथा ग्राहक की कल्पना में उसके समग्र रूप के अनन्त क्षितिज खोलता है। रूप और भाव के इन अनन्त क्षितिजों का उद्घाटन कला का निगूढ़ रहस्य है।

अध्याय ५७

सुन्दर और असुन्दर

सुन्दर के प्रतियोगी के रूप में प्राय: कुरूप की चर्चा होती है, जिसे हम सौन्दर्य के अभाव के कारण असुन्दर भी कह सकते हैं। सामान्य व्यवहार में जिस प्रकार हम कुछ वस्तुओं को सुन्दर कहते हैं उसी प्रकार कुछ वस्तुएँ हमें कुरूप भी प्रतीत होती हैं। दोनों के प्रति हमारी प्रतिक्रिया सहज और स्वाभाविक होती है। किन्तु सामान्य व्यवहार में अनेक मतभेद रहते हैं। कुछ वस्तुएँ ऐसी अवश्य हैं जिनको अधिकांश लोग समान रूप से सुन्दर अथवा कुरूप मानते हैं। चन्द्रमा, उषा, पुष्प, आदि कुछ वस्तुएँ सबको सुन्दर मालूम होती हैं। शूकर, कर्दम आदि के समान कुछ अशुचि वस्तुएँ सभी को कुरूप मालूम होती हैं। किन्तु ऐसी वस्तुएँ बहुत थोड़ी हैं जिनके विषय में ऐसा सामान्य एक मत हो। इन वस्तुओं के अतिरिक्त ऐसी अनेक सामान्य वस्तुएँ हैं जिनके सम्बन्ध में लोगों में मतभेद रहता है। सुन्दर और कुरूप के अतिरिक्त एक मध्यवर्त्ती कोटि भी है जिसे हम सौन्दर्य की दृष्टि से उदासीन कह सकते हैं। सुन्दर वस्तुएँ प्रिय और आकर्षक लगती हैं, कुरूप वस्तुएँ घृणा उत्पन्न करती हैं। जो वस्तुएँ न आकर्षक होती हैं और न घृणा उत्पन्न करती हैं उन्हें हम उदासीन कह सकते हैं। एक ही वस्तु मनुष्य को सुन्दर तथा दूसरे को असुन्दर लगती है और तीसरे को कुरूप मालूम होती है। दृष्टिकोणों की यह विषमता यही संकेत करती है कि सुन्दर और कुरूप केवल वस्तु के गुण नहीं हैं, मनुष्य की चेतना के भाव पर भी वे निर्भर हैं। वही वस्तु जो एक भाव स्थिति में किसी को कुरूप अथवा उदासीन मालूम होती है, दूसरी भाव-स्थिति में सुन्दर प्रतीत होने लगती है। अपनी जिस सूनी कुटिया के प्रति मनुष्य का भाव उदासीन होता है वही कुछ स्नेही सम्बन्धियों के आ जाने पर अभिनव सौन्दर्य से खिल उठती है। एकान्त और सूना होने पर सुसज्जित भवन का सौन्दर्य भी आभाहीन हो जाता है। दूसरों को कुरूप लगने वाला भी अपना बालक माता पिता को सुन्दर प्रतीत होता है।

अतः सौन्दर्य की भाँति असुन्दर और कुरूप के सम्बन्ध में भी एक विचारणीय

प्रश्न यह है कि इस कुरूपता का लक्षण क्या है, और वह कुरूपता वस्तुगत गुण है अथवा व्यवस्थागत रूप का दोष है अथवा केवल चेतना का भाव है ? जिस प्रकार सामान्त: सौन्दर्य की भावना का विक्षेप बाह्य वस्तुओं में होता है और हम उन्हें सुन्दर कहते हैं उसी प्रकार कुरूपता का आरोपण भी हम वस्तुओं में करते हैं। जिन वस्तुओं को हम सुन्दर कहते हैं, वस्तुत: उनकी ऐन्द्रिक संवेदना प्रिय होती है और उस प्रियता के भाव में हम सौन्दर्य का आरोपण करते हैं। अपने कुरूप बालक से सम्बन्ध रखने वाली संवेदनाएँ और भावनाएँ आत्मीय सम्बन्ध के कारण प्रिय होती हैं और हम उनमें सौन्दर्य का आरोपण कर बालक को सुन्दर कहते हैं। सामान्यत: जिन वस्तुओं को हम कुरूप कहते हैं उनकी ऐन्द्रिक संवेदना प्रिय नहीं होती और उनके साथ हमारा आत्मीयता का भाव भी नहीं होता। सम्भव है सूअर पालने वालों को सूअर भी सुन्दर प्रतीत होते हों। जो सौन्दर्य की दृष्टि से हमें उदासीन प्रतीत होता है उसकी ऐन्द्रिक संवेदना में न कोई विशेष प्रियता होती है न विशेष अप्रियता। किसी भी प्रकार से आत्मीयता का भाव उदित होते ही ऐन्द्रिक संवेदना वही रहते हुए भी वही वस्तु हमें सुन्दर प्रतीत होने लगती है। सौन्दर्य का भाव उदित होने पर प्रियता का भाव भी उत्पन्न हो जाता है। **सौन्दर्य और प्रियता का कुछ ऐसा अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है कि एक में दूसरे का आरोपण अथवा एक से दूसरे का भाव उत्पन्न होना अत्यन्त स्वाभाविक है।** जहाँ ऐन्द्रिक संवेदना अथवा रूप-योजना प्रियता के अनुरूप होती है वहाँ यही प्रियता सौन्दर्य की भावना की जननी बन जाती है। हम प्रिय को सुन्दर कहने लगते हैं। वस्तुगत गुणों से उत्पन्न होने के कारण प्रियता की भावना में सौन्दर्य का आरोपण उसे व्यक्तिगत होने के दोष से बचा लेता है। जिसे हम सुन्दर कहते हैं उसका सौन्दर्य वस्तु की विभूति बन जाता है। इसी प्रकार जिसे हम ऐन्द्रिक संवेदना की अप्रियता के कारण कुरूप कहते हैं, उसकी कुरूपता का उत्तरदायित्व व्यक्तिगत होने के स्थान पर वस्तुगत हो जाता है। ऐन्द्रिक संवेदना प्राकृतिक होने के कारण सभी में समान होती है। इसीलिये सामान्य होने के कारण सुन्दर और कुरूप सामान्य व्यवहार और स्वीकृति के विषय बन जाते हैं किन्तु जहाँ मतभेद होता है वहाँ संवेदना समान होने के कारण हमारी दृष्टि के भेद का आधार मनोभाव ही हो सकता है। वास्तविक व्यवहार में सुन्दर की तुलना में कुरूप का क्या स्थान, स्वरूप और सम्बन्ध है यह विचारणीय है। वस्तु की सत्ता उसके गुण अथवा रूप व्यवस्था का इन

धारणाओं में कहाँ तक योग है यह विचारणीय है। उदासीन और कुरूप को सुन्दर बनाने में मनोभाव का क्या महत्व है और उस मनोभाव का क्या स्वरूप है ?

यहाँ तक वास्तविक जीवन और व्यवहार के सम्बन्ध में सुन्दर और कुरूप की बात है। किन्तु इससे आगे कला में कुरूप के स्थान और सम्बन्ध का प्रश्न उठता है। एक प्रश्न तो यह है कि जो वस्तुगत और व्यवहार में कुरूप माना जाता है उसका कला में क्या स्थान है ? क्या कला कुरूप को सुन्दर बना सकती है ? यदि नहीं तो कला में कुरूप का ग्रहण किस रूप में होता है ? कुरूपता केवल बस्तु-तत्वों का गुण है, अथवा वास्तविक सत्ता और कलात्मक रचनाओं में रूप-योजना से भी कुरूपता का कोई सम्बन्ध है ? क्या कला की रूप-योजना कुरूप तत्वों से सुन्दर का निर्माण कर सकती है ? वस्तुओं के प्रति हमारे दृष्टिकोण की भाँति कलात्मक रचनाओं के सम्बन्ध में भी यह प्रश्न हो सकता है कि उनकी रूप-योजना में कौन से कारण कुरूपता उत्पन्न करते हैं। भाव के सम्बन्ध में कुरूपता का प्रश्न सबसे अधिक जटिल है। भाव का भी कोई रूप होता है ऐसा कहना कठिन है। सामान्यत: रूप ऐन्द्रिक संवेदना का गुण है। वह आलोक अथवा कान्ति का आकार है। आलोक चक्षुओं को प्रिय है इसीलिये उज्ज्वल वर्ण वाले प्राय: सुन्दर कहलाते हैं और भाषा के प्रयोग में रूप सुन्दर का पर्याय बन गया है। भाव का कोई चिन्मय रूप माना जा सके तो दूसरी बात है। सामान्यत: जिन भावों को हम कुरूप कहते हैं वे नैतिक मान्यताओं के अनुसार कुत्सित हैं। मंगलमय भाव सुन्दर माने जाते हैं। फिर भी प्रश्न यह है कि यदि सौन्दर्य कला का स्वरूप है तो कुरूप विषयों और कुत्सित भावों का उसमें क्या स्थान है ? क्या अभि-व्यक्ति का सौन्दर्य इन्हें भी सुन्दर बना सकता है अथवा कला में केवल अभि-व्यक्ति का रूपात्मक सौन्दर्य है जिसके द्वारा कोई भी वस्तु अथवा भाव सुन्दर बन जाता है।

इन सब प्रश्नों का उत्तर सौन्दर्य शास्त्र के इतिहास में अनेक प्रकार से दिया गया है। कुछ विचारकों ने कुरूप को सुन्दर का प्रतियोगी मानकर उसमें सौन्दर्य के लक्षणों के अभाव का संकेत किया है। प्राचीन ग्रीक विचार में एरिस्टौटिल के काव्य-शास्त्र में कुरूप का उल्लेख मिलता है। एरिस्टौटिल के काव्य-शास्त्र का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त दु:खान्त नाटक से सम्बन्ध रखता है। प्राचीन ग्रीक साहित्य में दु:खान्त नाटक अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। दु:खान्त नाटक का विरोधी अथवा

प्रतियोगी सुखान्त कहलाता है किन्तु उसमें सुख का रूप प्रधानतः हास्य और विनोद रहता है। एरिस्टोटिल के मत में हास्यास्पद को कुरूप का एक विभाग माना है।[१३९] दुःखान्त के समान सुखान्त भी कला का एक रूप है और वह सुन्दर के अन्तर्गत है। इसका निष्कर्ष यही है कि कला में कुरूप भी सुन्दर बन जाता है। यद्यपि एरिस्टौटिल के काव्य शास्त्र के एक अवतरण के आधार पर बोसान्क्वेट ने यह मत स्थापित किया है कि कला का सौन्दर्य वस्तु पर आश्रित नहीं वरन् अभिव्यक्ति पर निर्भर है। इसी आधार पर दुःख पूर्ण घटनाओं के चित्रण में प्राप्त होने वाले सुख की व्याख्या की जा सकती है। इसी आधार पर कुरूप के चित्रण के सौन्दर्य का समाधान भी सम्भव है। यदि एरिस्टौटिल के अनुसार हास्यास्पद वस्तु कुरूप का ही एक विभाग है तो बोसान्क्वेट ने यह स्पष्ट नहीं किया कि वह सुखद है अथवा दुःखद। सुखान्त और दुःखान्त के विरोध को देखते हुए सुखद को हास्यास्पद और सम्भवतः कुरूप को दुःखद होना चाहिये। यदि दुःखद कला में सुन्दर बन सकता है तो सुखद का सुन्दर बनना और भी सहज है। यह स्पष्ट है कि यहाँ सौन्दर्य से अभिप्राय अभिव्यवित के सौन्दर्य से है। **प्लोटीनस के अनुसार सौन्दर्य पूर्णतः रूपात्मक है। वह रूप में ही निहित रहता है तत्व में नहीं।** अतः कुरूप वही है जो या तो बौद्धिक रूप ग्रहण करने के अयोग्य है अथवा योग्य होने पर उसे प्राप्त नहीं कर सका है। अतः कुरूप एक प्रकार से रूपहीन तत्व है।[१४०] प्लूटार्क के अनुसार भी कुरूप का कला में कोई स्थान नहीं है।[१४१] कुरूप सुन्दर नहीं बन सकता। औगस्टिन के हाथों कुरूपता को कला में एक आदर का स्थान मिला। औगस्टिन में हम सौन्दर्य के उस आधुनिक रूप की आशा नहीं करते जिसके अनुसार सृष्टि और कला में कुछ भी असुन्दर नहीं। फिर भी औगस्टिन ने संगीत के संवादी और विसंवादी स्वरों के समान सुन्दर और असुन्दर को दो विरोधी तत्व मान कर कलात्मक सामंजस्य में समन्वित किया। उनके अनुसार कुरूप सौन्दर्य की व्यवस्था में एक हीनतर तत्व है विरोध के द्वारा वह सौन्दर्य को इसी प्रकार समृद्ध बनाता है जिस प्रकार अंधकार प्रकाश की दीप्ति को आलोकित करता है। अंततः इस विरोध का परिणाम भी संगीत की भाँति सामंजस्य होता है।[१४२] ऐरीजीना ने विश्व की दिव्य व्यवस्था में कुरूप कहलाने वाले तत्व को एक आदर का स्थान देकर सौन्दर्य की सम्भावनाओं से विभूषित किया।[१४३] जिसमें सौन्दर्य की सम्भावनायें नहीं हैं उसे कलात्मक अनुकरण अथवा अभिव्यक्ति भी सुन्दर नहीं बना सकती।

यदि अर्थ की व्यंजना ही वस्तुओं को सुन्दर बनाती है तो संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें हम सौन्दर्य न खोज सकें। ऐरीजिना का यह मत सुन्दर और कुरूप के समन्वय के लिये नवीन सम्भावनाओं का द्वार खोलता है।

उदात्त और सुन्दर के समान सुन्दर और कुरूप का भेद बर्क में स्पष्ट रूप से मिलता है। बर्क के अनुसार कुरूप सुन्दर का पूर्ण विरोधी है।[१४४] कुरूप के निकट होने के कारण ही बर्क के सिद्धान्त में उदात्त भी सुन्दर का विरोधी बन जाता है। बर्क ने एरिस्टोटिल के अनुसार दुःखद और कुरूप की भी कलात्मक अभिव्यक्ति को सुखद और सुन्दर माना है। किन्तु लैसिंग ने इसे भी स्वीकार नहीं किया था। लैसिंग ने रूपात्मक कलाओं में तो कुरूप को कोई स्थान नहीं दिया है। किन्तु काव्य में वह कुरूप को हास्य अथवा भय का साधन मानते हैं उनका विश्वास है कि भाषा में अभिव्यक्त होकर कुरूप का प्रभाव मन्द हो जाता है। कुरूप का स्वरूपतः कला और काव्य में कोई स्थान नहीं है और न अभिव्यक्ति के द्वारा वह सुन्दर बन जाता है। इसीलिये रूपात्मक कला में उसका कोई स्थान नहीं है। वह अभिव्यक्ति और चित्रण से सुन्दर और सुखद नहीं बन सकता जैसा कि ऐरिस्टोटिल और बर्क मानते हैं। जो रूप की दृष्टि से कुरूप है वह सत्ता और अभिव्यक्ति दोनों ही स्थितियों में अप्रिय प्रभाव उत्पन्न करता है।[१४५] **श्लीगल के अनुसार सौन्दर्य श्रेय की सुखद अभिव्यक्ति है और कुरूपता अश्रेय की अप्रिय अभिव्यक्ति है।** हीगल के अनुसार सौन्दर्य चेतना अथवा बुद्धि के भाव अथवा प्रत्यय की ऐन्द्रिक माध्यम में अभिव्यक्ति है। चेतना का यह भाव बौद्धिक प्रत्याहार नहीं है वरन् व्यक्तिगत और विशेष रूपों में साकार होने वाला सजीव और सक्रिय भाव है। इसी सजीव रूप में भाव की साकारता हीगल के अनुसार सौन्दर्य का रहस्य है। कुरूपता का कोई व्यवस्थित विवेचन हीगल में नहीं मिलता किन्तु उनके सौन्दर्य सिद्धान्त से इसका अनुमान लगाया जा सकता है। नकल उतारने के सम्बन्ध में हीगल ने कहा है कि उसमें भाव की विकृति के कारण कुरूपता उत्पन्न होती है। अतः हीगल के अनुसार व्यक्तिकरण की अयथार्थता अथवा असंगति ही कुरूपता का मर्म है।[१४६] **शोपेनहावर के अनुसार सौन्दर्य विश्व प्रक्रिया में अन्तर्निहित क्रूर संकल्प के नियंत्रण से मुक्त अभिव्यक्ति है।** ये ही उसके सौन्दर्य और आनन्द की महिमा का रहस्य है। इस दृष्टि से कुरूपता दोष-पूर्ण तथा अपूर्ण अभिव्यक्ति है। वह सौन्दर्य की विरोधी नहीं है। कुरूपता को हम सोन्दर्य की सापेक्ष

कोटि कह सकते हैं। जौलगर के अनुसार कुरूपता सौन्दर्य की अत्यन्त विरोधी है और भावात्मक है।[१४७] जिस प्रकार अश्रेय के विरोध में हम श्रेय को पहिचानते हैं। वस्तुतः वह सौन्दर्य का अभाव है। अतः वह निषेधात्मक है। किन्तु वह एक ऐसा निषेध है जो भावात्मक रूप ग्रहण करके सौन्दर्य का स्थान ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। एक ओर कुरूपता को सौन्दर्य का विरोधी मानते हुये भी दूसरी ओर जौलगर यह मानते हैं कि वह सौन्दर्य का स्थान लेने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार वह सुन्दर के निकट आती है। फिर भी जौलगर का यह दृढ़ विश्वास है कि कुरूप 'कुरूप' कुरूप की हैसियत से कला के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता। इसमें वह वाइसे के साथ एकमत और रोज़ैनक्रांत्स के विरोधी हैं। रोज़ैनक्रांत्स के अनुसार सौन्दर्य भावात्मक है और कुरूपता निषेधात्मक है।[१४८] अतः एक ओर वे सुन्दर और कुरूप को पृथक तथा कुरूप को सुन्दर के बाहर मानते हैं। किन्तु दूसरी ओर वे उसे सौन्दर्य से सापेक्ष मानते हैं। अतः कुरूप कला के अन्तर्गत है। किन्तु वह कुरूप को सुन्दर की विरोधी पृष्ठभूमि नहीं मानते। उनके अनुसार सौन्दर्य एक भावात्मक तत्व है। वह अपने स्वरूप में विभासित होता है। सौन्दर्य को प्रकाशित न होने के लिये किसी विरोधी पृष्ठभूमि की आवश्यकता नहीं।[१४९] **हार्टमान के अनुसार सौन्दर्य कला का लक्ष्य नहीं वरन् संगत अभिव्यक्ति का सहज परिणाम है।[१५०] प्रकृति का सौन्दर्य लक्ष्य नहीं किन्तु फल है।** उनके अनुसार कुरूपता सौन्दर्य का अंग और साधन है। कुरूपता की हैसियत से नहीं किन्तु सौन्दर्य के साधन की हैसियत से उसका कला में स्थान है। वस्तुतः कुरूपता सापेक्ष ही है। **सौन्दर्य एक संगत अभिव्यक्ति है। कुरूपता एक असंगत अभिव्यक्ति है। कुरूपता सौन्दर्य की साकारता का साधन है।[१५१]** रस्किन ने एक बार कहा था कि कलात्मक कल्पना कुरूप तत्वों से सुन्दर व्यवस्थाओं का निर्माण करती है। किन्तु सम्भवतः हार्टमान का यह मत अधिक संगत है कि कुरूप की हैसियत से नहीं वरन् सौन्दर्य का सापेक्ष बनकर ही कुरूप कला का अंग बन सकता है।

अस्तु हम देखते हैं कि सौन्दर्य शास्त्र के इतिहास में कुरूप के सम्बन्ध में विभिन्न मत रहे हैं। जो लोग कुरूप को एक भावात्मक सत्ता मानते आये हैं उनमें जिन्होंने उसकी तात्विकता पर जोर दिया है वे प्लूटार्क, बर्क और जौलगर के समान कला में उसके स्थान का निषेध करते आये हैं। जिन्होंने अभिव्यक्ति के रूप में कला का सौन्दर्य माना है वे एरिस्टौटिल के अनुसार कुरूप की अभिव्यक्ति में

भी सौन्दर्य देखते आये हैं। किन्तु इस प्रसंग में प्लूटार्क का यह तर्क कि कुरूप सुन्दर नहीं हो सकता एक कठिन समस्या पैदा कर देता है। इस समस्या का समाधान कुरूप को सौन्दर्य का सापेक्ष बनाकर उसके निकट ले आता है। ऐरीजीना की वह दिव्य दृष्टि कि वस्तुतः ईश्वर की दृष्टि में कुछ भी असुन्दर नही है आधुनिक सौन्दर्य शास्त्र में सफल होती है। **कौलिंगवुड के अनुसार कलात्मक कल्पना प्रत्येक वस्तु को सुन्दर बनाती है। 'कल्पना' चेतना का वह भाव है जो विषय की बाह्यता और भेद को मिटाकर उसे सत्य और असत्य की कोटि से ऊपर उठाकर कलाकार के साथ एकात्म बनाती है। कल्पना की इस एकात्मता में ही सौन्दर्य उदित होता है।** कुरूपता न कोई भावात्मक तत्व है और न वह निषेधात्मक है। लिस्टोवेल के अनुसार सुन्दर का विरोधी कुरूप नहीं वरन् वह जो कला की दृष्टि से उदासीन है और जो इस उदासीनता के कारण हमारी कलात्मक शक्तियों को जाग्रत करने में समर्थ नहीं है।[१५२] इस आधुनिक मत में कुरूप का सौन्दर्य एरिस्टौटिल के समान कला की बाह्य अभिव्यक्ति के कौशल में नहीं है वरन् कलात्मक कल्पना अथवा अनुभूति में है। भारतीय काव्य शास्त्र का मत एरिस्टौटिल के प्राचीन मत और आधुनिक अभिव्यंजनावाद दोनों का समन्वय प्रतीत होता है। वीभत्स, रौद्र आदि के आलम्बन घृणा, भय आदि के उत्पादक होते हुये भी काव्य में स्थान पाते रहे हैं। उनके वर्णन में काव्य के आचार्य सौन्दर्य का दिग्दर्शन करते रहे हैं। सम्भवतः यह कलात्मक अभिव्यक्ति का ही सौन्दर्य है। यह सौन्दर्य आनन्दमय है। अतः यहाँ भी यह कठिनाई सामने आती है कि जो स्वरूपतः कुरूप है वह सौन्दर्य और आनन्द का साधन कैसे बन सकता है? भारतीय वेदान्त और शैवमत में तो एरीजीना की दिव्य विश्व व्यवस्था की भाँति सभी कुछ सौन्दर्य की सम्भावना से अनुप्राणित है। भारतीय काव्य शास्त्र का मूल उपनिषदों के आनन्द में होते हुये भी उसका अपने मूल के साथ समुचित समन्वय नहीं है। इसीलिये सम्भवतः भारतीय काव्य शास्त्र का मत एरिस्टौटिल के अधिक निकट है। आधुनिक अभिव्यक्तिवाद का सिद्धान्त उसमें स्पष्ट नहीं है। आनन्द वर्द्धन और अभिनव गुप्त के ध्वनि सम्प्रदाय में अभिव्यक्ति के कौशल के अतिरिक्त ध्वनि का जो रस-रूप तत्व है वह आधुनिक अभिव्यक्तिवाद के अत्यन्त निकट है। अनुभूति-रूप होने के कारण यह अभिव्यक्ति अभिनव गुप्त के रस और कौलिंगवुड की कल्पना की समानार्थक है। यहाँ केवल

एक ही प्रश्न हो सकता है कि जिन्हें समाज में कुरूप समझा जाता है उन्हें कला और काव्य में इतना कम स्थान क्यों मिला है ? रौद्र, वीभत्स आदि के वर्णन काव्य में केवल उदाहरण के रूप में ही क्यों मिलते हैं ? क्या कुरूप की तत्वगत और रूपगत वास्तविकता में ही ऐसा कोई दोष नहीं है जो उसे कला के अयोग्य बनाता है ? सत्य यह है कि कला के सौन्दर्य का स्वरूप वस्तुगत अथवा तत्वगत नहीं है वह अनुभूति, कल्पना, आदि चेतना के भावों में ही निहित है चाहे यह चेतना व्यक्तिगत हो अथवा समात्मभाव की स्थिति हो। चेतना का यह भाव प्रत्येक वस्तु को सुन्दर बनाने में समर्थ है। इस चेतना के जागरण के अभाव में प्रत्येक वस्तु सौन्दर्य की दृष्टि से उदासीन है। इस उदासीनता के विषयों में जहाँ ऐन्द्रिक सम्वेदना की अप्रियता नहीं होती वहाँ हम भी उदासीन रहते हैं। जहाँ यह अप्रियता होती है वहाँ हमें कुरूपता दिखाई देती है। **अतः स्वरूपतः कुरूप हमारे सामान्य व्यवहार की कलाहीन स्थितियों में ही स्थान रखता है।** जीवन के सामान्य व्यवहार और उसकी सम्वेदनाओं से कला के सामान्य रूप का एक घनिष्ट सम्बन्ध है। इसीलिये जो सामान्यतः कुरूप है वह कला और काव्य में ही कम स्थान पा सका है। अधिकांश कला और काव्य में सामान्य व्यवहार के प्रिय उपादान ही ग्रहण किये गये हैं। आधुनिक युग में कलात्मक चेतना, यदि कुरूप की ओर नहीं तो, उदासीन की ओर एक निश्चित उदारता से जागरित हो रही है।

सामान्य व्यवहार की दृष्टि से सुन्दर के समान असुन्दर अथवा कुरूप को भी एक वस्तुगत तथ्य मानना होगा। इतना अवश्य है कि साधारण जनों में इस सम्बन्ध में प्रायः मतभेद दिखाई देता है जो एक वस्तु को सुन्दर मानता है तथा जो वस्तु एक को सुन्दर मालूम होती है उसे दूसरा कुरूप मानता है। इस मत-भेद से यह स्पष्ट होता है कि जिसे कुछ लोग कुरूप अथवा असुन्दर मानते हैं उसमें भी दूसरे सौन्दर्य देख सकते हैं। ऐसा मतभेद व्यापक होने पर यह नहीं कहा जा सकता कि सौन्दर्य केवल व्यक्तिगत भावना अथवा दृष्टि है। अनेक लोगों के इस मतभेद में सम्मिलित होने पर यह प्रश्न व्यक्तिगत नहीं रह जाता। उदाहरण के लिये नीग्रो अथवा मंगोलियन जाति की स्त्रियाँ आर्य जाति के पुरुषों को सुन्दर नहीं जान पड़ती। उनके मोटे ओठ और पतली आंखे आर्यों की दृष्टि में कुरूपता के कारण है। किन्तु अपनी जाति के पुरुषों को वे सुन्दर लगती हैं। मतभेद होते हुए भी इस दृष्टिकोण को व्यक्तिगत नहीं कहा जा सकता। क्योंकि एक मत को अनेक लोगों के अभीमत

का समर्थन मिलता है। ऐसी स्थिति में हमें इस मतभेद के मर्म का अधिक गम्भीरता से अनुसंधान करना होगा। सौन्दर्य का कुछ वस्तुगत आधार अवश्य है तभी सुन्दर का विक्षेप एक वस्तुगत सत्ता और गुण के रूप में किया जाता है। सौन्दर्य का यह वस्तुगत आधार वस्तु के रूप और लक्ष्य में तथा गुणों में खोजना होगा। हमारे मत में सौन्दर्य का रहस्य रूप के अतिशय में मिलता है। अनेक रूपों में यह रूप का अतिशय सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करता है। वस्तु के विन्यास आदि के गुण भी इस रूप के अन्तर्गत आ सकते हैं और इस प्रकार 'रूप' को 'सौन्दर्य' का पर्याय माना जा सकता है। किन्तु जब रूप प्रभावशाली होता है अथवा जब हम उसकी ओर अनुकूलता के भाव से अभिमुख होते हैं तभी वह हमें सुन्दर दिखाई देता है। **इसका अभिप्राय यह है कि किसी वस्तु का सुन्दर होना और सुन्दर होना और सुन्दर दिखाई देना दो अलग अलग बातें हैं।** कला का सौन्दर्य मनुष्य की रचना कहा जा सकता है किन्तु सौन्दर्य की यह रचना भी पूर्णतः मनुष्य की रचना नहीं है। सौन्दर्य के उपादानों और उपकरणों में भी सौन्दर्य की सम्भावनाएँ होती हैं। कलाकार अपने कर्तृत्व के द्वारा उन सम्भावनाओं को एक अनुकूल योजनाओं में आविष्कृत करके सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करता है। **सौन्दर्य केवल सृष्टि नहीं है। वह बहुत कुछ परिमाण में अभिव्यक्ति भी है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से वह उपादान की वस्तुगत व्यवस्था का गुण है।** इसी वस्तुगत आधार के कारण सौन्दर्य के सम्बन्ध में अनेक लोगों का एक मत होता है। इस सम्बन्ध में जो मत-भेद होता है उसका कुछ कारण वस्तुगत भी होता है किन्तु इसके साथ-साथ इस मतभेद का कुछ आधार हमारी भावना में भी रहता है। सौन्दर्य की धारणा में भावना का प्रभाव हमें इन मतभेदों तथा अपने दृष्टिकोण के परिवर्तन में दिखाई देता है। नवीनता और निरूपयोगिता का दृष्टिकोण होने पर जो प्रकृति सुन्दर दिखाई देती है वही प्रकृति परिचय और उपयोगिता का दृष्टिकोण होने पर सुन्दर नहीं दिखाई देती। ऐसी स्थिति में वस्तु का रूप सौन्दर्य के अनुकूल होने पर भी वह सुन्दर नहीं दिखाई देती। इस सम्भावना के दृष्टिकोण से देखने पर कदाचित ही संसार की कोई ऐसी वस्तु हो जिसे सुन्दर न कहा जा सके अर्थात् अनुकूल भाव होने पर जिसमें सौन्दर्य की अभिव्यक्ति सम्भव न हो सकती हो ऐसी स्थिति में संसार की प्रत्येक वस्तु को सुन्दर मानना होगा। यह दृष्टिकोण सामान्यतः मान्य न होगा किन्तु विचार करने पर यह अधिक मान्य प्रतीत होगा। समात्मभाव और

निरुपयोगिता का दृष्टिकोण प्रत्येक रूप में सौन्दर्य जगा देता है। परिचय और उपयोगिता के दृष्टिकोण के कारण रूप का यह व्यापक सौन्दर्य मंद हो जाता है। मंद होने के कारण वह प्रभावशाली नहीं रहता। इसी को हम प्राय: असुन्दर अथवा कुरूप कहते हैं। असुन्दर की धारणा निषेधात्मक है। वह सौन्दर्य का विरोधी नहीं वरन् सौन्दर्य का उदासीन अभाव है। कुरूप उसको कहना होगा जिसमें सौन्दर्य के अभाव के साथ-साथ कुछ विकृतियाँ भी हैं। इन विकृतियों के कारण वह उपेक्षणीय ही नहीं वरन् घृणास्पद भी बन जाता है। हम जिसे कुरूप कहते हैं उसमें कुछ सौन्दर्य का अंश भी हो सकता है जो अनुकूल भाव न होने के कारण अभिव्यक्त नहीं होता तथा कुछ विकृतियों के कारण भी हो सकते हैं जो उस वस्तु को अंशत: कुरूप बनाते हैं। सौन्दर्य वस्तु की सम्पूर्ण योजना का गुण है। उस सम्पूर्ण योजना की दृष्टि से ही विकृति को सौन्दर्य का विघातक कहा जा सकता है।

सुन्दर और असुन्दर अथवा कुरूप की ये धारणाएँ जीवन के व्यवहार तथा जीवन के वस्तुगत आश्रयों पर अवलम्बित हैं। व्यवहार के दृष्टिकोण से हम जगत के उपादानों में सुन्दर और असुन्दर अथवा कुरूप का भेद कर सकते हैं। किन्तु कला के दृष्टिकोण से ऐसा भेद करना कठिन है। कला सौन्दर्य की रचना है अत: कला की प्रत्येक रचना सुन्दर होती है। कला में असुन्दर और कुरूप का प्रश्न नहीं उठता। यदि सम्भव हो सके तो कला में सौन्दर्य की श्रेणियाँ की जा सकती हैं तथा कलाकृतियों को न्यूनाधिक सुन्दर तथा सौन्दर्य की दृष्टि से श्रेष्ठ अथवा हीन माना जा सकता है। किन्तु ये सब भेद सुन्दर के ही अन्तर्गत होंगे। कला के साथ असुन्दर अथवा कुरूप का सम्बन्ध उपादान के रूप में ही हो सकता है। जिसे जीवन के व्यवहार में किसी भी कारण से असुन्दर अथवा कुरूप कहा जाता है वह कला और काव्य का उपादान बन सकता है ऐसी स्थिति में रचना का उपादान असुन्दर और रचना का रूप सुन्दर होगा। कला का सौन्दर्य अपने आप में 'अभिव्यक्ति के रूप का सौन्दर्य' है। इस सौन्दर्य से अन्वित होने पर कोई भी उपादान सुन्दर बन सकते हैं। ये उपादान अपने आप में सुन्दर और असुन्दर दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। कुरूप को भी सौन्दर्य का उपादान बनाया जा सकता है। किसी कुरूप वस्तु अथवा व्यक्ति का चित्र भी कला की दृष्टि से सुन्दर हो सकता है। उसकी सुन्दरता अभिव्यक्ति के सौन्दर्य पर निर्भर होगी। वह वस्तु के रूप का सौन्दर्य नहीं वरन् कला के रूप का सौन्दर्य होगा। ऐसी रचनाओं को जब हम कुरूप कहते

हैं तो हमारा मत उपादान पर निर्भर होता है। सुन्दर प्रतीत होने वाली रचनाओं को भी प्रायः हम उपादान की दृष्टि से देखते हैं। उपादान का सौन्दर्य ही प्रायः हमें आकर्षित करता है। कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप के सौन्दर्य की परख सामान्यतः लोगों में अधिक नहीं होती अतः सुन्दर और असुन्दर की धारणाएँ प्रायः उपादान पर आश्रित होती हैं किन्तु कला के सौन्दर्य का निर्धारण अभिव्यक्ति के रूप की दृष्टि से ही करना होगा। उपादान की सुन्दरता अथवा असुन्दरता कलात्मक रूप के सौन्दर्य को सामान्यतः प्रभावित अवश्य करती हैं। उपादान का सौन्दर्य कलात्मक रूप के सौन्दर्य को बढ़ाता है और उपादान की कुरूपता उसे घटाती है। इसीलिये कला और काव्य में प्रायः सुन्दर उपादानों का ग्रहण अधिक होता रहा है। सुन्दर उपादानों के वस्तुगत रूप-सौन्दर्य को कला और काव्य में अंकित करना तथा उसे कलात्मक रूप के सौन्दर्य से समन्वित करना भी एक कठिन चमत्कार है। किन्तु कुरूप और असुन्दर प्रतीत होने वाले उपादानों को कलात्मक सौन्दर्य से अभिनंदित करना और भी कठिन है। आधुनिक कला और काव्य में साधारण उपादानों को कला में अधिक समाहित किया गया है। जिन उपादानों का स्वरूपगत सौन्दर्य अधिक प्रखर नहीं है उन्हें कला और काव्य में बहुत स्थान दिया गया है। आधुनिक कला और काव्य का यह कौशल अत्यन्त अभिनंदनीय है। सुन्दर उपादानों के सुन्दर चित्रण की अपेक्षा यह अधिक रचनात्मक है। इसके साथ-साथ यह अधिक सांस्कृतिक भी है। कृतित्व की विपुलता के साथ-साथ यह सृष्टि और जीवन के सौन्दर्य का वर्द्धक है। भारतीय संस्कृति की परम्परा में सामान्य जीवन के सामान्य उपकरणों को सांस्कृतिक समात्मभाव और कलात्मक रूप के अतिशय के संयोग से सामान्य लोक-जीवन को विपुल और व्यापक सौन्दर्य से अलंकृत करके अधिक आनंद-मय बनाने का प्रयत्न किया गया है।

अध्याय ५८

सौन्दर्य और हास्य

जीवन और कला में सौन्दर्य के साथ-साथ हास्य का भी स्थान है। अधिकांश विचारक सौन्दर्य के साथ सुख, हर्ष अथवा प्रसन्नता का घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं। कुछ ने सुख को सौन्दर्य के स्वरूप का आवश्यक अंग भी माना है। सौन्दर्य से हमें ऐन्द्रिक सम्वेदना का सुख अथवा चित्त की प्रसन्नता ही प्राप्त नहीं होती वरन् एक हार्दिक हर्ष और उल्लास भी प्राप्त होता है। हम इसे 'आह्लाद' कह सकते हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र में उपनिषदों की परम्परा के अनुसार काव्य के रस को 'आनन्द' कहा है। किन्तु आनन्द आत्मा का स्वरूप है, आत्मा व्यक्तिगत नहीं है। अत: व्यक्तित्व के अधिष्ठान में और अहंकार में अन्वित होने वाले आन्तरिक हर्ष को आनन्द कहना उचित नहीं है। व्यवहारिक जीवन में हम समात्मभाव के सुख को ही आनन्द कह सकते हैं। व्यक्ति में सीमित रहने वाले आन्तरिक सुख को 'हर्ष' कह सकते हैं। जब वह हर्ष हमारे हृदय में उमड़ कर छलकने लगता है तो उसे 'उल्लास' कहना अधिक उचित है। जब हम अपने हर्ष और उल्लास को दूसरों में बाँटना चाहते हैं और चाहते हैं कि दूसरे हमारे हर्ष और उल्लास में भाग लें तो हर्ष की इस स्थिति को 'आह्लाद' कहना उपयुक्त जान पड़ता है। सौन्दर्य का स्वरूप भी भाव की अभिव्यक्ति है। आह्लाद भी भाव के साथ अनुभूत होने वाले हर्ष अथवा उल्लास की अभिव्यक्ति है। भारतीय काव्य शास्त्र और पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र दोनों में ही सामान्यत: सौन्दर्य में अभिव्यक्ति के महत्व को मानते हुए भी सम्प्रेषण और समात्मभाव के महत्व को ध्यान नहीं दिया गया है। पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र में कुछ विद्वानों ने सौन्दर्य की सम्प्रेषणीयता को स्वीकार भी किया है, किन्तु उसकी अनुभूति को फिर भी व्यक्तिगत ही माना है। स्पष्ट रूप से समात्मभाव में सौन्दर्य का स्रोत किसी को दृष्टिगत नहीं हुआ है। अभिव्यक्तिवादियों ने तथा समानुभूतिवादियों ने तद्रूपता-मूलक एकात्मभाव को तो कलात्मक सौन्दर्य का स्वरूप माना है। यह अभेदमूलक अनुभूति भी व्यक्तिगत ही है। अतः पूर्व और पश्चिम दोनों के सिद्धान्तों में व्यक्तिगत अनुभूति ही कला

ग्रौर काव्य के सौन्दर्य का मूल है। इसीलिए सौन्दर्य की भावना से उत्पन्न होने वाले हर्ष, उल्लास ग्रानन्द ग्रादि को भी व्यक्तिगत ही माना है। पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र में सौन्दर्य के साथ सुखमय संवेदना की जितनी ग्रधिक चर्चा है उतनी चर्चा सौन्दर्य से प्राप्त होने वाले ग्रान्तरिक हर्ष ग्रौर उल्लास की नहीं है। कीट्स ने ग्रपनी एक कविता में यह ग्रवश्य कहा है कि सुन्दर वस्तु चिरन्तन हर्ष का स्रोत है। किन्तु सौन्दर्य शास्त्र के विवेचनों में इस हर्ष ग्रौर उल्लास की चर्चा बहुत कम है। भारतीय काव्य शास्त्र का ग्रानन्द भी रति ग्रादि भावों से ग्रवच्छिन्न होने के कारण व्यक्तिगत ही है।

किन्तु कला ग्रौर काव्य के इस व्यक्तिवाद का खण्डन सौन्दर्य की ग्रनुभूति ग्रौर ग्रभिव्यक्ति से भी ग्रधिक सौन्दर्य के रसास्वादन से उत्पन्न होने वाले हर्ष, उल्लास, ग्राह्लाद ग्रथवा ग्रानन्द में होता है। सौन्दर्य से प्राप्त होने वाली सुखमय संवेदना व्यक्तिगत भी हो सकती है। किन्तु हर्ष का उल्लास ग्रौर ग्राह्लाद एकान्त ग्रौर व्यक्तिगत नहीं होता। ये समात्मभाव में ही सम्पन्न होते हैं। वस्तुतः हर्ष, ग्राह्लाद ग्रौर ग्रानन्द इस समात्मभाव के लक्षण ग्रथवा स्वरूप भी हैं। **समात्मभाव का स्पर्श मिलते ही हमारा मन प्रभात सूर्य के स्पर्श से प्रफुल्लित होने वाले कमल के समान खिल उठता है। जीवन के पुष्प के सौन्दर्य के साथ ग्राह्लाद ग्रामोद की भाँति विकीर्ण होने लगता है।** समात्मभाव के इस स्वरूपगत ग्राह्लाद में किसी विषय विशेष का ग्रनुषंग ग्रावश्यक नहीं है; यद्यपि कोई भी विषय उसका निमित्त बन सकता है। सभ्यता के विकास के साथ व्यक्तिवाद की भी वृद्धि हुई है। ग्रतः ग्रामीण सभ्यता के सहज समात्मभाव ग्रौर उसके ग्राह्लाद को हम भूल रहे हैं। इसीलिए समात्मभाव के ग्रभाव में बाह्य सम्मिलन के ग्रवसरों पर कृत्रिम ग्रौर भाव शून्य मुस्कान ग्रौर हास्य से हम उसकी पूर्ति कर रहे हैं। किन्तु सत्य यह है कि ग्राह्लाद ग्रौर ग्रानन्द का वास्तविक स्रोत समात्मभाव में ही है। समात्मभाव का स्पर्श पाते ही व्यक्तित्व के केन्द्रों का हर्ष ग्राह्लाद के रूप में उल्लसित होकर ग्रानन्द के संगम में समंजसित होता है। किसी भी ग्रात्मीय को दूर से देखकर ही हमारे मुख पर मुस्कान खिल उठती है। कोई भी परिचित मिलने ग्राता है तो हम मुस्कान के साथ उसका स्वागत करते हैं। **मानो मुस्कान समात्मभाव में व्यक्तित्वों के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाली विद्युत्प्रभा है। सौन्दर्य की ग्रनुभूति के साथ-साथ हर्ष, ग्राह्लाद ग्रौर विशेषतः हास्य की क्षमता मनुष्यों में ही विकसित**

हुई है। इन दोनों की संगति का तात्पर्य यही है कि दोनों का मूल स्रोत चेतनाओं के समात्मभाव में है। रूप और सुख की संवेदना पशुओं में भी है। कदाचित् वे हर्ष और उल्लास का भी अनुभव करते हैं और अपनी गतिविधियों से उसे व्यक्त भी करते हैं। पालतू पशुओं में समात्मभाव की भी कुछ मन्द क्षमता होती है, किन्तु उनके समात्मभाव के सौन्दर्य को अर्थवती वाणी का वरदान और साकूत हास्य का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका है। **वाणी के समान हास्य भी प्राणियों में मनुष्य की ही विभूति है। आह्लाद से हास्य का अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है। 'हास्य' आह्लाद की अवाक् किन्तु आलोकमय अभिव्यक्ति है।** सौन्दर्य, आह्लाद और हास्य का संगम समात्मभाव के सत्य को प्रमाणित करता है। समात्मभाव के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति आह्लाद और हास्य में होती है। प्रायः अकेला व्यक्ति उदासीन रहता है और एकान्त में उसकी सौन्दर्य भावना भी उदासीन रहती है। अकेले में उल्लसित और हर्षित होने वाले को पागल समझा जाता है। पागल का व्यक्तित्व कितना ही विश्रृंखल हो किन्तु उसकी सामाजिक सम्भावनाएँ पूर्णतः नष्ट हो जाती हैं और वह अपनी व्यक्तिगत चेतना में ही लीन रहता है। इसके विपरीत मनुष्य का हास्य सामाजिक स्थितियों और समात्मभाव की भूमिका में ही खिलता है।

हास्य के अनेक रूप और उसकी अनेक स्थितियाँ हैं। उसके अनेक धरातल हैं। इन समस्त स्थितियों के अन्तर्भाव समान नहीं हैं। इसीलिए मनोविज्ञान और सौन्दर्य शास्त्र में हास्य के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त स्थापित किये गये हैं। इस सम्बन्ध में सबसे पहले एक बात का स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जिस प्रकार समस्त सौन्दर्य सुखदायक है किन्तु सुख की समस्त संवेदनाएँ सुन्दर नहीं होती उसी प्रकार समात्मभाव का सौन्दर्य और आह्लाद सर्वदा हास्य में अंकित होता है किन्तु हास्य के सभी रूप सौन्दर्य के संवाही नहीं होते। **तात्पर्य यह है कि सौन्दर्य के अतिरिक्त भी सुख के रूप हो सकते हैं। इसी प्रकार सौन्दर्य के अतिरिक्त हास्य के भी रूप हो सकते हैं।** ये हास्य के वे रूप हैं, जो समात्मभाव के अनुरूप नहीं होते, जो एक अतिरंजित आत्मगौरव अथवा दूसरों की क्रूर अवमानना के कारण समात्मभाव और सौन्दर्य दोनों के विघातक होते हैं। हास्य के ये रूप सौन्दर्य की अपेक्षा कुरूप के अधिक निकट हैं अथवा एक दृष्टि से वे कुरूप की अपेक्षा भी सौन्दर्य के अधिक घातक हैं। किसी के गिर जाने पर हमारा क्रूर हास्य अथवा असहायों के उत्पीड़न

में निरत किसी अत्याचारी का अट्टहास इसी सौन्दर्य के विघातक हास्य की कोटि में है। उपहास भी इसी कोटि में है। दूसरे के व्यक्तित्व को उचित आदर देने वाले तथा समात्मभाव के साधक हास्य के रूप ही सौन्दर्य के संवाही हैं। हास्य के इस स्वस्थ रूप को जीवन और साहित्य में समुचित महत्व नहीं दिया गया है। व्यक्तित्व के अहंकार से पीड़ित होने के कारण सामाजिक व्यवहार में प्रायः हम समात्मभाव और सौन्दर्य के विघातक क्रूर हास्य में तत्पर होते हैं। किन्तु यह सामाजिक सम्बंधों में भेद और दूरत्व की स्थितियों में ही अधिक होता है। आत्मीय सम्बंधों में समात्मभाव के सौन्दर्य से अंचित हास्य का ही परिचय जीवन के सम्बंधों में प्रायः मिलता है। किन्तु साहित्य में इस स्वस्थ हास्य के उदाहरण यथेष्ट नहीं मिलते। भारतीय काव्य में हास्य के स्थान पर उपहास अधिक मिलता है। नाटकों में विदूषक की अवमानना और उसके मृदु निर्यातन के रूप में ही हास्य अधिक है। अथवा विदूषक के द्वारा राजा के मनोरंजन का कृत्रिम हास्य मिलता है। अंग्रेजी साहित्य में हास्य का दृष्टिकोण प्रायः असंगति-पूर्ण स्थितियों से उत्पन्न अतिरंजित आत्मगौरव तथा दूसरे की अवमानना का समात्मभाव हीन, अतः सौन्दर्य से रहित, हास्य मिलता है।

पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र में कला और काव्य के सम्बन्ध में हास्य के अनेक रूपों की मीमांसा की गई है और उनमें प्रायः सभी को कला के उपयुक्त स्थान के योग्य समझा गया है। जिसे शारीरिक दृष्टि से हास्य कहते हैं और जिसमें आवश्यक रूप से कोई मनोभाव नहीं होता उसे अवश्य मनोरंजक हास्य से पृथक किया गया है।[१५३] कैरिट ने स्पष्ट रूप से हास्य को मानवीय और सामाजिक वृत्ति बताया है। पशु नहीं हँसते और मनुष्य भी प्रायः समाज में ही हँसते हैं। किन्तु इस सामाजिक हास्य के भी सभी रूप मनोरंजक नहीं होते। सौन्दर्य की भाँति पश्चिमी विचारकों ने हास्य में भी सुख माना है। यह ध्यान रखना चाहिए कि इस मनोरंजक और कलात्मक हास्य की धारणा भी सौन्दर्य की भाँति व्यक्तिगत है। हम किसी मनुष्य को किसी विषम स्थिति में देखकर हँसते हैं। कैरिट ने बताया है कि हम वस्तुओं में भी सौन्दर्य देखते हैं किन्तु हास्य का विषय मनुष्य ही हो सकता है। प्रकृति की विषम स्थितियों को देखकर हम नहीं हँसते।[१५४] कैरिट ने अपने विवेचन के अन्त में एक और महत्वपूर्ण बात कही है कि हम सुन्दर का उपहास नहीं कर सकते।[१५५] जो उपहासास्पद है वह सुन्दर नहीं हो सकता।[१५६] फिर भी उपहासास्पद को कला

के अन्तर्गत माना गया है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कुरूप भी कला के अन्तर्गत है। सामान्यतः कुरूप की ऐन्द्रिक सम्वेदना भी अप्रिय होती है। अतः वह सौन्दर्य का विरोधी होता है। किन्तु उसमें सौन्दर्य का भाव समाहित होने पर वह सुन्दर बन जाता है। इसके विपरीत जो उपहासास्पद है वह सुन्दर नहीं बन सकता। फिर भी जिस प्रकार कुरूप हीगल के मत में सुन्दर की देहली तक आ जाता है उसी प्रकार हास्यास्पद भी सुन्दर की देहली तक आ जाता है। किन्तु दोनों में एक अन्तर है कि सुन्दर में समन्वित होने के लिए कुरूप के वस्तुगत गुणों में कोई परिवर्त्तन नहीं होता केवल उसके प्रति हमारे भाव में परिवर्त्तन होता है। सौन्दर्य वस्तुतः एक भाव ही है। किन्तु सौन्दर्य की स्थिति उत्पन्न होते ही उपहास का हास्य विलीन हो जाता है। व्यक्ति की दृष्टि से इसे भी हम चाहें तो द्रष्टा के भाव का परिवर्त्तन कह सकते हैं। यदि उपहासास्पद व्यक्ति की परिस्थितियाँ तथावत् रहते हुए हास्य के स्थान पर दया, सहानुभूति आदि के भाव उदित होते हैं तो स्पष्टतः यह भाव का परिवर्त्तन ही है। किन्तु क्या इस स्थिति के रहते हुए सौन्दर्य की भावना संभव है ? ठीक यही मालूम होता है कि यह संभव नहीं है। कारण यह है कि सौन्दर्य का स्वरूप सामंजस्य है। हास्यास्पद व्यक्ति की परिस्थितियों की विषमता ही नहीं वरन् उसके साथ द्रष्टा के सम्बंध की विषमता भी उपहास का कारण है। कैरिट का कथन है कि प्लेटो से लेकर बर्गसों तक यह विषमता और विरोध हास्यास्पद का आवश्यक आधार माना गया है, इसमें कोई अर्थ अवश्य है।[१५७] सहानुभूति का भाव तो नहीं किन्तु कलात्मक सहानुभूति का भाव इसमें कैरिट भी मानते हैं।[१५८] प्लेटो के अनुसार दुर्भावना की पीड़ा और श्रेष्ठता के सुख के मिश्रण से उपहासास्पद का निर्माण होता है।[१५९] ऐरिस्टौटिल ने पहिले तत्व को आवश्यक नहीं माना है उनके अनुसार जो दोष न दुखद होते हैं और न विनाशक वे ही हास्यास्पद की स्थिति बनाते हैं पिछले तत्व का समर्थन आगे चलकर कान्ट ने भी किया है। किसी भी खतरे की आशंका का तत्काल में न होना उपहास के लिए आवश्यक है।[१६०] कैरिट ने स्वीकार किया है कि विरोधहीनता और पृथकत्व का भाव उपहास की स्थितियों में सामान्यतः पाया जाता है। इसी आधार पर हौब्स का आकस्मिक गौरव का सिद्धान्त प्रचलित हुआ। दूसरे की विषम स्थिति दुर्बलता अथवा असमर्थता की हीनता की तुलना में हम अपने में अचानक कुछ श्रेष्ठता देखते हैं और यह आत्म-गौरव का भाव हास्य में फूट पड़ता है।[१६१] लौक ने विषमता को उपहास का

आवश्यक आधार माना है। यद्यपि सभी विषमतायें हास्यास्पद नहीं होती किन्तु प्रायः उपहास मनुष्यों की स्थिति में विषमता देखकर ही पैदा होता है। कान्ट ने हास्य का सम्बन्ध हमारी आशा से किया है। जब हमारी आशा शून्यता में विशीर्ण हो जाती है तो हास्य का उदय होता है।[१६२] कान्ट के विचार में एक सत्य है जो हास्य की सभी स्थितियों को नहीं किन्तु अनेक स्थितियों की व्याख्या करता है। खिलाड़ियों अथवा अन्य अध्यवसायियों की असफलता पर भी हम हँस पड़ते हैं। इस हास्य में उपहास भी है। किन्तु अनेक स्थितियों में किसी अध्यवसाय का प्रयत्न नहीं होता। उनमें हास्य मनुष्य की विषम परिस्थितियों से ही उत्पन्न होता है। हीगल ने इस सम्बन्ध में एक नया प्रस्ताव प्रस्तुत किया है। हीगल अभिव्यक्ति की उपयुक्तता को सौन्दर्य का लक्षण मानते हैं। अतः उनकी दृष्टि में अभिव्यक्ति की असफलता हास्य का लक्षण है।[१६३] इस दृष्टि से हास्य कला की विफलता भी है। हीगल का नया प्रस्ताव यह है कि हास्य का सच्चा रूप वही है जिसमें हास्यास्पद व्यक्ति स्वयं भी इस असफलता का अनुभव करता है। डौन क्विकज़ोट में यह भावना न होने के कारण वे उसे श्रेष्ठ हास्य नहीं मानते।[१६४] कांट के मत के समान हीगल के मत में भी सत्य का अंश है क्योंकि प्रायः हम जिन पर हँसते हैं वे स्वयं भी इस हास्य में भाग लेते हैं। किन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि ऐसी स्थिति में दोनों के हास्य का रूप समान नहीं होता। द्रष्टा का हास्य आत्मगौरव से युक्त और भावात्मक होता है। इसके विपरीत हास्यास्पद व्यक्ति का हास्य निषेधात्मक तथा अपनी हीनता और विषमता के आवरण का यंत्र होता है। संस्कृत नाटक के विदूषकों का हास्य ऐसा ही है। समाज में भी हम इस हास्य का रूप प्रायः देखते हैं।

बर्गसों ने सहानुभूति के अभाव को उपहास का आवश्यक अंग माना है।[१६५] कैरिट के अनुसार हास्य की विरोधी सहानुभूति नहीं वरन् श्रद्धा है।[१६६] कलात्मक सहानुभूति के अतिरिक्त अन्य सहानुभूतियों को वे हास्य के साथ संगत मानते हैं। मन्द उपहास में प्रायः यह सत्य होता है। बर्गसों के अनुसार जीवन का अभाव हास्य का आधार है। जीवन का लक्षण स्वतन्त्रता है। इसके विपरीत जब हम किसी मनुष्य को यन्त्र की भाँति व्यवहार करते हुऐ देखते हैं तो हमें हँसी आती है। इस दृष्टि से विषमता के समान विवशता की स्थिति हास्य का कारण है। समाचार पत्रों के कार्टूनों में अनेक बार यह विवशता ही हास्य का कारण

रहती है। किन्तु यह एक सीमा तक ही सत्य है। जब यह विवशता सहानुभूति का कारण बन जाती है तो हास्य का अन्त हो जाता है। यह परिणाम बर्गसों के मत के अनुकूल है। हौब्स और बैन ने भी अन्य किसी भावना के जागरण को हास्य के प्रतिकूल माना है।[१६७] संभवत: उपहास अन्य तीव्र भावनाओं के साथ असंगत है। किन्तु मृदुल सहानुभूति और हास्य की संगति संभव हो सकती है जैसा कि कैरिट मानते हैं। फिर भी बर्गसों के मत में इतना सत्य अवश्य है कि सहानुभूति हास्य की तीव्रता को मन्द करती है। तीव्र उपहास में सहानुभूति नहीं होती। मनुष्य की स्थिति की विषमता और विवशता के प्रति जिनकी जितनी कम सहानुभूति होती है उनका उपहास उतना ही तीव्र होता है। गिरने वाले व्यक्ति के साथ सहानुभूति न होने के कारण ही हम उसकी विवशता और विषमता पर हँसते हैं। सहानुभूति का उदय होते ही हास्य का अन्त हो जाता है। आधुनिक विचारकों में ग्रूस, हौब्स के आकस्मिक आत्मगौरव के पक्षपाती हैं।[१६८] कोहन विषमता को मुख्य मानते हैं।[१६६] फाल्कैल्ट हास्य को दूसरे की हीनता और अपने महत्व का संगम मानते हैं।[१७०] दूसरे की इस हीनता से उत्पन्न हास्य उसके पूर्वगौरव की तुलना में अधिक होता है। जो अपने को बड़ा समझते हैं उनकी हीनता पर हम अधिक हँसते हैं। लिस्टोवैल का मत है कि विचार की गम्भीरता और भावना की तीव्रता से मुक्त होना हास्य के लिए आवश्यक है।[१७१] क्रोचे ने हास्य को अनिर्वचनीय माना है।[१७२] किन्तु उनके अनुयायी कौलिंगवुड ने सौन्दर्य की अनुभूति का दक्षिण ध्रुव बताया है। सौन्दर्य का उत्तर ध्रुव उदात्त है। अपने से भिन्न मानकर किसी बाह्य सत्ता की महत्ता में हम उदात्त का अनुभव करते हैं। जब हम इस उदात्त को अपनी चेतना की ही सृष्टि के रूप में देखते हैं तो हमें उदात्त की भ्रान्ति पर हँसी आती है। हास्य इस भ्रांति के विलय की प्रतिक्रिया है। 'सौन्दर्य' उदात्त और हास्य दोनों का समन्वय है। कौलिंगवुड के मत में विचारणीय प्रश्न यह है कि उदात्त की प्रतिक्रिया में होने वाले हास्य में हम किसी दूसरे मनुष्य के ऊपर नहीं हँसते। हमें उदात्त की महत्ता और उसके भय के विलय पर हँसी आती है। कैरिट के मत में प्राकृतिक वस्तुएँ नहीं वरन् मनुष्य ही हास्यास्पद होते हैं। किसी गहरी प्रतीत होने वाली नदी को डरते-डरते पार करते हुए जब हम छिछली पाते हैं तो अचानक हँसी फूट पड़ती है। **प्रश्न केवल यही है कि क्या एकान्त में यह सम्भव है?** सौन्दर्य को व्यक्तिगत अनुभूति मानते हुए भी कैरिट ने हास्य को सामाजिक माना है।

हम दूसरे मनुष्य की विवशता और विषमता पर भी प्राय: अकेले नहीं हँसते इसीलिए हास-उपहास प्राय: तब ही संभव होता है जब उसमें कई व्यक्ति भाग ले सकें।

यहाँ हास्य में समात्मभाव का सूत्र स्पष्ट हो जाता है। समात्मभाव ही नहीं उसके आधार में स्फुटित होने वाली आकृति की व्यंजना भी हास्य को कलात्मक सौन्दर्य के निकट ले आती है। किन्तु उपहास का यह समात्मभाव सीमित होता है। हास्यास्पद व्यक्ति उसका भागी नहीं बन पाता। ऐसा होने पर सौन्दर्य का उदय हो सकता है किन्तु उपहास अवश्य विलीन हो जायेगा। आकस्मिक आत्म-गौरव और दूसरे की हीनता उपहास के हास्य की सही व्याख्या हैं। उस व्यक्ति की विवशता और विषमता अथवा हमारी आशाओं की विफलता आदि इस हीनता के सहकारी हैं। यह स्पष्ट है कि इस हीनता के रहते हुए समात्मभाव संभव नहीं है। समात्मभाव का सामंजस्य समता के आधार में ही उदित होता है। इसीलिए उपहास के हास्य का सौन्दर्य हास्यास्पद व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य द्रष्टाओं के सीमित समात्मभाव में निहित है। यह उपहास कलात्मक सामंजस्य और सामाजिक शील दोनों की दृष्टि से भिन्न कोटि का है, यद्यपि यह सत्य है कि हास्य का यही रूप काव्य में अधिक मिलता है। तीव्र सहानुभूति की भावना तथा स्वभाव की गम्भी-रता के कारण भारतीय काव्य में हास्य के अवसर कम हैं। पश्चिमी संस्कृति में जहाँ हिंस्र पशुओं की संकटपूर्ण स्थिति में मनुष्यों की करुण विवशता भी मनोरंजन का साधन समझी जाती थी; दूसरे की अवमानना से युक्त उपहास बहुत है। इसीलिए वह पश्चिमी साहित्य में भी अधिक मिलता है। 'व्यंग' उपहास का तीव्र रूप है। उसमें एक डंक होता है। किन्तु दूसरे के अवमान की भावना, जो क्रूरता की सीमा तक हास्य का कारण है, दोनों में समान है। भारतीय चरित्र की मृदुल भावना के कारण उपहास और व्यंग हमारे साहित्य में अधिक नहीं पनप सका। हास्य का एक अधिक स्वस्थ और सम्पन्न तथा अधिक सामंजस्य पूर्ण होने के कारण अधिक सुन्दर रूप भी है। यह हास्य का वह रूप है जो सहानुभूति के साथ नहीं (क्यों कि सहानुभूति में दूसरे के प्रति हीनता की भावना अन्तर्निहित होती है) वरन् अन्य समात्मभाव पूर्ण भावनाओं के साथ संगत है। हास्य का यह रूप इन भावनाओं को समृद्ध बनाता है और इनसे स्वयं समृद्ध होता है। यह स्नेह, सद्भाव और समभाव के हर्ष, उल्लास और अह्लाद की अभिव्यक्ति है। सौन्दर्य के समान

समात्मभाव की व्यापकता और गम्भीरता इस श्रेष्ठ, स्वस्थ और संस्कृत हास्य का आधार है। शृंगार के संचारी के रूप में इस हास्य का आभास कहीं-कहीं भारतीय काव्य में मिलता है। 'उपहास' की तुलना में हम इसे 'परिहास' और 'व्यंग' के विरुद्ध हम इसे 'विनोद' कह सकते हैं। परिहास का उपसर्ग उसकी व्यापकता का सूचक है। परिहास और विनोद में गंभीरता भी संभव है। मनहूस और मुहर्रमी गम्भीरता से उसका विरोध अवश्य है किन्तु भाव की गम्भीरता उसके साथ संगत ही नहीं वरन् उसे सम्पन्न और समृद्ध बनाती है। प्रेमियों का मूक और मन्द हास्य भी भाव की दृष्टि से गंभीर होता है। एक मन्द स्मिति भी उल्लास के सागर की एक लहर हो सकती है। इस श्रेष्ठ हास्य में न दुर्भावना का आत्मगौरव और न दूसरे की अवमानना अपेक्षित है। वस्तुतः यह हास्य समात्मभाव के सौन्दर्य का ही आलोक है। इसीलिए देवताओं विशेषतः देवियों के सौन्दर्य की पूर्णता मन्द-गंभीर हास्य में पाई जाती है। यह हास्य सौन्दर्य के आनन्द सरोवर की आलोक-मयी वीचियों का विलास है। ब्रह्म के स्मित के समान यह विलास सृष्टि का विधायक भी है। इस प्रकार यह उपहास के निष्फल हास्य के विपरीत कलात्मक सौन्दर्य और संस्कृति के अधिक अनुरूप है।

साम्य और समात्मभाव से प्रेरित हास्य जीवन और संस्कृति की एक अनमोल विभूति है। मनुष्य के लिये यह हास्य ईश्वर का एक दिव्य वरदान है। पशु-पक्षी इस वरदान से वंचित हैं। मस्तिष्क और चेतना के विकास के साथ-साथ हास्य भी मनुष्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता है जो पशु पक्षियों से उसे भिन्न बनाती है। मनुष्य की विकसित चेतना का दिव्य वैभव ही मानों उसकी अन्तरात्मा में उल्लसित होकर अधरों के क्षितिजों से छलकता है। मनुष्य का यह हास्य जीवन के सौन्दर्य का मर्म है। हास्य का सौन्दर्य भी सौन्दर्य के अन्य रूपों की भाँति अभिव्यक्ति का सौन्दर्य है। अभिव्यक्ति के लिये अभिमुख अन्तरात्मा का उल्लास ही हास्य की ज्योत्सना में छलकता है। यह हास्य समात्मभाव की स्थिति में ही सम्भव होता है। एकान्तभाव में वह सम्भव नहीं होता। एकान्त में भी जब किसी के साथ कल्पना का साम्य उदित होता है तभी हास्य की रेखाएँ हमारे अधरों पर छलकती हैं। हास्य मनुष्य जीवन का इतना मौलिक और महत्वपूर्ण मर्म है कि एक ओर बालक के चलने और बोलने से भी पहिले वह हँसने लगता है। दूसरी ओर मनुष्य के जीवन और उसकी संस्कृति की परम कृतार्थता हास्य में ही होती है। शिव के अट्टहास का यही

रहस्य है। अट्टहास हास्य का विपुल, विराट और उन्मुक्त रूप है। हास्य का यही रूप मंगलमयी संस्कृति की चरम अभिव्यक्ति है। वर्तमान युग में इस सहज हास्य का ह्रास संस्कृति के ह्रास का सूचक है। सभ्यता के शिष्टाचार में बढ़ता हुआ कृत्रिम और भावहीन हास्य इस बात का द्योतक है कि वास्तविक रूप में नष्ट होती हुई हास्य की विभूति को बचाने का अन्तिम प्रयत्न मनुष्य कर रहा है। हास्य की ज्योत्सना आनन्दमय आत्मा का आलोक है। सभ्यता के विकास में सौन्दर्य के इस कलाधर को स्वार्थ और उपयोगिता के राहु का ग्रहण लग रहा है। इस आलोक के अस्त होने पर जीवन में अन्धकार का विषाद छा जायेगा।

सभ्यता और साहित्य में हास्य की स्थिति गम्भीरता पूर्वक विचार करने योग्य है। भारतीय साहित्य में हास्य बहुत कम मिलता है। इसकी तुलना में योरोपीय साहित्य में हास्य अधिक मिलता है। इसी प्रकार भारतीय सभ्यता के शिष्टाचार में भी विनोद और परिहास के अर्थ में हास्य बहुत कम दिखाई देता है। पश्चिमी समाज में विनोद और परिहास सभ्यता के शिष्टाचार का एक व्यापक और महत्वपूर्ण अंग है। इससे एक यह भ्रान्त निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारतीय समाज हास्य के मर्म को भलि भाँति न समझ सका तथा उसे जीवन और साहित्य में उचित रूप में न अपना सका। साहित्य और सभ्यता के शिष्टाचार के सम्बन्ध में जो बात ऊपर कही गई है वह सत्य है। किन्तु ऊपर का यह निष्कर्ष भ्रान्तिपूर्ण है। समात्मभाव का मर्म भारतीय संस्कृति में सबसे अधिक विपुल और गम्भीर रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। इसी समात्मभाव के आधार में जीवन का उल्लास भारतीय संस्कृति की जीवन्त परम्परा के पर्वों, उत्सवों, आदि में बिखरता हुआ दिखाई देता है। आत्मा का यह सहज उल्लास ही हास्य का मर्म है। हर्ष, प्रसन्नता आदि इसी उल्लास के सागर की वीचियाँ हैं। भारतीय सांस्कृतिक जीवन में विपुल उल्लास हर्ष और प्रसन्नता के रूप में हास्य का सन्निधान होने के कारण साहित्य तथा सभ्यता के शिष्टचार में उसे विशेष रूप में उपार्जित करने की आवश्यकता नहीं हुई। सांस्कृतिक पर्वों का उल्लास हास्य का सहज और भावात्मक रूप है। साहित्य और सभ्यता के शिष्टाचार में भी हास्य के इस सहज रूप को समाहित किया जा सकता है। किन्तु प्रायः यह कृत्रिम रूप में मिलता है। इस कृत्रिमता का कारण समात्मभाव से प्रेरित सहज उल्लास के अभाव की प्रतिक्रिया है। साहित्य और सभ्यता के शिष्टाचार का हास्य बहुत कुछ कृत्रिम ही है।

पश्चिमी समाज में सांस्कृतिक पर्वों के सहज उल्लास की ऐसी विपुल परम्परा न होने के कारण साहित्य और सभ्यता के शिष्टाचार में कृत्रिम हास्य का विकास हुआ। यह कृत्रिम हास्य सहज उल्लास के अभाव की पूर्ति का एक कृत्रिम उपाय है। सांस्कृतिक उत्सवों के सहज उल्लास से परितृप्त रहने के कारण भारतीय समाज ने साहित्य और सभ्यता के शिष्टाचार के कृत्रिम हास्य के सम्बर्द्धन का प्रयास नहीं किया। इसीलिये भारतीय साहित्य और शिष्टाचार में हास्य बहुत कम मिलता है। हास्य को नवरसों में मानकर भी संस्कृत और हिन्दी के कवि इसी कारण हास्य की अधिक सृष्टि नहीं कर सके। संस्कृत साहित्य में उपहास और व्यंग के रूप में कुछ हास्य मिलता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में व्यंग के रूप में हास्य का विकास अधिक हुआ है। हास्य का मर्म उसके माधुर्य में है, इसके विपरीत व्यंग में एक तीक्ष्णता और कटुता रहती है। साम्य और माधुर्य के हास्य के उदाहरण आधुनिक काव्य में 'पार्वती महाकाव्य' में लगभग प्रत्येक सर्ग में मिलते हैं।

अध्याय ५९

सौन्दर्य और वेदना

प्रायः सौन्दर्य को सुखमय सम्वेदना और आनन्दमय अनुभूति से युक्त माना जाता है। किन्तु कला और काव्य में जिन विषयों और उपादानों से यह सुख अथवा आनन्द उत्पन्न होता है, वे सदा सुख रूप नहीं होते। कला और काव्य के अनेक विषय तथा उपादान स्वरूप से दुःखमय हैं। **अतः यह प्रश्न उठता है कि कला और काव्य में इनके चित्रण क्यों सुन्दर और प्रिय मालूम होते हैं।** पं० इलाचन्द्र जोशी का मत है कि वेदना से मनुष्य की आत्मा का एक निगूढ़ अनुराग है इसीलिए विश्व के अधिकांश साहित्य में वेदना की ही प्रधानता है। विश्व के महान् कवियों और साहित्यकारों की कृतियाँ वेदना का एक व्यापक और गंभीर रूप देकर ही अमर हुई हैं। कृतियों के अतिरिक्त अनेक संवेदना शील कवियों की व्यक्तिगत धारणायें भी इसका समर्थन करती हैं। काव्य के इतिहास को यदि हम आरम्भ से ही लें तो क्रौंचवध की करुण घटना से उत्पन्न वाल्मीकि की वेदना रामायण में मूर्त्त हुई, जिसके सम्बन्ध में आनन्द वर्धन की मर्मस्पशी टिप्पणी है कि 'शोकः श्लोकत्वमागतः।' रामायण की प्रेरणा में ही नहीं, वाल्मीकि के अनुसार उसकी कथावस्तु में भी वेदना की प्रधानता है। दशरथ की मृत्यु, राम का निर्वासन, भरत का त्याग, चित्रकूट मिलन, सीता हरण, लंका विजय, सीता का द्वितीय बनवास आदि रामायण की प्रमुख घटनायें हैं जो करुणा और वेदना से ओत प्रोत हैं। राम के विवाह और अयोध्या-आगमन के अतिरिक्त कदाचित हर्ष की कोई प्रमुख घटना रामायण में नहीं। यदि जोशीजी का कथन सत्य है तो करुणा की इसी वेदना के कारण वाल्मीकि-रामायण और तुलसीदास का रामचरितमानस इतने लोक प्रिय हुए। वाल्मीकि के बाद के संस्कृत काव्य में यद्यपि शृंगार और अलंकार की प्रधानता है किन्तु उसमें भी करुणा और वेदना के अनेक मर्मस्पर्शी स्थल हैं। कालिदास के अज-विलाप, रति विलाप, सीता-निर्वासन, शकुन्तला-निर्वासन, मेघ संदेश के प्रसंग. मर्ममयी करुणा की वेदना के उत्तम उदाहरण हैं। 'नैषधीय चरित' में नल के निर्वासन, किरातार्जुनीय के पांडवों के निर्वासन और कादम्बरी में पुण्डरीक के मरण

के बाद महाश्वेता का शोक और उसकी साधना संस्कृत काव्य में करुणा की वेदना के अन्य उदाहरण हैं। सूर और तुलसी के काव्य में भी विरह और वेदना के स्थल ही अधिक मर्मस्पर्शी है। रीतिकाव्य और छायावादी काव्य में करुणा के प्रसंग कम हैं, फिर भी इनमें विरह की वेदना के वर्णन ही अधिक और अधिक मर्मस्पर्शी हैं। वंगीय कवि मधुसूदन दत्त के मेघनाथ वध में लंका के दुर्भाग्य की करुणा ही मूर्त्त हुई है। रवीन्द्रनाथ के राजसी जीवन में लौकिक और सामाजिक करुणा के लिए तो अधिक अवकाश नहीं है, फिर भी व्यक्तिगत और रहस्यात्मक रूप में उनके काव्य में वेदना की पर्याप्त अभिव्यक्ति है। 'मानस सुन्दरी' तथा अन्य कविताओं में पत्नी की असमय मृत्यु से प्रभावित उनकी व्यक्तिगत वेदना मूर्त्त हुई है। रहस्यात्मक वेदना उनके अधिकांश काव्य में मिलती है। योरुप के काव्य में भी वेदना की प्रधानता मिलती है। होमर के काव्य रामकथा के समान हैलिन के हरण, ट्रोय के दहन, पैनीलोप की कठिन परीक्षा, यूलिसिस के संकटों आदि की करुणा से परिपूर्ण हैं। दान्ते की 'डिवाइन कौमेडी' बीएट्रिस के विरह की करुणा की मर्मस्पर्शी प्रतिमा है। शेक्सपियर के नाटकों में उनके चार महान् दुःखान्त नाटक ही सर्वश्रेष्ट माने जाते हैं। अंग्रेजी के रोमांटिक काव्य में बायरन जैसे विलासी की रचनाओं में भी 'शीऔन का बन्दी' जैसे करुणामय काव्य मिलते हैं। वर्ड्सवर्थ के काव्य में प्राकृतिक जीवन की प्रशान्ति अधिक है फिर भी उसमें व्यक्ति-गत और सामाजिक जीवन की वेदना के अन्तःस्वर मिल जाते हैं। शैली और कीट्स के काव्य में प्रेम की करुणा एक व्यापक और मर्मस्पर्शी वेदना के रूप में व्यक्त हुई है।

इस प्रकार विश्व के अधिकांश काव्य में करुणा और वेदना की प्रचुर अभि-व्यक्ति मिलती है। इसके समर्थन में हमें कवियों के व्यक्तिगत मत भी मिलते हैं। वाल्मीकि ने वेदना का नाम लेकर अपना मत प्रकाशित नहीं किया किन्तु क्रौंच-मिथुन के एक साथी के द्वारा वधिक को दिया हुआ उनका शाप उनके शोक की ही अभि-व्यक्ति है और उस शोक का श्लोकबद्ध होना वेदना में काव्य के उद्गम को प्रमाणित करता है। छायावाद के प्रसिद्ध कवि पन्त के शब्दों में विरह की करुण वेदना से ही काव्य का उद्गम हुआ है। उनके मत में विरह के कराहते शब्द को निठुर विधि ने कुलिश की तीव्र और चुभती हुई नोकों से शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ पर अश्रुओं की उज्ज्वल मसि से लिखा है। इन्ही अश्रुओं की धारा में आँखों से

उमड़कर जीवन की कविता चुपचाप बह उठती है। इस वेदना में एक अद्भुत माधुर्य है जिससे प्रेरित होकर कवि उसे अभिव्यक्ति देता है। सम्भवतः इसी माधुर्य के कारण वेदना की कवितायें लोक की भी प्रिय बनती हैं। वेदना के इसी माधुर्य के कारण भवभूति करुण को ही एक मात्र रस मानते हैं। अँग्रेजी कवि शैली ने एक अद्भुत वचन में करुणतम भावों को व्यक्त करने वाले गीतों को मधुरतम बताकर वेदना की इस मधुरिमा का समर्थन किया है। महादेवी वर्मा ने 'दरद दिवाणी' मीरा के समान ही पीड़ा में अपने प्रिय को पाया है। विरह की वेदना में ही वे अपने को चिर मानती हैं। 'नीर भरी दुःख बदली' और 'सान्ध्य गगन' के गीतों में उनकी यह वेदना ही साकार हुई है। कवि निराला ने एक अपूर्व साहस और उदात्त सहिष्णुता के साथ अपने जीवन की उन विषम विडम्बनाओं को सहन किया है जिनके सामने उनके ही शब्दों में 'होष के भी होष भागे' और जिनका परिणाम अन्ततः उनके विक्षिप्त जीवन में हुआ है। अनन्त आशावादी होने के कारण उन्होंने वेदना के गीत अधिक नहीं गाये हैं किन्तु अपनी एक मात्र पुत्री सरोज की मृत्यु पर लिखित उर्दू के करुण कवि मीर की अपनी पुत्री की मृत्यु पर रचित प्रसिद्ध शेर के भाष्य के समान मर्मस्पर्शी कविता में उनकी अन्तर्वेदना का परिचय मिलता है। 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना वेदना की विदाई लेकर प्रसाद की भावना को संगीत के स्वरों में घोषित करती है।

इस प्रकार अधिकांश साहित्य और काव्य में वेदना की प्रधानता है और कवियों की व्यक्तिगत भावनायें तथा धारणायें उसकी महिमा और उसकी मधुरमा का समर्थन करती हैं। **प्रश्न यह है कि वेदना में ऐसा क्या माधुर्य है और दुःख की कथाओं में ऐसा क्या आकर्षण है जिसके कारण वेदना अधिकांश साहित्य की विभूति बनी और दुःख की कथाओं के आधार पर ही विश्व साहित्य की महान् कृतियाँ निर्मित हुई हैं।** भारतीय और पश्चिमी काव्य शास्त्र में इस प्रश्न के एक अंग पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। जीवन में दुःख और वेदना के महत्व तथा माधुर्य की ओर तो आचार्यों ने अधिक ध्यान नहीं दिया किन्तु काव्य में उसके सौन्दर्य और आकर्षण की उन्होंने पर्याप्त मीमांसा की है। हमें स्वीकार करना होगा कि प्रश्न के इस पक्ष का विवेचन पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र और काव्य शास्त्र में अधिक और अधिक उपयुक्त रूप में हुआ है। भारतीय काव्य और काव्य-शास्त्र में करुण रस तथा शृंगार में विरह का पर्याप्त महत्व है। भारतीय

ग्राचार्य करुण ग्रौर विरह में ही नहीं, रौद्र, वीभत्स ग्रौर भयानक रसों में भी ग्रानन्द मानते हैं। **उनके ग्रनुसार ग्रानन्द रस का सामान्य स्वरूप है।** करुण, रौद्र, वीर, वीभत्स ग्रादि में भी उसे घटाया जाता है। तादात्म्य के ग्राधार पर तो इन स्थितियों में दुःख की सम्वेदना होनी चाहिए ग्रतः साधारणीकरण के द्वारा सभी रसों में सामान्य रूप से ग्रानन्द का निर्वाह किया जाता है। तादात्म्य की स्थिति में दुःख को भी ग्रानन्दमय मानना होगा जो किसी रूप में समात्मभाव की स्थिति में सम्भव हो सकता है। किन्तु काव्य-शास्त्र में स्पष्ट रूप से इस मत का प्रतिपादन कहीं नहीं मिलता। एक दूसरा मत ग्रधिक स्पष्ट है कि काव्य में दुःख की ग्रभि-व्यंजना भी ग्रानन्द की संवाही बन जाती है। **यह स्पष्ट है कि यह ग्रानन्द विषय के ग्रनुरूप नहीं वरन् काव्य के रूप ग्रौर उसकी ग्रभिव्यक्ति के सौन्दर्य का ग्रानन्द है।** मैथिलीशरण गुप्त ने कला के एक चमत्कार का संकेत किया है कि वह भीषण को निर्जीव बनाकर सुन्दर ग्रौर ग्रानन्दप्रद बनाती है। तब क्या यह समझना चाहिए कि दुःख का वर्णन भी प्रभावहीन होने के कारण ही ग्रानन्दप्रद मालूम होता है? यह जीवन ग्रौर काव्य दोनों की ही वस्तु-स्थिति के साथ संगत नहीं है। समात्मभाव की स्थिति में दुःख भी ग्रानन्दमय बन जाता है। काव्य का सौन्दर्य केवल ग्रभिव्यक्ति का रूपात्मक सौन्दर्य ही नहीं है वरन् वह तत्व पर भी निर्भर है। ग्रभिव्यक्ति काव्य के सौन्दर्य का विशेषक ग्रवश्य है किन्तु काव्य का समस्त सौन्दर्य ग्रभिव्यक्ति के रूप में ही निहित नहीं है, वह उसके तत्व पर भी निर्भर है। ग्रानन्द-वर्द्धन ने ध्वनि की कल्पना में ग्रभिव्यक्ति के रूप के साथ-साथ रस के तत्व का समन्वय करके इस तथ्य का समन्वय किया है। केवल ग्रभिव्यक्ति का रूप ग्रानन्द के रस का समानार्थक नहीं हो सकता।

पश्चिमी काव्य-शास्त्र में कला ग्रौर काव्य के सौन्दर्य को ग्रधिकांश ग्राचार्य सुखमय मानते हैं। कला ग्रौर काव्य में दुःख के चित्रण से उत्पन्न होने वाली सुख-मय ग्रनुभूति की व्याख्या उन्होंने ग्रभिव्यक्ति के ग्राधार पर ही की है। फिर भी उनकी व्याख्या जीवन-तत्व के ग्राधार से सर्वथा उच्छिन्न नहीं है। काव्य में दुःख के वर्णन ग्रथवा नाटक में उसके दर्शन से प्राप्त होने वाले सुख की व्याख्या प्राचीन ग्रीक शास्त्र में तत्व के ग्राधार पर की गई है। ग्रीक काव्य-शास्त्र का यह सिद्धान्त विरेचनवाद कहलाता है। ऐरिस्टौटिल के मत में इस विरेचनवाद की मीमांसा ग्रधिक विस्तृत रूप में मिलती है किन्तु डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय के ग्रनुसार प्लेटो

के मत में भी इसका पूर्वाभास मिलता है।[१७३] डा० पाण्डेय के अनुसार प्लेटो का मत इस प्रकार है--दु:ख और दुर्भाग्य में हम अश्रु और विलाप के रूप में अपने दु:ख को व्यक्त करके उसे हलका करने की अभिलाषा करते हैं, किन्तु हमारा विवेक इस दुर्बलता के प्रदर्शन पर प्रतिबंध का काम करता है। दु:खमय नाटक को देख कर हम सहानुभूति के रूप में अपने आन्तरिक दु:ख को भी व्यक्त कर लेते हैं। प्लेटो के अनुसार दु:खमय नाटक में अपने दु:ख की अनवरोध और अलज्जित अभिव्यक्ति के द्वारा हमारा दु:ख हलका होता है और यही ट्रेजडी के आनन्द का रहस्य है। डा० पाण्डेय के अनुसार प्लेटो का यह मत ऐरिस्टौटिल के प्रसिद्ध विरेचनवाद की पूर्व पीठिका है। ऐरिस्टौटिल के अनुसार ट्रेजडी तीव्र भावनाओं को उत्तेजित कर उनकी अभिव्यक्ति का साधन बनती है। अभिव्यक्ति में दबी हुई भावनाओं अथवा भावनाओं के अतिरेक का विरेचन हो जाता है। इस विरेचन से हमारी भावना अवांच्छित तत्वों से मुक्त हो जाती है और व्यक्तित्व में एक संतुलन प्राप्त होता है। डा० पाण्डेय ऐरिस्टौटिल को कला के इस रहस्य के प्रथम उद्घाटन का श्रेय देते हैं और ऐरिस्टौटिल के मत को प्लौटीनस के निर्वैयक्तीकरण के सिद्धान्त की भूमिका मानते हैं।[१७४]

ऐरिस्टौटिल की ट्रेजडी की प्रसिद्ध परिभाषा इस प्रकार है--ट्रेजडी एक उत्कृष्ट, पूर्ण और महान् क्रिया का अनुकरण है, जो आकर्षक भाषा में वर्णन के द्वारा नहीं वरन् अभिनय के द्वारा व्यक्त किया जाता है तथा जो करुणा और भय उत्पन्न करके भावनाओं का विरेचन करता है। एरिस्टौटिल के अनुसार करुणा और भय के प्रबल जागरण से ट्रेजडी के दर्शन में इन भावनाओं के अतिरेक का विरेचन हो जाता है और दर्शक को सन्तुलन प्राप्त हो जाता है। यह सन्तुलन ही एरिस्टौटिल के अनुसार जीवन का माध्यमिक सत्य है। एरिस्टौटिल के अनुसार यह विरेचन मन, भावना और व्यक्तित्व की सीमा के अन्तर्गत है। प्लौटिनस के अनुसार इसका संबन्ध भावना से नहीं वरन् आत्मा से है। विरेचन के द्वारा आत्मा देह के संबन्ध से मुक्त होकर अपने अध्यात्म लोक में शान्ति की स्थिति प्राप्त करती है।[१७५] आत्मा मन की भाँति व्यक्तिगत नहीं है। वह एक और अनन्त है। वह शान्ति स्वरूप है। ट्रेजडी के द्वारा हमें व्यक्तित्व का सन्तुलन नहीं वरन् एक निर्वैयक्तिक स्थिति की शान्ति प्राप्त होती है। देकार्त के अनुसार ट्रेजडी का आनन्द बौद्धिक है। दु:खी नायक के साथ करुणा और सहानुभूति की भावना में हम अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं और

इससे हमें शान्ति मिलती है।[१७६] बर्क के अनुसार ट्रेजडी का दुःख हमें स्पर्श न करने के कारण सुखदायक होता है।[१७७] ट्रेजडी के अभिनय में कुछ अवास्तविकता भी होती है। अतः यह वास्तविक घटना के समान हमें प्रभावित नहीं करती। हीगल के अनुसार भी ट्रेजडी के द्वारा निर्वैयक्तिकरण ही होता है।[१७८] यही उसके आनन्द का रहस्य है। यह निर्वैयक्तिकरण का सिद्धान्त भारतीय काव्य शास्त्र के साधारणीकरण के समान है।[१७९] **मनोविरेचन, अभिनय और निर्वैयक्तिकरण तीनों ही सिद्धान्तों में कुछ सत्य का अंश है, किन्तु इनमें कोई भी काव्य में वेदना के वर्णन और दुःखान्त नाटक से प्राप्त होने वाले सुख की सम्पूर्ण व्याख्या नहीं करते।** विरेचन का सिद्धान्त उन्हीं स्थितियों में लागू होता है जिनमें मनुष्य के मन में दुखों के अनुभव का भार होता है। किन्तु दुःखान्त नाटक में करुणा और भय का अनुभव वे ही लोग नहीं करते जिनके मन में स्वयं दुःख का भार रहता है। जिनके मन में दुःख का ऐसा कोई भाव नहीं है, उनके साथ यह मनोविरेचन की व्याख्या इतनी संगत नहीं है। दुःखों के अनेक प्रकार और धरातल हैं। यह आवश्यक नहीं है कि जिस रूप और स्थिति में दुःखों का अभिनय नाटक में किया जाता है, उसी रूप में दुःख का अनुभव सभी दर्शकों ने किया है। **विरेचन के सिद्धान्त की सीमा यह है कि वह दुःख को पूर्णतः व्यक्तिगत मानकर दुःखान्त नाटक में उसकी अभिव्यक्ति के अवसर को नाटक का पूर्ण उपयोग मानता है।** देकार्त ने जीवन के एक महान् सत्य का उद्घाटन किया है जब कि उन्होंने यह कहा है कि ट्रेजडी के अवलोकन में हम करुणा और सहानुभूति के द्वारा दूसरों के प्रति अपने कर्त्तव्य पालन का संतोष प्राप्त करते हैं। यह कर्त्तव्य केवल बौद्धिक नहीं है वरन् नैतिक और भावनामय है। इस प्रकार ट्रेजडी का नैतिक महत्व (जो एरिस्टौटिल को अभिष्ठ था) वह व्यक्तिगत विरेचन में ही समाप्त नहीं है। सामाजिक सहानुभूति में भी उसका बहुत कुछ महत्व है। हम अपने ही दुःख का भार हल्का नहीं करना चाहते, दूसरों के दुःख में भी भाग लेते हैं। दूसरों के दुःख में भाग लेने से हमारी आत्मा का विस्तार होता है। इसी विस्तार में आनन्द का उदय होता है।

इस आत्म विस्तार के साथ-साथ दुःखान्त नाटकों के द्वारा हमारी आत्मा का उन्नयन भी होता है। ग्रीक ट्रेजडी में तो नियति के विधान से ट्रेजडी के नायक का सर्वनाश होता है अतः उसमें भय और करुणा की भावना ही अधिक होती है। शेक्सपीयर के नाटकों पर भी ग्रीक ट्रेजडी के इस नियतिवाद का बहुत कुछ

प्रभाव है। किन्तु यही ट्रेजडी का सार्वभौम रूप नही है। जहाँ एक ओर ट्रेजडी का नायक नियति की विवशता से बाध्य होता है वहीं दूसरी ओर उसके धीर और उदात्त चरित्र के अध्यवसाय हमारी आत्मा को बल देते हैं। जे० कोहन के अनुसार एक ऐसे मूल्यवान व्यक्तित्व की पीड़ा ट्रेजड़ी का मर्म है जो समस्त दुर्भाग्यों में अपनी महत्ता को बनाये रखता है।[१८०] कालिदास के अनुसार धीर और उदात्त चरित्र का यही लक्षण है।[१८१] कूल्पे ने भी किसी महत्वपूर्ण वस्तु अथवा व्यक्ति के नाश को ट्रेजडी का मर्म माना है। किन्तु जिस मूल्य का प्रतिनिधित्व वह वस्तु अथवा व्यक्ति करता है उसकी विजय होती है।[१८२] फौल्केल्ट ने ट्रेजडी के तीन मुख्य तत्वों का विश्लेषण इस प्रकार किया है—एक, अत्यन्त घोर यातना जिसके पात्र का अन्त में नाश होता है; दूसरा, नायक की वास्तविक मानवीय महत्ता या वीरता; तीसरे एक कठोर नियति जो व्यक्तिगत न रहकर जीवन का सिद्धान्त बन जाती है।[१८३] नायक के चरित्र की महत्ता से हमारी आत्मा का उन्नयन होता है। हमें उसकी धीरता से बल मिलता है और उसके महान् दुःख के सामने अपने साधारण दुःख तुच्छ मालूम होते हैं। इस प्रकार व्यक्तिगत मनोविरेचन के साथ-साथ ट्रेजडी, सामाजिक सहानुभूति और हमारे उन्नयन का साधन भी है। एरिस्टौटिल के अनुसार ट्रेजडी का एक आवश्यक तत्व नायक की भूल भी है। किन्तु जैसा कि लिस्टोवेल का मत है नायक का पतन और नाश पूर्णत: इस भूल के अनुरूप नहीं होता। शेक्सपीयर के दुःखान्त नाटकों में इस विषमता का प्रमाण मिलता है। डौस्डिमोना के हाथ से रूमाल का गिर जाना एक इतनी बड़ी भूल नहीं है जिसके कारण कि उसका सर्वनाश उचित माना जाय। नायक की भूल की तुलना में उसकी दुःखद नियति अत्यन्त भयंकर होती है। इसीलिए हमें नायक के साथ सहानुभूति होती है। ग्रीक नाटक एडीपस में भी नायक की भूल बहुत साधारण है। वह अपनी इस भूल से अवगत भी नहीं है। नायक के साथ सहानुभूति में हम देकार्त के अनुसार अपने सामाजिक कर्त्तव्य का पालन तो करते ही हैं साथ ही जैसा कि लिस्टोवेल का मत है हम अपना उन्नयन भी करते हैं।[१८४]

वस्तुतः दुःखान्त नाटक से प्राप्त होने वाले सुख की व्याख्या अत्यन्त कठिन है। लिस्टोवेल ने इस कठिनाई को स्वीकार करते हुए यह माना है कि नाटक के दर्शन से सुख और दुःख की एक निश्चित भावना पैदा होती है जिसमें सुख का प्राधान्य रहता है।[१८५] वर्क की धारणा में भी कुछ सत्य है कि नाटक में दुःख का

अभिनय हमें दुःख की वास्तविक घटना के समान प्रभावित नहीं करता। नाटक के दुःख की यह अवास्तविकता भी हमारे सुख का कारण हो सकती है। किन्तु एक प्रकार से हम वास्तविक घटनाओं में भी दूसरों के दुःख से अस्पृष्ट रहते हैं। दूसरों के दुःख में हमें आनन्द मिलता है या नहीं, किन्तु यह सत्य है कि दुःख की घटनाओं को देखने की भी उत्सुकता हमें रहती है। यह उत्सुकता कोरी जिज्ञासा नहीं है इसमें भावना की प्रेरणा भी रहती है। यदि दुःख को व्यक्तिगत ही मानें तो घटना और नाटक दोनों में ही दूसरों का दुःख हमें स्पर्श नहीं करता। किन्तु ऐसी कठोर व्यक्तिमत्ता जीवन का सम्पूर्ण सत्य नहीं है। हमें दूसरों के दुःख में सहानुभूति भी होती है। संवेदना के विना काव्य में दुःख का वर्णन संभव नहीं है। **व्यक्तिगत रूप से हमें जो नाटक के दुःख में सुख मिलता है वह तो विरेचन और तटस्थता के रूप में ही होता है। किन्तु वस्तुतः यह सुख का निषेधात्मक रूप है। दुःख में सुख का एक भावात्मक रूप भी है जो हमें समात्मभाव में प्राप्त होता है। समात्मभाव में जीवन का वास्तविक दुःख भी सुखमय बन जाता है।** एकाकी के नाटक दर्शन में तो निषेधात्मक सुख ही संभव है किन्तु प्रायः लोग नाटक संग में ही देखते हैं और उसमें सुख का भावात्मक रूप समात्मभाव पर निर्भर होता है। **समात्मभाव ही जीवन में आनन्द का स्रोत है जो सुख को समृद्ध और दुःख को भी सुख में परिणत करता है।** यह समात्मभाव दर्शकों के अन्तर्गत ही नहीं, वरन् दर्शकों का दुःख-मय नाटक और दुःखमय घटना के पात्रों के साथ भी हो सकता है। वस्तुतः इस समात्मभाव में ही दुःखमय नाटक के द्वारा हमारी आत्मा का विस्तार और उन्नयन होता है। **दुःख के आनन्द का रहस्य भी आनन्द के अन्य रूपों की भाँति इसी समात्मभाव में है। यह समात्मभाव ही दुःख की वास्तविक घटनाओं को भी करुणा के मधुर मर्म से अन्वित करता है तथा दुःख की अनुभूति और उसके अभिनय को कलात्मक सौन्दर्य से अंचित करता है।**

सौन्दर्य के साथ वेदना के विवेचन के प्रसंग में यह समझना आवश्यक है कि 'वेदना का सौन्दर्य' मनुष्य के जीवन और उसकी कला तक ही सीमित है। व्यापक रूप में 'सौन्दर्य' का विस्तार हमें प्रकृति के क्षेत्र में भी मिलता है। प्रकृति के उप-करण भी हमें अपने आप में सुन्दर जान पड़ते हैं। हमें पुष्पों, बादलों आदि में सौन्दर्य दिखाई देता है। किन्तु प्रकृति के इस सौन्दर्य में वेदना का कोई सम्पर्क

नहीं है। सजीव होते हुए भी प्रकृति चेतन नहीं है। **वेदना चेतना का धर्म है। प्रकृति में इसकी कोई सम्भावना नहीं है।** प्रकृति के क्षेत्र में जो घटनाएँ होती हैं वे सहज और अनिवार्य होती हैं। प्राकृतिक नियमों का शासन इन्हें नियंत्रण करता है। इन घटनाओं के पीछे न कोई सचेतन प्रेरणा होती है और न किसी सचेतन अनुभूति में इनकी प्रतिक्रिया होती है। प्रकृति के साथ वेदना अथवा अन्य भावों का सम्बन्ध मनुष्य की कल्पना अथवा उसका आरोपण है। कवि अपनी कल्पना के द्वारा उषा और चाँदनी में प्रकृति की मुस्कान देखते हैं। ओस-बिन्दुओं में उन्हें करुणा के अश्रुओं का आभास होता है। किन्तु यह हर्ष और करुणा प्रकृति की वास्तविक अनुभूतियाँ नहीं हैं वरन् मनुष्य के भावों की छायाएँ हैं जिनमें मानवीय आकृतियाँ मनुष्य को अपनी कल्पना से दिखाई देती हैं। प्रकृति में वेदना का सम्पर्क न होने के कारण वेदना के सौन्दर्य को मानव जीवन तक ही सीमित रखना होगा और उसे विश्व के व्यापक सौन्दर्य का एक अंश मानना होगा। मनुष्य के जीवन और उसकी कला में वेदना का बहुत स्थान है। महात्माबुद्ध तथा अन्य अनेक दार्शनिकों को सम्पूर्ण जीवन ही दुःखमय दिखाई देता है। यदि ऐसा न भी हो तो भी जीवन में सुख के साथ-साथ दुःख भी बहुत है। वेदना उस दुःख की भी गम्भीर और मार्मिक अनुभूति है।

जिस प्रकार वेदना के आधार पर हमने सौन्दर्य के क्षेत्र का विभाजन किया है और उस विभाजन के प्राकृतिक सौन्दर्य के क्षेत्र को वेदना-शून्य मानकर अलग किया है। उसी प्रकार हमें वेदना के क्षेत्र को भी दो भागों में विभाजित करना होगा। वेदना मनुष्य के सारे जीवन में व्याप्त है। किन्तु वह सभी रूपों में सुन्दर नहीं है। साक्षात् जीवन में जो वेदना की अनुभूति होती है उसमें कोई सौन्दर्य नहीं होता। उस वेदना में सौन्दर्य का संयोग तभी होता है जब कि वह कलात्मक अभिव्यक्ति का उपादान बनती है। सौन्दर्य को हमने रूप का अतिशय माना है। प्रकृति, जीवन और कला में वह सौन्दर्य रूप के अतिशय के रूप में ही मिलता है। तत्व में कोई सौन्दर्य नहीं होता, यद्यपि वह सौन्दर्य का उपादान बन सकता है। तत्व में भी जो रूपगत लक्षण होते हैं, वे ही सौन्दर्य के सहकारी बनते हैं। अपने आप में तत्व में कोई सौन्दर्य नहीं होता। अनुभूति जीवन का आन्तरिक तत्व है। उसमें सुख दुःख, आनन्द, विषाद, आदि हो सकते हैं। किन्तु उनके अपने स्वरूप में सौन्दर्य का कोई प्रसंग नहीं होता। अभिव्यक्ति के 'रूप' में ही सौन्दर्य उदित होता है। यह अभि-

व्यक्ति जीवन और कला दोनों में सम्भव हो सकती है। जीवन में प्राप्त होने वाली अभिव्यक्ति के सौन्दर्य को प्रायः कम ध्यान दिया जाता है। किन्तु कलात्मक अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से सभी परिचित हैं। सुखद अनुभवों में ग्रहण का अनुरोध अधिक रहता है। प्रिय और स्पृहणीय होने के कारण हमारी सुख के परिग्रह में अधिक रुचि रहती है। सुख के अल्प स्थायी होने के कारण हम उसे आवृति के द्वारा स्थिर बनाना चाहते हैं। सुख को समृद्ध बनाने के लिये हम उसकी अभिव्यक्ति भी करते हैं। अभिव्यक्ति से हमारा सुख बढ़ता है। **किन्तु प्रायः हम सुख की केवल अनुभूति से भी तृप्त रहते हैं। किन्तु इसके विपरीत दुःख अथवा वेदना की अनुभूति प्रिय और स्पृहणीय नहीं होती। हम उसका निवारण करना चाहते हैं। सुख की अभिव्यक्ति आवश्यक नहीं होती क्योंकि वह अनुभूति में ही तृप्तिकर होता है। किन्तु दुःख और वेदना के हमारे प्रतिकूल होने के कारण इनकी अभिव्यक्ति आवश्यक होगी। इसीलिये लोग अपने सुख की चर्चा इतनी नहीं करते जितना कि अपना** दुःख रोते हैं। 'दुःख में सब सुमरिन करें, सुख में करें न कोय' के अनुसार दुःख ईश्वर को स्मरण करने का उद्देश्य भी उसके प्रति अपने दुःख को अभिव्यक्त करना है। जीवन में सुख और दुःख दोनों की अभिव्यक्ति में सौन्दर्य सम्भव हो सकता है किन्तु जीवन में इनकी अभिव्यक्ति में तत्व की ही प्रधानता होती है। इसीलिये उसमें अभिव्यक्ति का सौन्दर्य प्रमुख नहीं बन पाता। **जीवन और कला में यही अन्तर है। जीवन में तत्व और अनुभूति की प्रधानता होती है। कला में अभिव्यक्ति के सौन्दर्य की प्रधानता होती है। दोनों का साम्य होने पर जीवन कला बन जाता है और कला जीवन्त बन जाती है। भारतीय पर्वों और संस्कारों की परम्परा में जीवन और कला के साम्य का एक अनुपम उदाहरण मिलता है।**

जीवन और कला दोनों में अभिव्यक्ति का आधार समात्मभाव है। समात्मभाव की प्रेरणा से तथा समात्मभाव की अभिवृद्धि के लिये ही मनुष्य को अभिव्यक्ति की आकांक्षा होती है। इस अभिव्यक्ति में सौन्दर्य प्रकट होता है और साथ ही आनन्द की अभिवृद्धि होती है। सौन्दर्य और आनन्द का यह संयोग शक्ति और शिव के साम्य के अनुरूप होता है। दोनों एक दूसरे का सम्भावन करते हैं। अभिव्यक्ति के इस समात्मभाव में आनन्द की अभिवृद्धि होती है, क्योंकि आनन्द मूलतः आत्मा का भाव है। सुख आनन्द का प्राकृतिक रूप है। आनन्द के समान ही स्पृहणीय होने के कारण वह आनन्द के अनुकूल है। अतः अभिव्यक्ति के

समात्मभाव में आनन्द की अभिवृद्धि के साथ-साथ सुख की भी समृद्धि होती है। यह सम्भव हो सकता है कि आत्मिक आनन्द के अतिरेक में प्राकृतिक भाव के मन्द हो जाने के कारण हमें प्राकृतिक सुख का ध्यान न रहे। दुःख अथवा वेदना की अभिव्यक्ति भी समात्मभाव के कारण आनन्दमय होती है। **किन्तु जहाँ अभिव्यक्ति के द्वारा सुख की वृद्धि होती है वहाँ अभिव्यक्ति के द्वारा दुःख और वेदना कम होते हैं।** इसका कारण अभिव्यक्ति के आनन्द के साथ सुख की अनुकूलता तथा दुःख की प्रतिकूलता है। समात्मभाव के आनन्द में दुःख और वेदना का संताप कम हो जाता है। इसीलिये दुःख और वेदना हमें अभिव्यक्ति के लिए विकल कर देते हैं। हम अभिव्यक्ति के द्वारा इनका निवारण खोजते हैं। सुख अपने आप में तृप्तिकर है अतः उसकी अभिव्यक्ति के लिये हम अधिक आकुल नहीं होते। दुःख अप्रिय और असह्य होता है अतः उसकी अभिव्यक्ति के लिये सभी आकुल होते हैं। इसी कारण जीवन में दुःख की अभिव्यक्ति का प्रयत्न सुख की अभिव्यक्ति की अपेक्षा अधिक दिखाई देता है। यह भी सम्भव हो सकता है कि कदाचित अपने सम्पूर्ण जीवन के दुःख को अभिव्यक्ति के समात्मभाव के द्वारा कम करने के लिये ही हम सुख की अभिव्यक्ति की ओर अग्रसर होते हैं। दुःख की अप्रियता और असह्यता के कारण दुःख और वेदना की अभिव्यक्ति की आकांक्षा अधिक तीव्र और व्यापक होती है। जीवन में दुःख की अभिव्यक्ति में कदाचित अधिक सौन्दर्य नहीं होता, किन्तु दुःख की कलात्मक अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से कला और साहित्य का भांडार भरा हुआ है। वेदना के गीत सबसे अधिक मधुर ही नहीं सबसे अधिक सुन्दर भी हैं। साहित्य में उनका परिमाण भी विपुल है। जीवन में दुःख के निवारण के लिये हम आनन्दमय अनुभूति के 'तत्व' की अधिक आकांक्षा करते हैं। अतः अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का अधिक महत्व नहीं रहता। फिर भी दुःख की अभिव्यक्ति रूप के सौन्दर्य से नहीं होती। कला और साहित्य में दुःख की अभिव्यक्ति में अधिक सौन्दर्य प्रकट होता है। सौन्दर्य ही कला का सौन्दर्य है। अनुभूति के तत्व की प्रधानता के कारण ही वेदना से पीड़ित सभी मनुष्य कलाकार नहीं बन पाते यद्यपि सभी जीवन में उसकी अभिव्यक्ति चाहते हैं और इस अभिव्यक्ति के समात्मभाव के द्वारा अपनी वेदना को कम करना चाहते हैं। जो वेदना की अनुभूति में अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का पर्याप्त समवाय कर पाते हैं वे कलाकार बन जाते हैं। दुःख और वेदना की कलात्मक अभिव्यक्ति में अभिव्यक्ति की

आकांक्षा अधिक तीव्र होती है, अतः उसमें अधिक सौन्दर्य की सम्भावना रहती है। किन्तु जीवन और कला दोनों के क्षेत्र में वेदना की विपुल अभिव्यक्ति का मर्म यही है कि सुख की अपेक्षा दुःख और वेदना अप्रिय एवं असह्य होने के कारण अपने निवारण के लिए अभिव्यक्ति के समात्मभाव की तीव्र आकांक्षा उत्पन्न करते हैं। साहित्य और कला में वेदना की विपुल विभूति का यही रहस्य है।

अध्याय ६०

सौन्दर्य और उपयोगिता

सौन्दर्य को एक अंतिम और मौलिक साँस्कृतिक मूल्य माना जाता है। सत्य के समान उसका भी मूल्य और महत्व अपने स्वरूप में ही है। वह स्वयं अपना साध्य है, किसी अन्य साध्य का साधन नहीं। वह अपने आप में स्पृहणीय है। उपयोगितावादी यहाँ यह प्रश्न कर सकते हैं; कि सौन्दर्य का जीवन में उपयोग क्या है? उपयोगितावाद भी एक प्रकार का लक्ष्यवाद (प्रयोजनवाद) है। कोई भी प्रयोजनमुखी दृष्टिकोण अन्ततः किसी अंतिम लक्ष्य को अंतिम मानता है। लक्ष्यवाद के तर्क का यह एक सहज और अन्तर्निहित सिद्धान्त है। अतः सौन्दर्य को अन्तिम साध्य मानना लक्ष्यवाद के प्रतिकूल नहीं है। लक्ष्यवादों में ही परस्पर अन्तिम लक्ष्य के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है। जो सौन्दर्य की उपयोगिता के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं, वे जीवन के किसी अन्य लक्ष्य को मुख्य मानकर यह जानना चाहते हैं कि उस लक्ष्य की साधना में सौन्दर्य का उपयोग क्या है? जो सौन्दर्य को अपने स्वरूप में ही मूल्यवान तथा स्वतंत्र और पूर्ण मानते हैं, वे सौन्दर्य के मूल्य-निर्धारण में किसी भी अन्य लक्ष्य का प्रसंग असंगत मानते हैं। ये दोनों ही परस्पर विरोधी दृष्टिकोण हैं। इन दो विरोधों की सीमाओं के अन्तर्गत दो माध्यमिक दृष्टिकोण हैं, जिनमें एक सौन्दर्य के अंतिम और स्वतंत्र मूल्य को मानते हुए भी यह मानता है कि सौन्दर्य जीवन से अतीत नहीं है। वह जीवन के रूपों में व्याप्त है और जीवन की अन्य साधनाओं को श्रेष्ठ, सुन्दर और समृद्ध बनाता है। दूसरा माध्यमिक मत जीवन के एक अधिक व्यापक लक्ष्य को मानता है जिसमें सत्य, श्रेय और सौन्दर्य तीनों का समाहार है। यह सत्य की एक व्यापक धारणा है, जो शिवम् को समाहृत करके सुन्दरम् में पूर्ण होती है। किन्तु सौन्दर्य में सत्य की यह परिणति सत्य और सौन्दर्य के विविक्त दृष्टिकोणों के साथ एक रूप नहीं है। इसके अनुसार सत्य और सौन्दर्य को अपने स्वतंत्र और विविक्त रूप में पूर्ण नहीं माना जा सकता। यह जीवन के मंगल की एक ऐसी समृद्ध कल्पना है, जो एक ओर वस्तुगत यथार्थ और चिन्मय भावों के सत्य से सम्पन्न है तथा दूसरी ओर सौन्दर्य के विविध रूपों में साकार होती है।

सौन्दर्य-शास्त्र के इतिहास में पहले दो दृष्टिकोण ही ग्रधिक प्रचलित रहे हैं। इनमें भी सबसे ग्रधिक प्रसिद्ध दूसरा ही दृष्टिकोण है, जो सौन्दर्य को स्वतंत्र ग्रौर ग्रपने ग्राप में पूर्ण मानता है। पहिले दृष्टिकोण के समर्थक केवल कुछ वे लोग हैं जो ग्रपने जीव-शास्त्रीय दृष्टिकोण के कारण सौन्दर्य को जीवन के लिये हितकारी एवं उपयोगी मानते हैं। इनमें ग्रधिकांश सुखवादी विचारक हैं। यह स्वाभाविक है। वे सौन्दर्य को सुखमय मानकर जीवन की समृद्धि के लिये हितकर मानते हैं। जीववादी दृष्टिकोण से जीवन का स्वरूप शक्ति है। शक्ति की समृद्धि सुख पर निर्भर होती है ग्रौर उसे जीवन की समृद्धि का लक्ष्य मान सकते हैं। एच० ग्रार० मार्शल ने सुख की परिभाषा इस प्रकार की है,[१८६] 'जहाँ प्रतिक्रिया में ग्राघात में व्यय होने वाली शक्ति की ग्रपेक्षा ग्रधिक शक्ति उत्पन्न होती है, वहाँ हमें सुख प्राप्त होता है।' कुछ लोग ग्रांट एलिन की भाँति सुख को शारीरिक ग्रंगों की स्वस्थ प्रक्रिया का सहगामी फल मानते हैं।[१८७] इस प्रकार सुखकर होने के कारण सौन्दर्य का सम्बन्ध जीवन के स्वास्थ्य से भी हो सकता है। किन्तु ग्रांट एलिन सौन्दर्य के सुख ग्रौर ग्रन्य सुखों में एक भेद करते हैं। सुख के सभी रूपों में शक्ति का न्यूनतम व्यय ग्रधिकतम उत्पादन में फलित होता है। किन्तु ग्रन्य सुखों का सम्बन्ध हमारी प्राणधारिणी क्रियाग्रों से होता है। इनके ग्रतिरिक्त जो सुखकर है, उसे सुन्दर कहना चाहिये। ग्रांट एलिन सम्भवतः जीवन की प्रक्रिया ग्रौर समृद्धि से सौन्दर्य का ग्रावश्यक सम्बन्ध नहीं मानते। ग्रतः यदि जीवन की समृद्धि सौन्दर्य का फल होगी तो उसे सौन्दर्य का ग्रलक्षित फल माना जायगा, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कैरिट के समान ग्रनेक विचारक सुख को सौन्दर्य का फल मानते हुये भी सुख को सौन्दर्य का लक्ष्य नहीं मानते।[१८८] किन्तु इन सभी मतों में भी यह एक ग्रन्तर्भावना है कि सौन्दर्य जीवन की समृद्धि के लिये हितकर है। मार्शल ग्रौर ग्रोसे के मत में सौन्दर्य व्यक्तिगत जीवन के ही लिये नहीं वरन् सामाजिक जीवन के लिये भी हितकर है। मार्शल सामाजिक संगठन ग्रौर सामाजिक व्यवस्था की घनिष्ठता को कला का धर्म ग्रथवा लक्ष्य मानते हैं। ई० ग्रोसे के ग्रनुसार कला का उपयोग सामाजिक घनिष्ठता को दृढ़ बनाने ग्रौर उसके विस्तार करने में होता है।[१८९] विकास वादी ग्रौर जीववादी दृष्टिकोणों में सौन्दर्य को जीवन के सुख ग्रौर उसकी समृद्धि से भिन्न करना कठिन है। सिद्धान्ततः स्वतंत्र मानते हुये भी जीवन में उसका उपयोग स्पष्ट तथा स्वाभाविक है। फूलों के रंग, पशुग्रों के चर्म ग्रौर मनुष्य की देह के गठन

आदि सभी के वस्तुगत सौन्दर्य को उपयोगिता का निमित्त माना जा सकता है। **किन्तु सौन्दर्य की यह धारणा प्राकृतिक सौन्दर्य तक ही सीमित रह सकती है। आधुनिक सौन्दर्य-शास्त्र में चिन्मय भाव के रूप में सौन्दर्य की जो कल्पना प्रस्तुत की गई है उसकी व्यक्तिगत अथवा सामाजिक जीवन में जीववादी अथवा व्यावहारिक दृष्टिकोण से कोई भी उपयोगिता बताना कठिन है।**

सौन्दर्य-शास्त्र के इतिहास में सौन्दर्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। किन्तु अपने दृष्टिकोण में भिन्न होते हुये भी एक वे विषय में एकमत हैं कि सौन्दर्य अपने स्वरूप में ही मूल्यवान् है। किसी अन्य लक्ष्य के साधन के रूप में सौन्दर्य की उपयोगिता का प्रसंग नितान्त असंगत है। लिस्टोवैल ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही इस तथ्य का निर्देश किया है कि सौन्दर्य अपने आप में मूल्यवान् है।[१६०] जिन्हें हम उपयोगी मानते हैं, उनके अनुसार वस्तुओं और भावों का मूल्य कुछ दूसरे लक्ष्यों की साधना के रूप में होता है। **उपयोगी का मूल्य अपने स्वरूप के लिये नहीं वरन् अपने फल के लिये होता है। इस दृष्टि से सौन्दर्य उपयोगिता, सुख और श्रेय तीनों से भिन्न है।** कैरिट ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है कि साधारण मनुष्य भी जब वस्तुओं को सुन्दर कहता है, तो उसका अभिप्राय यही होता है कि वह उपयोगी, सुखद और श्रेय से भिन्न है। फौल्केल्ट ने भी यही कहा है कि कला का कोई अन्य उद्देश्य नहीं होता। कला के वैज्ञानिक विवेचन में प्रयोजन के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को सम्मिलित करना अत्यन्त अनुपयुक्त हैं।[१६१] बर्क, लैसिंग आदि अनेक सौन्दर्य-शास्त्रियों ने यही मत व्यक्त किया है कि सौन्दर्य अथवा कला का दृष्टिकोण व्यावहारिक रुचि से नितान्त भिन्न है।[१६२] जब हम व्यावहारिक रूप से मुक्त होकर वस्तुओं का ध्यान करते हैं तभी हमें सौन्दर्य के दर्शन होते हैं, इसीलिये कुछ लोगों ने सौन्दर्य की यह परिभाषा भी की है कि जो ध्यान मात्र से सुख देता है वही सुन्दर है।[१६३] स्टेस ने बौद्धिक चिन्तन, सौन्दर्य की कल्पना की समानता करके भी सौन्दर्य की स्वरूपगत महिमा का ही संकेत किया है।[१६४] क्रोचे के मत के अनुसार जो सौन्दर्य को पूर्णतः आन्तरिक, आत्मगत और व्यक्तिगत मानते हैं उनके मत में वाह्य अभिव्यक्ति और बाह्य जीवन के साथ इस सौन्दर्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनों ही इस आन्तरिक, सौन्दर्य के लिये उपचार मात्र हैं। किन्तु जो बाह्य अभिव्यक्ति को सौन्दर्य के स्वरूप का आवश्यक अंग मानते हैं, उनके अनुसार सौन्दर्य अपने स्वरूप में स्वतंत्र होते हुये भी साधारण जीवन के स्वरूप और हित से अभिन्न

है। प्लेटो और ऐरिस्टौटिल तो स्पष्ट रूप से सौन्दर्य की नैतिक उपयोगिता मानते थे।[१६५] ऐरिस्टौटिल के मत में कला श्रेय साधना की अनुचरी है। यह मत ऊपर दिये हुये विकल्पों में पहले विकल्प के अधिक निकट है। किन्तु सौन्दर्य को स्वतंत्र और अपने स्वरूप में मूल्यवान मानकर जीवन के हित के साथ उसकी संगति मनना तीसरे विकल्प के अनुरूप है। बाउमगार्तेन ने जबसे सौन्दर्य के मूल्य और शास्त्र को तर्क के सत्य और नीति के श्रेय से पृथक किया तब से क्रोचे के पूर्व तक अधिकांश विचारक सौन्दर्य के स्वरूप को स्वतंत्र मानते हुए भी यह मानते रहे कि बाह्य अभिव्यक्ति में ही वह साकार होता है तथा जीवन के हितों में उसका सहयोग सम्भव है। कला और काव्य के सभी महान् शृष्टा अपनी साधना में जीवन के साथ श्रेय के सामाधान के द्वारा जीवन में सौन्दर्य की हितकारिणी वृत्ति का समर्थन करते हैं जो 'कला कला के लिये है' के नाम पर स्पष्ट रूप से उच्छृंखलता और अशिव मार्गों में कला का नग्न नृत्य रचना चाहते हैं, उनके अतिरिक्त सभी कलाकार जीवन के हित को अपनी कला में साकार बनाते आए हैं। मैथिलीशरण गुप्त ने कला की स्वार्थ वृत्ति का खंडन करते हुये कला का यह उपयोग बताया है कि वह सुन्दर को सजीव करती हैं और भीषण को निर्जीव बनाती है।[१६६] सौन्दर्य के उपासक होते हुये भी कवि पंत ने सुन्दरता को समस्त ऐश्वर्यों की खान माना है और सुन्दरी *प्रिया* को कल्याणी कहकर सम्बोधित किया है।[१६७] सुन्दरता के जिस आलोक-स्रोत के प्रस्रवण का अनुभव उन्होंने अपने मत में किया है उससे वे जग के आंगन में नव-युग के प्रभात की आशा करते हैं। अंग्रेजी कवि कीट्स सौन्दर्य को ही सत्य मानता था। डा० हरद्वारीलाल शर्मा ने अपने सौन्दर्य-शास्त्र में सामंजस्य को सौन्दर्य का स्वरूप बताया है और उनके अनुसार श्रेय तथा सत्य में सौन्दर्य के स्वरूप का अन्तर्भाव है। जो असत्य और अशिव है वह संतुलन और सामंजस्य से रहित है। विचार और समाज की व्यवस्थाओं में सामंजस्य का सन्निधान होने पर सत्य और श्रेय का उदय होगा। सौन्दर्य के स्वरूप के अनुरूप ही सत्य और शिव भी लोक में प्रतिष्ठित होंगे।

दूसरे और तीसरे दोनों ही विकल्प सौन्दर्य को स्वतन्त्र और चरम मूल्य मानते हैं। दूसरे मत के अनुसार सौन्दर्य सत्य और श्रेय से विविक्त है। वह एक आन्तरिक और आत्मगत भाव है। बाह्य अभिव्यक्ति और व्यवहार से उसका स्वरूपगत संबन्ध नहीं है। आधुनिक युग के पश्चिमी सौन्दर्य-शास्त्र में यही धारणा

प्रबल है, यद्यपि कला और काव्य की महान रचनायें इसका समर्थन नहीं करतीं। तीसरा विकल्प सौन्दर्य को एक मात्र अन्तिम मूल्य मानता है। इसके अनुसार सत्य और श्रेय के स्वरूप सौन्दर्य से ही अनुगत होते हैं। विचार और व्यवहार की व्यवस्थायें सौन्दर्य के अनुरूप बनकर सत्य और श्रेय में चरितार्थ होती हैं। इस दृष्टि से डा० हरद्वारी लाल का मत प्रचलित सभी मतों से भिन्न है और अपनी मौलिकता के लिये महत्वपूर्ण है। इसके विपरीत हमारा मत चौथे विकल्प के अनुरूप है जिसके अनुसार सृजनात्मक समात्मभाव जीवन का अन्तिम और पूर्ण सत्य है। समस्त सत्ता और व्यवहार की इसके साथ संगति संभव है। वह इनसे सम्पन्न होता है और इन्हें सम्पन्न बनाता है। समात्मभाव में विज्ञान और दर्शन का निरपेक्ष सत्य जीवन का आनन्द बन जाता है। यह समात्मभाव का पूर्ण सत्य ही शिव और सुन्दर भी है। जीवन के मंगल विधान समात्मभाव के आत्मदान से ही सम्भव होते हैं। सौन्दर्य के रूपों में इसी की अभिव्यक्ति होती है। यह सत्य का वह व्यापक रूप है जिसके वीज गर्भ में शिव और सुन्दर के अंकुरों की सम्भावना अन्तर्निहित है। सत्य और सुन्दर को प्रायः निरपेक्ष और व्यक्तिगत माना जाता है। **अतः हम समात्मभाव को स्वरूपतः शिवम् कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। एकान्त में सम्भव न होने के कारण वह सामाजिक समभाव में साकार होता है। अतः उसका स्वरूप शिवम् के अधिक निकट है।** जीवन की सांस्कृतिक कल्पना में आत्मदान का शिवम् ही अभिव्यक्ति के सौन्दर्य को सम्भव बनाता है। शिव जीवन के आध्यात्मिक सत्य के स्वरूप हैं। शक्ति-सुन्दरी उनकी अभिन्न अभिव्यक्ति है। कला और सौन्दर्य शिव के आनन्दमय स्वरूप के विमर्श की अभिव्यक्ति है।

सौन्दर्य और उपयोगिता के सम्बन्ध में लघुतर कलाओं का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सौन्दर्य-शास्त्र के विवेचन में प्रायः शुद्ध और महान् कलाओं को ही अधिक महत्व दिया जाता है। इनमें चित्रकला, संगीत, मूर्तिकला, नृत्य और काव्य मुख्य हैं। इन सभी का व्यवहार और व्यवसाय में उपयोग सम्भव है, किन्तु इनके उपयोगी रूपों को सौन्दर्य-शास्त्र में कोई महत्व नहीं दिया जाता। सौन्दर्य-शास्त्र में इनके उन महान् रूपों को ही स्थान दिया जाता है, जो महान् प्रतिभाओं की सृष्टि हैं। इस प्रकार सौन्दर्य-शास्त्र में कला और कलाकार दोनों के सम्बन्ध में एक प्रकार के अभिजातवाद की परम्परा प्रतिष्ठित है। इन सभी कलाओं का शुद्ध रूप

जिसका किसी उपयोग से प्रयोजन नहीं, सम्भव ही नहीं वरन् प्रचुर मात्रा में वर्त्त-मान है। किन्तु इनमें से मुख्यत: चित्रकला और मूर्तिकला के ऐसे साधारण रूप भी हैं, जो जीवन के व्यावहारिक और व्यावसासिक रूपों में उपयोग में आते हैं। **इनके अतिरिक्त कलाओं के अनेक ऐसे लघुतर रूप हैं, जिनमें कला का सौन्दर्य उपयोग का अलंकार मात्र है। महान् कलाओं में तो स्थापत्य कला ही एक ऐसी कला है, जिसका उपयोगिता से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है।**[१९८] भवनों का निर्माण चित्र, संगीत, काव्य आदि की भाँति केवल शुद्ध सौन्दर्य की दृष्टि से बहुत कम किया जाता है। सौन्दर्य के ताजमहल दुनियाँ में बहुत कम हैं। अधिकांश भवनों का निर्माण उपयोग के लिये ही किया जाता है। मन्दिरों, गिरजों, आदि में साधारण भवनों की अपेक्षा उपयोग कम और सौन्दर्य का अधिक ध्यान रखा जाता है। किन्तु सौन्दर्य के कारण उनकी उपयोगिता किसी प्रकार भी गौण नहीं होती। उनमें सौन्दर्य और उपयोग का यथासंभव समन्वय होता है। साधारण भवनों के निर्माण में उपयोग ही प्रधान होता है, सौन्दर्य का सन्निधान उसमें अलंकार के रूप में ही होता है। किन्तु यह अलंकार निर्माण का वहिरंग नहीं वरन् भवन के रूप के साथ एकाकार होता है। मूर्तिपूजा की प्रधानता के कारण भारतवर्ष में मन्दिरों की संख्या बहुत अधिक है। इनमें मदूरा, भुवनेश्वर खजुराहों, बनारस, मथुरा वृन्दावन आदि के अनेक मन्दिर बहुत भव्य और विशाल हैं। इन मन्दिरों में उपयोगिता के साथ-साथ सौन्दर्य की भी प्रचुरता है। दूसरे देशों में स्थापत्य की कला में सौन्दर्य की अपेक्षा उपयोगिता की ही प्रधानता है। उपयोगिता की प्रधानता के कारण सौन्दर्य शास्त्र में अन्य कलाओं की अपेक्षा स्थापत्य को कम महत्व दिया जाता है।

किन्तु कला और सौन्दर्य का उपयोगिता की प्रधानता के साथ सम्बन्ध लघुतर कलाओं में सबसे अधिक व्यापक रूप में मिलता है। ये लघुतर कलाएँ शुद्ध कलाएँ नहीं हैं। इन्हें कलात्मक उद्योग कहना भी अनुचित न होगा। जीवन के उपयोगों में ही इनका जन्म होता है और दैनिक जीवन की आवश्यकताओं से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनके माध्यम भी दैनिक उपयोग की वस्तुएँ हैं। इन वस्तुओं में कलात्मक सौन्दर्य का सन्निवेश कदाचित् किसी प्रकार भी इनकी उपयोगिता को नहीं बढ़ाता। किन्तु सौन्दर्य के सन्निवेष के कारण इन वस्तुओं का उपयोग जीवन में अधिक आनन्दप्रद होता है। उपयोगितावाद जीवन के निर्वाह का आवश्यक सूत्र है, किन्तु उपयोगिता

में ही जीवन पूर्ण नहीं है। सौन्दर्य और आनन्द जीवन की साधना का निगूढ़ लक्ष्य है। 'सौन्दर्य' उपयोग के आनन्द को बढ़ाता है। इसीलिये जीवन के लघुतम उद्योगों में वह प्रवेश कर गया है। इन लघुतर कलाओं के अगणित रूप हैं क्योंकि जीवन के उपयोग की वस्तुओं के अगणित प्रकार हैं। एक ओर जहाँ जीवन के निर्वाह के लिये वस्तुओं में उपयोगिता का दृष्टिकोण अनिवार्य है, वहाँ दूसरी ओर छोटे से छोटा कारीगर भी वस्तुओं के निर्माण में कुछ न कुछ सौन्दर्य का सन्निवेश करता है। मनुष्य के उपयोग की कदाचित् ही कोई ऐसी वस्तु हो जिसमें सौन्दर्य का संपुट नहीं है। यह तो स्पष्ट है कि इन वस्तुओं के निर्माता प्रतिभाशाली कलाकार नहीं होते, फिर भी प्रत्येक साधारण कलाकार अपनी योग्यता के अनुसार अपनी वस्तुओं में सौन्दर्य का सन्निधान करता है। **फौल्केल्ट को सौन्दर्य-शास्त्र में इन लघुतर कलाओं और साधारण कलाकारों की ओर सौन्दर्य-शास्त्र का ध्यान दिलाने का श्रेय मिलना चाहिए।** फौल्केल्ट का कथन है कि सौन्दर्य-शास्त्र के अन्वेषण प्रतिभाशाली कलाकारों की कृतियों तक ही सीमित न रहना चाहिये। उसमें साधारण कुशलता वाले इन कलाकारों को भी स्थान मिलना चाहिये जो अपनी कला को सौन्दर्य के साथ-साथ अपनी जीविका का साधन भी बना लेता है।[१९९] यह स्पष्ट है कि उपयोगिता के दृष्टिकोण के कारण इन लघुतर कलाओं में सौन्दर्य की वह मुक्त साधना सम्भव नहीं है जो शुद्ध कलाओं में सम्भव है। काश्मीर की शालों और फारस के कालीनों में उपयोग के साथ सौन्दर्य की समृद्धि का प्राचीन उदाहरण मिलता है। काश्मीर का हाथी दाँत और लकड़ी का काम, जयपुर की पीतल के बर्तनों की नक्काशी और उत्तर प्रदेश के अमरोहा नामक स्थान की परियों की मूर्त्ति आदि इन कलाओं के अनेक प्रसिद्ध रूप देश के नगर-नगर में मिलते हैं। **सामान्य रूप से हमारे दैनिक उपयोग की सभी वस्तुओं में कला का सम्पुट प्राचीन काल से चला आया है।** कुटीर उद्योग के युग में एक प्रकार से लोक-कला उद्योग का अभिन्न अंग थी। आज के यांत्रिक उत्पादन के युग में उद्योग के साथ कला का सम्बन्ध और घनिष्ट तथा समृद्ध ही हुआ है। उद्योग में कला का सन्निवेश सबसे अधिक स्त्रियों के वस्त्रों की रंगाई और छपाई में देखने में आता है। कुटीर उद्योग के रूप में भी यह कला विशेषतः राजस्थान में प्राचीन काल से प्रचलित है और कला की दृष्टि से बहुत समृद्ध है। आधुनिक युग में यांत्रिक सुविधाओं के कारण इसकी और समृद्धि हो रही है। छपे हुए कपड़ों की

नित्य नवीन अल्पनाओं (डिजाइनों) को देखकर कल्पना विस्मित हो जाती है। दैनिक उपयोग की साधारण वस्तुओं से लेकर यंत्रों के निर्माण तक प्राचीन काल से लेकर आज तक सौन्दर्य का समन्वय बढ़ता ही रहा है।

प्रश्न यह है कि क्या सौन्दर्य और उपयोगिता का समन्वय सम्भव है? क्या उपयोगिता के कारण सौन्दर्य का महत्व कम नहीं होता? क्या सौन्दर्य उपयोगिता को बढ़ाता है? इन प्रश्नों का उत्तर कला और सौन्दर्य की धारणा पर निर्भर है। जो कला को शुद्ध और रूपात्मक मानते हैं, उनकी दृष्टि में तत्व का कोई महत्व नहीं है। तत्व का सम्पर्क रूप-रचना की महिमा को कम ही करता है। जो क्रोचे के समान सौन्दर्य को अनुभूति मानते हैं, उनके मत में बाह्य वस्तु और उपयोग का कला से कोई सम्बन्ध नहीं है। जो ऐन्द्रिक रूप में कला की अभिव्यक्ति को मानते हैं, उनके मत में अवश्य उपयोगिता के साथ कला का समन्वय सम्भव है। यद्यपि वे इस समन्वय में सौन्दर्य को उपयोगिता का साधन मानने के लिये तैयार न होंगे, फिर भी वस्तुओं के ऐन्द्रिक रूपों में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति तो उनके मत के अनुरूप है। **सौन्दर्य की बाह्य अभिव्यक्ति को मान लेने पर उपयोगिता के साथ सौन्दर्य का समन्वय सम्भव हो जाता है। इस समन्वय में सौन्दर्य उपयोगिता का साधन नहीं बन जाता, वह साध्य ही रहता है। एक दृष्टि से इन कलाओं में उपयोगिता और सौन्दर्य की युगपत् सृष्टि होती है।** कपड़ों की छपाई आदि कुछ कलाओं में सौन्दर्य का सन्निधान वस्तु के उपयोगी रूप के निर्माण के बाद होता है किन्तु लकड़ी, पत्थर, धातु आदि की वस्तुओं की रचना के रूप में ही सौन्दर्य सन्निहित रहता है, और रचना के साथ ही रूप में सौन्दर्य समन्वित होता है। अनेक उपयोगी वस्तुओं का रूप और सौन्दर्य एकाकार होता है। **रूप का निर्माण उपयोग की दृष्टि से होता है किन्तु इन कलाओं में भी जहाँ तक सम्भव है उपयोगिता के अतिरिक्त सौन्दर्य के लिए भी सौन्दर्य का सन्निधान होता है।** दैनिक उपयोग की सभी वस्तुओं में सौन्दर्य का यह अतिरेक देखा जा सकता है। **इन वस्तुओं के समस्त रूप की व्याख्या उपयोग की दृष्टि से नहीं की जा सकती।** अनेक वस्तुओं में ऐसा भी देखा जा सकता है कि सौन्दर्य के व्यापक रूप में उपयोगिता के रूप का अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार अनेक रूपों और परिमाणों में लघुतर कलाओं के रूपों में सौन्दर्य का सन्निवेश मिलता है। ये लघुतर कलाएँ इन साधारण कलाकारों की जीविका के साधन हैं। किन्तु उपयोगिता और जीविका से समन्वित होते हुए भी

ये लघु कलाकार सौन्दर्य को साध्य की दृष्टि से ही देखते हैं। जीविका के लिये होते हुए भी वे अपनी रचनाओं के रूपों में अपने प्राणों का सन्निवेश करते हैं। इन लघु कलाकारों की दृष्टि से यह रूपों की रचना कलात्मक सौन्दर्य की ही सृष्टि है। इसमें रचना का सौन्दर्य है। सौन्दर्य रचनात्मक है। कुटीर उद्योग तो प्रायः कुलवृत्ति के रूप में थे। अतः उनके निर्माण में समात्मभाव का रसमय सौन्दर्य सन्निहित है। रचना के सहयोगियों के साथ-साथ उपभोक्ताओं का समात्मभाव भी इस सौन्दर्य को समृद्ध बनाता था। आज के यांत्रिक निर्माण में जहाँ वस्तुओं के निर्माण में दृश्य रूपों की समृद्धि होते हुए भी यांत्रिक उद्योग में कला का सन्निवेश नीरस हो रहा है। यंत्रों के द्वारा निर्मित होने वाली वस्तुओं तथा स्वयं यंत्रों में भी रूप के अतिशय का सौन्दर्य रहता है। प्रत्यक्ष रूप में यह सौन्दर्य बढ़ रहा है, यह भी कहना अनुचित नहीं है। यह रूप का सौन्दर्य पूर्णतः उपयोगी नहीं है, यद्यपि इसका कुछ अंश उपयोगी भी हो सकता है। इस उपयोगितावादी युग में भी रूप के निरुपयोगी सौन्दर्य के लिये बहुत कुछ स्थान शेष है। उपयोगितावादी सभ्यता में भी रूप के सौन्दर्य के लिये पर्याप्त स्थान रहेगा।

किन्तु सृजनात्मक सक्रियता और समात्मभाव का सौन्दर्य औद्योगिक सभ्यता के विकास के साथ-साथ कम हो रहा है। इसी कारण आधुनिक उत्पादनों में रूप का सौन्दर्य अधिक होते हुए भी वह सौन्दर्य उतना आनन्ददायक नहीं है जितना की कुटीर उद्योग के उत्पादनों का अल्प सौन्दर्य था। रूप का अतिशय सौन्दर्य का वस्तुगत लक्षण है। इस लक्षण के आधार पर पदार्थों के वस्तुगत सौन्दर्य का निर्धारण किया जा सकता है। किन्तु सौन्दर्य से प्राप्त होने वाला आनन्द केवल सौन्दर्य के परिमाण पर निर्भर नहीं होता। **सौन्दर्य के रूप के अतिरिक्त सौन्दर्य के सृजन की सक्रियता तथा सृजन एवं आस्वादन के समात्मभाव पर वह आनन्द अधिक निर्भर करता है।** इस सक्रियता और समात्मभाव के मंद होने के कारण ही औद्योगिक सभ्यता में जहाँ एक ओर रूप का सौन्दर्य बढ़ रहा है, वहाँ दूसरी ओर उस सौन्दर्य का आनन्द कम हो रहा है। इस कमी की पूर्ति प्रगतिवाद की ओर बढ़ती हुई सभ्यता सुख और वैभव के वर्द्धन के द्वारा कर रही है। उत्पादन के यान्त्रिकीकरण के कारण सृजन की सक्रियता कम हो रही है। निर्माताओं के लिये उत्पादन पूर्णतः एक व्यवसाय है और उपभोक्ताओं के लिये वह निष्क्रिय उपभोग है। रूप के निर्माता के लिए रूप का महत्व निरुपयोगिता की दृष्टि से नहीं वरन् आर्थिक

उपयोगिता की दृष्टि से है तथा रूप का उपभोक्ता उसका सृष्टा नहीं है, न उसके सृजन का सहयोगी है। सृजन और आस्वादन दोनों में ही समात्मभाव कम हो रहा है। अतः उपयोगी वस्तुओं का विपुल सौन्दर्य भी निष्फल हो रहा है। उपभोक्ताओं का परस्पर समात्मभाव ही यान्त्रिक उत्पादनों के सौन्दर्य को सफल बना सकता है। वह भी सभ्यता के बढ़ते हुए स्वार्थ और अहंकार के कारण कम हो रहा है। **इसका परिणाम यह है कि वस्तुओं का रूपगत सौन्दर्य अपनी वस्तुगत सत्ता में सीमित हो रहा है।** विज्ञान और बुद्धिवाद के प्रभाव से सौन्दर्य के प्रति भी आधुनिक समाज का दृष्टिकोण बुद्धिवादी बन रहा है। बुद्धि निर्वैयक्तिक है। अतः सौन्दर्य का दृष्टिकोण भी निर्वैयक्तिकता की ओर बढ़ रहा है। यों कह सकते हैं कि सौन्दर्य सत्य के समान उदासीन अवगति का विषय बन रहा है। आनन्द के साथ उसका साम्य भंग हो रहा है। सभ्यता के बढ़ते हुए उपयोगितावाद में सौन्दर्य का यह प्रमुख उपयोग भी कठिन हो रहा है। ललित कलाओं की रचनाओं की भांति उपयोगी वस्तुओं में आस्वादकों की काल्पनिक सृजनात्मकता का आनन्द भी सम्भव नहीं है। यह उन्हीं रचनाओं में सम्भव हो सकता है, जिनका उपादान तत्व कुछ मानसिक है तथा जो निरूपयोगी है। उपयोगी उत्पादनों में उपभोक्ताओं की दृष्टि तत्व की ओर होती है। अतः उनके सम्बन्ध में काल्पनिक रचनात्मकता का भाव सम्भव नहीं है। अतः यान्त्रिक उत्पादनों के बढ़ते हुए रूप सौन्दर्य की सफलता कठिन हो रही है।

अध्याय ६१

सौन्दर्य और जीवन

अधिकांश सौन्दर्य-शास्त्री सुन्दरम् को अपने स्वरूप और अपनी साधना में पूर्ण मानते हैं। जीवन के किसी भी अन्य प्रयोजन के साथ सौन्दर्य का सम्बन्ध उन्हें उचित प्रतीत नहीं होता। इसमें उन्हें सौन्दर्य के मूल्य की महत्ता और मौलिकता कम होने की आशंका दिखाई देती हैं।[२००] किन्तु सौन्दर्य का स्वतंत्र और मौलिक मूल्य मानते हुये भी वे यह स्वीकार करते हैं कि सौन्दर्य का मूल्य जीवन के ही लिये है।[२०१] मनुष्य जीवन में ही सौन्दर्य की भावना मुख्य रूप से उदित हुई है।[२०२] मनुष्य जाति में ही सौन्दर्य सार्थक हुआ है। मौरिस के अनुसार मनुष्य सौन्दर्य के तत्व और उसकी अभिव्यक्ति के सम्बन्ध का माध्यमिक पद है।[२०३] मनुष्य की चेतना में ही सौन्दर्य का तत्व अभिव्यक्ति में साकार होता है। किन्तु मनुष्य जीवन में अथवा मनुष्य जीवन के लिये सौन्दर्य का मूल्य मानना सौन्दर्य को किसी उपयोगितावाद के आश्रित बनाना नहीं है। **जीवन का सम्पूर्ण अर्थ जीव-शास्त्रीय धारणा के अनुरूप केवल शारीरिक स्थिति और प्राणों का स्पन्दन नहीं है। यह केवल जीवन की स्थिति और गति के आधार हैं। जीवन का समृद्ध और साँस्कृतिक रूप मनुष्य की चेतना में प्रस्फुटित होता है।** जीवन की इस सांस्कृतिक संगति को सौन्दर्य का प्रयोजन मान लेने पर भी सौन्दर्य की मौलिकता के सिद्धान्त की हानि नहीं होती। **सौन्दर्य के रूप में मनुष्य की विकसित चेतना स्वयं अपने स्वरूप का साक्षात्कार करती है।** इस चेतना को समृद्ध बनाने में सौन्दर्य किसी आवान्तर प्रयोजन का साधन नहीं बनता। वह अपने स्वरूप के ही साध्य का साधन रहता है। साधन बनकर भी वह अपने स्वरूप की ही साधना करता है। इस दृष्टि से साँस्कृतिक जीवन की समृद्धि में सौन्दर्य का मूल्य मान लेने पर सौन्दर्य की साध्यता और मौलिकता अखंडित रहती है। जहाँ एक ओर हम यह कहते हैं कि सौन्दर्य का मूल्य जीवन के लिये है वहाँ दूसरी ओर हम यह भी मानते हैं कि सौन्दर्य ही जीवन का मूल्य है।[२०४] सौन्दर्य के बिना जीवन का वास्तविक मूल्य सम्पन्न नहीं होता। कैरिट के शब्दों में सौन्दर्य जीवन का लवण है।[२०५] तात्पर्य यह है कि जीवन का रस

और स्वाद सौन्दर्य पर ही निर्भर है। भोजन का समस्त स्वाद लवण पर ही निर्भर है। उत्तम भोजन भी लवण के विना नीरस और निस्वाद हो जाता है। मीठे से मन भर जाता है, किन्तु नमकीन से मन नहीं भरता। केवल मीठे से संतोष नहीं होता, किन्तु केवल नमकीन से संतोष हो सकता है। वस्तुतः नमक में भी एक अपना माधुर्य है चाहे हम उस माधुर्य को स्वाद की दृष्टि से मिष्ट न कह सकें। इसीलिये गुजराती भाषा में नमक का नाम ही 'मीठो' है। वस्तुतः 'चीनी' भी एक प्रकार का ही 'नमक' है। यह वैज्ञानिक तथ्य लवण की मौलिक सरसता और मधुरता का एक वैज्ञानिक प्रमाण है। स्वाद और सरसता के साथ साथ लवण जीवन का पोषक तत्व भी है। भोजन में लवण का योग उसके पाचन तथा उसका रस वनाने में सहायक होता है। इस प्रक्रिया के द्वारा लवण जीवन के स्वास्थ और सौन्दर्य का विधायक है। पुष्पों और फलों के रस और सौन्दर्य में भी लवण-तत्वों का वहुत योग रहता है। पशुओं को, विशेषतः ढोरों को यत्न पूर्वक लवण दिया जाता है। कालिदास ने रघुवंश के पंचम सर्ग में अश्वों के सैन्धव-लेहन का वर्णन किया है।[२०६] संस्कृत भाषा की परम्परा में सौन्दर्य के एक पर्याय में लवण की इस सौन्दर्य विधायक का रहस्य सन्निहित है। मोती के पानी के समान शरीर के अंगों की कान्ति में जो एक सौन्दर्य विभासित होता है उसको 'लावण्य' कहते हैं। आनंद वर्द्धन ने काव्य के सौन्दर्य की व्यंजना के लिये अंगनाओं के देह-लावण्य की उपमा दी है। अस्तु सौन्दर्य जीवन का लवण है। वह उसकी मधुरता और सरसता का विधायक तथा उसकी समृद्धि का स्रोत है।

सौन्दर्य की इस महिमा का प्रमाण जीवन के इतिहास और संस्कृति में मिलता है। सभ्यता के विकास में जहाँ एक ओर संस्कृति के रूपों में सौन्दर्य की शुद्ध कलाओं की साधना विकसित हुई है वहाँ दूसरी ओर जीवन के साधनों में भी सौन्दर्य का अन्वय हुआ है। प्राकृतिक साधन जीवन के उपकरण हैं। इन प्राकृतिक उपकरणों के आधार पर जीवन के अन्य कृत्रिम साधनों का भी निर्माण हुआ है। इन दोनों ही साधनों का मूल्य इनके उपयोग में है। उनके रूप और सौन्दर्य का स्वरूपतः कोई महत्व नहीं है। प्राकृतिक अथवा कृत्रिम साधनों में सौन्दर्य के सन्निधान से उनका साधनगत मूल्य किसी प्रकार वढ़ नहीं जाता। वस्त्रों को सुन्दर वनाने से उनकी रक्षकता के गुणों में कोई वृद्धि नहीं होती। भोजन में सौन्दर्य रुचि का वर्द्धक होता है। इस प्रकार उसका नैमित्तिक महत्व अवश्य है। इसी प्रकार

काम के प्रसंग में भी उपकरणों में सौन्दर्य का सन्निधान रुचि का साधक है। प्रकृति के क्षेत्र में फलों और पुष्पों में सौन्दर्य का सन्निधान भोजन और काम में इसी रुचि का विधायक है। **मनुष्य ने अपने सभ्य जीवन में प्रकृति के इस सूत्र का ही महाभाष्य किया है। इसी के फलस्वरूप हमें सभ्यता के समस्त उपकरणों में रूप और सौन्दर्य का उत्तरोत्तर उत्कर्ष मिलता है।** यह ठीक है कि जीवन के उपकरणों में सन्निहित यह सौन्दर्य मुख्यतः रूप का ही लावण्य है। यह रूप भी मुख्यतः वस्तुगत आकार और छवि है। किन्तु विज्ञान और मनोविज्ञान यह प्रमाणित करते हैं कि यह पूर्णतः वस्तुगत नहीं हैं। **इन्द्रियों की प्रक्रिया के सहयोग द्वारा ही यह रूप का लावण्य संवेदना में साकार होता है। अर्थ से काम में और काम से प्रेम में उत्तरोत्तर वस्तुगत रूप-लावण्य तथा ऐन्द्रिक संवेदना और मनोगत चेतना की यह पारस्परिकता उत्तरोत्तर घनिष्ठ होती गई है। इसी उत्तरोत्तर क्रम के विकास में चेतना के भावगत सौन्दर्य का उदय हुआ है।** आधुनिक सौन्दर्य-शास्त्र में भावगत सौन्दर्य का दृष्टिकोण ही प्रधान है। क्रोचे के अनुसार इस भाव का रूप अनुभूति है। इसकी आन्तरिक और आत्मगत अभिव्यक्ति में सौन्दर्य का स्वरूप पूर्ण है। कौलिंगवुड ने इसे 'कल्पना' का नाम दिया है। किन्तु इस कल्पना का स्वरूप बहुत कुछ क्रोचे की अनुभूति के समान है। इन आधुनिक मतों के अनुसार सौन्दर्य की कल्पना में वस्तुगत रूपों और गुणों का कोई महत्व नहीं है। आन्तरिक सौन्दर्य की बाह्य अभिव्यक्ति भी उनकी दृष्टि में गौण है किन्तु जीवन के व्यवहार और संस्कृति की साधना में सौन्दर्य के बाह्य रूप का पर्याप्त महत्व रहा है। चेतना के भाव में सौन्दर्य का अनुभव करते हुए भी हम वस्तुओं के रूपों और गुणों में सौन्दर्य का विक्षेप करते हैं। सम्भवतः इसका कारण सौन्दर्य का आनन्दमय स्वरूप है। डा० हरद्वारी लाल शर्मा ने अनुभूति के आनन्द को सौन्दर्य का स्वरूप माना है। सुन्दर कही जाने वाली वस्तुओं के रूपों में भी ऐन्द्रिक सम्वेदना की प्रियता होती है। संवेदना की प्रियता यदि आन्तरिक आनन्द के समानार्थक नहीं तो उसके बहुत कुछ समान है। इसी कारण उपनिषदों में भी आध्यात्मिक आनन्द की उपमा ऐन्द्रिक सुखों से की गई है और एक स्थान पर ऐन्द्रिक सुख और आत्मिक आनन्द के तारतम्य के क्रम का निर्देश भी मिलता है। इतना ही नहीं है ऐन्द्रिक रूपों का लावण्य अपनी प्रियता के द्वारा सौन्दर्य के आत्मिक आनन्द के जागरण

में सहायक होता है। **यह ठीक है कि चेतना का भाव प्रत्येक वस्तु को सुन्दर बनाने में समर्थ है किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि ऐन्द्रिक रूपों का लावण्य चेतना के भावोदय को प्रेरित करता है।** अतः ऐन्द्रिक रूपों का लावण्य चेतना के सौन्दर्य-भाव के अनुरूप है। इस अनुरूपता में ही प्रकृति और आत्मा का सामंजस्य सम्पन्न होता है, जो मनुष्य की सत्ता, सभ्यता और संस्कृति में साकार हुआ है।

इस सामंजस्य के आधार पर जहाँ एक ओर सभ्यता में जीवन के साधनों में रूपगत सौन्दर्य का समवाय होता रहा है, वहाँ दूसरी ओर संस्कृति के क्षेत्र में भाव-रूप सौन्दर्य की साधना होती रही है। इन दोनों में कोई स्वरूपगत विरोध नहीं है यद्यपि अतिरंजना और असामंजस्य के कारण प्रत्येक युग में कुछ विरोध दिखाई देता रहा है और आधुनिक युग में वह अधिक बढ़ गया है। वस्तुगत रूप के लावण्य और आन्तरिक सौन्दर्य का सहज सामंजस्य मनुष्य के प्राचीनतम जीवन में मिलता है। उसके प्राकृतिक जीवन के सुख और सुषमा इसी सामंजस्य पर निर्भर है। सांस्कृतिक जीवन में भी आन्तरिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति निरन्तर होती रही है। यद्यपि अनुभूतिवादी इस बाह्य अभिव्यक्ति को गौण मानते हैं फिर भी विश्व के सभी महान् कलाकारों का कृतित्व इसके महत्व को प्रमाणित करता है। सत्य यह है कि सौन्दर्य की कल्पना व्यक्तिगत अनुभूति में न सम्भव है और न पूर्ण होती है। एकाकी का भाव उपनिषदों के प्रजापति के समान उदासीन होता है। वह अनेकता के समात्मभाव में आनन्द की अभिलाषा करता है। समात्मभाव चेतनाओं का साम्य अथवा सामंजस्य है। किन्तु बाह्य रूपों और सत्ताओं की विविधता उसका आवश्यक निमित्त है। **इसी समात्मभाव में आत्मा का आन्तरिक सौन्दर्य उदित होता है और वह आत्मा में उदित होने के साथ ही बाह्य अभिव्यक्ति में साकार होता है।** वस्तुतः बाह्य अभिव्यक्ति के निमित्तों में ही सौन्दर्य का चेतन-भाव सचेतन होता है। बाह्य रूपों में ही आन्तरिक भावों की सहज अभिव्यक्ति होने के कारण आन्तरिक भाव और बाह्य रूपों की सहज संगति होती है। संस्कृति की शुद्ध कलाओं की साधना में इस संगति का एक क्रम सम्पन्न होता है। इस क्रम की दिशा आत्मभाव से बाह्य अभिव्यक्ति की ओर है। कलाकृतियों के अनुशीलन और प्रकृति के सौन्दर्य दर्शन में इसका दूसरा क्रम सम्पन्न होता है। इस द्वितीय क्रम की दिशा बाह्य रूपों की अभिव्यक्ति से आत्मभाव के उदय की ओर है। किन्तु दोनों ही स्थितियों में एकाकी और व्यक्तिगत चेतना में नहीं वरन् चेतनाओं के समात्मभाव

में ही सौन्दर्य का स्वरूप सम्पन्न होता है। इस समात्मभाव की विभूति ही आत्मगत और बाह्य दोनों प्रकार के सौन्दर्य-रूपों में आनन्द का स्रोत प्रवाहित करती है। इसी विभूति की महिमा से सौन्दर्य का आत्मगत भाव ब्रह्म के ऐश्वर्य की भाँति बाह्य रूपों में अभिव्यक्त होता है। यदि इसमें मायावादी वेदान्त को कोई आपत्ति हो तो इसे शक्ति का विमर्श कहना अधिक उचित होगा। दूसरी ओर प्रकृति के उपकरणों और जीवन के बाह्य साधनों की ऐन्द्रिक प्रियता इसी समात्मभाव की विभूति से आत्मभाव के सौन्दर्य का अवगाहन करती है। यह समात्मभाव ही सौन्दर्य की विविध स्थितियों के समन्वय का सूत्र बनकर जीवन में प्रकृति, कला और संस्कृति के सामंजस्य का विधान करता है। इस समाज और सभ्यता के विकास में इसी समात्मभाव के मंद हो जाने के कारण मुख्य कला की रचनाओं तथा प्रकृति के रूपों और कृत्रिम उपकरणों में क्रमशः उभयविध सौन्दर्य का सन्निधान भी आज आनन्द का संवाही नहीं रह गया है।

ऊपर कला और सौन्दर्य की साधना के जिन दो क्रमों का निर्देश किया गया गया है उन दोनों ही क्रमों में समात्मभाव का आधान क्रमशः मन्द होने के कारण कला के इन दोनों ही क्रमों में आनन्द का स्रोत मन्द होता गया। **समात्मभाव के मन्द होने का कारण सदा व्यक्तित्व का संकोच होता है। अपने अहंकार और स्वार्थ की सीमाओं में व्यक्तित्व जितने कठोर होते जाते हैं उतनी ही समात्मभाव की संभावना उनमें कम होती जाती है।** यद्यपि सौन्दर्य शास्त्र का इतिहास कला और काव्य के इतिहास में उसी प्रकार उत्तरोत्तर विकास देखना चाहेगा जिस प्रकार समाज के अन्य अंगों के शास्त्र देखना चाहते हैं, किन्तु सत्य यह है कि कला और सौन्दर्य का सबसे अधिक सम्पन्न और समृद्ध रूप प्राचीन लोक-कलाओं और लोक-पर्वों में मिलता है। इनमें समात्मभाव सबसे अधिक सहज और स्वस्थ रूप में सम्पन्न होता है। इसीलिये इनमें सौन्दर्य और आनन्द का नैसर्गिक स्रोत प्रवाहित होता है। प्राचीन काल के ये लोक-पर्व ही कला और संस्कृति के सबसे उत्तम और समृद्ध रूप हैं। उनमें समात्मभाव का एक सहज सक्रिय और सजीव रूप मिलता है। एक सम्पन्न समात्मभाव की स्थिति से निसर्ग भाव से प्रसूत होने के कारण इनमें संकुचित अर्थ में व्यक्तित्व और अहंकार का संश्लेष नहीं होता। लोक गीतों और लोक नृत्यों की रचना कदाचित् कोई एक व्यक्ति नहीं करता। सामाजिक समात्मभाव की कलात्मक

स्थिति में ही उनका प्रणयन होता है। व्यक्तियों का जो इनमें सहयोग होता है उस पर व्यक्तित्व की छाप का आग्रह नहीं होता। इनमें व्यक्तियों की स्वतंत्र रचनाएँ भी होंगीं किन्तु वे भी लोक कला के सागर की वीचियाँ बन गई हैं। यदि लोक-गीतों के ये प्रणेता चाहते तो मध्य काल के कवियों और आधुनिक लोक-गीतकारों की भाँति अपनी रचनाओं पर अपने नाम की छाप तो लगा ही सकते थे। **ऋग्वेद के मंत्र प्राचीन लोकगीतों की भाँति ही कुल परम्पराओं में प्रणीत हुए हैं। इसीलिए वे काव्य के सबसे अधिक पूर्ण और सुन्दर रूप हैं। समात्मभाव की स्थिति में ही उनका प्रणयन हुआ, समात्मभाव की स्थिति में ही वे गाये जाते थे और अधिकांश मंत्रों में समात्मभाव की भावना ही ओत-प्रोत है। भाव, रूप और तत्व तीनों की दृष्टि से समात्मभाव से सम्पन्न होने के कारण वे कला और सौन्दर्य की तीनों विमाओं की दृष्टि से पूर्ण हैं।** श्रेष्ठ लोक-गीतों की भी यही स्थिति है। लोक-नृत्यों में भी समात्मभाव की इन तीनों ही विमाओं का सन्निधान होता है। लोक-गीत कला और सौन्दर्य के स्रोत हैं जो जीवन के उन्नत हिमाचलों से निःसृत होकर निरन्तर प्रवाहित रहते हैं। लोक-नृत्य कला और सौन्दर्य के उत्स हैं जिनमें कला और सौन्दर्य का उल्लास समय समय पर उमड़ उठता है। किन्तु लोक-पर्व कला और सौन्दर्य के महासागर है जो सदा जीवन की तरंगों से आन्दोलित रहते हैं, जिनके गर्भ में भावों के अनन्त रत्न और मोती भरे रहते हैं, जिनके असीम विस्तार एक ओर अपने वेलातट पर जीवन के धरातल तथा अभिषेक करते हैं और दूसरी ओर चेतना की दिव्य कामनाओं के क्षितिजों का आलिंगन करते हैं। इन लोकपर्वों में जीवन के यथार्थ के साथ कलात्मक सौन्दर्य की परिपूर्ण संगति है। वस्तुतः जीवन के यथार्थ की साधारण और विस्तृत भूमि पर कलात्मक सौन्दर्य के समन्वय से ही लोकपर्वों का रूप सम्पन्न होता है। समस्त समाज में व्यापक होने के कारण लोक-पर्वों के सौन्दर्य का विस्तार जीवन और समाज के विस्तार के समान है। समात्मभाव पर आश्रित होने के कारण पर्व के सौन्दर्य में भाव की गम्भीरता होती है। लोक-पर्व की सुषमा में मानों समस्त जीवन और समाज सौन्दर्य से अंचित हो जाता है। सौन्दर्य की आलोक-रश्मियों से ज़ीवन की गहराइयों में अनन्त ज्योतिलोकों की रचना होती है। मानों सारा जीवन ही कलामय हो जाता है। व्यापकता और गम्भीरता के कारण लोक-पर्वों में कलात्मक सौन्दर्य के स्फुरण की असाधारणता महत्वपूर्ण नहीं रह जाती। भारतीय संस्कृति की परम्परा में लोक-पर्वों के दैनिक क्रम ने इस

असाधारण की भावना को और भी मन्द कर दिया है। **मानों भारतीय जीवन का समस्त विधान लोकपर्वों का एक महासागर है और प्रत्येक दिन के पर्व उसकी आलोकित वीचियां हैं। साधारण बनकर मानों कला का सौन्दर्य जीवन में आत्मसात् हो गया है।** किन्तु इस साधारणता में एकरसता के कारण नीरसता न आ जाये इसलिये इन पर्वों की वीचियों में आकार और उत्कर्ष का एक तारतम्य है। **उत्सवों के उत्कर्ष के इस तारतम्य के द्वारा मानों समस्त जीवन स्वरों के आरोह-अवरोह क्रम से निर्मित सौन्दर्य की राक रागिनी बन जाता है।** यह आरोह और अवरोह दैनिक और व्यापक पर्वों की साधारणता की एकरसता भंग करने के साथ-साथ पर्वों के निरन्तर क्रम में भी नवीनता का निर्वाह करता है। पर्वों की इस वर्षव्यापी योजना के महासागर में दैनिक पर्वों की ऊत्तराधर वीचियों के साथ-साथ लोक-संगीत और लोक-नृत्य के ज्वार भी समाहित हैं। इस प्रकार लोक-पर्वों की यह निरन्तर परम्परा समस्त लोक जीवन में नित्य नये सौन्दर्य और आनन्द का संचार करती है। यही कला और सौन्दर्य का पूर्णतः सम्पन्न और समृद्ध रूप है।

भारतीय संस्कृति की परम्परा के व्यापक लोक-पर्वों की तुलना में कला और सौन्दर्य के अन्य समस्त रूप असाधारण और व्यक्तिगत हैं। साधारण जीवन की उदासीन भूमि में वे उत्सों के समान उमड़ते हैं। जीवन के यथार्थ और समाज की व्यापकता के साथ उनकी पूर्ण संगति नहीं है। सामान्यतः समात्मभाव की स्थिति में ही महान् प्रतिभाओं की कलाकृतियां भी उद्भूत और सम्पन्न हुई हैं। किन्तु इन प्रतिभाओं के समात्मभाव की व्यापकता लोकपर्वों के समात्मभाव की तुलना में बहुत सीमित है। कर्तृत्व का अहंकार इसकी सबसे पहली सीमा है। भाव के अतिरिक्त इसके रूप और तत्व में भी समात्मभाव का सन्निधान सीमित परिमाण में ही होता है। **लोकपर्वों का समात्मभाव पूर्ण और व्यापक होता है। उसमें सभी जन समान रूप से सौन्दर्य के स्रष्टा, भागी, और अनुरागी होते हैं।** महान् प्रतिभाओं की कलाकृतियों में समात्मभाव की यह पूर्णता कर्त्ता और अनुरागियों में विभाजित हो जाती है। प्रतिभा का परिप्रेक्ष्य सीमित होने के कारण जीवन के रूप और तत्व का समाहार भी सीमित ही होता है। जीवन का समग्र यथार्थ इन महान् कृतियों में कलात्मक सौन्दर्य से अंचित नहीं हो पाता। व्यापकता की इस सीमा में सौन्दर्य में घनिष्ठता लाने के लिये रचना के शिल्प की समृद्धि होती है, जो विकिल-

मान के अनुसार कला के ह्रास का लक्षण है। **प्रतिभा की महान कलाकृतियों का उदय और विकास व्यक्तित्व के अहंकार, असाधारणता और समात्मभाव के संकोच के साथ ही हुआ है।** इसमें सन्देह नहीं कि तत्व की दृष्टि से व्यापक न होते हुए भी इन कृतियों में भाव की गम्भीरता है तथा ये पूर्ण कलात्मक सौन्दर्य के लिये अपेक्षित समात्मभाव की श्रेष्ठ निमित्त बन सकती हैं। विकसित सभ्यता के युगों में जबकि समात्मभाव के अन्य आधार उच्छिन्न हो रहे हैं, जीवन के साँस्कृतिक सौन्दर्य की रक्षा के आधार ये कलाकृतियाँ ही हैं। इस दृष्टि से कला के सीमित रूप होते हुए भी इन कृतियों की महिमा असीम है। इसी महिमा के कारण इनके प्रति मनुष्य समाज का असीम आदर रहा है। वस्तुत: ये कलाकृतियाँ लोक-पर्व के महासागर के पोत हैं जिनके अवलम्ब से हम इस सागर के वेलातट का स्पर्श भी कर सकते हैं और दूसरी ओर दिव्य कामनाओं के अनन्त क्षितिजों की ओर अभियान भी कर सकते हैं। किन्तु कलात्मक अभिव्यक्ति के शिल्प के विकास के कारण इन कलाकृतियों में समात्मभाव के भाव और तत्व के सीमित होने के साथ साथ रूप का महत्व बढ़ता गया है। धीरे धीरे यह 'रूप' एक शैली और शास्त्र बनता गया है तथा साधारण जन की पहुँच के बाहर होता गया है। **यों समात्मभाव के संकोच में उद्भूत होने के कारण कलाकृतियाँ उत्तरोत्तर समात्मभाव के संकोच में ही फलित हुई।** लोक जीवन से कला के क्रमश: दूर होते जाने का कारण समात्मभाव के ह्रास की यही गति है। जो बाह्य अभिव्यक्ति समात्मभाव के सौन्दर्य को साकार बनाती है उसकी व्यापक समात्मभाव के सौन्दर्य को उद्भूत करने की क्षमता निरन्तर कम होती गई। दूसरी ओर कलात्मक सौन्दर्य के अन्य प्राकृतिक और कृत्रिम उपकरणों में भी समात्मभाव का सौन्दर्य क्रमश: कम होता गया। प्रकृति से सभ्यता क्रमश: दूर होती गई। विज्ञान और व्यापार की उन्नति से कुटीर-उद्योगों की लघुतर कलाओं में भी समात्मभाव का सौन्दर्य क्षीण होता गया। प्रकृति के उपादानों की ऐन्द्रिक प्रियता आज भी यथावत् है। सभ्य जीवन के उपकरणों में बाह्य रूप और ऐन्द्रिक प्रियता का सौन्दर्य समृद्ध हो रहा है। फिर भी कलाकृतियों के रस की भांति सौन्दर्य के ऐन्द्रिक उपकरणों का आनन्द आज क्यों मन्द होता जा रहा है? इसका एक मात्र उत्तर यही है कि जिस समात्मभाव की व्यापकता में प्राचीन कला में सौन्दर्य का स्रोत उदित हुआ था। उसके प्रवाह सभ्यता की मरुभूमि में सूख रहें हैं। यान्त्रिक उत्पादन

के युग में जीवन के उपकरणों में समात्मभाव के सौन्दर्य का सन्निधान आज कठिन दिखाई देता है। जीवन में समात्मभाव की मन्दता के कारण कलाकृतियाँ भी समात्मभाव के सौन्दर्य के जागरण और स्थापन में असमर्थ हैं। इसीलिये सांस्कृतिक आनन्द से विमुख होकर सभ्यता की गति ऐन्द्रिकता की उन्मादक प्रियता की ओर बढ़ रही है। सभ्यता की इन सीमाओं का संकोच अनन्तः मनुष्य जीवन की विडम्बनामयी असफलता प्रमाणित होगा। लोक-कला और लोक-संस्कृति में सभ्य समाज की रुचि इस सत्य का संकेत करती है कि मनुष्य की पीड़ित आत्मा सभ्यता की भ्रान्तियों में भी अपने स्वरूप के मौलिक सत्य की खोज में भटक रही है। किन्तु दूसरी ओर सभ्यता की सीमाओं और असमर्थताओं ने लोक-कला और लोक-संस्कृति को प्रदर्शिनी के रूप में प्रस्तुत करके एक कौतूहल और मनोरंजन की वस्तु बना रखा है। इस विडम्बना में लोक संस्कृति और लोक कला का शेष सौन्दर्य भी अपने स्वरूप को भूलकर विशीर्ण हो रहा है। वस्तुतः यह प्रदर्शन लोक-कला और लोक-संस्कृति के जीवित रूप नहीं वरन् उनके अभिनय मात्र हैं। यह अभिजात कला के रूप में लोक-कला का अनुवाद है। यह फिर एक बार प्रतिभाओं की रुपात्मक कला के शिल्प की लोक-कला की निसर्ग आत्मा पर विजय है। यही विजय जीवन्त कला की पराजय भी है। प्राचीन लोक-पर्वों और लघुतर कलाओं के सहज और व्यापक सौन्दर्य में ही कला की जीवन के समग्र ओर साधारण यथार्थ से संगति संभव है। आज हम कलात्मक सौन्दर्य की इस पूर्णता से बहुत दूर आ गये हैं। यह तथ्य कला की प्राचीन रूप की पूर्णता को किसी प्रकार भी खण्डित नहीं करता। आज सभ्यता की सीमाओं के कारण हम कला के उस पूर्ण और स्वस्थ्य रूप को जीवन में प्रतिष्ठित करने में असमर्थ हैं, यह हमारी विवशता है, कला की विफलता नहीं। सभ्यता की इन सीमाओं ओर विवशताओं में कला का सौन्दर्य अभिजात्य का कृत्रिम अलंकार बन सकता है, ऐसी स्थिति में वह समग्र समाज की सम और व्यापक आत्मा नहीं बन सकता। जब अलंकारों की भ्रान्ति मनुष्य को संतुष्ट न कर सकेगी तो सम्भव है एक बार फिर मनुष्य की आत्मा कला के जीवित रूप में अपने स्वरूप का अनुसंधान करने की ओर तत्पर हो। कला के इस जीवित और व्यापक रूप की भूमिका में ही शुद्ध और अभिजात कलाओं की साधना भी जीवन के सौन्दर्य को समृद्ध बना सकेगी।

उपसंहार

अध्याय ६२

जीवन और संस्कृति में सत्यं-शिवं-सुन्दरम्

मनुष्य के इतिहास और उसकी संस्कृति को देखने से विदित होता है कि सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की त्रिवेणी के किनारे ही उसके ऐतिहासिक पर्वों के पीठ तथा सांस्कृतिक तीर्थ बसे हैं। सत्य की जिज्ञासा तो मनुष्य की मूल प्रेरणा रही है। मूलतः सत्य के निरपेक्ष अनुराग ने ही मनुष्य के अनुसन्धान को प्रेरित किया है। सत्य की इस शोध में कितना त्याग, तप और बलिदान मनुष्य ने किया है इसका इतिहास एक साथ मनुष्य की महिमा और सत्य के गौरव को प्रमाणित करता है। प्राचीन भारत के ऋषि मुनियों ने जीवन के आन्तरिक और आध्यात्मिक सत्य की साधना में अपना तपोमय जीवन अर्पित किया है। योरोप के अनेक सत्यार्थियों ने प्रकृति के सत्यों के उद्घाटन में अपने प्राणों की बलि दी। पूर्व की आध्यात्मिक विभूति ऋषियों की उसी साधना की विभूति है। आधुनिक विज्ञान योरोप के उन्हीं बलिदानी अन्वेषकों के उद्योग का फल है। मुनियों और वैज्ञानिकों की यह तत्व-जिज्ञासा साधारण जनों में भी पाई जाती है। शैशव से ही मनुष्य का कौतूहल सृष्टि और जीवन के तत्वों की जिज्ञासा करता है। मनुष्य की यह जिज्ञासा सदा ही बनी रहती है। किसी वस्तु में भी रहस्य का आभास होने पर वह उसे जानना चाहता है। जानकर सन्तुष्ट होता है, साथ ही मनुष्य अपने ज्ञान को अपने तक सीमित रखना नहीं चाहता। वह अपने ज्ञान का वितरण कर दूसरों को उसका भागी बनाना चाहता है। वह दूसरों के ज्ञान का भी भागी बनना चाहता है। सत्य का साझीदार बनाने और बनने की वृत्ति मनुष्य की सामाजिकता का एक रूप है। पहला चरण मनुष्य की चेतना का सौन्दर्य है, दूसरा उसकी वृत्ति के शिवत्व का प्रमाण है। मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति के विकास में सत्य का यह त्रिविध रूप ही आधार रहा है। इतिहास, विज्ञान, शास्त्र, कला, साहित्य, दर्शन आदि सभी किसी न किसी रूप में सत्य की साधना के ही फल हैं।

किन्तु सत्य स्वरूपतः निरपेक्ष है। अतः जहाँ तक सत्य के निरपेक्ष रूप का सम्बन्ध है उसमें मनुष्य की प्रतिभा का प्रकाशन अवश्य हुआ है और साथ ही जन-

साधारण की बुद्धि का विकास भी हुआ है। किन्तु संस्कृति के स्वरूप निर्माण में सुन्दरम् और शिवम् का योग अधिक है। परार्थ और पारस्परिकता संस्कृति की मूल ध्रुवाएँ हैं। इनका विस्तार सत्य के निरपेक्ष रूप की अपेक्षा सुन्दरम् और शिवम् में अधिक होता है। सत्य के जिस पूर्ण रूप में इन तीनों का समाहार है वह तो मनुष्य की सांस्कृतिक साधना का पूर्ण समाधान बन सकता है। किन्तु सत्य का निरपेक्ष रूप केवल जिज्ञासा का समाधान और बुद्धि का परितोष करता है। बुद्धि स्वरूपतः निष्क्रिय और एकान्त है। क्रिया और सामाजिकता उसके स्वरूपगतः लक्षण नहीं हैं। संस्कृति मनुष्य के सामाजिक विकास का सक्रिय रूप है। सामाजिक सम्बन्ध में ही सुन्दरम् और शिवम् के स्वरूप का विस्तार होता है। सुन्दरम् प्रकाशन और प्रदान है। शिवम् प्राप्ति और आदान है। सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का यह आदान-प्रदान प्राकृतिक आदान-प्रदान से भिन्न है। प्राकृतिक आदान-प्रदान देश, काल, कारण, व्यक्तित्व आदि के प्राकृतिक नियमों से नियंत्रित रहता है। देश, काल के नियम से सीमित होने के कारण तद्गत अयौगपद्य प्राकृतिक आदान-प्रदान की सीमा है। प्राकृतिक वस्तु एक ही देश-काल में हो सकती है तथा एक ही व्यक्ति उसके भाव और भोग का आश्रय हो सकता है। कारणता का अनिवार्य नियम उसमें स्वतंत्रता की सीमा है। किन्तु सांस्कृतिक भावों के सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के आदान-प्रदान में देश-काल-गत यौगपद्य संभव है। संस्कृति के भावों का विस्तार देश-काल से ऊपर संभव है। प्राकृतिक वस्तु के विपरीत सांस्कृतिक भाव अनेक देश और अनेक कालों में युगपत् संभव हो सकता है। अनेक व्यक्ति एक साथ उस भाव के सौन्दर्य और मंगल के भागी बन सकते हैं। इस विस्तार और विभाजन से सांस्कृतिक भावों का मूल्य, महत्त्व और आनन्द घटता नहीं वरन् बढ़ता है। प्रकृति से विपरीत भाव-समृद्धि का यही क्रम संस्कृति का मर्म है। प्राकृतिक कारणवाद के विपरीत स्वतंत्रता इस समृद्धि की विभूति को अगुणित बढ़ा देती है। आत्मा की स्वच्छन्द प्रेरणा से अनेक देशों और कालों में एक साथ अनेक व्यक्तियों के जीवन की विभूति बनकर संस्कृति के भाव स्वार्थ और अहंकार की प्राकृतिक सीमाओं को भंग कर परार्थ और पारस्परिकता के तादात्म्य में जीवन के नवीन क्षितिजों का उद्घाटन करते हैं। मनुष्य की विकसित चेतना और समृद्ध भावना इसी सांस्कृतिक साधना में सार्थक होती रही है। इसी साधना में उसकी अनेकविध सामर्थ्य को भी सफलता का गौरव मिला है। सत्य इसी साधना का स्रोत तथा शिवम् और सुन्दरम् उस स्रोत के फूल हैं।

संस्कृति के इन भावों का विस्तार स्वतंत्र रूप से हुआ है। आत्मा की स्वतंत्र चेतना इसकी प्रेरणा रही है। किन्तु प्रकृति जीवन का अनिवार्य आधार है। अतः प्रकृति की सहज भूमिका पर ही संस्कृति के स्वतंत्र भावों की प्रतिष्ठा होती रही है। प्राकृतिक आधारों में सांस्कृतिक भावों का अन्वय सृष्टि की सफलता का एक अद्भुत रहस्य है। सभ्यता के इतिहास में संस्कृति के इस समन्वित रूप का प्रमाण मिलता है। मनुष्य जीवन में हमारी प्राकृतिक वृत्तियों के धर्म प्राकृतिक न रहकर सांस्कृतिक बन गये हैं। प्रकृति के स्वार्थमय आधार पर परार्थ और पारस्परिकता का नवीन सांस्कृतिक विधान प्रतिष्ठित हुआ है। मनुष्य की भोजन, आश्रय, काम आदि की प्रवृत्तियाँ पूर्णतः प्राकृतिक और स्वार्थमय नहीं हैं, वह अकेले की अपेक्षा संग में भोजन करना अधिक पसन्द करता है। स्वयं खाने के साथ साथ दूसरों को खिलाने में भी उसे आनन्द मिलता है उसका आश्रय व्यक्तिगत निवास नहीं है। उस निवास के दूसरों के द्वारा उपयोग में उसे आनन्द मिलता है। उसका काम भी केवल प्राकृत भोग नहीं है। शरीर-धर्म के साथ साथ उसमें मनोभाव का अपरिमित आनन्द अन्वित है। इसके अतिरिक्त भोजन, आवास और काम तीनों में सांस्कृतिक भावों और परम्पराओं के सृजन का सूत्र भी है। इस सृजन में सुन्दरम् और शिवम् के सांस्कृतिक भावों का समावेश है। संस्कृति भावों के सृजन की एक सक्रिय परम्परा है। इन भावों में प्रदान सौन्दर्य का तत्व है और आदान शिवम् का तत्व है। वस्तुतः इनको प्रदान और आदान कहना औपचारिक तथा सापेक्ष है। चेतना के भाव-लोक में 'स्व' और 'पर' का भेद कठोर नहीं सापेक्ष और व्यावहारिक ही है। 'स्व' की अपेक्षा से सुन्दरम् की अभिव्यक्ति दूसरों को अपने अनुभव में भाग लेने के लिये आमन्त्रण है। इस दृष्टि से हम उसे 'प्रदान' कह सकते हैं। स्वरूपतः वह अभिव्यक्ति ही है। इसी प्रकार शिवम् में दूसरी के अनुभव में भाग लेने को आदान कहा जा सकता है। किन्तु वस्तुतः शिवम् में हम दूसरे के अनुभव में भाग लेकर अपनी चेतना के भाव का योग दे सकते हैं। अतः शिवम् को आदान की अपेक्षा आत्मदान कहना अधिक उचित है। दोनों में ही चेतना का समात्मभाव है शिवम् और सुन्दरम् का समान आधार है। समात्मभाव के मूल में ही सुन्दरम् की अभिव्यक्ति और आत्मदान के भाव पुष्पित और फलित होते हैं। ये भावगत सौन्दर्य और मंगल साँस्कृतिक विकास के आन्तरिक तत्व हैं। किन्तु बाह्य रूपों और व्यवहारों में ही संस्कृति का यह सूक्ष्म तत्व साकार होता है। संस्कृति के क्षेत्र में एक ओर कला और साहित्य में

वर्णों और स्वरों तथा शब्दों के भव्य रूपों की रचना होती रही है। दूसरी ओर सामाजिक व्यवस्था में मानवीय सम्बन्धों के सुन्दर और शिव रूप समृद्ध होते रहे हैं। सौन्दर्य और मंगल के आन्तरिक भाव मानवीय जीवन की विभूति हैं। उनके अनुरूप बाह्य रूपों, सम्बन्धों और व्यवस्थाओं की रचना प्रकृति की सृष्टि का दिव्य अभ्युदय है।

कला, साहित्य और काव्य में संस्कृति की इसी विभूति की रचनात्मक परम्पराएँ निर्मित होती हैं। कोई भी कला, साहित्य या काव्य इस सांस्कृतिक परम्परा में क्या स्थान और महत्त्व रखता है इसका निर्णय इसी पर निर्भर है कि उसमें संस्कृति के मूल भावों की परम्परा का कितना वैभव समाहृत है तथा सांस्कृतिक भावों की भावी परम्पराओं को प्रेरणा देने की कितनी शक्ति है। अतीत की विभूति को आत्मसात करके तथा भावी सम्भावनाओं के बीजों का सृजन करके ही वर्त्तमान की साहित्य-साधना कृतार्थ होती है। उपनिषदों के 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' तथा गीता के 'कविं पुराणमनुशासितारम्' वचन कदाचित् काव्य की इसी सृजनात्मक त्रिकाल व्यापि तथा कालातीत वृत्ति का संकेत करते हैं। शंकराचार्य का 'कविः क्रान्तदर्शी सर्वदृक' मंत्रभाष्य इस धारणा का समर्थन करता है। उपनिषदों का आध्यात्मिक रसवाद काव्य और कविधर्म की इस भावना के पूर्णतः अनुरूप है। काव्य की यही त्रिकाल और कालातीत साधना उसका सनातन सौन्दर्य है। उसकी रचनात्मक प्रेरणा ही उसका शाश्वत मंगलसूत्र है। काव्य का यही सौन्दर्य और मंगल उसे संस्कृति की विभूति बनाता है। यही विभूति जीवन के आन्तरिक आनन्द का अक्षय स्रोत है।

सत्य के आधार पर शिवम् और सुन्दरम् में जीवन की संस्कृति की परिणति होती है। पुराण और स्वयम्भू कवि परमेश्वर की सृष्टि के विकास तथा मनुष्य जीवन के विकास का यही क्रम है। सांस्कृतिक काव्य में भी सर्ग और जीवन का यही क्रम अभीप्सित है। सर्ग के क्रम में प्रकृति के सत्य पर सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हुई और मनुष्य की प्रेम भावना के शिवम् में सृष्टि को पूर्णता प्राप्त हुई। शिवम् के प्रेम, रस और आनन्द में सृष्टि का सौन्दर्य सार्थक हुआ। इसी प्रकार मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में बाल्यकाल सत्य का युग है। बालक के जिज्ञासा और कौतूहल उसके अनवरत अनुसंधान की प्रेरणा बनते हैं। बालक की वृत्ति स्वार्थमय होती है। वह दूसरों से ज्ञान प्राप्त करना चाहता है अतः उसमें शिव की अस्फुट

क्षमता तो होती है किन्तु उसका ज्ञानार्जन स्वार्थमय संचय के रूप में अधिक होता है। अपने बाल-समाज में अपने साथियों के साथ प्रायः प्रकट होने वाली उसकी सहानुभूति और उसके प्रेम में शिवम् का भाव अधिक स्फुट रूप में देखा जा सकता है। सुन्दरम् का भाव बालकों में इससे अधिक स्फुट होता है। वे चाहते हैं कि उनके क्रीड़ा, कला-कौशल आदि के आनन्द में दूसरे भी भाग लें। कैशोर में सुन्दरम् के साथ-साथ शिवम् की भावना की अधिक वृद्धि होती है। अबोध और स्वार्थमय बाल्य के बीत जाने पर कैशोर में साहस, उत्साह, त्याग, सेवा, सौहार्द आदि की ऐसी अपूर्व वृत्तियाँ उदित होती हैं जो शिवम् के महत्त्वपूर्ण तत्व हैं। राम का ताड़का-बध, अभिमन्यु का चक्रव्यूह भेदन, गोरा-बादल की वीर गति, गोविन्दसिंह के पुत्रों और हकीकतराय का बलिदान आदि कैशोर के इसी उदार और उज्जवल विकास के उदाहरण हैं। रचना शिवम् का एक मुख्य तत्व है। बाल्य में यह रचना बाह्य और प्राकृत होती है। अभिव्यक्ति के कारण उसमें सुन्दरम् का भाव तो होता है किन्तु शिवम् का भाव इतना स्फुट नहीं होता। कैशोर के स्नेह-सम्बन्धों तथा सहयोगों में आन्तरिक भाव-सृष्टि का अपूर्व उदय होता है। यौवन में सुन्दरम् के उत्कर्ष में जीवन के काव्य की पूर्ण परिणति होती है। प्राकृतिक और आन्तरिक उत्कर्ष की विभूति में विभोर यौवन वासन्ती प्रकृति के समान अपने व्यक्तित्व का सौन्दर्य और सौरभ चतुर्दिक विकीर्ण करके सबको अपनी विभूति में भाग लेने का आमन्त्रण देता है। लोक की प्रशंसा और प्रेम के अनुदान में उदारता का अनुभव कर कैशोर का शिवम् भी यौवन में अधिक समृद्ध और समर्थ हो जाता है, यदि प्रकृति का आवेग और सुन्दरम् का उदार स्वार्थ उसे अभिभूत न करले। कैशोर में शिवम् की अपूर्व और स्फुट वृद्धि मानवीय विकास में उसके महत्व की द्योतक है। सत्य के आधार पर शिव की प्रतिष्ठा करके सुन्दरम् में उसकी परिणति जीवन और संस्कृति के काव्य का लक्षण है। प्रकृति कें काव्य का क्रम इससे भिन्न है। उसमें प्रकृति के वैभव और मनुष्य के देह में सत्य के आधार पर सुन्दरम् की अभिव्यक्ति पहले हुई। प्राकृतिक विकास की पूर्णता के बाद ही चेतना के सांस्कृतिक शिवभाव का विकास हुआ।

मानवीय साहित्य के काव्य में प्रकृति और संस्कृति के ये दोनों ही संस्कार काम करते रहे हैं। मानवीय संस्कृति के बाल्य का इतिहास तो अधिक उपलब्ध नहीं है किन्तु उसके कैशोर में शिवम् के भाव की प्रधानता स्पष्ट है। व्यास,

वाल्मीकि के काव्यों में शिवम् का ही प्रभुत्व है। सुन्दरम् का पर्याप्त समन्वय होते हुए भी उनमें दूसरों की अनुभूति का भागी बनकर उसे समृद्ध बनाने का शिव भाव ही उनमें प्रचुर है। कालिदास का काव्य पूर्ण यौवन का काव्य है जिसमें शिवम् का पर्याप्त अन्वय होते हुए मी सुन्दरम् की प्रधानता है। भवभूति, भारवि और वाण के काव्य में कालिदास के काव्य के इस समन्वय का निर्वाह करने का सचेतन प्रयत्न है। ऋग्वेद के बाद ही भारतीय संस्कृति में वृद्धत्व के दर्शन दिखाई देने लगे थे। यजुर्वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों की कठोर यज्ञ-विधियाँ तथा सूत्रों के सिद्धान्त-विधान भी इसी के लक्षण हैं। वैदिक युग के अपकर्ष काल में उपनिषदों के अध्यात्म तथा जैन और बौद्ध धर्मों की अहिंसा भी इसी का संकेत करते हैं। किन्तु काव्य कालमयी होता है। कवि की प्रतिभा समय की सीमाओं को लाँघकर जीवन के अमृत तत्वों का चित्रण करती है। कालिदास में इस प्रतिभा का अद्भुत रूप देखने को मिलता है। भारवि, भवभूति और वाण में भी यह प्रतिभा अपने धर्म के प्रति सजग है। किन्तु सभी में ऋग्वेद के बाद आरम्भ होने वाले वृद्धत्व के संस्कारों का कुछ न कुछ प्रभाव है।

वृद्धत्व में भविष्य की संभावनाओं का अन्त होने के कारण चेतना अतीत की परम्पराओं का ही पिष्टपेषण करती है। नियमों के यान्त्रिक पालन और शासन का मोह बढ़ जाता है। भोग में असमर्थ होने पर भी मानसिक विलास की कामना प्रबल हो उठती है। उपनिषदों में बाल्य की सरलता को साधना की पराकाष्ठा माना है। किन्तु वस्तुतः वार्धक्य में बाल्य के समान स्वार्थ का अभ्युदय होता है। वार्धक्य में सत्य प्रगतिशील नहीं रहता। वह स्थिर होकर जड़ बन जाता है। स्वार्थ के कारण शिवम् की संभावना बहुत कम हो जाती है। सुन्दरम् के लिये भी जीवन में अनुभूति की भव्य विभूति अधिक नहीं रह जाती। इसीलिए मध्ययुग के संस्कृत और हिन्दी काव्य में हमें न सत्य का प्रगतीशील रूप मिलता है और न शिवम् की भावना और सुन्दरम् की अभिव्यक्ति ही अधिक है। मनोविलास, काम शास्त्र और काव्य-शास्त्र के नियमों का निर्वाह तथा बुद्धि के कौशल का चमत्कार यही इस काव्य के मुख्य लक्षण हैं। श्रद्धा और समर्पण का आश्रय भी वृद्धत्व का लक्षण है और वह भक्तिकाव्य को जन्म देता है। माघ, श्रीहर्ष, तुलसी, देव, बिहारी आदि में काव्य का यही रूप प्रधान है। सजीव सत्य तथा शिवम् और सुन्दरम् के अन्वय से युक्त यौवन के काव्य के उदाहरण इस युग में बहुत कम मिलते

है। राष्ट्रीय जागरण के अरुणोदय में प्रसाद और निराला के काव्य में हमें इसका पूर्वदर्शन मिलता है। स्वतंत्रता के प्रभात में अनेक कवि-किशोरों के कंठ से इस स्वस्थ काव्य के स्वर फूट चले हैं।

सम्पूर्ण काव्य की दृष्टि से कालिदास का काव्य इस आदर्श के सबसे अधिक निकट है। उसके सम्बन्ध में केवल एक ही आक्षेप किया जा सकता है। वह यह कि कामसूत्र के प्रभाव के कारण यौवन का प्राकृत रूप ही कालिदास के काव्य में अधिक प्रस्फुटित हुआ है। उसमें विलास और सौन्दर्य की प्रधानता है। शिवम् के तत्व उसमें अनेक स्थानों पर समाहृत हैं। किन्तु उनका समस्त काव्य सुन्दरम् से सुषमित शिवम् के स्फुट और ओजस्वी रूप को प्रस्तुत न कर सका। शिव के रचनात्मक रूप को ओज का सम्बल चाहिये। कालिदास के काव्य में प्रसाद और माधुर्य की प्रधानता है। प्रसाद सत्य का गुण है। वह काव्य में सत्य को हृद्य रूप देता है। माधुर्य सुन्दरम् का गुण है। वह काव्य को रमणीय बनाता है। किन्तु जीवन के सजीव सत्य को शिव-भावना का रचनात्मक रूप देने के लिये ओज गुण की अपेक्षा है। प्रसाद और निराला के काव्य में जहाँ जहां शिवम् का यह रूप स्फुट हुआ है, वहाँ ओज के ही द्वारा हुआ है। आधुनिकतम काव्य में छायावाद के कोमल भाषा-संस्कार तथा भारतीय स्वभाव की प्रकृत-मृदुलता के कारण माधुर्य की अभिव्यक्ति ही अधिक हो रही है। युगों के बन्धन और कुंठाओं के कारण आत्माभिव्यक्ति के सुन्दर काव्य के सहस्रशः स्रोत फूट पड़े हैं। प्राकृत यौवन की वृत्ति तथा युग की तदनुरूप प्रवृत्ति भी इसका कारण है। किन्तु माधुर्य और सौन्दर्य के इस सागर में भी समय-समय पर ओज के ज्वार उठते हैं। ओज की ऊष्मा से उठकर निर्माणमुखी मेघमालाएँ सांस्कृतिक यौवन के गौरीशंकर के मार्ग का अनुसरण भी करती हैं।

किन्तु व्यास और वाल्मिकी के बाद अधिकाँश काव्य में प्राकृत यौवन का रूप ही अभिव्यक्त हुआ है। अतः उसमें सुन्दरम् की ही प्रधानता है। जो काव्य अतीत परम्पराओं के पिष्ट-पेषण, नियमों के आग्रह और मनोविलास से पूर्ण है वह तो वृद्धत्व का लक्षण है। साहित्य में वह उतना ही मान्य है जितने समाज में वृद्ध। किन्तु जिस काव्य में यौवन का रूप प्रस्फुटित हुआ है उसमें भी विलास, माधुर्य और सौन्दर्य की प्रधानता है। आत्माभिव्यक्ति की प्रमुखता के कारण उनमें सुन्दरम् का रूप ही अधिक निखरा है, आधुनिक युग का अधिकांश गीतिकाव्य इसी आत्मा-

भिव्यक्ति से प्रेरित होने के कारण सुन्दरम् की कोटि के अन्तर्गत है। वाल्मीकि के बाद सांस्कृतिक-यौवन का परिपूर्ण काव्य भारतीय साहित्य में दुर्लभ ही है। कालिदास, भारवि, भवभूति, बाण, प्रसाद, निराला और दिनकर के स्वस्थ संस्कारों को आत्मसात करके निकट भविष्य में सांस्कृतिक-यौवन के सत्य पर आश्रित, सुन्दरम् से सुषमित, शिव-काव्य का सूर्योदय हिन्दी जगत में होगा। 'पार्वती' इस सूर्योदय की प्रभाती है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में ऋग्वेद और अथर्ववेद के मौलिक मंत्रों में लोक-जीवन के सृजनात्मक सत्य की जो सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है, वही मानवीय संस्कृति के मंगलमय उत्कर्ष का उत्कृष्टतम रूप है। सत्य संस्कृति का आधार, शिव उसका तत्व और सुन्दरम् उसका रूप है। सत्य के अन्तर्गत जीवन की सत्ता के प्राकृतिक तथ्य और मानसिक सिद्धान्त समाविष्ट हैं। शिवम् के आत्मदान और सुन्दरम् की अभिव्व्ति में मानवीय चेतना के तादात्म्य-भाव का समन्वय है। यही तादात्म्य आन्तरिक आनन्द का मूल है। आनन्द के इसी मूल से उत्पन्न होने के कारण ऋग्वेद का वातावरण उत्साह और उल्लास के सुमनों और सौरभ से परिपूर्ण है। ऋग्वेद भारतीय संस्कृति के उत्कर्ष के वसन्त और यौवन का प्रतीक है। पूर्वी और पश्चिमी दोनों ही प्रकार के विद्वान इस विचार से सहमत हैं। आनन्द, उत्साह, उल्लास और आशा के जो भाव ऋग्वेद के मंत्रों में ओत-प्रोत हैं वे मनुष्य के जीवन और उसकी सामाजिक संस्कृति के यौवन के लक्षण हैं। जो वेद के पूर्व का इतिहास अनुपलब्ध होने के कारण वेद को भारतीय संस्कृति का आरम्भ मानते हैं और उसमें सभ्यता के आदिम लक्षण ढूँढते हैं, उनमें बहुत से भ्रम में हैं और बहुत से जानबूझ कर अन्याय करते हैं। हमारी समस्त धार्मिक और सांस्कृतिक परम्परा बिना जाने हुए भी वेदों को मूर्धन्य मानती आई है। दर्शनों ने भी उन्हें एक अखण्ड आगम प्रमाण का पद दिया। जनता के सांस्कृतिक जीवन से उदित होने के कारण लोक-मानस में वेद-मंत्रों की प्रतिष्ठा स्वाभाविक थी।

वेदों के मंत्र अध्ययन की वस्तु नहीं वरन् लोक-जीवन के सांस्कृतिक पर्वों के आन्तरिक आनन्द के मुखर-गान थे। लोक-मानस की गहराइयों में उनके मूल थे और इन्हीं मृणालों से कोमल और उज्ज्वल मूलों से मंत्रों के ये राज-कमल विकसित हुए थे। इन राजकमलों से जीवन की श्री का सौरभ देश में विकीर्ण हो गया। लोक-जीवन की श्री तथा उसके सौन्दर्य और आनन्द के अधिष्ठान होने के कारण

वेदों की उपेक्षा करके कोई भी नेता अपने मत से भारतीय जनता को प्रभावित नहीं कर सकता था। इसीलिये यज्ञ और कर्मकाण्ड के धर्म की प्रतिष्ठा पुरोहितों ने वेद-मन्त्रों के आधार पर ही की। आज तक हमारे लोक जीवन के संस्कारों में वेद-मन्त्रों का यह अनुषंग चला आता है। यजुर्वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थों के कर्मकाण्डमय धर्म के बाद भी अनेक विचार-क्रान्तियों ने वेदों की मान्यता का अवलम्ब लिया। उपनिषद् जिनमें, कर्मकाण्ड का खण्डन किया गया है, वेदान्त माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक धर्म-शास्त्र, दर्शन आदि वेद के सर्वथा अनुकूल न होते हुए भी अपने को वेदमूलक मानते हैं। सांख्य के समान जो दर्शन प्राचीन और महत्त्वपूर्ण होते हुए भी वेद में अधिक अवलम्ब न पा सके उनकी परम्परा आगे नहीं चल सकी। सांख्य का सूत्र ही अनुपलब्ध दर्शन-सूत्रों में अकेला है। चार्वाक का मत भौतिकवादी और लोकप्रिय होने पर भी अपने को वेद-विरुद्ध घोषित करने के कारण ही आदर नहीं पा सका। सांख्य सूत्र की भाँति चार्वाक मत का वृहस्पति-सूत्र भी अनुपलब्ध है। उसका और भी कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। वैशेषिक सूत्र के आरम्भ में ही 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' कहकर वेद की वन्दना की गयी है। न्याय की परम्परा दर्शन के क्षेत्र में विरोध और विवाद उत्पन्न हो जाने के कारण विद्वानों में जीवित रही। पूर्व-मीमांसा वैदिक कर्मकाण्ड की विधियों आदि का ही विवेचन है। किन्तु पुरोहितों और विद्वानों को छोड़कर साधारण जनता उसके नाम से भी परिचित नहीं। इसका कारण यही है कि कर्मकाण्ड के जिस दर्शन का वेद मंत्रों पर आरोपण किया गया है। वह उनकी मौलिक भावना के अधिक अनुरूप नहीं है। वेदान्त दर्शन की लोकप्रियता का कारण यह नहीं है कि जनता उसके सिद्धान्तों से परिचित है अथवा उन्हें मानती है वरन् उसका यह कारण है कि ब्रह्मवाद से अनुमित अथवा अनुमत सामाजिक और सांस्कृतिक तादात्म्य का भाव वैदिक जनता और जीवन की मूल भावना के अनुकूल है।

यह तादात्म्य-भाव आज भी भारतीय जनता का मूल सांस्कृतिक भाव है। यही संस्कृति का मूल-मन्त्र भी है। लोकमानस में वेद की इसी प्रतिष्ठा के कारण उपनिषद् वेदान्त पद से विभूषित हुईं और उनका आत्मदर्शन वेदों का निष्कर्ष माना गया। वेद की मूल भावना के अनुरूप होने के कारण उपनिषद् अखिल उत्तरकालीन विचारधाराओं का आदि-स्रोत बनी। इसी कारण भगवद्गीता

जिसका उपनिषद के सिद्धान्तों और उसकी भावना से अधिक साम्य नहीं है, उपनिषदों का सार बनी। कर्मयोग के मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए भी तथा अनेक रूपों में वेद का खण्डन करते हुए भी भगवद्गीता को वैदिक परम्परा का अवलम्ब ग्रहण करना पड़ा। 'त्रैगुण्य विषया वेदा, निस्त्रगुण्यो भवार्जुन:' कहते हुए भी तथा 'वेदवादरत' पंडितों का खण्डन करते हुए गीता को प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में 'श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु' कहकर वैदिक परम्परा के अन्तर्गत रखा गया। ईश्वर और भक्ति का जो प्राधान्य भगवद्गीता में है वह वैदिक संहिताओं और उपनिषदों के अनुकूल नहीं है। महाभारत में जिस स्थान पर गीता का प्रसंग मिलता है उसकी भाव-भूमिका के साथ गीता का अधिक मेल नहीं खाता। इसीलिए अनेक विद्वान उसे महाभारत का प्रक्षिप्त अंश मानते हैं। गीता के जैसे अद्भुत दर्शन के आविष्कारक महामनीषी को भी वैदिक परम्परा के प्रस्तारक वेद-व्यास के नाम का आश्रय लेना पड़ा। महाभारत की वैदिक परम्परा और कृष्ण के नाम के संयोग को प्राप्त कर गीता लोक धर्म की चिन्तामणि बनी। वेदान्त का तर्क प्रस्थान बनकर ब्रह्मसूत्र विद्वानों में आहृत हुआ और वेदान्त का स्मृति प्रस्थान बनकर भगवद्गीता लोकमानस में पूजित हुई। गीता का 'वेदवादरता' इस बात का संकेत करता है कि प्राचीन काल में विद्वानों में वेद के सम्बन्ध में विवाद होते रहते थे। और इस पद में ऐसी ध्वनि भी निकलती है कि ये विवाद जनता में अधिक आदर की दृष्टि से नहीं देखे जाते थे। उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और गीता तीनों ही प्राचीन वैदिक संस्कृति के साम्य और तादात्म्य की मूलभावना का पौषण करने के कारण ही वेदान्त के प्रस्थान बन सके।

जैन और बौद्ध धर्मों के मूल सिद्धान्तों का वैदिक सिद्धान्तों के साथ बहुत कुछ साम्य है। जैन धर्म का अनेकान्तवाद 'एकं सद्विप्रावहुधा वदन्ति' की वैदिक भावना के अनुकूल है। कर्म-पुद्गल और आत्मा के आकार को छोड़कर जैन आत्मवाद, आचार, साधना, नीति, निर्वाण आदि की वेदान्त दर्शन से बहुत समानता है। आत्मा के आकार सम्बन्धी विवेचन भी उपनिषदों में मिलते हैं। 'प्रादेशमात्रं अभिविमानम्' का विवेचन इस प्रसंग में स्मरणीय है। बौद्धमत के अनात्मवाद को छोड़कर उसमें योग, आचार और नीति की प्रधानता भी उपनिषद दर्शन के अनुकूल है। दोनों का निरीश्वरवाद वैदिक धर्म के लिए कोई क्रान्तिकारी मत नहीं

है। वेद, वेदान्त और वैदिक षड्दर्शनों में ईश्वर का अधिक महत्त्व नहीं है। वैदिक परम्परा से इतना अधिक साम्य होते हुए भी तथा वर्ण-विभाजन के विरोध जैसी लोकप्रिय क्रान्ति का परिवर्तन करते हुए भी जैन और बौद्ध मत भारतवर्ष में अधिक प्रतिष्ठा नहीं पा सके। कुछ राजाओं का आश्रय पाकर इन्हें कुछ सामायिक प्रचार और आदर अवश्य मिला किन्तु भारतीय लोकमानस पर इन क्रान्तियों की कोई छाप नहीं है। बौद्धमत का निष्कासन विद्वानों के प्रयत्न के कारण ही नहीं हुआ वरन् विद्वानों के प्रयत्न की सफलता का कारण यह था कि बौद्धमत के सिद्धान्त लोक-मानस में अपनी जड़ें नहीं जमा सके। बौद्ध धर्म के उखड़ जाने का कारण उसका निरीश्वरवाद नहीं वरन् उसका अनात्मवाद जो वेद और वेदान्त के तादात्म्य भाव के विपरीत है तथा वेद की मान्यता का खण्डन था। आत्मवाद को मानने के कारण जैन धर्म कुछ अधिक आदर पा सका। किन्तु वेद की मान्यता का विरोध करने के कारण वह भी अधिक प्रतिष्ठित नहीं हुआ। अहिंसा और अनेकान्तवाद की उदारता अर्थ-साधना के अनुकूल होने के कारण जैन धर्म मुख्यत: वणिक वर्ग में कुछ प्रचार पा गया। किन्तु वेद का विरोध करने के कारण ये उदार क्रान्तियां भी सफल नहीं हो सकीं। इन दोनों ही धर्मों की परम्परा में जो मौलिक साहित्य मिलता है उसकी मान्यता, विशालता तथा लौकिक भाषा वेदों के स्वरूप के समान ही है। बौद्ध धर्म के पिटक एक प्रकार की संहिताएँ ही हैं। जैन धर्म के सूत्र वैदिक दर्शनों के सूत्रों के समान सूक्ष्म नहीं हैं। दोनों ही धर्मों में जातक और पुराणों के रूप में वेद की पौराणिक परम्परा भी पायी जाती है। इस सब से स्पष्ट है कि वेद का विरोध करते हुए भी ये मत वैदिक परम्परा से कितने अधिक प्रभावित थे। इतना होते हुए भी वेद के विपरीत होने के कारण इनकी उदार क्रान्तियाँ भी लोक-मत को प्रभावित नहीं कर सकीं। वैदिक परम्परा की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता कदाचित् इनके विरोध की प्रेरणा रही हो।

इन सब प्रमाणों से यही निर्देश मिलता है कि लोकमानस में वेद का सर्वाधिक आदर था। इसीलिये धर्मशास्त्रकारों ने 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' माना। दर्शन के आचार्यों ने अपने तर्कवादों में भी तर्कों से पहले श्रुति के प्रमाण प्रस्तुत किये। शंकर और रामानुज जैसे महान् आचार्यों में यह प्रवृत्ति अवलोकनीय है। वेदान्ती होते हुए भी शंकराचार्य के द्वारा अपनी माता का श्राद्ध करना जहाँ एक ओर उनकी मानवीय भावना का प्रमाण है वहाँ दूसरी ओर लोकमानस की प्रभावशाली अपेक्षाओं

का भी प्रमाण है। वेद की इस प्रतिष्ठा का कारण न उसका ईश्वर कर्तृत्व है और न उसके दार्शनिक सिद्धान्त। वह मान्य होने के कारण जनता में प्रतिष्ठित नहीं हुआ वरन् प्रतिष्ठित होने के कारण मान्य हुआ। उसकी इस प्रतिष्ठा का सहज कारण यही था कि वह लोक के जीवन और संस्कृति की उत्कर्षशील भावना से स्वयं प्रसूत था। इस प्रतिष्ठा के दृढ़ होने का कारण यह था कि वेदमंत्रों में प्राचीन जीवन और संस्कृति का यौवन पुष्पित और फलित हुआ था। सांस्कृतिक वसन्त के रूप और रस का सौन्दर्य और आनन्द ऋग्वेद के मंत्रों में ओतप्रोत है। जिस प्रकार वसन्त प्रकृति का यौवन है और यौवन मनुष्य का वसन्त है तथा विकास का चरम उत्कर्ष होने के कारण दोनों अविस्मरणीय हैं उसी प्रकार संस्कृति का वैदिक उत्कर्ष भारतीय जनता की चिरस्मरणीय विभूति बन गया। अनेक विक्षेपों के बाद भी ये प्रिय संस्मरण हमारी लोकसंस्कृति के संस्कार बने हुए हैं।

ऋग्वेद हमारे सांस्कृतिक विकास का आरम्भ नहीं है वरन् उसके चरम उत्कर्ष का प्रतीक है। उक्त ऐतिहासिक प्रमाणों के अतिरिक्त सांस्कृतिक विकास और उत्कर्ष के स्वरूप का विश्लेषण भी यही प्रमाणित करता है कि प्राचीन वैदिक जीवन और साहित्य में सांस्कृतिक उत्कर्ष के प्रमुख और महत्त्वपूर्ण तत्व तथा लक्षण विद्यमान हैं।

प्राकृतिक दृष्टि से यौवन जीवन और प्रकृति के उत्कर्ष का काल है। जिस प्रकार वसन्त में प्रकृति के बीज और वृक्ष पुष्पित पल्लवित और फलित होते हैं, उसी प्रकार मनुष्य के जीवन में भी शरीर के विन्यास तथा मन की वृत्तियाँ यौवन काल में अपने विकास की पूर्णता को प्राप्त होती हैं। वसन्त प्रकृति का यौवन और यौवन मनुष्य का वसन्त है। सृजन का सत्य पुष्पों के सुन्दरम् में विकसित होकर फलों के शिवम् में फलित होता है। नारी के रज का पुष्प नाम बड़ा रहस्यमय है। रजोदर्शन के आरम्भ से ही नारी का यौवन भी विकास की पूर्णता की ओर बढ़ता है। पुरुषों के अंग-विन्यास में भी इस विकास के पुरुषानुरूप लक्षण दिखायी देते हैं। प्रकृति के पुष्पों के समान कान्ति और माधुर्य मनुष्यों के यौवन को भी दीप्त और सरस बनाता है। कदाचित प्रकृति का वासन्ती वैभव भी उसके अन्तर की विभूति की अभिव्यक्ति है। किन्तु मनुष्य के सम्बन्ध में तो यह निश्चित है कि उसका बाह्य माधुर्य, लावण्य और कान्ति उसकी आन्तरिक वृत्तियों के ऊर्ज्वस्वित उत्कर्ष के बाह्य प्रतीक हैं। सुन्दरम् की इस समृद्ध अभिव्यक्ति के साथ साथ मनुष्य के यौवन में

शिवम् का आत्मदान भी फलित होता है। इस प्रकार यौवन के उत्कर्ष में सृजन का सत्य सुन्दरम् में अभिव्यक्ति पाकर शिवम् में सफल होता है।

अस्तु जहाँ विकास की दृष्टि से यौवन जीवन के उत्कर्ष की मर्यादा है वहाँ साँस्कृतिक दृष्टि से जीवन के सत्य, शिवम् और सुन्दरम् की पूर्ण परिणति भी उसमें होती है। शक्ति, सामर्थ्य, साहस, उत्साह आदि उनके यौवन के सम्बल हैं। हर्ष, उल्लास, हास, प्रेम आदि उसकी वृत्तियाँ हैं। जिस साहित्य और संस्कृति में यौवन के इन लक्षणों की स्वच्छन्द व्यंजना हो उन्हें मानवता के उत्कर्ष की मर्यादा ही मानना चाहिए। ऋग्वेद के भाव और वातावरण में हमें यौवन के इन सभी लक्षणों का परिचय मिलता है। कुछ उपनिषदों के वैराग्य की उस भावना का ऋग्वेद में कोई संकेत नहीं है जो आगे चलकर वेदान्त, बुद्ध और जैन मतों के प्रभाव से भारतीय चिन्तन की मुख्य वृत्ति बन गयी। उस दुःखवाद का हमें उसमें आभास भी नहीं मिलता जो बुद्ध के 'सर्वं दुखम्' के मूल मन्त्र की घोषणा के बाद योग-सूत्र के 'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' में पर्यवसित हुआ और समस्त भारतीय दर्शन में व्याप्त हो गया। 'शरदः शतं अदीना स्याम' की अभ्यर्थना और अथर्ववेद के 'आयुष्पाणि' नाम से प्रसिद्ध मन्त्रों में दीर्घायु की कामनाएँ अवश्य मिलती हैं। किन्तु जीवन में मृत्यु का भय अभिनिवेश बनकर ऐसा रूढ़ नहीं हुआ है कि वह आत्मा का क्लेश बन जाय और जीवन के स्थान पर मुक्ति को चरम लक्ष्य के रूप में स्पृहणीय बनाये। ऋग्वेद में मुक्ति की कल्पना नहीं मिलती। पुनर्जन्म भी स्पष्ट नहीं है। उत्तरकाल के अपरिग्रह का कोई आभास नहीं है। इसके विपरीत जीवन की सार्थकता और आनन्दमयता का स्वस्थ भाव ऋग्वेद में सर्वत्र व्याप्त हैं। लौकिक अभ्युदय और ऐश्वर्य ऋग्वेद में पूर्णतः स्पृहणीय माने गये हैं। सन्तान, धन, कृषि आदि की समृद्धि के लिए प्रार्थनाएँ की जाती हैं। ऋग्वेद के अधिकांश देवता प्रकृति की शक्तियों के प्रतीक हैं। दिव्य होते हुए भी वे अलौकिक नहीं। कुछ प्रार्थनाओं का अभीष्ट स्वर्ग भी लौकिक ऐश्वर्यों और विभूतियों की पूर्णता की ही मूर्त्त कल्पना है। ऋग्वेद की यह लौकिकता उत्तरकाल के विचार की अलौकिकता के विपरीत है। जीवन के सभी व्यापारों में यौवन के अनुरूप स्वस्थ, समर्थ तथा आशा और उल्लासमयी भावना ओत प्रोत है। यथार्थता की दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि उस समय के सामाजिक जीवन के प्रभूत तथ्य ऋग्वेद में समाविष्ट हैं। जीवन की छोटी और बड़ी सभी प्रकार की बातों की चर्चा ऋग्वेद के मन्त्रों में है। ऋग्वेद को

उस युग के जीवन का दर्पण कहा जा सकता है और यह भी अत्युक्ति नहीं है कि वह समतल और स्वच्छ दर्पण है। उसमें उन्नतोदर अथवा अवनतोदर दर्पण की विकृति और मलीनता नहीं है। यह स्वच्छता और सरलता भी स्वस्थ यौवन का एक प्रमुख लक्षण है। सत्य का निश्छल विवरण भी यौवन की सरलता और निर्भीकता की अपेक्षा रखता है। महाभारत और वाल्मीकि रामायण में मिलने वाली सामाजिक स्पष्टवादिता तथा पुराणों में भी प्राप्त होने वाले इसके अनेक उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि इतिहास, पुराण और आदि काव्य मूल वैदिक संस्कृति तथा साहित्य की परम्परा के ही प्रस्तार हैं।

जीवन के तथ्यों और सिद्धान्तों के सरल, स्पष्ट और व्यापक सत्य के साथ-साथ ऋग्वेद में जीवन के सुन्दरम् और शिवं की भी अभिव्यक्ति है। सौन्दर्य तो एक प्रकार से यौवन का स्वरूप ही है। कालिदास ने अपने कुमारसंभव में उसे यौवन को जीवन का 'असम्मृत', अलंकार कहा है। अभिव्यक्ति सौन्दर्य का स्वरूप, आमन्त्रण उसकी वृत्ति और आनन्द उसका फल है। सत्य की जिज्ञासा में जो यौवन के अनुरूप विस्मय, कौतूहल और उत्साह अपेक्षित है, वह ऋग्वेद से अधिक कहीं नही मिलता। सत्य का विस्तृत बौद्धिक विश्लेषण और ऐसा अनुसन्धान जिसमें जीवन का सौन्दर्य, आनन्द और श्रेय भी विस्मृत हो जाय, यौवन की अपेक्षा प्रौढ़वय का लक्षण अधिक है। दर्शनों के इसी प्रौढ़ चिन्तन से हमारी संस्कृति का वार्धक्य आरम्भ हुआ। ब्राह्मण ग्रन्थों के विवादों में इसका मूल खोजा जा सकता है। हमारे दर्शन-ग्रन्थों में शैली का जो सौन्दर्य और कवित्व मिलता है वह ऋग्वेद का ही अवशेष है। मूल वैदिक मन्त्रों में तो सांस्कृतिक यौवन के सौन्दर्य की मुक्त अभिव्यक्ति मिलती है। विश्लेषण और अनुसंधान की अपेक्षा अभिव्यक्ति की प्रधानता ही ऋग्वेद में सौन्दर्य की प्रमुखता का प्रमाण है। उषा, सूर्य, पर्जन्य आदि के मन्त्रों में काव्य का 'अपूर्व' सौन्दर्य व्यक्त हुआ है। ऋग्वेद के मन्त्रों में उपादान और शैली दोनों में ही सौन्दर्य की प्रचुरता है। काव्य में स्वर और संगीत का समवाय ऋग्वेद के इस सौन्दर्य को और भी समृद्ध बनाता है। वस्तुतः वैदिक संस्कृत के स्वर और संगीतमय स्वरूप में ही भाषागत सौन्दर्य का एक अद्‌भुत तत्व समाहित है। संस्कृति और व्यवहार का वह स्वरूप और स्तर कितना सौन्दर्यमय रहा होगा जिसमें भाषा में ही स्वर और संगीत समाहित थे। लौकिक संस्कृत में भी उसकी ध्वनि और छाया विद्यमान है। स्वर और संगीत के साथ मुद्राओं और

अंगुली निर्देशों का सहयोग वैदिक भाषा में संगीत के साथ-साथ नाट्य के समन्वय का सूचक है। जिस प्लुत प्रधान और मन्द्र स्वर में वेदमन्त्रों का गायन किया जाता है, उसमें वस्तुतः भारतीय संस्कृति के यौवन के गंभीर कंठ का ही स्फोट हुआ है। प्लुत स्वर की प्रधानता और मुद्राओं का सहयोग यौवन की ऊर्ज्वसित स्फूर्ति और शक्ति की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। प्रकृति के सुन्दर चित्रों और भावों से युक्त स्वर और संगीत से समन्वित तथा मुद्राओं से अनुगत वेद के मौलिक मन्त्रों की भाषा तथा शैली कला के समृद्ध सौन्दर्य से परिपूर्ण है। भारतीय संस्कृति के यौवन का सौन्दर्य उनमें मेघ-मन्द्र स्वर में मुखरित हो उठा है।

सत्यम् और सुन्दरम् के साथ साथ ऋग्वेद में शिवम् का भी पूर्ण समन्वय है। समाज के अनेक रूप लौकिक और आध्यात्मिक मंगल का समाहार मूल वेद मन्त्रों में मिलता है। शिवम् के इन अनेक रूप उपकरणों के समाहार के अतिरिक्त उसका मूल स्वरूप भी ऋग्वेद के मन्त्रों की भावना में ओतप्रोत है। "समानी वः आकूति समानो हृदयानि वः" एक मन्त्र पद ही नहीं वरन् वेद मन्त्रों की व्यापक भावना है। आधुनिक व्यक्तिवाद के युग के गीतों के अहंकारपूर्ण 'मैं' के विपरीत ऋग्वेद के मन्त्रों में अधिकांश सामाजिक साम्य के सूचक 'हम' के बहुवचन का ही प्रयोग अधिक है। वेद मंत्रों का पाठ भी सामूहिक रूप में होता था। वस्तुतः सामूहिक रूप में ही प्राचीन भारतीय कुलों में इन वेद मंत्रों की सृष्टि हुई थी। उपनिषदों के 'सह नौ' के शांति पाठ की साम्यमयी भावना वेदमंत्रों के निर्माण, गायन और भाव में ओतप्रोत है। यह साम्यभाव यौवन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण लक्षण हैं। इस साम्य में ही संस्कृति का शिवम् प्रतिष्ठित है। शिवम् का आत्मदान इस साम्य में पारस्परिकता के सामूहिक और सामाजिक आनन्द में फलित होता है। सामाजिक व्यवहार और सम्बन्धों में यह साम्य की भावना जितनी अधिक होती हैं उतना ही उस समाज को अधिक यौवन-पूर्ण समझना चाहिए। साहित्य और संस्कृति के निर्माण में इस साम्य की प्रतिष्ठा सांस्कृतिक यौवन के उत्कर्ष का प्रमाण है। लोक संस्कृति के सामूहिक संगीत, नृत्य, उत्सव आदि सांस्कृतिक यौवन और साम्य के जीवन्त रूप हैं। आधुनिक आर्थिक साम्यवाद में उसका केवल आर्थिक रूप विकसित हो रहा है मानों इस आर्थिक अनुसन्धान के मार्ग से मनुष्य की युगों से भटकती हुई अमर आत्मा अपनी पूर्णता खोज रही है। सांस्कृतिक साम्यवाद में ही इस खोज का अवसान और परिणति होगी। तभी ऋग्वेद के सांस्कृतिक उत्कर्ष में आरोह की मर्यादा को

पहुँचकर तब से निरन्तर अवरोह में शिथिल होने वाला जीवन का राग अपने अभीष्ट सम को प्राप्त करेगा।

नागरिक सभ्यता और कामशास्त्र के प्रभाव के कारण काव्यशास्त्र और साहित्य में कविता का रमणीय रूप समाहृत हुआ। रम्य सुन्दरम् का वाचक है। भाषा के इस अभिधान में सुन्दरम् के प्राकृत रूप का ही संकेत है। सुन्दरम् के इस प्राकृत रूप में सीमित रहने के कारण ही हमारा धर्म और साहित्य शिव के स्वरूप के अन्य पक्षों की सफल स्थापना नहीं कर सका। शास्त्रों और विज्ञानों के रूप में ज्ञान के सत्यं की समृद्धि तो बहुत हुई और हो रही है, किन्तु शक्ति और भाव की साधना को पुरुष मुक्त और निःशंक मन से अंगीकृत नहीं कर सका। इसका कारण मूल रूप में कामदहन के मूल मर्म को न समझना ही है। काम की प्राकृत भूमिका से उठकर ही पुरुष दाम्पत्य और वात्सल्य के रसमय भावों तथा उनके प्रसूत उत्तरदायित्वों को अंगीकृत कर सकता है और उन उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर सकता है। अर्थ, सम्पत्ति, साम्राज्य, अहंकार आदि के रक्षण और उपार्जन में पुरुष ने बहुत कुछ शक्ति का प्रदर्शन किया है। यह उसकी प्रकृति के अनुरूप है। अतः इसमें कोई सांस्कृतिक गौरव नहीं। राजपूत इतिहास को छोड़कर नारी के गौरव और मान की रक्षा में पुरुष की शक्ति का उपयोग कम ही देखने में आता है। हमारा प्राचीन विज्ञान अध्यात्म से आक्रान्त होकर मन्द हो गया। हमारे धर्म और अध्यात्म में अलौकिकता और एकांगिता की ऐसी भ्रान्ति रही कि वह मानवीय संस्कृति के लौकिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह की शक्ति हमें प्रदान न कर सका। इसीलिये हमारे ज्ञान का उदीयमान चन्द्रमा पतन से कलंकित और पराभव से ग्रस्त हुआ। धर्म में स्वर्ग के अनन्त विलास की कामना करने वाले तथा काव्य और कला में उसी की आराधना करने वाले कृती-पुरुष नहीं अपने जीवन में रस की भाव धारा का प्रवाव नहीं कर सके। चिन्मय आत्मदान रस और भाव का रहस्य है। यही आत्मदान समाज में नारी के स्वतन्त्र और गौरवमय रूप को समाहृत करने में समर्थ है। यही आत्मदान शिशु के सांस्कृतिक विकास में सहयोग देकर सृष्टि की सांस्कृतिक परम्परा की सुरक्षा और समृद्धि के सेनानियों का निर्माण कर सकता है। दाम्पत्य और वात्सल्य के सांस्कृतिक गौरव को पूर्णतः अंगीकृत न करने के कारण पुरुष शक्ति और भाव की साधना से उदासीन होकर एकांगी अध्यात्म, भ्रान्त-धर्म और रम्य काव्य की साधना में संलग्न रहा।

एकांगी अध्यात्म उसकी तत्वजिज्ञासा का अपूर्ण किन्तु अनवद्य सत्य है। भ्रान्त धर्म एक पराजित जाति का अलौकिक अवलम्ब बना। रम्य काव्य पतन और पराजय की विडम्बनाओं में उसके बौद्धिक विलास और मनोरंजन का साधन बना। किन्तु ये तीनों ही भारतीय जनता को जीवन, जागरण और सांस्कृतिक निर्माण की पर्याप्त प्रेरणा देने में असमर्थ रहे। रचनात्मक अर्थ में सांस्कृतिक काव्य का अभाव भारतीय चेतना की इन्हीं भ्रान्तियों और इतिहास की इन्हीं परिस्थितियों का परिणाम है। शिवत्व के आत्मदान के तत्व के सम्बन्ध में पुरुष की उपेक्षा और उदासीनता तो कदाचित् विश्व की पुरुष-तंत्र-संस्कृति का सामान्य दोष है। भारतीयों ने अलौकिकता की भ्रान्तियों में अपने को अधिक भुलाया इसलिये कदाचित् इस दोष का अधिक अंश उनका भागधेय बना। अन्य देशों और जातियों ने लौकिकता को अधिक महत्त्व दिया। किन्तु इस लौकिकता में परि-ग्रह और साम्राज्यवाद का अहंकार अधिक था। समाज और संस्कृति में रचना की प्रवृत्तियों को इतना अधिक पोषण दूसरे देशों में भी नहीं मिला कि उन्हें इसका विशेष श्रेय दिया जा सके। लौकिक श्रेय के प्रति अधिक सजग रहने के कारण वे संगठन और सुरक्षा में अधिक सफल रहे तथा उनमें से कुछ उन देशों में साम्राज्य भी स्थापित कर सके जो अलौकिकता में भ्रान्त रहने के कारण अपनी लौकिक स्वतंत्रता की रक्षा नहीं कर सके। अलौकिक और आध्यात्मिक मुक्ति के साधकों की लौकिक पराजय और परतंत्रता ने उनके एकांगी अध्यात्म को असफल बना दिया और कोई मार्ग न पाकर उनका कुंठित अहंकार पारिवारिक शासन में ही अपना सन्तोष खोजने लगा। स्त्रियों के लिये पतिव्रत का विधान हुआ किन्तु दूसरी ओर पुरुषों को बहु-विवाह की स्वतन्त्रता मिली। सती के अमानुषिक धर्म में अलौकिक शक्तियों और पुण्यों का काल्पनिक संयोग किया गया। किन्तु दूसरी ओर पुरुष को स्त्री के प्रति समस्त सांस्कृतिक उत्तरदायित्वों से मुक्त रखकर स्वैर आचार का अधिकार मिला। इसी प्रकार छोटों के लिए 'आज्ञागुरूणामविचारणीया' के मन्त्र का विधान हुआ। परशुराम के मात्र वध, एकलव्य के अंगुष्ठदान, द्रौपदी का पाँचों पांडवों द्वारा वरण, राम का निर्वासन आदि अनेक स्पष्ठतः अनुचित कार्यों के अनौचित्य को धार्मिक प्ररोचना के द्वारा उत्कृष्ट आदर्शों के रूप में चित्रित किया गया। राजनीतिक शासन से वंचित और अपनी धारणाओं से प्रवंचित भारतीय कल तक इसी

पारिवारिक शासन में अपने अहंकार की तुष्टि करते रहे। यह निकृष्ट और अत्यन्त सीमित शासन का संतोष ही हमारे सांस्कृतिक जागरण और उत्थान में बाधक रहा।

संस्कृति एक स्वतंत्र और सामाजिक निर्माण है। प्रकृति की सत्ता केवल उसका आधार है तथा विचार के सिद्धान्त उसके सूत्र हैं। जिज्ञासा उसकी प्रेरणा और ज्ञान उसका मार्गदीप है। किन्तु संस्कृति का स्वरूप सत्य के इस आधार पर सुन्दरम् की अभिव्यक्ति और शिवम् की सृष्टि है। सत्ता और सिद्धान्त के अतिरिक्त सृजन इस सांस्कृतिक विकास का मूलधर्म है। इस सृजन में अभिव्यक्ति और निर्माण दोनों का समाहार है। निर्माण में भी अभिव्यक्ति है किन्तु उसके पूर्व आत्मदान अपेक्षित है। अभिव्यक्ति सुन्दरम् का और आत्मदान शिवम् का स्वरूप है। नारी के शिशु सृजन में आत्मदान अधिक है। इसीलिए उसमें शिवम् की प्रधानता है। भौतिक निर्माण में अभिव्यक्ति की प्रधानता है इसीलिए उसमें सुन्दरम् का विकास अधिक हुआ है। सभ्यता और साहित्य में कला का संयोग इसी निमित्त से हुआ है। स्थापत्य, वास्तुनिर्माण, कला, कौशल आदि सबके विकास में हित की अपेक्षा सुन्दरम् की अभिव्यक्ति का अनुरोध अधिक है। भव्य मन्दिरों के निर्माण, चित्रकला और काव्यकला के पीछे सुन्दरम् की ही प्रमुख प्रेरणा है। चित्रित मन्दिर और अलंकृत काव्य दोनों एक ही भावना के फल हैं। शिवं के आत्मदान में पुरुष की अधिक अभिरुचि न होने के कारण सुन्दरम् की साधना ही उसका प्रधान-धर्म रही है। नारी के रूप में भी सौन्दर्य के प्रति ही उसका अनुराग अधिक रहा। यह दोष पूर्व का ही नहीं समस्त पुरुष-तंत्र समाज का है। पश्चिम की विलास प्रधान सभ्यता नारी-स्वातंत्र्य की घोषणा करते हुए भी उसकी इतनी ही दोषी है जितना 'न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति' का विधान करने वाला पूर्व है। बालकों के प्रति अपने कर्त्तव्य से पुरुष कितना उदासीन रहा है, इसका उदाहरण भारतीय समाज में उनके प्रति वयस्कों के शासन प्रधान दृष्टिकोण में मिलता है। ज्ञात नहीं कि संसार के किसी भी महान् काव्य में नारी के प्रति पुरुष के आदरपूर्ण भाव तथा बालकों के प्रति उसकी निर्माणमुखी साधना का कोई महत्त्वपूर्ण चित्रण है या नहीं। पुरुष के आशा, आकांशा, दम्भ, द्वेष, युद्ध, पराक्रम, जय, पराजय आदि का चित्रण तो महान काव्यों में बहुत मिलता है। नारी के त्याग, श्रद्धा, सहिष्णुता, प्रेम, सेवा आदि से युक्त आदर्श रूप का चित्रण तो बहुत हुआ है। द्रौपदी, दमयन्ती, शैब्या, शकुन्तला, सीता, सावित्री आदि के उज्ज्वल आदर्श नारी के गौरव के प्रमाण में उपस्थित किए जाते

हैं। नारी के ये आदर्श चरित्र उसके सांस्कृतिक उत्कर्ष की यथार्थता के अंकन हैं। दूसरी ओर नारी के सम्मान की दृष्टि से पुरुषों के यथार्थ और ऐतिहासिक चरित्रों की बात ही क्या है। ऐसे दृष्टिकोण के अनुरूप पुरुषों के आदर्श चरित्रों का काल्पनिक चित्रण भी साहित्य में नहीं मिलता।

इसका कारण यही है कि पुरुष ने नारी जाति के प्रति अपने उत्तरदायित्व को कभी न स्पष्टतः समझा और न कभी मुक्त भाव से स्वीकार किया। बालकों के जीवन-निर्माण सम्बन्धी प्रसंगों के अभाव का भी यही कारण है। आदर्श राजा, आदर्श वीर, आदर्श भाई, आदर्श मित्र आदि के रूप में तो पुरुषों के उत्कृष्ट आदर्शों की कल्पना की गई है किन्तु आदर्श पति और आदर्श पिता के रूप में उनका चित्रण दुर्लभ ही है। राजपूत-काल को छोड़कर इस ओर भारतीय चेतना की कभी दृष्टि ही नहीं गई। राजपूत-काल में भी इस दृष्टि के इधर फिरने का श्रेय हमारी जागरुकता की अपेक्षा यवन आक्रमणकारियों के अत्याचारों को अधिक है। इन अत्याचारों ने नारी के लाज-मान पर जो आक्रमण किये उनसे नारी के व्यक्तित्व का ही अपमान नहीं हुआ वरन् पुरुष के अहंकार को भी गहरी ठेस पहुँची। इस अहंकार के प्रति शोध के लिए ही राजपूतों ने नारी के नाम पर बलिदान दिए। प्रसंगतः उसमें नारी के गौरव की भी रक्षा हुई यह भी सन्तोष की बात है। राजपूतों की सजग शक्ति ने नारी को रक्षणीया मानकर अपने अहंकार के निमित्त से उसके गौरव की रक्षा में अपने प्राणों की बाजी लगाई। भारत के पतन के प्रारम्भ में भरी सभा में द्रौपदी के अपमान को चुप बैठकर देखने वाले पितामहों नीतिज्ञों, आचार्यों और वीरों के उदासीन दृष्टिकोण की अपेक्षा राजपूतों का यह अहंकारमय शौर्य श्लाघनीय है। वाल्मीकि रामायण के राम में हमें उनके वंशधर राजपूतों की इस अपूर्ण वीरभावना का बीज मिलता है। लंका-विजय कर राम ने अपने आहत अहंकार का प्रतिशोध किया। किन्तु सीता की यातनाओं के प्रति उनमें कोई सहानुभूति नहीं है। अपने पराक्रम से उन्होंने दैव के दोष का प्रतिशोध किया। इसका उन्हें गर्व है। किन्तु सीता के त्याग और सहिष्णुता तथा सन्ताप की वेदना उनमें नहीं है। वे 'दैव सम्पादितो दोषो मानुषेण मया जितः' के द्वारा अपने विजय-दर्प का उद्घोषण कर 'न मे किंचित्प्रयोजनम' कहकर सीता के परित्याग का संकेत करते हैं। धोबी की आलोचना के निमित्त से कदाचित् राम के अवचेतन मन की यही आकांशा सीता के द्वितीय निर्वासन में चरितार्थ हुई है।

नारी के प्रति यथोचित दृष्टिकोण न अपना सकने के कारण बालक के प्रति भी पुरुष सही भाव ग्रहण करने में असमर्थ रहा। आधुनिक मनोविज्ञान ने बालकों के प्रति बड़ों का सही दृष्टिकोण बनाने में बहुत सहायता ली है, किन्तु नारी के सम्बन्ध में मनोविज्ञान का सहयोग इसके विपरीत रहा है। अबोध बालकों तक में काम-भावना का मूल खोजकर तथा काम-वृत्ति को ही जीवन का सर्वस्व मानकर मनोविश्लेषण के सिद्धान्त ने सांस्कृतिक विकृतियों के नवीन क्षितिजों का उद्घाटन किया है। मनोविज्ञान ने तो केवल मनुष्य की प्रकृति का वैज्ञानिक उद्घाटन ही किया है किन्तु समाज और साहित्य पर उसका प्रभाव अनेक विकृतियों का कारण बना है। मनोविश्लेषण भी नारी के मातृत्व और पत्नीत्व को सही रूप में समझने में असमर्थ रहा। हमारे नीतिकारों ने 'कामश्चाष्टगुणः स्मृतः' कह कर नारी पर मिथ्या लांछन के द्वारा पुरुष के कामातिचार पर परदा डालने का प्रयत्न किया है। किन्तु मनोविश्लेषण के अनुसन्धानों की साक्षी यह है कि मनोविकृतियाँ स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होती हैं। आत्मघात की संख्या भी पुरुषों में अधिक है। स्त्रियों में हिस्टीरिया का आधिक्य उनकी कुंठित काम-वासना की अपेक्षा कौमार्य के अतिचारों के कारण होता है। इस दिशा में स्त्री को पथभ्रष्ट करने और उसके दृष्टिकोण को विकृत वनाने का उत्तरदायित्व पुरुष पर अधिक है। उपनिषदों के राजा अजात शत्रु का यह वचन कि हमारे राज्य में कोई व्यभिचारी पुरुष नहीं है, फिर किसी व्यभिचारिणी स्त्री के होने की संभावना तो कहाँ से हो। इस सम्वन्ध में अत्यन्त प्राचीन और अत्यन्त सही दृष्टि-कोण है। शिव का काम-दहन इसी साधना का संकेत है। अविवाहित स्त्रियों में मनो-विकृति का कारण उनका कुँठित मातृत्व है। विवाहितों में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में मनोविकृतियाँ अधिक दिखाई देती हैं। यदि मनोविश्लेषण के अनुसार काम अथवा अहंकार का दमन इसका कारण है तो यह स्पष्ट है कि पुरुष में ही इन दोनों की प्रवलता है। ये दोनों प्राकृत वृत्तियाँ सुन्दरम् के कुछ निकट भले ही हों किन्तु शिवम् से दूर हैं। शिव की साधना के लिए पुरुष को नारी के सम्मान और शिशु के सांस्कृतिक निर्माण में आत्मदान के द्वारा दोनों को मर्यादित करना होगा।

जीवन के विकास में शिवम् और सुन्दरम् का क्रम समान नहीं है। प्राकृतिक क्रम में सुन्दरम् की अभिव्यक्ति के वाद शिवम् की पूर्णता का उदय होता है।

प्रकृति के विकास में वनस्पतियों के बाद जीवों और पुष्पों के बाद फलों का आगम इसका प्रमाण है। मनुष्य के विकास में भी जहाँ तक प्रकृति का प्रभाव है वहाँ तक यही प्राकृतिक क्रम रहता है। किन्तु मनुष्य के सचेतन सांस्कृतिक अध्यवसायों में यह क्रम विपरीत होने पर ही सांस्कृतिक उद्योग सफल हो सकते हैं। भारतीय संस्कृति में उपनिषद् काल में वेदान्त, जैन और बौद्ध धर्म के रूप में आध्यात्मिक सत्य की भूमि पर शिवम् की ही प्रतिष्ठा हो रही थी। आगे चलकर पौराणिक वैष्णव धर्मों के रूप में सुन्दरम् में इस सांस्कृतिक विकास की परिणति भी हुई। किन्तु अनेक ऐतिहासिक विक्षेपों तथा दार्शनिक प्रपंचों के कारण शिवम् और सुन्दरम् का यह समन्वय पूर्णतः सफल न हो सका। धार्मिक भूमिका के कारण सुन्दरम् की परिणति एक अलौकिक आस्थान में हुई। यदि उपनिषदों के वेदान्त की मानवीय भूमिका इस समन्वय का अभ्रान्त आधार रही होती तो निश्चय ही यह परिणति सांस्कृतिक विकास की सफल पूर्णता होती। इस असफलता में वेदान्त और वैष्णव धर्म दोनों का ही दोष है। उपनिषदों के बाद वेदान्त का जो विकास हुआ उसमें एकांगी अध्यात्म को ही जीवन का सत्य मानने की भूल हुई। अनेक उपनिषदों में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित और उपनिषद् के ऋषियों के व्यावहारिक जीवन से प्रमाणित जिन लौकिक और मानवीय तत्वों का मूल अध्यात्म में पूर्ण समन्वय था उनकी उत्तरवेदान्त के इतिहास में पूर्णतः उपेक्षा हुई। ये लौकिक और मानवीय तत्व ही मूल अध्यात्म के शिवम् के सुन्दरम् में समन्वय के सेतु थे। इस सेतु के विच्छिन्न हो हाने के कारण ही वेदान्त का वैष्णव धर्म से उचित समन्वय न हो सका। आगे चलकर वैष्णव वेदान्तों में जो समन्वय हुआ उसमें भी अलौकिकता के आग्रह के कारण इस सेतु का पुनः संस्थापन न हो सका। इसीलिए जहाँ एक ओर वेदान्त का ब्रह्मवाद मायावाद और सृष्टिवाद की भ्रान्तियों में भ्रान्त होकर खण्डन मंडन में उलझा रहा वहाँ दूसरी ओर वैष्णव धर्म अलौकिकता की संकीर्ण वीथियों में वृन्दावनी रास में अपनी एतिहासिक पराजय की ग्लानि और भीति को भुलाता रहा। फल यह हुआ कि सुन्दरम् की यह परिणति अपूर्ण और असफल रहने के कारण हमारे जातीय जागरण और सांस्कृतिक विकास की प्रेरणा नहीं बन सकी।

आधुनिक युग में शिवम् और सुन्दरम् के इसी सांस्कृतिक क्रम की एक बार फिर आवृत्ति हुई है। भारतवर्ष के स्वाधीनता संग्राम के साथ इस आवृत्ति की

समकालिकता के संयोग ने इस आवृत्ति को अधिक सजीव और सफल बना दिया, ईसमें कोई संदेह नहीं। चाहे यह आवृत्ति पूर्ण और पूर्णत: सफल न हो किन्तु इसमें संदेह नहीं कि वह पूर्व की अरिणित की पुनरावृत्ति मात्र नहीं है। पूर्व आवृत्तियों की एकाङ्गिता और अलौकिकता के कुछ संस्कार इसमें भी शेष हैं। यह नितान्त स्वाभाविक था। इतिहास की परम्परा से विच्छिन्न होकर कोई सांस्कृतिक विकास न होता है और न सफल होता है। किन्तु एकाङ्गिता अलौकिकता के संस्कारों के साथ-साथ इसमें पूर्णता और सजीवता का अधिक अंश हैं, यही इसकी सफलता की आशा है। इसी आशा पर भारतीय संस्कृति की यह द्वितीय परिणति भारतवर्ष की ही नहीं विश्व के पूर्ण सांस्कृतिक समन्वय की तृतीय परिणति की सम्भावनाएँ रखती हैं।

इस द्वितीय परिणति का क्रम भी प्रथम परिणति के समान ही है। इसका आरम्भ तो दयानन्द, राममोहनराय, रामकृष्ण, विवेकानन्द आदि के धार्मिक जागरणों में हुआ। इन जागरणों के एकांगी अध्यात्म के शिवम् की लौकिक और राष्ट्रीय भूमि पर प्रतिष्ठा गान्धीजी के जीवन और दर्शन में हुई। जिस प्रकार उत्तर वैदिक युग की आध्यात्मिक आकांक्षाएँ उपनिषदों के सजीव व्यावहारिक वेदान्त में पूर्ण हुई उसी प्रकार भारत के इस द्वितीय जागरण के आरम्भिक उन्मीलन गान्धीजी के जीवन, दर्शन और आन्दोलन में पूर्णत: स्फुट हुए। गान्धीजी का सत्य वस्तुत: शिवम् ही है। अहिंसा और प्रेम के आत्मदान में सत्य का शिवत्व ही चरितार्थ होता है। अहिंसा, प्रेम, सत्याग्रह, बलिदान, सेवा आदि के रूप में गान्धीजी के जीवन और दर्शन में शिवम् की ही एक व्यापक प्रतिष्ठा हुई जैसी कि उत्तर उपनिषद काल में वेदान्त, जैन और बौद्ध धर्मों के उदय में हुई थी। गांन्धीजी के शिवम् में महावीर के तप, बुद्ध की करूणा और वेदान्त की व्यावहारिकता का समन्वय है। स्वतंत्रता का राष्ट्रीय आन्दोलन इसी समन्वित शिवम् के ज़ागरण का अभियान था। वेदान्त, जैन और बौद्ध धर्मों के शिवम् की भाँति ही गान्धीजी के शिवम् में भी सुन्दरम् का समन्वय नहीं था। कला, काव्य और सौन्दर्य का गान्धीजी के जीवन और दर्शन में वह महत्त्व नहीं है जो मानवीय संस्कृति की एक पूर्ण कल्पना में होना चाहिए।

रवीन्द्रनाथ के काव्य में इस सुन्दरम् की अपेक्षित अभिव्यक्ति हुई। किन्तु वैष्णव धर्मों में सुन्दरम् की परिणति की भाँति इसमें भी अलौकिकता का बीज रहा।

जिस प्रकार इस बीज के पुष्प वैष्णव समाज को अपने आमोद से उमन्त और विभोर बनाते रहे, उसी प्रकार इस अलौकिकता के बीज ने रवीन्द्र के काव्य को भी स्वर्ग के कल्प-कानन का रूप दिया। रवीन्द्रनाथ की प्रगतिवादी आलोचना में इतना तथ्य अवश्य है कि उनके काव्य की कल्पनाएँ हमें अन्तरिक्ष में मनोविहार की प्रेरणा तो देती हैं किन्तु पृथिवी के जीवन का सफल निर्वाह करने का बल और उत्साह नहीं देती। रवीन्द्रनाथ के प्रभुत्व और उनके प्रभाव के कारण हिन्दी काव्य के छायावाद में भी सौन्दर्य के उसी कल्प-कानन की सृष्टियाँ होती रही हैं। यह एक अकारण संयोग नहीं है कि वैष्णव धर्म की भावनामयी बंगभूमि में ही रवीन्द्रनाथ के काव्य के इस अलौकिक सुन्दरम् की अभिव्यक्ति हुई तथा राम और कृष्ण की लीलाभूमि में ही उसका अधिक विस्तार हुआ। इतना अवश्य है कि गान्धीजी के दर्शन और रवीन्द्र के काव्य में जीवन का स्पन्दन प्रथम परिणति की अपेक्षा अधिक है। इसी कारण एक तृतीय परिणति में दोनों के पूर्ण और सफल समन्वय की सम्भावनाएँ इनमें अन्तर्निहित हैं। वेदान्त के उत्तरकालीन विकास में उसके लौकिक और मानवीय पक्ष की उपेक्षा के द्वारा जैसा एकांगी अध्यात्म का ही प्रचार हुआ वैसा ही एकांगी प्रचार यदि गान्धीजी के दर्शन के सम्बन्ध में भी होगा तब तो यह निश्चित है कि इस तृतीय परिणति के आगमन में अधिक विलम्ब होगा और अनेक विक्षेप होंगे। रवीन्द्र के काव्य के सम्बन्ध में भी यदि वैष्णव धर्म की भाँति अलौकिकता को ही अधिक महत्त्व दिया जायगा तो सुन्दरम् की आराधना भी जीवन की स्फूर्ति न बनकर कल्पना की भ्रान्ति ही बनी रहेगी। किन्तु यदि गान्धीजी के दर्शन के शिवम् को लौकिक और मानवीय भूमिका में समग्रता के साथ प्रचारित और प्रतिष्ठित किया जायगा तो इस तृतीय परिणति में समन्वय शीघ्र और निश्चित ही प्राप्त होगा। गान्धीजी के दर्शन में साधना शिवम् के सुन्दरम् के साथ समन्वय का सेतु है। रवीन्द्र के काव्य में जो जीवन का स्पन्दन है वह भी ऐसे ही सेतु का काम दे सकता है। हावड़ा के टूटने वाले पुल की तरह यदि इन दोनों सेतुओं का सम्बन्ध बन सका तो निश्चय ही यह सम्बन्ध एक ऐसे समग्र सेतु का निर्माण करेगा जो शिवम् और सुन्दरम् के लोकों के बीच सहज व्यवहार को सम्भव बनाकर उनके समन्वय की सम्भावना को दृढ़ कर सके।

एक रूप में सत्यं, शिवं और सुन्दरम् का यह समन्वय इस द्वितीय परिणति में चरितार्थ भी हुआ है। श्री अरविन्द का महायोग इसी समन्वय का प्रतीक है।

इस योग में साधना की प्रमुखता इस बात की सूचक है कि साधना ही शिवम् को ध्रुव बनाने का साधन तथा सुन्दरम् में उसके समन्वय का मार्ग है। किन्तु साधना प्रधान होते हुए भी अरविन्द का योग तथा उनकी सांस्कृतिक कल्पना गाँधीजी के दर्शन की भाँति सुन्दरम् से रहित नहीं है। दूसरी ओर साधना पर आरुढ़ होने के कारण उनका जीवन-दर्शन रवीन्द्र के रहस्यवाद की भाँति मुख्यत: अलौकिक सुन्दरम् की अभिव्यक्ति नहीं है। वस्तुत: उनके योग, दर्शन, काव्य और जीवन में हमारी संस्कृति के सनातन अध्यात्म सत्य का शिवम् और सुन्दरम् के साथ अपूर्व समन्वय है। यह एक विचित्र किन्तु अत्यन्त रहस्यमय संयोग है कि भारतीय जागरण की द्वितीय परिणति में शिवम् और सुन्दरम् का समन्वय एक ऐसी महान् विभूति के जीवन और कृतित्व में हुआ जो गाँधीजी के राष्ट्रीय जागरण के शिवम् और रवीन्द्र-नाथ के काव्य के सुन्दरम् का समान रूप से उत्तराधिकारी है। श्री अरविन्द का उदय इस द्वितीय परिणति में सत्यं शिवं सुन्दरम् के आन्तरिक समन्वय का प्रतीक है। वेदान्त के सनातन अध्यात्म तत्व का आधार उनके जीवन-दर्शन का सत्य है। अध्यात्म में साधना की प्रमुखता तथा जीवन में प्रेम और सेवा का महत्त्व सुन्दरम् के साथ शिवम् के अभ्रान्त समन्वय के सूत्र हैं। अरविन्द के जीवन दर्शन में मनुष्य के इतिहास की परम्पराओं का ग्रहण कर उनके भावी विकास का संदेश है। लौकिक और मानवीय आधारों पर अति-मानव के उदय की भविष्यत् वाणी है। इस अति-मानव के रूप में शक्ति और प्रेम के शिवम् और सुन्दरम् ज्ञान के आलोक से प्रकाशित होंगे। शक्ति का शिवम् ज्ञान पर आश्रित होकर प्रेम के सुन्दरम् में कृतार्थ होगा। प्रेम का सुन्दरम् ज्ञान के सत्यालोक और शक्ति के शिवम् की समर्थ स्फूर्ति से कृतार्थ होगा। श्री अरविन्द के जीवन और कृतित्व में भी यह समन्वय चरितार्थ हुआ है। 'दिव्य जीवन' आदि ग्रन्थों में प्रतिपादित उनका दर्शन ही सत्य का परम और पूर्ण रूप है। अखंड योग के रूप में प्रतिपादित और प्रतिष्ठित साधना ही शिवं का मर्म तथा सुन्दरम् में उसके समन्वय का सेतु है। 'सावित्री' तथा अन्य काव्य कृतियों में सुन्दरम् की अद्भुत अभिव्यक्ति हुई है। श्रीकृष्ण के समान क्रान्तिकारी योगी और कवि का समन्वित व्यक्तित्व श्री अरविन्द को भी आधुनिक युग की पूर्णतम विभूति प्रमाणित करता है। श्री कृष्ण के पराक्रम, नेतृत्व और उनकी व्यावहारिकता का संयोग हो जाने पर श्री अरविन्द का अवतारी कोई महामानव भावी संस्कृति में सत्यं शिवं और सुन्दरम् के पूर्ण समन्वय की तृतीय परिणति का प्रतिष्ठाता बनेगा।

महामहिमग्राचार्यश्रीमदमृतवाग्भवाचार्याणामाशीर्वचनम्

रामानन्दसुधीप्रणीतमतुलं श्रीराष्ट्रभाषामयं,
दृष्ट्वा ग्रन्थमुदारभावभरितं 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' ।
लप्स्यन्ते परमं धियाप्यमलया लोकाः पठिष्यन्ति ये,
आचार्योऽमृतवाग्भवः कथयते सत्यं शिवं सुन्दरम् ।।

आमन्त्रण

'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का अवलोकन करने वाले साहित्य के विद्यार्थियों, अनुरागियों और आलोचकों तथा साहित्यकारों को मैं अत्यन्त विनय एवं सद्भावपूर्वक संस्कृति, कला, साहित्य, काव्य आदि के सम्बन्ध में परस्पर विचार-विमर्श के लिए आमन्त्रित करता हूँ। साहित्यकारों और साहित्य-प्रेमियों का परस्पर समात्मभाव विदेशों के साहित्य की समृद्धि का एक मुख्य कारण है। इस समात्मभाव की मन्दता हिन्दी साहित्य की वर्तमान दीनता का एक प्रमुख हेतु है। मैं साहित्य के विद्यार्थियों और अनुरागियों तथा अनुसंधान-कर्त्ताओं के साथ सक्रिय समात्मभाव के आदान-प्रदान द्वारा हिन्दी में गम्भीर साहित्य की अभिवृद्धि के संयुक्त पुण्य का भागी बनकर कृतार्थ होने का अभिलाषी हूँ। साहित्यिक सहयोग के आदान-प्रदान के इच्छुक मुझे अपने सम्पर्क से अनुग्रहीत करें।

पुष्पवाटिका छात्रावास
महारानी श्री जया कॉलेज, भरतपुर
दीपावली सं० २०२० विक्रमी।

विनीत—
रामानन्द तिवारी
'भारतीनन्दन'

परिशिष्ट 'क'

संदर्भ और टिप्पणियाँ

२२. छान्दोग्य उपनिषद् ७-२३-१
२३. कठ उपनिषद् १-२-२
२४. ईश उपनिषद् मन्त्र
२५. गीता
२६. कठ उपनिषद् १-२-१
२७. कठ उपनिषद् अध्याय—१
२८. कठ उपनिषद् १-१-२६
२९. बृहदारण्यक उपनिषद् १-४
३०. बभूव भार्या मर्यादा धातुर्लावण्यकौशले
३१. धर्माविरुद्धो कामोस्मि —गीता
३२. प्रजनश्चास्मिकन्दर्प —गीता
३३. पौरुषं नृपु —गीता
३४. साप्ताहिक हिन्दुस्तान १३ जनवरी १९५७
३५. कठ उपनिषद् १-२-१
३६. बृहदारण्यक उपनिषद् १-४
३७. यतो अभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः सधर्मः ।
३८. कुरुक्षेत्र पृष्ठ ५०
३९. कुरुक्षेत्र में उद्धृत "क्षमावान्निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुनः पुमान्" ।
४०. एक रामायणी कथावाचक के मुख से मैंने यह पंक्ति सुनी थी । उन्होंने इसे रामचरितमानस से ही प्रमाण रूप में दिया था । रामकथा में श्रद्धा न रखने वालों की भर्त्सना रामचरितमानस में विशेषतः वालकाण्ड के आरम्भ में मिल सकती है ।
४१. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य
४२. बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य २-१-२०
४३. देखिए ६९
४४. कुमारसम्भव ७-६५; ५-२
४५. गीता
४६. कविः क्रान्तदर्शी सर्वदृक्—उपनिषद् शांकरभाष्य ।
४७. "निमेषोन्मेषाभ्यां प्रलयमुदयं याति जगती"
४८. वीक्षित मेतस्य पंचभूतानि—भामती-मंगलाचरण ।

४९. परांचिखानि व्यतृणत् स्वयम्भू—कठ उपनिषद् १-४
५०. स एकाकी न रेमे। बृहदारण्यक उपनिषद् १-४
५१. तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्
५२. Contemporary Philosophy p. 96
५३. Ibid. p. 96
५४. Outline of Philosophy of Art p. 52
५५. Ibid.
५६. शान्तं शिवमद्वैतं ब्रह्म —मांडूक्य उपनिषद्
५७. वीक्षितमेतस्य पंचभूतानि।
स्मितमेतस्य चराचरम्। —भामती-मंगलाचरण
५८. निमेशोन्मेषाभ्यां प्रलयमुदयं याति जगती —सौन्दर्य लहर
५९. यौ वै भूमा तदेव सुखम् —छान्दोग्य उपनिषद्
६०. Outline of Philosophy of Art p. 45
६१. Ibid. p. 52
६२. I dance with the daffodils.
६३. उस फैली हरियाली में
कौन अकेली खेल रही माँ! वह अपनी वय वाली में। —पल्लव
६४. छाया —पल्लव
६५. नौकाविहार —गुंजन
६६. Psychological Studies in Rasa
६७. History of Aesthetic p. 164
६८. Ibid. p. 457
६९. Critical History of Modern Aesthetics p. 11
७०. Theory of Beauty p. 9
७१. Critical History of Modern Aesthetics p. 160
७२. Ibid. p. 112
७३. History of Aesthetics p. 57
७४. Ibid. p. 99
७५. Critical History of Modern Aesthetics p. 21
७६. Ibid. p. 22
७७. Ibid. p. 23
७८. Ibid. p. 24

७६. Ibid. p. 210
८०. Theory of Beauty p. 9
८१. History of Aesthetics p. 364
८२. किमपि किमपि मन्द जल्तोर क्रमेण
अविदित गत यामा रात्रिरेव व्यंरसीत —उत्तररामचरित
८३. Theory of Beauty p. 284
८४. Ibid. p. 10
८५. Ibid. p. 14
८६. History of Aesthetics p. 375
८७. Psychology
८८. Theory of Beauty p. 296
८९. Psychological Studies in Rasa
९०. Psychology
९१. History of Aesthetics p. 37
९२. Theory of Beauty p. 43
९३. History of Aesthetics p. 63
९४. Ibid. p. 274, 284
९५. Critical History of Modern Aesthetics p. 222
९६. Theory of Beauty p. 116
९७. *History of Aesthetics* p. 460
९८. Theory of Beauty p. 50
९९. History of Aesthetics p. 145
१००. कुमारसम्भव ५-३६
१०१. Critical History of Modern Aesthetics p. 102, 198
१०२. सौन्दर्य शास्त्र पृष्ठ २३९
१०३. Ibid.
१०४. Critical History of Modern Aesthetics p. 200
१०५. Ibid. p. 29, 30, 32
१०६. A History of Aesthetics p. 162
१०७. The Theory of Beauty p. 150
१०८. Western Aesthetics p. 155
१०९. Ibid. p. 162

११०. Loc. Cit.
१११. Western Aesthetics p. 492
११२. Ibid. p. 496
११३. Theory of Beauty p. 86
११४. Critical History of Modern Aesthetics p. 37
११५. Ibid. p. 36
११६. Ibid. p. 36
११७. Ibid. p. 35
११८. History of Aesthetics p. 104
११९. Ibid. p. 105
१२०. Ibid. p. 203
१२१. Critical History of Modern Aesthetics p. 250
१२२. History of Aesthetics p. 275
१२३. Ibid. p. 276
१२४. Ibid. p. 277
१२५. Critical History of Modern Aesthetics p. 250
१२६. Ibid. p. 150
१२७. Theory of Beauty p. 229, 230
१२८. Critical History of Modern Aesthetics p. 250, 252
१२९. Ibid. p. 250, 252
१३०. Ibid. p. 250, 252
१३१. Ibid. p. 250, 252
१३२. Ibid p. 250, 252
१३३. Ibid p. 250, 252
१३४. Ibid p. 253
१३५. Ibid p. 254
१३६. Theory of Beauty p. 230
१३७. Critical History of Modern Aesthetics p. 250, 252
१३८. Outline of Philosophy of Art p. 35
१३९. A History of Aesthetics p. 57
१४०. Ibid. p. 115
१४१. Ibid. p. 135

१४२. Ibid. p. 134

१४३. A History of Aesthetics p. 142

१४४. Ibid. p. 204

१४५. Ibid. p. 226

१४६. Ibid. p. 355

१४७. Ibid. p. 397

१४८. Ibid. p. 401

१४९. Ibid. p. 403

१५०. Ibid. p. 430

१५१. Ibid. p. 432

१५२. Critical History of Modern Aesthetics p. 270

१५३. Theory of Beauty p. 304

१५४. Ibid. p. 304

१५५. Ibid. p. 334

१५६. Ibid. p. 336

१५७. Ibid. p. 321

१५८. Ibid. p. 304

१५९. Ibid. p. 305

१६०. Ibid. p. 304

१६१. Ibid. p. 306

१६२. *History of Aesthetics* p. 282

१६३. Theory of Beauty p. 311

१६४. Ibid. p. 316

१६५. Ibid. p. 319

१६६. Ibid. p. 321

१६७. Critical History of Modern Aesthetics p. 260

१६८. Ibid. p. 260

१६९. Ibid. p. 261

१७०. Ibid. p. 261

१७१. Ibid. p. 262

१७२. Ibid. p. 307

१७३. Western Aesthetics p. 23

१७४. Ibid. p. 26

१७५. Ibid. p. 121, 124
१७६. Ibid. p. 221
१७७. Ibid. p. 275
१७८. Ibid. p. 458
१७९. Ibid. p. 292
१८०. Critical History of Modern Aesthetics p. 204
१८१. विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः
१८२. Critical History of Modern Aesthetics p. 254
१८३. Ibid. p. 256
१८४. Ibid. p. 259
१८५. Ibid. p. 258
१८६. Ibid. p. 20
१८७. Ibid. p. 24
१८८. Ibid. p. 220
१८९. Theory of Beauty p. 284
१९०. Critical History of Modern Aesthetics p. 21
१९१. Ibid. p. 15
१९२. Ibid. p. 203
१९३. History of Aesthetics p. 227 204
१९४. Theory of Beauty p. 9
१९५. Critical History of Modern Aesthetics p. 107
१९६. मानते हैं जो कला के अर्थ ही, स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।
सुन्दर को सजीव करती है, भीषण को निर्जीव कला॥ ——साकेत
१९७. अकेली सुन्दरता कल्याणि, सभी ऐश्वर्यों की है खानि। ——पल्लव
१९८. Critical History of Modern Aesthetics p. 208
१९९. Ibid. p. 208
२००. History of Aesthetics p. 167
२०१. Ibid. p. 2
२०२. Ibid. p. 272
२०३. Ibid. p. 457
२०४. Theory of Beauty p. 16
२०५. Ibid. p. 17
२०६. रघुवंश ५-६३

परिशिष्ट 'ख'

सहायक पुस्तकों की सूची

१. बलदेव उपाध्याय : भारतीय-साहित्य-शास्त्र
२. ,, ,, : भारतीय-दर्शन
३. डॉ० नगेन्द्र : काव्य शास्त्र की भूमिका
४. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल : कला और संस्कृति
५. डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा : सौन्दर्य-शास्त्र
६. डॉ० फतहसिंह : साहित्य और सौन्दर्य
७. डा० देवराज : संस्कृति का दार्शनिक विवेचन
८. मम्मट : काव्यप्रकाश
९. विश्वनाथ : साहित्य दर्पण
१०. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक
११. राजशेखर : काव्य मीमांशा
१२. K. C. Pandey : Indian Aesthetics
१३. ,, ,, : Western Aesthetics
१४. Bernard Bosanquet : History of Aesthetics
१५. Lord Listowell : A Critical History of Modern Aesthetics
१६. R. G. Collingwood : Outline of Philosophy of Art
१७. Rakesh Gupta : Psychological Studies in Rasa
१८. E. F. Carritt : Theory of Beauty
१९. ,, ,, : Introduction to Aesthetics
२०. S. Radhakrishnan : Idealist View of Life
२१. D. M. Datta : Contemporary Philosophy
२२. F. H. Bradley : Truth and Reality
२३. P. T. Raju : Thought and Reality